ओ३म्

प्रस्तावना ।

———*———

यस्य ज्ञान मनंत वस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नय कृतैः कोलाहलैर्लुप्यते
रागद्वेषमुखद्विषाश्च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद्येन सा
सश्रीवीरविभु र्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम १

जिसका ज्ञान अनंत वस्तुओंको विषय करता है, देवता जिसकी पूजा करते हैं, जिसका वचन दुर्नयकृत कोलाहलोंसे लुप्त नहीं होता, और जिसने रागद्वेष प्रमुख शत्रु-समूहको क्षणभरमें भगा दिया था वह श्री वीर प्रभु हमारी बुद्धिको निर्मल करें।

प्रिय वाचकवृन्द !

इस संसारमें धर्मके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ और उपकारक वस्तु नही है। धर्म ही प्राणियोंको विपत्तिमें सहायता देने वाला सचा मित्र है। सांसारिक सभी पदार्थ शरीर के साथ ही इस लोकमें रह जाते हैं पर धर्म परलोकमें भी जीवके साथ जाता है और विपत्तिसे हटा कर जीवको सुख शांति देता है। जैसे कि कहा है—

"धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्य्या गृह द्वारि जनाः श्मशाने। देहश्चितायां परलोक मार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः"

अर्थात् धन पृथिवी पर, पशु गोष्ठमें स्त्री, घरके द्वार पर और वन्धु वान्धव श्मशानमें, देह चिता पर रह जाते हैं पर एक धर्म इस जीव के साथ परलोक में भी जाता है। अतः जो मनुष्य धर्मका संग्रह नहीं करता उसको पशुकी उपमा दी गयी है। क्योंकि पशु और मनुष्योंमें यही अन्तर है कि पशु धर्मका संग्रह नहीं कर सकता और मनुष्य कर सकता है।

वड़े वड़े ऋषि महर्षियोंने मनुष्योंके कल्याणार्थ धर्माचरण करनेका उपदेश किया है और धर्मकी वड़ी विशद व्याख्या की है। शास्त्र धर्मकी व्याख्या मात्र हैं। जैसे वस्त्र तन्तुमय और घट मृण्मय होता है उसी तरह शास्त्र भी धर्ममय हैं। शास्त्रोंमें अनेक प्रकार के धर्म बतलाए हैं पर सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और सबका मूलभूत धर्म जीवरक्षा रूप धर्म कहा गया है। जैनागमका तो इसीके लिये निर्माण ही हुआ है। प्रश्न व्याकरण सूत्रके प्रथम संवर द्वारमें लिखा है कि "सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भवया सुकहियं"

अर्थात् जगत्के सम्पूर्ण जीवोंकी रक्षा रूप दयाके लिये भगवान्ने प्रवचन कहा है। इस मूलपाठमें जीवरक्षा रूप धर्मके लिये जैनागमकी रचना होना बतलायी गई है। अतः जीवरक्षा रूप धर्म जैन धर्मका प्रधान अङ्ग है। उस जीवरक्षाको जो धर्म मानता है और विधिवत् उसका पालन करता है वही तीर्थङ्करकी आज्ञाका आराधक पुरुष है। इसके विपरीत जो जीवरक्षाको धर्म नहीं मानता किन्तु इसको पाप अथवा अधर्म बतलाता है वह धर्मका द्रोही और वीतरागकी आज्ञाका तिरस्कार करने वाला है।

केवल जैनधर्म ही जीवरक्षाको प्रधान धर्म नहीं बतलाता किन्तु दूसरे मतवाले शास्त्र भी इसे सर्वोत्तम और सर्वप्रधान धर्म मानते हैं। महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है कि—"प्राणिनां रक्षणं युक्तं मृत्युभीताहि जन्तवः आत्मौपम्येन जानद्भिरिष्टं सर्वस्य जीवितम्"

"दीयते मार्य्यमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा। धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितु मिच्छति"।

जीवानां रक्षणं श्रेष्ठं जीवाः जीवित कांक्षिणः
तस्मात्समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते
एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा
एकतो भय भीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्'

अर्थात् जैसे अपना जीवन इष्ट है उसी तरह सभी प्राणियोंका अपना अपना जीवन इष्ट है, सभी जीव मरनेसे डरते हैं इसलिये सभीको अपने समान जान कर उनकी प्राणरक्षा करनी चाहिये।

मारे जाने वाले पुरुषको एक तरफ करोड़ों धन दिया जाय और दूसरी ओर उसका जीवन दिया जाय तो वह धन छोड़ कर जीवनकी ही इच्छा करता है।

जीव रक्षा करना सबसे प्रधान धर्म है। सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं। इसलिये सभी दानोंमें अभयदान यानी जीवरक्षा करना श्रेष्ठ है।

एक तरफ सोनेका पर्वत मेरु और बहुरत्ना पृथिवी रख दी जाय और दूसरे तरफ मृत्युभीत पुरुषका प्राणरक्षण रूप धर्म रख दियाजाय तो प्राणरक्षा रूप धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

इसी प्रकार विष्णु पुराणमें भी लिखा है—

"कपिलानां सहस्राणि योद्विजेभ्यः प्रयच्छति
एकस्य जीवितं दद्यान्नच तुल्यं युधिष्ठिर"

अर्थात् जो पुरुष हजार गायें ब्राह्मणोंको दान देता है वह यदि एक प्राणी को जीवन दान देवे तो उसके इस कार्य्यके तुल्य पहला कार्य्य नहीं है यानी जीवनदान देना गोदानसे भी श्रेष्ठ है।

इत्यादि अन्य मतावलम्बी शास्त्रोंमें भी जीवरक्षाको सर्वोत्तम धर्म माना है और जैनागमका तो यह प्राण ही है। पर आजकल हुण्डा अवसर्पिणी कालके प्रभावसे श्वेताम्बर जैन धर्मके अन्दर एक 'तेरह पंथ" नामक सम्प्रदाय प्रकट हुआ है। यह सम्प्रदाय जैनधर्मके मूल भूत जीवरक्षा धर्मको विनाश करके जैनधर्मका मूलोच्छेद करना चाहता है। इसके सिद्धांतोंके नमूने कुछ यहां बतलाये जाते हैं।

(१) गायोंसे भरे हुए वाडेमें यदि आग लग जाय और कोई दयावान् पुरुष उस वाडे के द्वारको खोल कर गायों की रक्षा करे तो उसे तेरह पन्थी एकान्त पापी कहते हैं।

(२) भारसे पूर्ण गाडी आ रही है और मार्गमें कोई बालक सोया हुआ है उस बालकको कोई दयावान् पुरुष उठा लेवे तो इस कार्य्यको तेरह पन्थ सम्प्रदाय एकान्त पाप बतलाता है।

(३) तीन मञ्जिल पर से कोई बालक गिरता हो तो उस को ऊपर ही पकड़ कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरह पन्थी एकान्त पाप करने वाला बतलाते हैं।

(४) पञ्चमहाव्रतधारी साधु के गले में किसी दुष्ट के द्वारा लगायी हुई फांसी को यदि कोई दयालु पुरुष खोल देवे तो उस में तेरह पन्थी एकान्त पाप होना बतलाते हैं।

(५) कसाई आदि हिंसक प्राणीके हाथसे मारे जाते हुए बकरे आदि की प्राण-रक्षा करनेके लिये यदि कोई कसाईको नहीं मारनेका उपदेश देवे तो तेरह पन्थी उसे एकान्त पाप कहते हैं।

(६) किसी गृहस्थके पैरके नीचे कोई जानवर आ गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुषको तेरह पन्थी एकांत पाप होना कहते हैं।

(७) तेरह पन्थके साधुओंके सिवाय संसारके सभी प्राणियों को तेरह पन्थी "कुपात्र" कहते हैं।

(८) तेरह पन्थके साधुओंके सिवाय दूसरेको दान देना, मांस भक्षण मद्यपान और वेश्यागमनके समान एकान्त पाप तेरह पन्थी बतलाते हैं।

(९) पुत्र अपने माता पिताकी और स्त्री, अपने पतिकी सेवा शुश्रूषा करे तो इस कार्य्यको तेरह पन्थी एकान्त पाप कहते हैं।

(१०) किसी गृहस्थके घरमें आग लग गयी हो और गृहस्थका परिवार घरका द्वार बन्द होनेके कारण बाहर नहीं निकल सकता हो किन्तु घरके भीतर आगमें जलते हुए मनुष्य, स्त्री और बच्चे आदि आर्तनाद करते हों तो उस घरका द्वार खोल कर उन प्राणियोंकी रक्षा करने वालेको तेरह पन्थी एकान्त पाप करनेवाला कहते हैं और उस घरका द्वार नहीं खोलना धर्म बतलाते हैं। जैसे कि भीषणजीने लिखा है—

"गृहस्थरे लायो लायो घर बारे निकलियो न जायो। बलता जीव बिल बिल बोले साधु जाई किमाड न खोले"

यही भीषणजी इस तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए हैं। इनका वृत्तान्त दीप विजयजीकी चर्चामें इस प्रकार लिखा है।

मारवाड देशमें "कण्टालिया" नामक ग्रामका रहने वाला ओसवाल संक्लेचा गोत्री भीषणचन्द नामक व्यक्तिने सम्वत् १८०८ में बाईस सम्प्रदायके पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की। पश्चात् शहर मेरताके अन्दर श्री रघुनाथजी महाराज, भीषणचन्दजीको भगवती सूत्र पढ़ाने लगे। भीषणजीको कितनी बातें जंचतीं और कितनी नहीं जंचतीं। यह चेष्टा श्रावक समर्थमलजी धाडीवालने देखी। उक्त श्रावकने पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजसे कहा कि आप भीषणजीको भगवती सूत्र पढ़ा कर सर्पको दूध पिला रहे हैं। यह भीषणजी आगे चल कर निन्हव होगा और उत्सूत्र प्ररूपणा करेगा।

यह सुन कर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि पहले भी भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक और जामाली को पढ़ाया था और वे निन्हव हुए, यह उनके कर्मोंका दोष था।

इस प्रकार चौमासे भरमें सम्पूर्ण भगवती सूत्र वंचवा कर चौमासा उतरने पर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि पुस्तक यहां रख कर जाना। पर भीषणजीने यह बात नहीं मानी। वह भगवतीका पुस्तक लेकर वहांसे चल दिये। पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजीने दो शिष्योंको भेज कर भीषणजीसे पुस्तक मंगवाई। वहीं पर भीषणजीका पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज पर क्रोध उत्पन्न हुआ। और भीषणजीने निश्चय किया कि मैं नवीन मत निकाल कर पूज्य श्री रघुनाथजीको अपमानित करूं।

यह विचार कर भीषणजीने मेरतासे विहार कर मेवाड़में राजनगरके अन्दर चातुर्मास्य किया। वहां सूत्र वांचते हुए भीषणजीने यह प्ररूपणा की कि साधु मुनिराज को किसी त्रस स्थावर आदि जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये और करानी भी नहीं चाहिये तथा करते हुए को अच्छा भी न समझना चाहिये। तथा किसी प्राणीको बांधना

नहीं चाहिये तथा बंधना भी नहीं चाहिये और बांधते हुए को अच्छा भी नहीं समझना चाहिये।

एवं किसी बांधते हुए जीवको रक्षार्थ छोड़ना नहीं चाहिये छोड़ाना भी नहीं चाहिये और छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं जानना चाहिये। यह मुनिराजका आचार है इस प्रकार श्रावक भी तीर्थंकरका लघु पुत्र है और देशव्रती है इस लिये श्रावकको भी बांधे हुए प्राणीको रक्षार्थ नहीं छोड़ना चाहिये और छोड़ाना भी नहीं चाहिये तथा छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं समझना चाहिये।

कोई किसी जीवको मारता हो तो छुड़ानेमें अन्तराय लगता है तथा छुड़ानेके बाद जो वह जीव हिंसा, मैथुन, पाप आदि कार्य करता है वह सब पाप छुड़ानेवालेके शिर पर लगता है। तथा गाय बैल आदिसे बाड़ा भरा हुआ है और उसमें यदि आग लग गई हो तो उस बाड़ेका द्वार खोल कर उन पशुओंकी रक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मरनेसे बचे हुए वे गाय बैल आदि मैथुन और हिंसा आदि पाप करेंगे वह सब पाप उनकी रक्षा करने वालेको लगेगा। तथा हिंसकसे मारे जाने वाले बकरे, भैंसे आदि जीवित रह कर जो पाप करते हैं वह पाप छुड़ाने वालेको लगता है। यह प्ररूपणा भीषणजीने की थी।

भीषणजी और जयमलजीके शिष्य वक्तोजी तथा वत्सराजजी ओसवाल और लालजी पोरवाल इन चारों जनोंने मिल कर यह प्ररूपणा की थी। यह बात पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने सोजतके चातुर्मास्यमें सुनी और उन लोगोंकी विपरीत श्रद्धा हुई जानी। चातुर्मास्य उतरने पर भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास गये परन्तु पूज्य श्रीने भीषणजीको उत्सूत्र प्ररूपी जान कर आदर नहीं दिया। और शामिलमें आहार भी नहीं किया। यह देख कर भीषणजीने पूज्य श्रीजीसे पूछा कि मैंने क्या अपराध किया है जिससे आप नाराज हो गये हैं। पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि तुमने उत्सूत्र प्ररूपणा की है यही अपराध है। फिर पूज्य श्रीजीने भीषणजीको अच्छी तरह समझा कर षण्मासिक प्रायश्चित्त देकर आहार पानी शामिलमें कर लिया। परन्तु भीषणजीके शिष्य भारीमलने अपनी यह श्रद्धा नहीं छोड़ी। पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि जयमलजीके शिष्य वक्तोजीको, वत्सराज ओसवालको, लालजी पोरवालको तथा राजनगरके श्रावकोंको तुमने ही विपरीत श्रद्धा दी है इस लिये वह श्रद्धा तुमसे ही मिटेगी तुम उनको समझाओ। ऐसी गुरुकी आज्ञा होने पर भीषणजी राजनगर आये। वहां आने पर भीषणजीको वक्तोजीने बहुत उपालम्भ दिया और कहा कि हम सबोंने मिल कर एक नवीन पन्थ चलाना सोचा था लेकिन तुम

रघुनाथजीके पास जाकर उनसे मिल गये। इत्यादि कह कर वक्तोजीने भीषणजीका मन फिरा दिया। अब भीषणजीकी श्रद्धा फिर पूर्ववत् ज्योंकी त्यों हो गई। पश्चात् दो तीन मासके बाद भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास आये। और पूज्य श्री ने फिर उनका आहार अलग कर दिया। इसके बाद भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके गुरु भाई पूज्य श्री जयमलजी महाराजके पास चले गये। इसी कारण पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज और जयमलजी महाराजमें मतभेद उत्पन्न हुआ और छः मास तक यह झंझट चलता रहा परन्तु भीषणजीने अपना मत नहीं छोड़ा।

इसके अनन्तर श्री रघुनाथजी महाराजने गोशालकका दृष्टान्त देकर बगडी गांव में सम्वत् १८१५ चैत्र सुदी नवमी शुक्रवारके रोज भीषणजीको गच्छसे अलग कर दिया।

पश्चात् भीषणजी, वक्तोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी और गिरिधरजी आदि तेरह जनोंने मिल कर नवीन पन्थ चलाया। तेरह जनोंने इसे चलाया था इसलिये इसका नाम 'तेरह पन्थ' हुआ। ये लोग प्रत्येक ग्रामोंमें घूम घूम कर अपने मतका प्रचार करने लगे। और शास्त्रके ६५ बोलोंका अर्थ उलट पुलट कर दिया। और शास्त्रमें जहां जहां जीव रक्षा करनेका पाठ देखा उसके अर्थ फेर दिये। इन लोगोंने यह प्ररूपणा की थी कि जीव रक्षा आदि करनेमें कोई लाभ नहीं है। ये सब सांसारिक कार्य्य हैं।

पहले पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीको समझाया था कि भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतकमें गोशालकको वैश्यायन बाल तपस्वी तेजो लेश्याके द्वारा जला रहा था वहां भगवान् महावीर स्वामीने अनुकम्पा करके शीतल लेश्याके द्वारा गोशालक को बचाया था। इस लिये सिद्धान्तमें अनुकम्पा करना परम धर्म माना है उसको तुमने क्यों उठाया है।

यह सुन कर भीषणजीने कहा कि वीर समझदार होते तो छद्मस्थपनेमें गोशालकको दीक्षा क्यों देते, गोशालकको तिल क्यों बताते। वह तिल नहीं बताते तो गोशालक उसे क्यों उखाड़ फेंकता। तथा वीर गोशालकको तेजो लेश्या क्यों सिखाते। इस तेजो लेश्याके सिखानेसे गोशालकने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया तथा स्वयं वीरको भी उस तेजो लेश्याके तापसे छः महीने तक रक्त व्याधि भोगनी पड़ी थी। इत्यादि बहुतसे अनर्थ हुए। यदि वीर समझदार होते तो ऐसा अनर्थकर कार्य्य क्यों करते। किन्तु वीर चूक गये, उनमें छः लेश्यायें और आठ कर्म थे। यह हठ पकड़ कर भीषणजीने वीर भगवान्के प्रति बहुत कुछ अवर्ण वाद कहा।

इसके अनन्तर फिर गुरुने समझाया कि तीर्थंकर नीच कुलमें उत्पन्न नहीं होते और उनका गर्भापहार नहीं होता तथा केवल ज्ञान होने पर उनको उत्कृष्ट रक्त व्याधि

नहीं होती। इत्यादि जो दस आश्चर्य हुए हैं वे कभी नहीं होते पर किसी भावी योगसे हुए हैं। इस लिये गोशालक और भगवान् महावीर का पूर्वभवका वैर था उस वैरका फल भोगे विना वह किस प्रकार मोक्ष पाते ?। तथा वह छः महीने तक रक्तव्याधि भोगे विना किस प्रकार मुक्त होते ?। १३ वें सयोगी केवली गुणस्थानमें मोक्ष जानेके समय सात कर्म सम्पूर्ण होते हैं और वेदनीय कर्म बहुत होते हैं। केवल समुद्घातको प्रकट करके वेदनीय कर्मोंका क्षपण और आठ कर्मोंको पूर्ण करके केवली मोक्ष जाते हैं। इसलिये गोशालक कृत वेदना और उसके वैरको सम्पूर्ण किये विना भगवान् महावीर किस प्रकार मोक्ष जा सकते थे। यह भावी भाव था। इसी कारण भगवान् वीरने गोशालकको लेश्या सिखाई थी अतः वीर भूले यह शब्द तुम मत कहो। इस प्रकार पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भूषणजीको बहुत कुछ समझाया पर भीषणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

फिर पूज्य श्री रघुनाथजीने कहा कि उत्सूत्र प्ररूपणा करके तुम अनुकम्पा मत उठाओ। उपासक दशांग सूत्रमें श्रेणिक राजाने अनुकम्पा कर कसाई बाड़ा उठा दिया था और जीव नहीं मारनेका ढिंढोरा पिटवाया था। तथा राजप्रश्नीय सूत्रमें प्रदेशी राजाने बारह व्रत धारण करके अपनी संपत्तिके चतुर्थभागसे अनुकम्पार्थ दानशाला बनवाई थी। फिर उत्तराध्ययन सूत्रमें श्री नेमिनाथजीने विवाहार्थ जाते हुए पशुओंसे भरा हुआ बाड़ा देखा और अनुकम्पा कर उन्हें छुड़ा दिया। तथा ठाणाङ्ग सूत्रमें दश प्रकारके दान कहे हैं उनमें अनुकम्पा दानका वर्णन है। इस प्रकार शास्त्रमें ६५ जगह अनुकम्पा सम्बन्धी पाठ आये हैं उन पाठोंको बता कर भी भीषणजीको समझाया पर भीषणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

यही भीषणजी तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। इनका सम्प्रदाय शास्त्र विरुद्ध होनेके कारण यद्यपि क्षण भर भी ठहरने योग्य न था तथापि जनताके अन्दर मूर्खताका आधिक्य होनेसे और हुण्डा अवसर्पिणी कालके प्रभावसे इनका सम्प्रदाय चल निकला। और इस सम्प्रदायके चलनेसे जनताके अन्दर जीव रक्षा करनेमें एकान्त पापका विश्वास उत्पन्न हुआ।

इस भीषणजीके चौथे पाट पर जीतमलजी नामक एक व्यक्ति आचार्य हुए। इन्होंने दान दयाका सर्वनाश करनेके लिये भ्रमविध्वंसन नामक एक ग्रंथ रचा और उसमें शास्त्रके अर्थका अनर्थ करके मूर्ख जनतामें भीषणजीके सिद्धान्तोंको पुष्ट करनेका पूर्ण प्रयास किया। जहां जहां भीषणजीकी श्रद्धा शास्त्रसे विरुद्ध होती थी वहां वहां इन्होंने शास्त्रका अर्थ बदल दिया है। और जहां अर्थ नहीं बदल सका वहांका पाठ ही नहीं

लिखा। तथा कहीं अपूर्ण पाठ लिख कर जनतामें भ्रम खण्डन करनेके बहानेसे भ्रमका प्रचार किया। इस प्रकार जीतमलजीने भ्रमविध्वंसनमें दान दया आदि पवित्र धर्मोंका उच्छेद करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न किया है। इस ग्रंथके प्रचार होनेसे जनताके अन्दर ऐसा अज्ञान फैल गया है कि थली प्रान्तमें रहने वाले तेरह पन्थी ओसवाल बन्धुओंने जीव-रक्षा रूप धर्मका बहिष्कार सा कर दिया है। इस अनर्थ परम्पराको बढ़ते देख कर जनताके कल्याणार्थ पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराजके पटानुपाट पर विराजमान १००८ पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराजने बहुत परिश्रम के साथ यह सद्धर्ममण्डन नामक ग्रंथ बनाया है।

इस ग्रंथमें मूल सूत्र और उनसे मिलती हुई टीका, भाष्य, चूर्णी और कहीं कहीं मूलानुसारिणी टव्वाओंका आश्रय लेकर सत्य धर्मको प्रकट करनेकी पूर्ण चेष्टा की गई है। इस ग्रंथको मनन पूर्वक अवलोकन करनेसे शास्त्र विरुद्ध तेरह पन्थियोंका सिद्धान्त साफ साफ मिथ्या नजर आने लगता है और जीवरक्षा तथा दान आदि धर्म, शास्त्रीय प्रमाणित होते हैं। अतः सत्य धर्म ज्ञान की इच्छा करने वाले पुरुषोंको अवश्य यह ग्रंथ देखने योग्य है और बाईस सम्प्रदायके श्रावकों के लिये तो इसे देखना परम आवश्यक है। यद्यपि तेरह पन्थके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके लिये अनेक मुनि महात्माओंने परिश्रमके साथ अनेक ग्रंथ बनाये हैं और तेरह पन्थकी कुयुक्तियोंसे चतुर्विध संघकी बहुत ही रक्षा की है। इस उपकारके लिये उन महात्माओंका यह बाईस सम्प्रदाय ऋणी है तथापि उन महात्माओंके ग्रंथ पुरानी भाषामें लिखे हैं और कई जगह दृष्टि दोषसे उनमें त्रुटियां भी रह गई हैं तथा कहीं कहीं उनमें अशुद्ध टव्वा भी छप गये हैं इस लिये आधुनिक प्रचलित भाषामें इस नवीन ग्रंथको निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस ग्रंथके बनानेमें सबसे प्रधान कारण यह है कि पूर्व महात्माओंके बनाये हुए ग्रंथोंमें इस "भ्रमविध्वंसन" का पूर्ण खण्डन नहीं आया है। क्योंकि वे सब ग्रंथ भ्रमविध्वंसनके छपनेसे पहलेके बने हैं। इस लिये उन ग्रंथोंमें भ्रमविध्वंसनके कुयुक्तियों का खण्डन नहीं होना स्वाभाविक है। इस त्रुटिको दूर करनेके लिये यह ग्रंथ बनाना आवश्यक हुआ। परन्तु किसी अच्छे कार्य्यके लिये सुअवसरका मिलना सुलभ नहीं है। सौभाग्यवश १००८ पूज्य श्री जवाहिर लालजी महाराजका भीनासरमें सम्वत् १९८४ में चातुर्मास्य हुआ। महाराज साहेबसे इस कार्य्यके लिये सङ्घकी पहलेसे ही प्रार्थना थी और महाराज साहेब स्वयं भी इस कार्य्यको करना चाहते थे सुअवसर देख कर महा-राजने घोर अन्धकारमें पड़ी हुई असन्मार्गमें प्रवृत्त जनताको सत्पथमें प्रवृत्त करनेके लिये

इस ग्रन्थका भीनासरमें ही बनाना आरम्भ कर दिया। और चातुर्मास्य भर भीनासरमें यह कार्य्य हुआ। पश्चात् सङ्घकी प्रार्थनासे पूज्यश्रीका थली प्रान्तमें विहार हुआ वहां पर घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ी हुई जनताको देख कर इस ग्रन्थको बनानेमें पूज्यश्रीकी और भी प्रबल इच्छा हुई। और सरदार शहरके चातुर्मास्यमें पुनः यह कार्य्य प्रचलित किया पर सरदार सहरके चातुर्मास्य समाप्त होने पर पूज्यश्री का ग्रामानुग्राम विहार होनेके कारण यह कार्य्य चूरूके चातुर्मास्य तक रूका रहा। पश्चात् चूरूके चातुर्मास्यमें होकर बीकानेरके चातुर्मास्यमें सम्वत् १९८७ के अन्दर यह कार्य्य समाप्त हुआ।

बन्धुओ ?

भगवान् महावीर स्वामीसे लेकर आज तक जितने आचार्य्य हुए हैं किसीने भी जीवरक्षाको पाप नहीं बतलाया है किन्तु सभीने इसे धर्म कहा है। पर आज तेरह पन्थ सम्प्रदाय इसे पाप कहता है यह इसकी अपनी कपोल कल्पना है शास्त्रकी यह राय नहीं है। तेरह पन्थियोंसे जब पूछा जाता है कि तुम्हारे समान प्ररूपणा किसी पूर्वाचार्य्यने पहले कभी की हो तो बतलाओ ?। इसका यथार्थ उत्तर तेरह पन्थियोंसे कुछ भी नहीं दिया जाता किन्तु भोली भाली श्रावक मण्डलीको बहकानेके लिये वे कहते हैं कि हमारी श्रद्धा ही पुरानी है और यही सच्चा जिनभाषित धर्म है परन्तु काल पाकर यह नष्ट हो गया था। पश्चात् हमारे पूर्वाचार्य्य भीषणजीने इसका पुनरुद्धार किया है। यह कह कर अन्धविश्वासी जनताको वे भूलाये देते हैं। परन्तु बुद्धिमानों को निर्मूल तथा शास्त्र-विरुद्ध इनकी बातें नहीं माननी चाहिये।

साक्षात् भगवान महावीर स्वामीने भगवती सूत्र शतक २० उद्देशा ८ के मूलपाठ में चतुर्विध सङ्घको लगातार २१००० वर्ष तक चलता रहना बतलाया है इसलिये तेरह पन्थियों का तीर्थ विच्छेद बतलाना एकान्त मिथ्या है। भगवती सूत्र का वह मूल-पाठ यह है—

जम्बू दीवेणं भन्ते ? दीवे भारए वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवं तियं कालं तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ? गोयमा ? जम्बूदीवे दीवे भारए वासे इमीसे ओस्स-प्पिणीए ममं एगविसं वासं सहस्साइं तित्थे अणुसिज्जस्सइ" (सूत्र ६७९)

अर्थ—हे भगवन् ? जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें इस अवसर्पिणीकालमें आपका तीर्थ कितने काल तक लगातार चलता रहेगा ?

उत्तर—हे गोतम ? जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें इस अवसर्पिणी कालमें मेरा तीर्थ २१००० वर्ष तक लगातार चलता रहेगा।

इस पाठमें चतुर्विध संघका लगातार २१००० वर्ष तक चलता रहना साक्षात् तीर्थङ्करने वतलाया है अतः भगवान्के तीर्थको वीचमें टुटनेकी बात तेरह पन्थियों की नितांत शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये।

जव यह पाठ तेरह पन्थियोंके सामने रक्खा जाता है तव वे कहते हैं कि—इस पाठमें तीर्थ शब्दका चतुर्विध सङ्घ अर्थ नहीं किन्तु शास्त्र अर्थ है। और इस पाटमें भगवान्ने अपने शास्त्रको २१००० वर्ष तक चलना वतलाया है पर यह भी उनकी दलील शास्त्रविरुद्ध ही ठहरती है। इसी जगह भगवान्ने मूलपाठमें तीर्थ शब्दका अर्थ चतुर्विध सङ्घ वतलाया है वह पाठ—

"तित्थं भन्ते ? तित्थं तित्थंकरे तित्थं गोयमा ? अरहा ताव णियमा तित्थं करे तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे तंजहा समणा समणीयो सावया सावियाओ"

(सूत्रम् ६८१)

अर्थ—हे भगवन् तीर्थको तीर्थ कहते हैं अथवा तीर्थङ्करको तीर्थ कहते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! अरिहंत तो नियमसे तीर्थङ्कर होते हैं किन्तु चतुर्विध श्रमण सङ्घको तीर्थ कहते हैं। वह श्रमण संघ यह है—साधु साध्वी, श्रावक और श्राविकायें।

यहां भगवान्ने तीर्थ शब्दका साफ साफ साधु साध्वी श्रावक और श्राविका अर्थ किया है और इनके समूह को ही इसके पूर्व सूत्रमें २१००० वर्ष तक चलना वतलाया है। अतः तीर्थ शब्दका अर्थ यहां शास्त्र मानना और चतुर्विध सङ्घको वीचमें टुटनेकी प्ररूपणा करना एकांत मिथ्या है।

इसी तरह वीचमें तीर्थ टुट जानेके सम्वन्धमें जो तेरह पन्थी यह युक्ति देते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर भस्मग्रहका लगना कल्पसूत्रमें कहा है उस भस्मग्रहके कारण भगवान्का चलाया हुआ तीर्थ टूट गया था यह भी मिथ्या है क्योंकि कल्पसूत्रके उसी पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भस्म गृहके लगने के समय में भी भगवान् का तीर्थ चलता ही रहा था टूटा नहीं था। वह पाठ यह है:—

"जप्पभिइं चणं से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वास सहस्सठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्म नक्खत्तं संकंते तप्पभिइं चणं समणाणं णिग्गंथाणं निग्गंथीणय नोउदिए उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ" (कल्पसूत्र)

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थितिवाला भस्मराशि नामक महाग्रह जवसे लगेगा तवसे श्रमण निग्रन्थ और निग्रन्थियोंका पूजा सत्कार उदय उदय न होगा।

इस मूलपाठमें भश्मग्रह लगनेसे भगवान् महावीर स्वामीका तीर्थ विच्छेद होना नहीं कहा किन्तु श्रमण निग्रन्थोंकी उदय उदय पूजा वर्जित की है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भश्मग्रहके समयमें भी भगवान् महावीर स्वामी का चलाया हुआ तीर्थ चलता ही रहा टूटा नहीं क्योंकि जब तीर्थ ही नहीं रहेगा तब फिर उदय पूजा किस की बन्द होगी ? अतः कल्पसूत्रका नाम लेकर भगवान् महावीर स्वामीके तीर्थका बीच में विच्छेद बतलाना मिथ्या है।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकी भूमिकामें जो यह लिखा है कि—

"पश्चात् १८५३ में धूमकेतु ग्रहके उतर जानेके कारण श्री स्वामी हेमराजजीकी दीक्षा होनेके अनन्तर क्रमानुक्रम जिन मार्गकी उन्नति होने लगी" यह भी मिथ्या है। क्योंकि धूमकेतु ग्रह वंगचूलियाके पाठानुसार विक्रम संवत् १५६२ में ही उतर गया था। सम्वत् १८५३ में उस के उतरने की बात मिथ्या है। देखिये वंग चूलिया का पाठ यह है—

"ततो सोलस्सएहिं नव नवति संजुएहिं वरीसेहिं ते दुट्ठ वाणियग्गा अवमन्नइस्संति सुयं मेयं तम्मिगए अग्गिदत्त ? संघे सुय जम्मरासी नक्खत्ते अडतीसमो दुट्ठो लगिस्सइ धूमकेउग्गहो। तस्सठिई तिन्नि सया तेतीसा एगराशि परिमाणं तम्मियमि ण पइट्ठो संघसुयस्स उदयो अत्थि"

अर्थात् इसके अनन्तर १६९९ वर्षमें संघके जन्म नक्षत्र पर अट्ठाइसवां धूमकेतु नामक महाग्रह लगेगा वह तीनसौ तैंतीस वर्ष तक वहां स्थित रहेगा इसकी स्थिति-काल में सङ्घ और शास्त्र की पूजा प्रतिष्ठा कम होगी। यह इस पाठका भावार्थ है।

यहां वीर निर्वाणसे १६९९ पर तीनसौ तैंतीस वर्षके लिये धुमकेतु का लगना बतलाया है और विक्रम संवत् १२२९ में वीर निर्वाण काल १६९९ वर्षका होता है। इसका हिसाब इस प्रकार लगाइये वीर निर्वाणके अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दी वाहनका शक चलता रहा उसके बाद विक्रम सम्बत् आरम्भ हुआ। इसलिये विक्रम संवत् १२२९ में ४७० वर्ष मिला देनेसे १६९९ वर्ष होते हैं। यही वंगचूलियाके हिसाबसे धूमकेतुग्रहके प्रवेशका समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा इसलिये विक्रम संवत् १२२९ में ३३३ जोड़ देनेसे १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम संवत् १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अतः भ्रमविध्वंसनकी भूमिकामें विक्रम संवत् १८५३ में धूमकेतुके उतरनेका समय बतलाना मिथ्या समझना चाहिये।

तथा इस ऊपर लिखे हुए वंगचूलियाके पाठमें धूमकेतु ग्रहके समयमें चतुर्विध सङ्घकी उदय उदय पूजाका ही निषेध किया है सङ्घका टूट जाना नहीं बतलाया है

अतः धूमकेतुके समयमें भी चतुर्विध सङ्घ का बना रहना सिद्ध होता है। तथापि जो तेरह पन्थी बीच में चतुर्विध सङ्घ के टुटने की प्ररूपणा करते हैं वह एकान्त मिथ्या है।

तेरह पन्थियोंको अपने सिद्धान्तका समर्थक जब कोई प्रमाण नहीं मिलता तब वे लाचार होकर सङ्घका टूटना बतलाने लगते हैं। लेकिन इन की यह बात भी जब भगवती शतक २० उद्देशा ६ के मूलपाठके विरुद्ध ठहर जाती है तब वे क्रोधान्ध हो कर पूछने वालेको अपमानित करने लगते हैं।

इनके जितने ग्रन्थ बने हैं उन सबोंका एकमात्र उद्देश्य दया दानका बहिष्कार करना ही है। पर सभी ग्रन्थोंमें जितमलजीका बनाया हुआ भ्रमविध्वंसन ग्रन्थ प्रधान है। इसमें बड़ी चातुरीके साथ दयादानका खण्डन किया है। इसी एक दयादान का खण्डन करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारको अनेकों जगह शास्त्रके अर्थको अनर्थ करना पड़ा है। जैसे महाजनकी वहीमें एक जगह परिवर्तन होने पर सारी वहीके रकम बदलने पड़ते हैं उसी तरह एक दयादानका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी को अनेकों शास्त्र विरुद्ध बातें स्वीकार करनी पड़ी हैं। जैन दर्शन तथा जैनेतर दर्शन सभीका यह सिद्धांत है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वके साथ की जाने वाली क्रिया मोक्ष देनेवाली नहीं होती और उस क्रियाका आराधक पुरुष मोक्षमार्गका आराधक नहीं होता किंतु सम्यक्त्व और ज्ञानपूर्वक की जानेवाली क्रिया ही मोक्षदायिका होती है पर दयादानका खण्डन करनेके लिये तेरह पन्थियोंको अज्ञान और मिथ्यात्वसे की जानेवाली क्रियासे भी मोक्षमार्गकी आराधना स्वीकार करनी पड़ी है।

जैन और उससे इतर शास्त्रोंको एकमतसे मिथ्यात्विकी क्रिया के विषयमें यही मान्यता है कि मिथ्यात्विकी क्रियासे मोक्षमार्गकी आराधना नहीं होती। देखिये बृहदारण्यक उपनिषदमें लिखा है कि—

"योवा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्ष सहस्राण्यन्तवदेवास्यतद्भवति

अर्थ—हे गार्गि ? जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है यज्ञ करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारों वर्ष तक इन क्रियाओं को करता रहे पर वह संसारके लिये ही हैं। (बृहदारण्यक)

प्राचीन कालसे लेकर इस समय तकके प्रत्येक आस्तिक आर्य्य धर्मने आत्माका आत्माके बन्धनका और मोक्षका वर्णन किया है। जैसे अहिंसा या दयाके विषयमें ये सब धर्म एक मत हैं वैसे ही इस मान्यता में भी किसीको विवाद नहीं है कि बिना

सम्यक् ज्ञानके मोक्ष अथवा मोक्षकी आराधना नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बन्धनसे छूटना मोक्ष है। जब तक आत्मा अपने असली स्वरूपको, अपने बन्धनको, बन्धनके कारणको, मोक्षके उपायोंको सम्यक् प्रकारसे नहीं जान लेता तब तक उसे न वर्तमान विकारमय अवस्थासे मुक्त होनेकी इच्छा हो सकती है और न वह उसके लिये किसी प्रकारकी प्रवृत्ति ही कर सकता है। जिस रोगीको यह मालूम नहीं है कि मैं रोगी हूं, मैं रोगी हुआ हूं, रोगसे मुक्त होनेके उपाय क्या हैं नीरोगता क्या चीज है, वह अपना रोग मिटानेकी न कभी इच्छा करेगा और न उसकी प्रवृत्ति ही करेगा।

यही कारण है कि समस्त धर्मोंने सम्यग्ज्ञानको अवश्य ही मुक्तिके साधनोंमें प्रधान माना है। ऊपर बृहदारण्यकके उल्लेखमें भी यही बात बताई गई है। बृहदारण्यकके सिवाय अन्य उपनिषदोंमें तथा प्रत्येक दर्शन शास्त्रमें भी यही मान्यता स्वीकार की गई है। कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं, जिससे विषय स्पष्ट हो जाय।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो नच प्रमादात्तपसोवाऽप्यलिंगात्
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम"

अर्थात् जिसमें आत्मबल नहीं है वह पुरुष आत्मा (आत्माके असली स्वरूप) को नहीं पा सकता। न वह आत्मा प्रमादसे, और लिंग (साधुका भेष) हीन तपसे ही प्राप्त हो सकता है। हां, जो ज्ञानी बन कर इन उपायोंको आत्मबल, अप्रमाद, लिंग युक्त तपको काममें लाता है वही ब्रह्मधाम (आत्माके असली निवासस्थान) में प्रवेश करता है।

बृहदारण्यक और मुण्डकोपनिषद्के इन दोनों उल्लेखोंसे यह विषय साफ समझमें आ जाता है कि जो मनुष्य ज्ञान हीन होकर तपस्या आदि करता है वे उसके सब कर्म संसारके ही कारण हैं और जो ज्ञान युक्त होकर इन्हीं तपस्या आदि कर्मोंको करता है, उसके वे ही कर्म मुक्तिके कारण होते हैं।

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
नस तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।
यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः।
सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।
(कठोपनिषत्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक ठीक विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है। वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत संसारमें ही परिभ्रमण करता है। जो ज्ञानी है वह ठीक ठीक विचार कर सकता है और वह सदा पवित्र है। वह ऐसे पदको पाता है जिससे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ता है।

इस उल्लेखमें अज्ञानीको सदा अपवित्र बताया है 'सदा' शब्द देनेका तात्पर्य्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएं करे पर ज्ञानका अभाव होनेसे उसकी सब क्रियाएं पवित्रताका कारण नहीं हो सकतीं वरन् अपवित्रताका ही कारण होती हैं।

ठीक इसी प्रकारका उल्लेख जैन सूत्र सूत्रकृतांग सूत्रमें है—

"जेयाऽवुद्धा महाभागा वीरा असम्मत्त दंसिणो
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो।
जेय वुद्धा महाभागा वीरा संमत्तदंसिणो
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो।"

(सु० श्रु० १ अ० ८ गाथा २३-२४)

अर्थात् जो असम्यदर्शी और अज्ञानी है वह जगतमें महाभाग यानी पूजनीय अथवा बड़ा भारी वीर समझा जाता हो पर उसकी सभी क्रियाएं अपवित्र और संसारिक फलको ही देने वाली होती हैं। जो सम्यग्दर्शी और ज्ञानी है उस महाभाग और वीर पुरुष की दानाध्ययनादि रूप सभी पारलौकिक क्रियाएं पवित्र और मोक्ष फल देती हैं।

ऊपर कहे हुए उपनिषद्के वाक्य और सुय० की उक्त गाथाओंके मिलान करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इस विषयमें जैन और वैदिक सम्प्रदायकी मान्यता एक ही है। क्रियाएं समान होने पर भी सम्यग्ज्ञानी होनेसे एक व्यक्ति उनसे मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा अज्ञानी होनेसे इन्हीं क्रियाओंको संसारका कारण वना लेता है।

"हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदोविदुः"

(मुण्डकोपनिषत्)

सुनहरी परम कोषमें निर्मल निरवयव ब्रह्म (आत्मा) है वह शुभ्र है, ज्योतियों की ज्योति है उसे वे ही जान सकते हैं जो अपनी आत्माको जानते हैं।

इस वाक्यमें भी ज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है अज्ञान या मिथ्यात्वको नहीं। वौद्ध धर्ममें मुक्तिके अंग आठ माने हैं। उन सवमें सबसे पहले सम्यग्दृष्टि अर्थात् दुःख दुःखके कारण और उन्हें दूर करनेके उपायोंको सम्यक्प्रकार जानना, वतलाया है। मूल पाठ यह है—

"सम्यग्दृष्टिः सम्यक्संकल्पः सम्यग्वाक् सम्यक्कर्मान्तः सम्यगाजीवः सम्यग्व्यवसायः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिश्च। तत्र सम्यग्दृष्टिः दुःखतद्धेतु तन्निषेधमार्गाणां यथा तथ्येन दर्शनम्।"

(तर्क सं० प्र० पृ० ५)

यहां सम्यग्दर्शनको पहला स्थान दिया है और सम्यक्चारित्रको चौथा, क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना सम्यक् चारित्र नहीं होता। यहां तक कि सम्यक् प्रकारका संकल्प भी नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यक् संकल्प और मोक्ष प्राप्तिकी दृढ़ इच्छा होती है, इसी कारण यहां सम्यग्दर्शनके बाद सम्यक् संकल्प गिनाया गया है।

न्याय दर्शनमें गोतम मुनि कहते हैं—"दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानाना मुत्तरोत्तरापाये तदनंतरापायादपवर्गः" (न्याय अ० १)

अर्थात् मोक्षके लिये सर्व प्रथम मिथ्या ज्ञानका नाश होना आवश्यक है। मिथ्या ज्ञानके नाश होने पर रागादि दोष, रागादि दोषोंके नाशसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके नाशसे जन्म और जन्मके नाशसे दुःखका नाश होता है। दुःखोंका नाश होने पर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

यहां पर भी यह बताया गया है कि मोक्षके लिये सबसे पहले सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना सम्यक् ज्ञानके मिथ्या ज्ञानका नाश नहीं होता और मिथ्या ज्ञानके नाशके विना इह लोक और परलोकके सुखोंका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते। जब तक सांसारिक सुखोंका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते तब तक मोक्ष पाना अत्यन्त दुर्लभ है इस लिये मोक्ष प्राप्तिके लिये सम्यग् ज्ञानकी सर्व प्रथम आवश्यकता न्याय दर्शन में बतलाई है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है :—

"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" (वै० सूत्र) तत्त्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विवक्षित-स्तैव सवासन मिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात्" "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय"

अर्थात् आत्माका साक्षात्कार हो जानेको तत्त्वज्ञान कहते हैं क्योंकि उसीसे मिथ्या ज्ञानका नाश हो सकता है। तत्त्वज्ञान होने पर ही मोक्ष होतो है। आत्माका प्रकाशके सिवाय मुक्तिका और कोई उपाय नहीं है।

यह मान्यता भी जैन धर्मसे मिलती है। जैन धर्मका मत है कि आत्मामें जब सम्यग्दर्शन होता है तब मिथ्या ज्ञानका नाश होता है और वैशेषिक दर्शन भी यही कहता है कि आत्म साक्षात्कार ही मिथ्या ज्ञानका नाशके द्वारा मोक्ष देनेमें समर्थ है।

कपिल ऋषि प्रणीत सांख्य दर्शनमें इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश डाला गया है। सांख्य दर्शनके प्रारम्भिक सूत्र यों हैं—

"अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिः परम पुरुषार्थः। नदृष्टात्तत्सिद्धि निंवृत्तेऽप्यनु-वृत्ति दर्शनात्। प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकार चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम्" सर्वासंभवात् संभवेऽपि सत्त्वासंभवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः। उत्कर्षादपिमोक्षस्य सर्वोत्कर्ष श्रुतेः"

(सांख्य दर्शन सूत्र १-२-३-४-५)

अर्थात तीन प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाना अत्यन्त पुरुषार्थ (मोक्ष) है। दुःखोंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति (मोक्ष) लोकमें देखे जाने वाले धन, प्रियजनोंके संयोग आदि उपायोंसे नहीं हो सकती जैसे भोजन करनेसे सदाके लिये भूख नहीं मिटती वैसे ही लौकिक उपायोंसे सदाके लिये दुःख दूर नहीं होते। इन उपायोंसे दुःख पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं होते, थोड़े बहुत होते भी हैं तथापि वे चिरम न रहते हैं। लौकिक उपायोंसे उत्कृष्ट राज्य आदि लौकिक पदार्थ प्राप्त होते हैं लेकिन वेदमें मोक्ष उनसे भी बहुत उत्कृष्ट बताया है इसलिये भी उन उपायों से वह प्राप्त नहीं हो सकता।

इसके बाद यह प्रश्न किया गया है कि "यदि दृष्ट साधनसे सर्वथा दुःखका नाश नहीं होता तो वेद विहित यज्ञ आदि कर्मों से हो जायगा ? इसका उत्तर कपिल ऋषि कहते हैं—"अविशेषश्चोभयोः" (सू० ६) इसके भाष्यका अर्थ यह है—दोनोंका अर्थात् दृष्ट जो लोकमें देखनेमें आता है व अदृष्ट जो यज्ञ साधन धर्मफल देखनेमें नहीं आता इन दोनोंका जैसा कहा गया है, आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके साधन होनेमें विशेष नहीं है। अर्थात् दोनों ही एक समान हैं, अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति यज्ञ आदिसे भी नहीं होती। मोक्षके साधक होनेमें विवेक (सम्यग् ज्ञान) होना ही मुख्य उपाय है। विवेक से अविवेकका नाश होने पर दुःख मात्रका नाश होता है अन्यथा नहीं होता"

इस प्रकार बिना विवेक (सम्यग् ज्ञान) के मोक्ष होना अत्यन्त असम्भव बता कर सुत्रकार स्वयं कहते हैं "ज्ञानान्मुक्तिः" (अ० ३ सूत्र २४) अर्थात् ज्ञान होने पर ही मुक्ति होती है और "बन्धो विपर्य्ययात्" (सूत्र २५) अज्ञानसे बन्ध होता है।

इस तरह सांख्य दर्शनके अनुसार भी यह सिद्ध है कि कोई व्यक्ति यज्ञ, जप, तप, आदि क्रियाएं भले ही करता रहे परन्तु जब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी ये क्रियाएं मुक्तिका कारण नहीं हो सकतीं ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आराधना हो सकती है।

पतञ्जलि ऋषि अपने योगदर्शनमें कहते हैं—

"तस्यहेतु रविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्"

(साधनपाद सूत्र २४।२५)

अर्थात् संसारका मूल कारण अविद्या है। अविद्या, मिथ्याज्ञानको कहते हैं। मिथ्या ज्ञानका नाश होनेसे आत्माको मोक्ष प्राप्त होता है वहीं मोक्ष आत्माका कैवल्य है। अन्य वस्तुका संसर्ग न होनेसे वही आत्माकी शुद्ध निखालिश अवस्था है।

पातञ्जल योगसूत्रसे भी उपर्युक्त विषयका ही समर्थन होता है। इसमें संसार का मूलकारण अज्ञान बताया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जब तक आत्मामें अज्ञान है तब तक मोक्षकी आराधना या मोक्ष नहीं हो सकता। इसी विषय का आगे और भी खुलासा किया गया है—

"विवेक ख्याति रविप्लवा हानो पाय:" (सूत्र २६)

"मिथ्याज्ञानवासनयाऽन्तराभिभवो विप्लवस्तद्रहितो विवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविशोन्मूलन द्वारेत्यर्थः।" (भाष्य)

अर्थात् मिथ्याज्ञानके संस्कारोंसे आत्मामें एक प्रकारका विप्लव होता रहता है। वह विप्लव सम्यग्ज्ञान होने पर नष्ट होता है वही सम्यग्ज्ञान आत्माके सच्चे स्वरूपका अवलोकन—मोक्षका उपाय है। यहां भी वही बात बताई गयी है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं।

इन सब उल्लेखोंसे भलीभांति सिद्ध है कि मोक्षकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान अनिवार्य्य हैं। प्रत्येक मतमें इनको सर्वप्रथम कारण माना है अतः इस विषयमें भी संदेह नहीं कि सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आकांक्षा होती है। उपनिषदोंके प्रमाणोंसे यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि बिना सम्यग्ज्ञानके किये जाने वाले तपस्या आदि आचरण मोक्षके कारण नहीं हैं बल्कि संसारके ही कारण हैं।

ऊपर जो मान्यता प्रकट की गयी है ठीक वही जैन धर्मकी भी है। बिना ज्ञान का किये जाने वाले तपको जैन परिभाषामें "बाल तप" कहते हैं और वह संसार का ही कारण है।

प्रत्येक धर्मकी ऐसी मान्यता होने पर भी आश्चर्य्यकी बात है कि थोड़े दिन पहले पैदा होने वाले भीषणजीने इनसे विरुद्ध एक विचित्र मत निकाला है। इन्होंने भारत वर्षके तमाम दर्शन—सिद्धांतोंका तखता ही उलट देनेकी चेष्टा की है। इनका मत है कि जो जीव, अपने स्वरूपको, बन्धको, और मोक्षको जानता ही नहीं वह भी मोक्ष की आराधना करता है। अर्थात् जिस व्यक्तिको यह भी ठीक नहीं मालूम है कि, मुझे रोग है या नहीं, है तो क्या रोग है, क्यों उत्पन्न हुआ है, कैसे दूर होगा, दूर होने पर क्या सुख दुःख होगा ? वह भी अपना रोग दूर कर सकता है। जो बात आज तक किसी ऋषि महर्षिको न सूझी थी वह महाशय भिक्खूजीको सूझी। इसीलिये वे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव भी मोक्षका आराधक है। वस्तुतः यह सिद्धांत प्रत्येक दर्शन से, अनुभवसे और युक्तिसे सर्वथा बाधित है। जिसे जिस वस्तुका सम्यग्ज्ञान ही नहीं है वह उसकी प्राप्तिके लिये कदापि प्रयत्न नहीं कर सकता। अगर कोई करता भी है तो

कृतकार्य्य नहीं हो सकता अतः सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर ही मोक्षाराधनाका आरम्भ होता है पहले नहीं।

(भीषणजीने सर्व भारतीय दर्शनोंके विरुद्ध अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष की आराधना क्यों अङ्गीकार की ?)

भीषणजीने अपने गुरुको नीचा दिखानेके लिये जो संकल्प किया था उसकी पूर्तिके लिये सिद्धान्तमें हेर फेर करके एक नवीन सम्प्रदाय निकाला और इसका मूल-सिद्धान्त दयादानमें एकान्त पाप मानना अङ्गीकार किया। ऐसा मानने पर यह सम्प्रदाय अनायास ही बाइस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे असहमत होकर पृथक् हो गया। इन्होंने दयादानको एकान्त पापमें सिद्ध करनेके लिये और कोई मार्ग न देख कर जिन आज्ञामें ही धर्म और पुण्य होना मान लिया परन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञानो जीव भी अकाम निर्जरा आदि क्रियाके द्वारा पुण्य बांध कर स्वर्ग जाते हैं यह देख कर इनको मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी जीवकी क्रिया भी जिन आज्ञामें ही माननी पड़ी। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि की क्रियाको आज्ञामें मान कर हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले अनुकम्पादान को आज्ञा बाहर बताकर उसे एकांतपापका कारण बताया।

जीतमलजीने भीषणजीके उक्त मतकी पुष्टिके लिये भ्रमविध्वंसन नामक ग्रन्थ बनाया और उसके पहले प्रकरणमें विविध कुयुक्तियोंका आश्रय और शास्त्रोंका अनर्थ करके मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको आज्ञामें स्थापन करनेकी चेष्टा की दूसरे प्रकरण दानाधिकारमें हीन दीन जीवको दिये जाने वाले अनुकम्पा दानको आज्ञा बाहर ठहरा कर उसमें एकांत पाप बतलाया। हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले दानमें प्रत्यक्ष अनुकम्पारूप गुण देखनेमें आता है और अनुकम्पा करना शास्त्रमें सातवेदनीय कर्मका कारण माना है यह देख कर जीतमलजीने अनुकम्पाका शास्त्रविरुद्ध सावद्य और निरवद्य दो भेद बताया और इसके लिये अनुकम्पाधिकार नामक तीसरा प्रकरण लिखा। भगवान् महावीर स्वामीने गोशालकके ऊपर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये थे और जगतमें जीवरक्षा करनेका एक पवित्र आदर्श रक्खा था इस कार्य्यसे अनुकम्पाका समर्थन होता देख कर जीतमलजीने भगवान् महावीर स्वामीपर चूक जाने का लांछन लगाने के लिये लब्धि गोशालक और गुण वर्णन आदि प्रकरण लिखे और उन प्रकरणोंमें शास्त्र के अर्थका अनर्थ करके यथा कथंचित् भगवान महावीर स्वामीके चूकनेका साधन किया। यह सब अनर्थ इन लोगों को दया दान में पाप स्थापन करनेके लिये करना पड़ा है।

इन लोगोंके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका प्रकाश करनेके लिये इस सद्धर्ममण्डन नामक ग्रन्थकी रचना हुई है अतः इस ग्रन्थके प्रकरणोंका दूसरा नाम न रखकर भ्रम-

विध्वंसनके प्रकरणोंका ही नाम क्रमशः दिया गया है और उन प्रकरणोंमें भीषणजी और जीतमलजीके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका प्रमाणानुसार निराकरण किया गया है। भ्रमविध्वंसनको सामने रख कर बुद्धिमान् पुरुष यदि इस ग्रन्थका मनन करें तो अनायास ही वे तथ्यातथ्यका निर्णय कर सकते हैं कालिदासने लिखा है कि "हेम्नः ,संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपिवा" अर्थात् सोना विशुद्ध है या, नहीं है यह बात आग में ही जानी जाती है। अतः विद्वान् जीवोंसे इस ग्रन्थ की सत्यता या असत्यता छिप नहीं सकती।

अन्तिम निवेदन।

प्रारम्भमें यह ग्रन्थ, प्रतिवादिमानमर्द्दन श्रीमज्जैनाचार्य्य १००८ पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराजने कच्चे खरेंके रूपमें अपने सन्तोंको लिखवाया था। श्रीयुत पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझाने उस कच्चे खरेंको देख कर तथा अन्यान्य नये विचार पूज्य श्री के मुखारविन्दसे सुन कर बड़े परिश्रमके साथ ग्रन्थको इस रूपमें तय्यार किया और जहां उन्हें उचित प्रतीत हुआ वहां संशोधन भी किया। पण्डित महोदय यद्यपि व्याकरण आदिके बहुत अच्छे विद्वान् हैं परन्तु जैन सिद्धांतोंको जानने और उनके विषय में कुछ लिखनेका यह पहला ही मौका है। इसलिये सम्भव है कि पूज्यश्रीके कहे हुए आशयको समझनेमें पण्डित महोदयको कहीं भ्रम हुआ हो और इस प्रकार ग्रन्थमें कोई त्रुटि रह गयी हो। साथ ही दृष्टिदोष और प्रेसके कर्मचारियोंकी असावधानीसे भी ग्रन्थ में त्रुटियोंका रहना सम्भव है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि किसी त्रुटिके दृष्टिगोचर होने पर हमें सूचित करनेकी कृपा करें। न्याय्य बातको स्वीकार करनेमें हमको किसी प्रकारका दुराग्रह नहीं हो सकता। तथा त्रुटियोंका संशोधन होना भी उचित है इसलिये पाठकोंकी ओरसे आई हुई ऐसी सूचनाका स्वागत करते हुए हम पाठकों का आभार मानेंगे तथा दूसरी आवृत्तिमें उन त्रुटियोंको न रहने देनेका भर सक प्रयत्न करेंगे।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसंति दुर्ज्जनास्तत्र समादधति साधवः।

भवदीयः—

तनसुखदास फूसराज दूगड़ (सरदार शहर)

अनुक्रमणिका ।

मिथ्यात्वि क्रियाधिकारः ।

—*०*—

बोल ९ वां पृष्ठ २२ से २३ तक

अकाम ब्रह्मचर्य्य पालन करके चौसठ हजार वर्षकी आयुके देवता होने वाली अज्ञानी मिथ्यादृष्टि स्त्री वीतरागकी आज्ञाकी आराधिका नहीं है।

बोल दशवां पृष्ठ २३ से २५ तक

अन्न जल आदिका नियम रख कर चौरासी हजार वर्षकी आयुके देवता होने वाले अज्ञानी तापस मोक्ष मार्गके आराधक नहीं हैं।

बोल ११ वां पृष्ठ २५ से २६ तक

कन्द मूल फलादिका आहार करने वाले पञ्चाग्नि सेवी अज्ञानी तापस जो एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुके देवता होते हैं वे परलोकके आराधक नहीं हैं।

बोल १२ वां पृष्ठ २६ से २७ तक

संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें नहीं है।

बोल १३ वां पृष्ठ २७ से २९ तक

भगवती शतक ८ उद्देशा १० की चतुर्भंगीके प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक पुरुष पापसे सर्वथा हटा हुआ चारित्री है और उवाई सूत्रोक्त मोक्ष मार्गका अनाराधक पुरुष पापसे सर्वथा नहीं हटा हुआ मिथ्यादृष्टि है अतः ये दोनों भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। अकाम निर्जराकी करनी मोक्षमार्गमें नहीं है इसलिये उवाई सूत्रमें अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको परलोकका अनाराधक कहा है।

बोल १४ वां पृष्ठ ३० से ३२ तक

तामली तापस और पूरण तापस सम्यक्त्व पानेके पहले शास्त्रमें मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कहे गये हैं। दूसरी जगह खुद जीतमलजीने अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आराधन न होना बतलाया है।

बोल १५ वां पृष्ठ ३२ से ३५ तक

सुदत्त अनगारको भिक्षा देते समय सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिके नाश हुए बिना संसार परिमित नहीं होता और सम्यक्त्व पाये बिना अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका नाश नहीं होता।

बोल १६ वां पृष्ठ ३५ से ३६ तक

मेघकुमारका जीव हाथीके भवमें शशकादि प्राणियोंकी रक्षा करते समय सम्यक्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं।

बोल १७ वां पृष्ठ ३६ से ३७ तक

दौलतरामजी और दलपति रायजी की प्रश्नोत्तरीमें हाथी तथा सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है।

बोल १८ वां पृष्ठ ३७ से ४० तक

शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था और सुमुख गाथापतिने अपनी इच्छासे सुदत्त अनगारको वन्दन नमस्कार किये थे इस लिये इन दोनोंके वन्दन नमस्कार एक समान नहीं थे ।

बोल १९ वां पृष्ठ ४० से ४२ तक

विशिष्ट क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यंच एक वैमानिक की ही आयु बांधते हैं सभी क्रियावादी नहीं। सामान्य क्रियावादी नरक योनिकी आयु भी बांधता है। दशा-श्रुत स्कन्ध सूत्र ।

विराधक श्रावक क्रियावादी होने पर भी जघन्य भुवनवासी और, उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होता है। प्रमाण भगवती शतक १ उद्देशा २ ।

बोल २० वां पृष्ठ ४२ से ४३ तक

भगवती शतक ८ उद्देशा दशकी टीकामें चारित्र रहित ज्ञान दर्शन और देश व्रत की आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव होना कहा है। जीतमलजीने भी इसे माना है।

बोल २१ वां पृष्ठ ४३ ४४ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ७ गाथा २० में सम्यग्दृष्टिको "सुव्रत" कहा है मिथ्यादृष्टिको नहीं।

बोल २२ वां पृष्ठ ४५ से ४७ तक

वरुण नागनतूयाका प्रियवाल मित्र सामान्य व्रतधारी होकर भी मनुष्य योनिमें जन्म पाया था। भगवती शतक ७ उद्देशा ९

बोल २३ वां पृष्ठ ४७ से ४९ तक

मास मास क्षमण रूप घोर तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि, जिन भाषित धर्मका आचरण करने वाले पुरुषके सोलहवें अंशमें भी नहीं है। उत्तराध्ययन अ० ९ गाथा ४४

बोल २४ वां पृष्ठ ४९ से ५१ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) मास मास पर्य्यन्त उपवास करके उसके अन्तमें पारणा करता हुआ भी जन्म मरणके चक्करसे नहीं छूटता। सुयगडांग श्रुत स्कन्ध १-अ० २ उद्देशा १ गाथा ९)

बोल २५ वां पृष्ठ ५१ से ५३ तक

जिसको जीवाजीवादि पदार्थका ज्ञान नहीं है उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। (भगवती शतक ७ उद्देशा २)

बोल २६ वां पृष्ठ ५३ से ५ढ़ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) की तपोदानादिरूप पारलौकिक क्रियाएं संसारके ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टिकी ये ही क्रियाएं मोक्षके हेतु हैं। सुयगडांग श्रुत० १ अ० ८ गाथा २३।२४

बोल सत्ताइसवां पृष्ठ ५६ से ६० तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) के घटपटादिज्ञान भी कारण विपर्य्यय, संबन्ध विपर्य्यय और स्वरूप विपर्य्ययके कारण अज्ञान हैं। कर्म विशुद्धिकी उत्कर्षापकर्षको लेकर चौदह गुण स्थान कहे गये हैं सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। (समवायांग सूत्र)

बोल २८ वां पृष्ठ ६० से ६३ तक

असोचा केवलीका विभंग अज्ञान, सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण होने पर भी जब वीतरागकी आज्ञामें नहीं है तब उसके प्रकृति भद्रता आदि गुण, जो कि सम्यक्त्व प्राप्तिके परस्परा कारण हैं वे आज्ञामें कैसे हो सकते हैं।

बोल २९ वां ६३ से ६४ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा १ के मूलपाठमें वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा का नाम "ईहा' है। उस चेष्टाके बाधक कारणोंको हटा देना "अपोह" है। सजातीय और विजातीय धर्मकी आलोचना करनेका नाम क्रमशः मार्गण और गवेषण है अतः मार्गण शब्दका जिनभाषित धर्मकी आलोचना और गवेषण शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना अर्थ करना अज्ञान है।

बोल ३० वां पृष्ठ ६४ से ६७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१-३२ में विशिष्ट शुक्ल लेश्याका लक्षण कहा है सामान्य शुक्ललेश्याका नहीं। जो ध्यान, श्रुत और चारित्र धर्मके साथ होता है वही धर्मध्यान है।

बोल ३१ वां पृष्ठ ६७ से ६९ तक

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी उपमा क्रमशः सुगन्ध और दुर्गन्ध घटकी नन्दी सूत्रकी टीकामें दी है ब्राह्मण और भङ्गीके घडेकी नहीं।

बोल ३२ वां पृष्ठ ६९ से ७० तक

साधुको साधु समझ कर उसके निकट शील तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मांगने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है।

बोल ३३ वां पृष्ठ ७० से ७१ तक

सूर्य्याभ देव के अभियोगिया देवताके मिथ्यादृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है।

बोल ३४ वां पृष्ठ ७१ से ७२ तक

गोतम स्वामीने स्कन्धकजीको भक्तिभावके साथ भावरूप वंदन नमस्कार करने को आज्ञा दी थी मिथ्यात्वके साथ द्रव्य वंदन करनेकी नहीं।

बोल ३५ वां पृष्ठ ७२ से ७५ तक

तामली वाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणा उनकी प्रव्रज्याके समान वीतराग मत प्रसिद्ध अनित्य जागरणसे भिन्न थी।

बोल ३६ वां पृष्ठ ७५ से ७७ तक

वाल तपस्या और अकाम निर्जरा जिन आज्ञामें नहीं है तथापि इनसे स्वर्गप्राप्ति होती है। अकाम निर्जरा और वाल तप करने वाले को साक्षात् उववाई सूत्रमें परलोक का अनाराधक कहा है।

बोल ३६ वां पृष्ठ ७७ से ७९ तक

गोशालकमतोक्त जिव्हेन्द्रियप्रतिसंलीनता वीतराग मतकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनतासे भिन्न है।

बोल ३८ वां ७९ से ८१ तक

प्रश्नव्याकरण सूत्रके दूसरे सम्वर द्वारमें व्रतधारियोंसे सत्यका ग्रहण करना कहा है दाम्भिकोंसे नहीं।

बोल ३९ वां पृष्ठ ८१ से ८३ तक

व्यन्तर संज्ञक देवताओंके पूर्वभव के कार्य्य को आज्ञामें नहीं कहा है किन्तु उनसे भोगे जाते हुए सुख विशेष की तरह उसे भी शुभ कह कर वस्तु स्थिति वताई है।

बोल ४० वां पृष्ठ ८३ से ८६ तक

माता पिताकी सेवा शुश्रूषा करने वाले पुत्रको उवाई सूत्रमें स्वर्गगामी कहा है।

अथ दानाधिकारः।

बोल पहला ८७ से ९४ तक

हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है। जो अनुकम्पा दानको एकान्त पाप वता कर श्रावकोंसे उसका त्याग कराता है वह ठाणांग सूत्रके मूल पाठानुसार "पिहिता गामि पथ" नामक अन्तराय कर्म वांधता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ९४ से ९७ तक

आनन्द श्रावकने हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान देनेका अभिग्रह नहीं धारण किया था। किन्तु अन्य तीर्थीको गुरु वुद्धिसे दान न देनेका अभिग्रह धारण किया था।

बोल तीसरा पृष्ठ ५७ से १०० तक

आनन्द श्रावकके समान ही अभिग्रह धारी बारह व्रतधारी श्रावक राजा प्रदेशीने दानशाला खोल कर हीन दीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान दिया था।

बोल चौथा १०० से १०१ तक

राय प्रश्नीय सूत्रमें राजा प्रदेशी को दान देता हुआ विचरना लिखा है दान देने से न्यारा होकर नहीं।

बोल पांचवां १०१ से १६० तक

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें मिथ्या धर्मका समर्थन करने वाले तथा मिथ्यादर्शनानुसारी वेश धारण करने वाले असंयतिको गुरु बुद्धिसे दान देनेसे एकान्त पाप कहा है अनुकम्पा दान देनेसे नहीं।

बोल छट्ठा पृष्ठ १०६ से २०९ तक

आर्द्र कुमार मुनिने दया धर्मके निंदक और हिंसा धर्मके समर्थक वैडाल व्रतिक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणको गुरु बुद्धिसे भोजन देनेसे नरक जाना कहा है और मनुस्मृति में भी यही बात कही है, अनुकम्पा दानका खण्डन नहीं किया है।

बोल सातवां पृष्ठ १०९ से ११० तक

भृगु पुरोहितके पुत्रोंने अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप नहीं कहा है किन्तु जो लोग यज्ञयागादि करने और पुत्रोत्पादन करनेसे ही दुर्गतिका रुकना बतला कर प्रव्रज्या ग्रहण करनेको व्यर्थ कहते हैं उनके मन्तव्यको मिथ्या कहा है।

बोल ८ वां पृष्ठ ११० से ११२ तक

सुयगडांग सूत्र श्रुतस्कन्ध २ अ० ५ गाथा ३३ में भाषा सुमतिका उपदेश किया है अनुकम्पा दानका खण्डन नहीं किया है। उस गाथामें वर्तमान कालका नाम भी नहीं है।

बोल ९ वां पृष्ठ ११२ से ११३ तक

नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देनेसे मेढक नहीं हुआ किन्तु नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेसे हुआ। ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३।

बोल १० पृ० ११४ से ११९ तक

धर्मदानको छोड़ कर बाकीके नौ दान एकान्त अधर्मदान नहीं हैं। इनके गुणानुसार नाम रक्खे गये हैं, यह भीषणजीने भी लिखा है।

बोल ११ पृ० ११९ से ११९ तक

विश्रामस्थानसे बाहरकी सभी क्रियाएं एकान्त पापमें नहीं हैं।

बोल १२ वां पृष्ठ १२० से १२४ तक

ग्राम धर्मादि लौकिक धर्म और ग्रमस्थविरादि लौकिक स्थविर ग्राम आदिके चोरी जारी आदि बुराइयां दूर करते हैं इसलिये उन्हें एकान्त पापमें बताना मूर्खोंका कार्य्य है।

बोल १३ वां पृष्ठ १२४ से १२७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौ में कहे हुए नवविध पुण्य केवल साधुको ही दान देनेसे नहीं किन्तु उनसे इतरको दान देनेसे भी होते हैं।

बोल चौदहवां १२७ से १३० तक

भीषणजीके जन्मसे पहलेके बने टव्वा अर्थमें लिखा है कि "पात्रने विषे अन्नादिक दीजै तेहथकी तीर्थंकर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो वन्ध तेहथकी अनेराने देवुं ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो वन्ध। तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति ४२ पुण्य प्रकृतियोंके आदिमें नहीं अपितु अन्तमें है अतः तीर्थंकरादि कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो सकता।

बोल १५ पृष्ठ १३० से १३१ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौके मूलपाठमें न कहे जाने पर भी जैसे साधुको पडिहारी सुई कतरनी आदिके दानसे पुण्य ही होता है उसी तरह साधुसे इतरको धर्मानुकूल वस्तु देने से पुण्य ही होता है एकान्त पाप नहीं।

बोल १६ वां पृ० १३१ से १३३ तक

साधुसे इतर सभी जीवको कुपात्र कायम करके उनको दान देनेसे मांस भक्षण व्यसन कुशीलादि सेवनकी तरह एकान्त पाप कहना अज्ञान है। साधुसे इतर होने पर भी श्रावकको तीर्थमें गिना गया है और उसे गुण रत्नका पात्र कहा गया है। कुपात्र नहीं कहा।

बोल १७ वां पृष्ठ १३३ से १३५ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ४ की चौभंगीमें साधुसे इतरको दान देने वाला अक्षेत्र वर्षी नहीं कहा है अपितु जो प्रवचन प्रभावनाके लिये सबको दान देता है उसकी टीकाकारने प्रशंसा की है क्योंकि प्रवचन प्रभावनाके लिये दान देनेसे ज्ञाता सूत्रमें तीर्थंकर गोत्र बांधना कहा है।

बोल १८ वां १३६ से १३८ तक

शकडाल पुत्र श्रावकने गोशालकको दान देनेसे धर्म तपका निषेध किया है पुण्य का निषेध नहीं किया है तथा निर्जरा के साथ ही पुण्य वन्ध होनेका कोई नियम भी नहीं है।

बोल १९ वां पृष्ठ १३८ से १४० तक

चोर जार हिंसक आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदि महारम्भका कार्य करनेके लिये दान देनेसे मृगालोढ़के दुःख भोगनेका प्रश्न विपाक सूत्रमें किया गया है अनुकम्पा दानसे नहीं।

बोल २० वां पृष्ठ १४० से १४२ तक

क्रोधी, मानी, मायी और हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके सेवी ब्राह्मणको उत्तराध्ययनके अध्याय १२ गाथा २४ में पापकारी क्षेत्र कहा है सभी ब्राह्मणको नहीं।

बोल २१ वां पृ० १४२ से १४६ तक

व्यभिचारिणी स्त्रीको रख कर भाड़े पर उससे व्यभिचार कराना पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करना है हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देना अथवा साधुसे इतरको पोषण करना नहीं।

बोल २२ वां पृ० १४६ से १४८ तक

किसी भी अभिप्रायसे अपने आश्रित प्राणीका वध, बन्धन छविच्छेद और अतिभार आदि डालनेसे अतिचार होता है प्राणवियोग करनेके अभिप्रायसे ही नही क्योंकि वह अनाचार है।

बोल २३ वां पृष्ट १४९ से १५१ तक

भिक्षुकोंका वेरोक टोक प्रवेश करनेके लिये तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके दरवाजे खुले रहते थे।

बोल २४ वां पृष्ठ १५१ से १६० तक

श्रावकको अप्रत्याख्यान (अव्रत) की क्रिया नहीं लगती।

बोल २५ वां पृष्ठ १६१ से १६२ तक

जैसे मिथ्यादर्शन के अंशतः नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यात्वकी क्रिया नहीं लगती उसी तरह अप्रत्याख्यानसे अंशतः नहीं हटने पर भी श्रावकको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती है।

बोल २६ वां पृष्ठ १६३ से १६५ तक

भगवती शतक ३ उद्देशा १ में श्रावकके हित, सुख, पथ्य और अनुकम्पाकी इच्छा करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भव सिद्धिसे लेकर यावत् चरम होना कहा है। उववाई सूत्रमें श्रावकको धार्मिक, धर्मानुग, धर्मेष्ट, धर्माख्यायी धर्म प्ररंजन आदि कहा है।

बोल २७ वां पृष्ठ १६६ से १६७ तक

जिसमें भाव शस्त्र मौजूद है वह यदि कुपात्र है तो फिर षष्ट गुण स्थान वाले

प्रमादी साधु भी कुपात्र ही ठहरेंगे। राजप्रश्नीय सूत्रमें साधुके समान श्रावकसे भी आर्य धर्म-सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे दिव्य ऋद्धिकी प्राप्ति कही गई है।

बोल २८ वां १६८ से १६१ तक

श्रावक अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रहसे देवता होते हैं प्रत्याख्यान और व्रत से नहीं।

बोल २९ वां १७१ से १७३ तक

सुयगडांग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर गृहस्थके दानको संसार भ्रमणका हेतु बताना मूर्खता है।

बोल ३० पृष्ठ १७३ से १७९ तक

साधु यदि उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको अन्नादि दान देवे तो निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८।७९ में प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु हीन दीन दुःखोको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त नहीं कहा है तथा उस गृहस्थके अनुकम्पा का अनुमोदन करने वाले साधुको भी प्रायश्चित्त नही कहा है।

अपवाद मार्गमें अन्य यूथिक और गृहस्थको शामिलमें मिली हुई भिक्षाको बांट कर साधु भी देते हैं।

बोल ३१ वां १७९ से १८२ तक

अपनी निरवद्य भिक्षा वृत्ति कायम रखनेके लिये तथा ज्ञान दर्शन और चारित्रमें शिथिलता न आने देनेके लिये उत्सर्ग मार्गमें साधु गृहस्थको दान नहीं देते एकान्त पाप जान कर।

बोल ३२ वां पृष्ठ १८२ से १८३ तक

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देनेके लिये जो अन्न बनाया जाता है उसे दस वैकालिक सूत्रमें पुण्यार्थ प्रकृत कहा है पापार्थ प्रकृत नहीं कहा और जिसके घरमें उक्त अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है।

बोल ३३ वां १८३ से १८४ तक

भगवती शतक २ उद्देशा ५ में साधुकी तरह श्रावककी सेवा करनेका भी शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष तक फल मिलना कहा है।

बोल ३४ पृष्ट १८५ से १८७ तक

उत्तराध्ययन सूत्रके अट्ठाइसवें अध्ययनमें सहधर्मी भाईको मातपानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना समकितका आचार कहा है। व्यवहार सूत्रके दूसरे उद्देशेके भाष्य में प्रवचनके द्वारा श्रावकका साधर्मी साधु और श्रावक दोनों कहे गये हैं।

बोल ३५ वां पृष्ठ १८७ से १८८ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १ में अपने सहधर्मी भाईको भोजन कराना पोषध धर्मकी पुष्टिमें माना है।

बोल ३६ वां पृष्ठ १८८ से १९० तक

एग्यारह प्रतिमाओंका विधान तीर्थंकरोंने किया है।

बोल ३७ वां पृष्ठ १९० से १९३ तक

एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक, दश विध यति धर्मका अनुष्ठान करने वाला बड़ा ही पवित्रात्मा एवं सुपात्र होता है इसे कुपात्र कहने वाले अज्ञानी हैं।

बोल ३८ वां पृष्ठ १९३ से १९४ तक

अम्बड संन्यासी और वरुण नागनत्तूयाके पाठमें आये हुए कल्पका दृष्टान्त देकर एग्यारहवीं प्रतिमाधारीके कल्पको तीर्थंकरकी आज्ञासे बाहर कहना अज्ञान है।

बोल ३९ वां पृष्ठ १९४ से १९७ तक

सामायक और पोषाके समय श्रावक, पूंजनी आदि उपकरण जीवदयाके लिये रखते हैं अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं अतः श्रावकके पूंजनी आदि उपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना मूर्खता है।

बोल ४० वां पृष्ठ १९७ से १९९ तक

अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्यञ्च श्रावक कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे बारह व्रतधारी माने जाते हैं। मनुष्य श्रावककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे नहीं।

बोल ४१ वां पृष्ठ १९९ से २०३ तक

श्रावक देश संयम पालनार्थ जो मन, वचन, काय और उपकरणोंका व्यापार करता है वह सुप्रणिधान है दुष्प्रणिधान नहीं।

इति दानाधिकारः।

अथ अनुकम्पाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ २०४ से २०७ तक

मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा और मारने वालेकी हिंसा छोड़ानेके लिये साधु धर्मोपदेश करता है केवल हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये ही नहीं।

बोल दूसरा पृष्ठ २०७ से पृष्ठ २०९ तक

राज प्रश्नीय सूत्रमें चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग पशु पक्षी और सरीसृपों की प्राणरक्षाके लिये केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की थी।

बोल तीसरा २०९ से २११ तक

दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना भी अभय दान है केवल अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं। अरिदमन राजाकी चौथी रानीने चोरको सूलीसे बचाया था और उसे टीकाकारने अभय दान कहा है।

बोल चौथा पृष्ठ २११ से २१६ तक

आर्यक्षेत्रके जीवोंका उपकार और अपने कर्मोंका क्षपण करनेके लिये भगवान् महावीर स्वामी धर्मोपदेश करते थे। जीवोंकी प्राण रक्षा करना उनका प्रधान उपकार है।

सुय० श्रु० ५ अ० ६ गाथा १७-१८

भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावरके क्षेम करने वाले थे क्षेम नाम रक्षा, और शान्तिका है। सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४

बोल ५ वां २१६ से २१८ तक

साधु असंयति जीवकी प्राण रक्षा उनसे असंयम सेवन करानेके लिये नहीं करते किन्तु उनका आर्तरौद्र ध्यान मिटाने और हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये करते हैं।

बोल छट्ठा पृ० २१८ से २२१ तक

भगवान् नेमिनाथजी, पिंजड़ेमें मारनेके लिये रोके हुए प्राणियोंको छुड़ा कर लौट गये थे।

बोल सातवां पृष्ठ २१८ से २२१ तक

हाथीने शशकादि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करके संसार परिमित किया था।

बोल आठवां पृष्ठ २२३ से २२५ तक

सुयगडांग सूत्रकी 'वज्झापाणा न वज्झेति" इत्यादि गाथामें वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनेका निषेध है किसी प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये मत मार कहनेका निषेध नहीं है।

बोल नवां पृष्ठ २२५ से २२७ तक

आचारांग सूत्र श्रु० २ अध्याय १ उद्देशा १ में मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके भयसे साधुको गृहस्थके निवास भूत मकानमें रहना वर्जित नहीं किया है किन्तु ऊंचा नीचा मन होनेकी भावनासे वर्जित किया है।

बोल दसवां पृष्ठ २२७ से २२९ तक

आचाराङ्ग सूत्र श्रु० २ अ० २ उ० में अपने स्वार्थके लिये गृहस्थ द्वारा अग्नि जलाने और न जलानेकी भावना करना साधुके लिये वर्जित की है कीड़ी आदि जीवों की रक्षाकी भावनासे उक्त कार्य्य वर्जित नहीं किया है

बोल ११ वां पृष्ठ २२९ से २३१ तक

उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्ययनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधुको आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है। भगवती शतक १ उद्देशा ९ में साधुको पृथिवी काय आदिके जीवोंकी रक्षा करनेके लिये प्रासुक और एषणिक आहार लेना लिखा है।

बोल १२ वां पृष्ठ २३१ से २३३ तक

स्थ वर जंगम जन्तुओंको दण्ड देकर असंयमके साथ जीने या चिर काल तक जीनेकी इच्छा साधुके लिये वर्जित की गई है। प्राणियोंकी रक्षाके साथ और यथा प्राप्त आयु तक जीनेकी इच्छा करना वर्जित नहीं है।

सुय० अ० १ गाथा २४

बोल १३ वां पृष्ठ २३३ से २३६ तक

सुयगडाङ्ग श्रु० १ अध्याय १५ सुयगडांग श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ सुयगडांग श्रुत० १ अध्याय १० गाथा ३ सुय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ में हिंसकके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राण रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १४ वां पृष्ठ २३६ से २३७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र ४ गाथा ७ में गुणका उपार्जनके निमित्त साधुको जीवित रहना कहा है। प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना गुणका उपार्जन करना है इस लिये जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप बतलाना अज्ञान है।

बोल १५ पृष्ठ २३८ से २३८ तक

सुय० श्रु० १ अ० २ गाथा १ में संयम प्रधान जीवनको दुर्लभ कहा है। जीव रक्षाके लिये जीवन व्यतीत करना संयम जीवन है।

बोल १६ वां पृष्ठ २३९ से २४० तक

नमिराज ऋषिसे इन्द्रने जीव रक्षा करनेमें पाप या पुण्यका होना नहीं पूछा था किन्तु सांसारिक पदार्थोंमें उनकी ममताके होने व न होनेकी परीक्षा की थी। नमिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधु थे स्थविर कल्पी नहीं उनका उदाहरण स्थविर कल्पियोंके लिये देना अज्ञान है।

बोल १७ वां पृष्ठ २४० से २४२ तक

दश वैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५० में देवता मनुष्य और तिर्यञ्चोंमें परस्पर युद्ध होने पर एककी हार और दूसरेकी जीत कहना साधुके लिये वर्जित है परन्तु उपदेश देकर युद्ध शान्त कर देना या मरते जीवकी रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १८ वां पृष्ठ २४२ से २४४ तक

दशवैकालिक अध्ययन ७ गाथा ५१ में वायु आदि सात बातोंके होने वा न होनेकी प्रार्थना करना साधुको अपने स्वार्थके लिये वर्जित की गई है क्योंकि इससे प्राणियोंका अनिष्ट भी होता है।

बोल १९ वां पृष्ठ २४५ से २४७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा चारकी चौभंगीमें जो अपनी ही रक्षा करता है दूसरेकी नहीं करता उसे प्रत्येक बुद्ध, जिनकल्पी और निर्दय कहा है। स्थविर कल्पीको अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करने वाला बताया है।

बोल २० वां पृष्ठ २४७ से पृष्ठ २५० तक

जैसे अपना जेवर उतार कर साधुका दर्शन करने वाली स्त्री धार्मिक है उसी तरह जेवर उतार कर मरते जीवकी रक्षा करने वाली स्त्री भी धार्मिक है।

बोल २१ वां पृष्ठ २५० से २५२ तक

अन्य यूथिक और गृहस्थ रास्तामें कदाचित् किसी पशुका घात करे अथवा वे चोर आदिसे लूट लिये जांय इस लिये साधु मार्ग नहीं बताते, अनुकम्पाको सावद्य जान कर नहीं।

बोल २२ वां पृष्ठ २५२ से २५४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ में जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है परन्तु अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करने वालेको धर्मोपदेश देकर समझाना या उसकी उपेक्षा करना अथवा वहांसे अन्यत्र चला जाना कहा है।

बोल २३ वां पृष्ठ २५४ से २५५ तक

अपने स्वार्थके लिये किसी जीवको सतानेके भावसे भय देना निशीथ सूत्रमें वर्जित किया है, आत्म रक्षा या पर रक्षा के लिये नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना वर्जित नहीं है।

बोल २४ वां पृष्ठ २५५ से २५७ तक

निशीथ सूत्रमें भूति कर्म करने तथा मंत्र आदि करनेका निषेध है। अपनी कल्प मर्य्यादाके अनुसार मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करने का निषेध नहीं है।

बोल २५ वां पृष्ठ २५७ से २६१ तक

अपराधी प्राणीको मारनेके लिये क्रोध करके दौड़नेसे चुलणी प्रियका व्रत और पौषध नष्ट हुआ था माताकी रक्षाके भाव आनेसे नहीं।

बोल २६ वां पृष्ठ २६१ से २६४ तक

नावमें आता हुआ पानी बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिये वह नाव में आता हुआ पानी नहीं बतलाता परन्तु शास्त्रीय विधानानुसार वह अपनी और दूसरेकी रक्षा करता है।

बोल २७ वां पृष्ठ २६४ से २६८ तक

निशीथ सूत्रमें, बन्धन और मोचनसे होने वाले दोषकी निवृत्ति के लिये त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नेका निषेध किया है परन्तु जहां बांधे और छोड़े बिना त्रस प्राणीकी रक्षा नहीं हो सकती हो वहां बांधने और छोड़नेका निषेध नहीं है।

बोल २८ वां पृष्ठ २६८ से २६९ तक

आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिये आने जाने की क्रिया के सावद्य होने से सुलसापर हरिणगमेसीकी अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती।

बोल २९ वां पृष्ठ २६९ से २७० तक

श्रीकृष्णजीकी वृद्ध पर अनुकम्पा करना सावद्य नहीं थी क्योंकि ईंट उपाड़नेकी क्रिया न्यारी है और अनुकम्पा न्यारी है।

बोल ३० वां पृष्ठ २७० से २७२ तक

हरिकेशी मुनि पर अनुकम्पा करके यक्षने ब्राह्मणोंको समझाया था परन्तु जब वे मारने दौड़े तो मारनेके बदलेमें उसने भी मारा था।

बोल ३१ वां पृष्ठ २७३ से २७५ तक

धारिणी रानीकी गर्भानुकम्पाको मोहअनुकम्पा कहना अज्ञान है। धारिणी ने गर्भानुकम्पासे मोहको छोड़ दिया था तथा अजयणाका परित्याग किया था।

बोल ३२ वां पृष्ठ २७५ से २७६ तक

ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें अभयकुमारकी प्रीतिके लिये देवताका मेघ बरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं।

बोल ३३ वां पृष्ठ २७६ से २७९ तक

रयणा देवी पर जिन ऋषि का करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी।

बोल ३४ वां पृष्ठ २७९ से २८२ तक

वीतरागकी भक्ति दूसरी चीज है और नाटक दूसरा है. अतः नाटक के सावद्य होने पर भी भक्ति सावद्य नहीं है।

बोल ३५ वां पृष्ठ २८२ से २८४ तक

मुनिका व्यावच दूसरा है और व्यावचके लिये की जाने वाली क्रिया दूसरी है इसलिये यक्षसे किया हुआ हरिकेशी मुनिका व्यावच सावद्य नहीं है।

बोल ३६ वां पृष्ठ २८४ से २८५ तक

शीतललेश्या प्रक्षेप करके भगवान्ने गोशालक की प्राणरक्षा की थी इस अनुकम्पाको सावद्य कहना अज्ञान है। शीतल लेश्यासे जीवविराधना नहीं किन्तु जीवरक्षा होती है।

बोल ३७ वां पृष्ठ २८५ से २९० तक

चिल्लणाका पुत्र राजा कौणिकने भगवान् महावीर स्वामीके वंदनार्थ जाने के लिये चतुरङ्गिणी सेना सजाई थी परन्तु सेना सजाने रूप कार्य्यके वजहसे जैसे भगवान् का वंदन सावद्य नहीं हुआ उसी तरह ईंट उठानेसे बुड्ढे पर कृष्णजी की अनुकम्पा सावद्य नहीं हुई।

अथ लब्ध्यधिकारः।

बोल १ वां पृष्ठ २९१ से २९२ तक

शीतल लेश्याके प्रक्षेप करनेमें तेजस समुद्घात नहीं होता इसलिये उसमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रिया नहीं लगती।

बोल दूसरा पृष्ठ २९२ से २९३ तक

तेजो लब्धिधारी साधु क्रोधित होकर किसीको जलानेके लिये जो उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग करता है उसीमें तेजस समुद्घात होना कहा है मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये शीतल लेश्याका प्रक्षेप करनेमें नहीं।

बोल तीसरा २९३ से २९६ तक

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, और प्राणातिपातिकी ये क्रियायें हिंसाके भाव आनेसे लगती हैं रक्षाके भाव आनेसे नहीं।

बोल चौथा पृष्ठ २९६ से २९७ तक

अतिशय दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजोलेश्याको शान्त करने में समर्थ शीतल तेजो विशेष के छोड़ने की शक्तिका नाम शीतल लेश्या है।

बोल पांचवां पृष्ठ २९७ से २९८ तक

गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य भावी जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा नहीं की रक्षामें पाप जान कर नहीं।

बोल छठ्ठा २९९ से ३०१ तक

रक्षामें राग करना, सावद्य नहीं है जैसे धर्ममें धर्माचार्य्यमें राग रखना सावद्य नहीं है ।

बोल सातवां पृष्ठ ३०१ से ३०२ तक

भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ में उष्ण तेजो लेश्याके पुद्गल को अचित्त कहा है इस लिये शीतल लेश्या के द्वारा उस को शान्त करने में आरम्भ दोष नहीं लगता ।

बोल आठवां पृष्ठ ३०२ से ३०३ तक

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामें जङ्घा चरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना कहा है शीतल लेश्या का प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना नहीं कहा है ।

बोल नवां पृष्ठ ३०३ से ३०४ तक

लब्धिका प्रयोग न करके किसी दूसरे उपायसे भी भगवान् यदि गोशालक की प्राणरक्षा करते तो भी जीतमलजीके मतमें पाप ही होता अतः इनका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है ।

इति लब्ध्यधिकारः ।

अथ प्रायश्चित्ताद्यधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ३०५ से ३०६ तक

शीतल लेश्याका प्रयोग करके मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है तथा इस के लिये कहीं प्रायश्चित्तका भी विधान नहीं है अतः सीहो अनगार, अतिमुक्त, रहनेमि आदि की तरह भगवान् के प्रायश्चित्त करने की कल्पना करना अज्ञान है ।

बोल दूसरा ३०६ से पृष्ठ ३०८ तक

भगवान् महावीर स्वामी उच्च श्रेणिके कषाय कुशील थे अतः भ्रमविध्वंसनकारके कथनानुसार भी वह दोषके प्रतिसेवी नहीं हो सकते ।

बोल तीसरा पृष्ठ ३०८ से ३०९ तक

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एक वार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ।

बोल चौथा पृष्ठ ३०९ से ३१० तक

आचारांग सूत्रकी "णच्चाणंसे" और "अकसाइ" इत्यादि गाथाओं में भगवान् का केवल गुण वर्णन मात्र नहीं किंतु उनके दोषोंका निषेध भी है ।

[बोल पाचवां पृष्ठ ३१० से ३१२ तक

उववाई सूत्रमें भगवान् महावीर स्वामीके शिष्योंमें पाप और प्रमाद होने का निषेध नहीं किया है इसलिये उनके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीमें दोषका स्थापन करना मिथ्या है।

बोल छट्ठा ३१२ से ३१३ तक

उववाई सूत्रमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजा कभी भी माता पिताका अविनीत नहीं था परन्तु आचारांग सूत्रमें कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः कौणिकके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीमें दोषका स्थापन करना अज्ञान है।

बोल सातवां पृष्ठ ३१३ से ३१४ तक

उववाई सूत्रमें श्रावकोंको पापसे सर्वथा हटा हुआ नहीं कहा है परन्तु आचारांग में भगवान्‌को पाप और प्रमादसे सर्वथा हटा हुआ कहा है अतः श्रावकके दृष्टान्तसे भी भगवान्‌में पापका स्थापन करना अज्ञान है।

बोल आठवां पृष्ठ ३१४ से ३१७ तक

जिस समय गोतम स्वामी आनन्दके घर पर वचन बोलने में चूक गये थे उस समय उन में कषाय कुशील नियण्ठा तथा चौदहपूर्वका ज्ञान नहीं था।

बोल नवां पृष्ठ ३१७ से ३१८ तक

दशवैकालिक सूत्रके आठवें अध्ययनके दशवीं गाथामें जो दृष्टिवादका अध्ययन कर रहा है उसीका वाक्स्खलन होना लिखा है परन्तु जिसने दृष्टिवादका अध्ययन कर लिया है उसका वाक्स्खलन होना नहीं कहा है।

बोल दशवां ३१८ से ३२० तक

भगवती शतक २५ उ० ६ में स्पष्ट लिखा है कि कषाय कुशील दोषका अप्रतिसेवी होता है।

बोल एग्यारहवां पृष्ठ ३२० से ३२१ तक

जिस सम्वुडा साधुका सच्चा स्वप्न देखनेका शास्त्रमें वर्णन है उसीका झूठा स्वप्न देखनेका भी शास्त्रमें पाठ है परन्तु कषाय कुशीलके चूकनेका शास्त्रमें कहीं भी पाठ नहीं है।

बोल बारहवां पृष्ठ ३२२ से ३२३ तक

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि सभी छद्मस्थ सात दोषके सेवी ही होते हैं अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर भगवानमें दोषका सद्भाव कहना मूर्खता है।

बोल तेरहवां पृष्ठ ३२३ से ३२४ तक

केवलीकी तरह छद्मस्थ तीर्थंकर भी आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस लिये सूत्र व्यवहारीके कल्पका नाम लेकर उनमें दोषका स्थापन नहीं किया जा सकता।

बोल चौदहवां पृ० ३२४ से ३२५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलको कल्पातीत भी कहा है।

बोल पन्द्रहवां पृ० ३२५ से ३२७ तक

भगवती ठाणाङ्ग और व्यवहार सूत्रमें व्यवहारके छः भेद कहे हैं उनमें पूर्व पूर्वके होने पर उत्तरोत्तरसे व्यवस्था नहीं दी जाती यह भी कहा है।

बोल सोलहवां पृ० ३२७ से ३२९ तक

भगवती शतक १५ की टीकामें लिखा है कि भगवान्‌से गोशालकका स्वीकार करना अवश्यम्भावी भाव था इस लिये भगवान्‌ने गोशालकको स्वीकार किया था।

बोल १७ वां ३२९ से ३२९ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौ के अर्थमें लिखी हुई गाथा किसी मूलपाठ या प्रामाणिक टीका में नहीं मिलती और उसमें शिष्यवर्गको दीक्षा देनेका निषेध है एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है।

बोल १८ वां ३३० से ३३१ तक

सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुन कर जम्बू स्वामीसे कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीको छद्मस्थ दशामें किंचिन्मात्र भी पाप नहीं लगा था।

बोल १९ वां ३३१ से ३३१ तक

भगवान् महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय उनको अन्तर्मुहूर्त्त तक द्रव्य निद्रा आई थी। विधिपूर्वक द्रव्य निद्रा लेना प्रमादका सेवन नहीं है।

इति प्रायश्चित्ताधिकारः।

अथ लेश्याधिकारः।

बोल १ पृ० ३३२ से ३३५ तक

संयतियोंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएं नहीं होतीं।

बोल दूसरा पृ० ३३५ से ३३७ तक

भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके साधुओंका निषेध है।

बोल ३ रा पृ० ३३७ से ३३९ तक।

तेजः पद्म लेश्यामें जो सरागीका सद्भाव मानते हैं उनके मतमें अष्टम, नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेजः पद्म लेश्या होनी चाहिये।

बोल चौथा पृ० ३३९ से ३४१ तक

पन्नावणा सूत्र १७ के मूलपाठमें भगवती सूत्रकी तरह साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेश्याका निषेध किया है परन्तु सद्भाव नहीं बताया है।

बोल पांचवां ३४१ से ३४२ तक

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलमें छः द्रव्य लेश्या कही है भाव लेश्या नहीं।

बोल छट्ठा पृ० ३४२ से ३४५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कषाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है।

बोल सातवां पृ० ३४३ से ३४५ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१।३२ में अजितेन्द्रियता और चोरी आदिमें प्रवृत्त रहना कृष्ण लेश्याका लक्षण कहा है परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं इस लिये उनमें कृष्ण लेश्याके लक्षण नहीं हैं।

बोल आठवां पृ० ३४५ से ३४७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१।३२ में बताये हुए कृष्ण लेश्याके लक्षण सामान्य साधुमें भी नहीं पाये जाते फिर भगवान् महावीर स्वामी में उनके होनेके विषय में कहना ही क्या है।

बोल नवां पृ० ३४८ से ३४९ तक

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं परन्तु उनमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही होती हैं इस लिये अप्रशस्त भाव लेश्याके बिना दोषका प्रतिसेवन नहीं होता यह कहना भी अज्ञान है।

बोल दसवां पृ० ३५० से ३५१ तक

यदि विराधक होनेसे कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निग्रंथको भी दोषका प्रतिसेवी कहना चाहिये क्योंकि भगवती शतक २५ उद्देशा ६के मूलपाठमें कषाय कुशीलकी तरह निग्रंथ भी विराधक कहा गया है।

बोल ११ वां पृष्ठ ३५१ से ३५३ तक

शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्ति के लिये साधु प्रतिक्रमण करता है परन्तु चार ध्यानोंके साधुओंमें होनेसे नहीं।

बोल १२ वां पृ० ३५३ से ३५४ तक

पन्नावणा सूत्रकी मलयगिरि टीकामें मनः पर्य्यवज्ञानियोंमें कृष्ण लेश्या बताई गई है परन्तु वह टीका भगवती सूत्रकी टीकासे विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है।

बोल १३ वां पृ० ३५४ से ३५८ तक

संघादिकी रक्षा करनेके लिये वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करने वाले साधुको शास्त्र-कारने भवितात्मा अनगार कहा है। षड्विध लेश्याओंका स्वरूप समझानेके लिये आवश्यक सूत्रकी टीकामें जामुनके फल खानेकी इच्छा करने वाले छः पुरुषोंका उदाहरण दिया है।

इति लेश्या प्रकरणम्।

अथ वैयावृत्यधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ३५९ से ३६० तक

जैसे वन्दनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घात वन्दनसे भिन्न है उसी तरह हरि केशी मुनिका व्यावचके लिये यक्षसे किया जाने वाला ब्राह्मण कुमारोंका ताडन मुनि के व्यावचसे भिन्न है।

बोल दूसरा पृष्ठ ३६० से ३६१ तक

सूर्य्याभने नाटकको भक्ति स्वरूप नहीं कहा है इस लिये नाटकको भक्ति मानकर उसे सावद्य बताना अज्ञान है।

बोल तीसरा पृष्ठ ३६१ से ३६२ तक

गुरु आदिके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करनेसे ज्ञाता सूत्रमें तीर्थंकर गोत्र बांधना कहा है। गुरु केवल साधु ही नहीं होते माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि भी होते हैं।

बोल चौथा पृष्ठ ३६२ से ३६५ तक

सुय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ गाथा ६।७ में जो लोग विषय सुख भोगनेसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं उनके सिद्धान्तका खण्डन है परन्तु साधुसे इतर प्राणीको साता देनेसे धर्म पुण्य होनेका निषेध नहीं है।

बोल पांचवां पृष्ठ ३६६ से ३६८ तक

गृहस्थसे साता पूछना तथा उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार है गृहस्थके लिये नहीं।

बोल छठा पृष्ठ ३६८ से ३७१ तक

उववाई सूत्रमें दशविध व्यावच कहे गये हैं उनमें साधर्मिक व्यावच भी शामिल हैं। प्रवचनके द्वारा श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक होता है अतः उसका व्यावच भी साधर्मिकके लिये निर्जराका हेतु है।

बोल सातवां पृष्ठ ३७१ से ३७२ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ५ उद्देशा २ में श्रावकोंके वर्ण बोलनेसे सुलभ बोधी और अवर्ण बोलनेसे दुर्लभ बोधी होना कहा है अतः श्रावकको अन्नदानादि द्वारा धार्मिक सहायता करनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञान है।

बोल आठवां पृष्ठ ३७२ से ३७२ तक

श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख और पथ्य आदि की इच्छा करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्र भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम हो गये हैं। भगवती शतक ३ उ० १

बोल नवां पृष्ठ ३७३ से ३७६ तक

साधु या साध्वीको रातमें या विकालके समय सर्प काटनेपर क्रमशः गृहस्थ स्त्री और पुरुषके द्वारा झाडा दिलाना वृहत्कल्प सूत्रमें लिखा है। आचारांग सूत्रमें कहा है कि गड्ढे आदिमें गिरनेकी संभावना होनेपर गृहस्थका हाथ पकड़ कर साधु मार्गको पार कर सकता है।

बोल दशवां पृष्ठ ३७६ से ३७९ तक

साधुकी गलेकी फांसी काटने तथा आगमें जलते हुए साधुको बाहर निकालनेमें एकान्त पाप कहने वाले निर्दय और शास्त्र विरोधी हैं।

बोल ११ वां पृष्ठ ३७९ से ३८१ तक

साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्शको धर्म बुद्धिसे काटने वाले गृहस्थको पुण्य बन्धकी क्रिया लगती है और लोभसे काटने वालेको पाप लगता है।

बोल १२ वां ३८१ से ३८२ तक

साधुको गृहस्थके द्वारा अपने फोड़े आदिके छेदन करानेकी इच्छा करना बुरा है परन्तु गृहस्थको धर्मबुद्धिसे साधुके फोड़े आदिका छेदन करना पापका कारण नहीं है।

इति वैयावृत्य प्रकरणम्।

अथ विनयाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ३८३ से ३८५ तक

सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और श्रावक अपनेसे श्रेष्ठ श्रावककी तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी जो सेवा शुश्रूषा करते हैं यह इनका दर्शन विनय समझना चाहिये।

बोल दूसरा पृष्ठ ३८५ से ३८६ तक

उत्पला श्राविकाने पोखली श्रावकको और पोखलीने शङ्ख श्रावकको वन्दन नमस्कार किये थे।

बोल तीसरा पृष्ठ ३८७ से ३९१ तक

सामायकमें बैठा हुआ श्रावक सामायकमें नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ है इसलिये वह सामायकमें नहीं बैठे हुएको नमस्कार नहीं करता है।

बोल चौथा पृष्ठ ३९१ से ३९६ तक

अम्बडजी के शिष्योंने संथारा पर बैठने के समय बारह व्रत ग्रहण कराने का उपकार मानकर अम्बडजी को नमस्कार किया था कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य मान कर नहीं।

बोल पांचवां पृष्ठ ३९७ से ३९९ तक

दिक्कुमारियों ने गर्भस्थ तीर्थङ्कर और उनकी माताको वन्दन नमस्कार किये थे।

बोल छट्ठा पृष्ठ ३९९ से ४०२ तक

जन्मते समय तीर्थङ्करको वंदना नमस्कार धर्म जान कर इन्द्र करते हैं लौकिक रीतिके अनुसार नहीं।

बोल सातवां पृष्ठ ४०२ से ४०४ तक

भगवती शतक २ उद्देशा ५ में तथारूपके श्रमण और माहन (श्रावक) की सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रवणसे लेकर मोक्षपर्य्यन्त फल मिलना कहा है।

बोल आठवां पृष्ठ ४०५ से ४०६ तक

जैसे परतीर्थी धर्मोपदेशक श्रमण और माहन दो हैं उसी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दो हैं।

बोल नवां पृष्ठ ४०६ से ४०७ तक

सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जितशत्रु राजाने बारह व्रत ग्रहण किये थे।

बोल दशवां पृष्ठ ४०७ से ४०८ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ की टीकामें श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है।

बोल ग्यारहवां पृष्ठ ४०८ से ४९१ तक

भगवती शतक १५ के मूलपाठमें साधु और श्रावक दोनों ही से सीखना और दोनोंको वंदन नमस्कार करना कहा है।

बोल १२ पृष्ठ ४१० से ४११ तक

उत्तराध्ययन सूत्र की गाथाओं में कहेहुए माहन के लक्षण श्रावकों में भी पाये जाते हैं।

इति विनयाधिकारः।

अथ पुण्याधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४१२ से ४१३ तक

पुण्यानुबन्धी पुण्य आदरणीय है, मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं।

बोल दूसरा पृष्ठ ४१३ से ४१४ तक

साधन दशामें मोक्षार्थी भी पुण्य फलका आदर करते हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४१४ से ४१६ तक

मनुष्य शरीर पुण्यका फल है मोक्षार्थियोंके लिये इसकी आवश्यकता उसी तरह है जैसे नदीसे पार जाने वालेको नौका की।

बोल चौथा पृष्ठ ४१६ से ४१९ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ में कही हुई पुण्यकामना और स्वर्गकामना बुरी नहीं है किंतु मोक्षका उपकारक है।

इति पुण्याधिकारः ।

अथ आश्रवाधिकारः ।

बोल १ ४२० से ४२१ तक

पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग ये ४२ आश्रव हैं।

बोल दूसरा ४२१ से ४२५ तक

पचीस क्रियाएं अजीव की कही हैं और वे आश्रव हैं इस लिये आश्रव अजीव भी हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४२५ से ४२६ तक

पुण्य पाप और वन्ध भी व्यवहार दशा में जीव हैं इन्हें एकान्त अजीव कहना अज्ञान है।

बोल चौथा पृष्ठ ४२६ से ४२७ तक

भगवती शतक १७ उद्देशा २ में सराग सलेश्य और समोह जीव को रूपी कहा है अतः जीव स्वरूप आश्रव भी रूपी सिद्ध होता है उसे एकान्त अरूपी कहना अज्ञान है।

बोल पांचवां पृष्ठ ४२७ से ४२८ तक

पाप, पुण्य, बंध, ये व्यवहार दशामें जीव और निश्चयनयके अनुसार अजीव हैं इन्हें एकान्त जीव या एकान्त अजीव कहना मिथ्या है।

बोल छट्ठा पृष्ठ ४२८ से ४२९ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ५ के मूलपाठसे आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव सिद्ध करना जनताको धोखा देना है।

बोल सातवां पृष्ठ ४२९ से ४३० तक

भगवती शतक १२ उद्देशा ५ के मूलपाठमें तीन दृष्टियों को अरूपी और मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रव एकान्त अरूपी नहीं हो सकता।

बोल आठवां पृष्ठ ४३० से ४३२ तक

कृष्ण लेश्या संसारी जीव का परिणाम है। संसारी जीव भगवती शतक १७ उद्देशा २ में रूपी भी कहा है अतः कृष्णलेश्या रूपी भी सिद्ध होती है।

बोल नवां पृष्ठ ४३२ से ४३३ तक

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के होने पर जो क्रिया की जाती है वह जीव की हो या पुद्गल की हो क्रमशः सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कही जाती हैं।

बोल दशवां पृष्ठ ४३३ से ४३४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के पाठ की साक्षी से आश्रव को एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है।

बोल १ वां पृष्ठ ४३४ से ४३५ तक

भगवती शतक १७ उद्देशा २ के मूल पाठ की साक्षी से आश्रव को एकान्त जीव कहना अज्ञान है।

बोल १२ वां पृष्ठ ४३५ से ४३८ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठ में रूपी अजीव भी जीव का परिणाम कहा गया है।

बोल तेरहवां पृष्ठ ४३८ से ४३९ तक

भाव गति आदिको जीवका परिणाम मान कर द्रव्य गति आदिको जीव का परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध है।

बोल चौदहवां पृष्ठ ४३९ से ४४० तक

दुग्ध जलकी तरह एकाकार होकर रहनेसे गति आदिको ठाणांग ठाणा दशमें जीवका परिणाम कहा है।

बोल १५ वां पृष्ठ ४४० से ४४१ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में कषाय और योगको आत्मा कहा है। कषाय और योग रूपी हैं इस लिये संसारी आत्मा भी रूपी हैं और कषायाश्रव तथा योगाश्रव भी रूपी हैं।

बोल १६ वां पृष्ठ ४४१ से ४४१ तक

भाव कषाय और भाव योग को आत्मा मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना शास्त्र विरुद्ध है।

बोल १७ वां पृष्ठ ४४२ से ४४४ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्म मात्रका भेद कहा गया है भाव आत्मा का ही नहीं। भगवती शतक १३ उ० ७ में आत्माका शरीरके साथ कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद कहा है।

बोल १८ वां पृष्ठ ४४५ से ४४६ तक

जीवोदयनिष्पन्न भावको एकान्त जीव और अजीवोदयनिष्पन्न भाव को एकान्त अजीव बताना अज्ञान है।

बोल १९ वां पृष्ठ ४४६ से ४४७ तक

भाव रूप होनेसे न कोई पदार्थ एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होने से न एकान्त रूपी ही हो जाता है अतः भाव रूप होने से क्रोधादि को एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है।

बोल २० वां पृष्ठ ४४७ से ४४९ तक

क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं।

बोल २१ वां पृष्ठ ४४९ से ४५१ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में मन और वचनको रूपी तथा जीव से भिन्न कहा है इसलिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं अतः योगाश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहना अज्ञान है।

बोल २२ वां ४५१ से ४५३ तक

ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें गतार्थ किया है।

बोल २३ वां पृष्ठ ४५३ से ४५४ तक

कर्म भी कर्मके ग्रहण करनेमें कारण होनेसे आश्रव है। वह पौद्गलिक कहा गया है इस लिये आश्रवको एकान्त अजीव मानना अज्ञान है।

इति आश्रवाधिकारः।

अथ जीवाजीवादि पदार्थ विचारः।

बोल १ पृष्ठ ४५५ से ४५६ तक

जीव और अजीव आदि नौ ही पदार्थ किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं।

बोल दूसरा पृष्ठ ४५६ से ४५७ तक

मुख्य नयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है।

बोल तीसरा पृष्ठ ४५७ से ४५८ तक

शब्द आदि तीन नय वालोंके मतसे नव ही तत्व जीव हैं। किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ अजीव हैं। किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ जीव हैं।

बोल चौथा पृष्ठ ४५८ से ४५९ तक

किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव हैं।

बोल पांचवां पृष्ठ ४५९ से ४६० तक

एक अपेक्षासे एक जीव, एक अजीव और सात दोनोंके पर्य्याय हैं।

इति नव तत्त्वविचारः।

अथ जीवभेदाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ४२१ से ४६३ तक

प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवका तीसरा भेद न मानना मूर्खता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४६३ से ४६४ तक

असंज्ञीसे मर कर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको शास्त्रमें कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है अतः पन्नावणा सूत्रके मनुष्य विषयक पाठका दृष्टान्त देकर उक्त जीवोंमें असंज्ञीका अपर्य्याप्त भेद न मानना अज्ञान है।

बोल तीसरा पृष्ठ ४६४ से ४६५ तक

छोटे बालक और बालिका मनोयुक्त होते हैं मनोविकल नहीं होते इसलिये उनका दृष्टान्त देकर असंज्ञीसे मर कर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें असंज्ञीका अपर्य्याप्त भेद न मानना अज्ञान मूलक है।

बोल चौथा पृष्ठ ४६५ से ४६६ तक

कीड़ी आदि जीवोंको दशवैकालिक सूत्रमें छोटा होनेके कारण सूक्ष्म कहा है सूक्ष्म जीवका भेद मान कर नहीं क्योंकि वे त्रस जीवमें गिने गये हैं परन्तु असंज्ञीसे मर कर नारकि आदिमें उत्पन्न होने वाले जीव कहीं भी संज्ञी नहीं कहे हैं अतः उनमें असंज्ञीका भेद न मानना अज्ञान है।

बोल पांचवां पृष्ठ ४६६ से ४६७ तक

संमूर्छिम मनुष्यका दृष्टान्त देकर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदका निषेध करना मिथ्या है।

बोल छट्ठा पृष्ठ ४६७ से ४६८ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा २ के मूलपाठमें असुरकुमार देवतामें नपुंसक वेदका निषेध इस लिये किया है कि उनकी वह अवस्था अन्तमुहूर्तकी होती है।

इति जीवभेदाधिकारः।

अथ सूत्र पठनाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४६९ से ४७१ तक

श्रावकको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४७१ से ४७२ तक

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार श्रावकोंके भी होते हैं यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार न होता तो उसको अकालमें स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करनेका अतिचार कैसे लगता ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४७२ से ४७३ तक

नन्दी और समवायांग सूत्रमें साधु और श्रावक दोनोंको "सुयपरिग्गहिया" कहा है इस लिये साधुकी तरह श्रावकका भी सूत्र और अर्थ दोनों जाननेका अधिकार है। उत्तराध्ययन सूत्रमें पालित नामक श्रावकको निग्रंथ प्रवचनका पण्डित कहा है।

बोल चौथा पृष्ठ ४७३ ४७५ तक

प्रश्न व्याकरण सूत्रके मूल पाठमें सत्य रूप महाव्रतकी प्रशंसा की गई है शास्त्र पढ़ने और पढ़ानेका कुछ जिक्र भी नहीं है।

बोल पांचवां पृष्ठ ४७६ से ४७७ तक

व्यवहार सूत्रमें तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् निशीथ सूत्र पढ़नेका और दश वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह एकान्त नहीं है क्योंकि तीन वर्षकी प्रव्रज्या वाला साधु उत्कृष्ट द्वादशांगधारी भी कहा गया है।

बोल छट्ठा पृष्ठ ४७७ से ४७८ तक

गुरुसे विना पढ़े अपने मनसे शास्त्र पढ़ने पर 'सुष्टुवदिन्न नामक अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावक गुरु से पढ़ कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं।

बोल सातवां पृष्ठ ४७८ से ४७९ तक

ठाणांग ठाणा तीनका नाम लेकर सभी श्रावकोंको अविनीत लोलुप और क्रोधी ठहरा कर शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बताना मूर्खता है।

बोल आठवां पृष्ठ ४७९ से ४८१ तक

सूर्य्य प्रज्ञप्तिका नाम लेकर श्रावकको अभाजन कहना मिथ्या है।

बोल ९ वां पृष्ठ ४८१ से ४८२ तक

उसन्न पासत्थ और कुशील आदि श्रावक भी होते हैं साधु ही नहीं। इसलिये निशीथ सूत्र उद्देशा १९ के मूलपाठमें उसन्न पासत्थ और कुशील श्रावक और साधुको शास्त्र पढ़ानेका निषेध है जो श्रावक उसन्न पासत्थ और कुशील नहीं है उसको शास्त्र पढ़नेका निषेध नहीं है।

बोल १० वां पृष्ठ ४८२ से ४८३ तक

आठ प्रकारके ज्ञानाचारोंमें दोष लगाने वाला पार्श्वस्थ कहा जाता है। आचाराङ्गादि अङ्ग और उत्तराध्ययनादि बाह्य अङ्गोंको पढ़ कर जो सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे उत्तराध्ययन सूत्रमें सूत्र रुचि कहा है।

इति सूत्र पठनाधिकारः।

अथ क्रियाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ४८४ से ४८४ तक

आज्ञा बाहरकी करनीसे भी पुण्य बन्ध होता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८४ से ४८५ तक

मिथ्या दर्शनी भी अकाम निर्ज्जरा आदि आज्ञा बाहरकी करनी करके स्वर्गगामी होते हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४८५ से ४८६ तक

आचार्य्य, उपाध्याय, कुल, गण और संघकी निन्दा करने वाले वीतरागकी आज्ञाका अनाराधक अज्ञानी, आज्ञा बाहरकी क्रियासे स्वर्गगामी होते हैं यह उवाई सूत्रमें कहा है।

इति क्रियाधिकारः।

अथ अल्प पाप बहु निर्जराधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ४८७ से ४८९ तक

तथा रूपके श्रमण माहनको अकल्पनीय आहार देने वाले श्रावकको थोड़ा पाप और अधिक निर्ज्जरा होना भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में कही है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८९ से ४९० तक

भगवतीके टीका कारने अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा थोड़ा पाप लिखा है पाप न होना नहीं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४९० से ४९१ तक

बहु शब्दके साथ आया हुआ अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होता।

बोल चौथा पृष्ठ ४९१ से ४९२ तक

आचारांग सूत्रकी स्वरचित टब्बा अर्थमें जीतमलजीने 'अफासुअं' का अर्थ अकल्पनीय कहा है।

बोल पांचवां ४९२ से ४९६ तक

भगवती शतक पांच उद्देशा ६ के मूलपाठमें आधाकर्मी आहार बनाने और झूठ बोल कर उसे साधुको देनेमें जो प्राणातिपात और मिथ्या भाषण होता है उससे अल्प आयुका बन्धन होना कहा है वह अल्प आयु क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नहीं है किन्तु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है।

बोल ६ पृष्ठ ४९६ से ४९९ तक

भगवती शतक १८ उद्देशा १० के मूलपाठमें उत्सर्ग मार्गमें अनेषणिक आहार साधुको अभक्ष्य कहा है कारण दशामें नहीं।

बोल सातवां पृष्ठ ४९९ से ५०० तक

नित्य पिण्ड और उद्दिष्ट भक्त दोनों ही दुर्गतिके कारण कहे गये हैं। परन्तु कई नामधारी साधु विना कारण ही नित्य पिण्ड लेते हैं।

इति अल्प पाप बहु निर्जराधिकारः।

अथ कपाटाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ५०१ से ५०२ तक

तेरह पंथी साधु अपने हाथसे खिडकीका कपाट खोलते हैं और बन्द करते हैं। भीषणजी खिड़कीका कपाट खोल कर रातमें बाहर गए थे तथा सोजतमें वजूजी नाथाजी आदि सात आर्य्याओंको अपने हाथसे छत्रीका कपाट खोल कर उतारा था।

बोल दूसरा पृष्ठ ५०२ से ५०३ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा ३५ में इन्द्रियोंकी चंचलताको रोकनेके लिये कहा है कि साधु, मनोहर, चित्र युक्त माल्य और धूपसे सुवासित तथा कपाट वाले मकान में न रहे, कपाट वन्द करने और खोलनेके भयसे उक्त मकानमें रहनेका निषेध नहीं है।

बोल तीसरा पृष्ठ ५०४

आवश्यक सूत्रमें विना पूंजे कपाट खोलनेका प्रायश्चित्त स्वरूप मिच्छामिदुक्कडं देना कहा है पूंज कर खोलनेका नहीं है।

बोल ४ पृष्ठ ५०४ से ५०५ तक

सुय० गाथा बारह तेरहमें अकेला विहार करने वाले साधुके लिये कपाट बन्द करनेका निषेध किया है स्थविर कल्पीके लिये नहीं।

बोल पांचवां पृष्ठ ५०६ से ५०७ तक

दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८ में सण आदिके पर्देसे ढके हुए द्वारको गृहस्थकी आज्ञासे कारण दशामें खोलनेका विधान किया है।

आचारांग सूत्रमें गृहस्वामीकी आज्ञासे प्रमार्जन आदि करके गृहस्थके द्वार खोलनेका विधान किया गया है।

बोल छट्ठा पृष्ठ ५०७ ५०८ सेतक

आचारांग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और वन्द करनेके भयसे कपाटवाले मकान रहनेका निषेध नहीं है किन्तु गृहस्थके संसर्ग वाले गृहमें रहनेका निषेध किया गया है।

बोल सातवां पृष्ठ ५०८ से ५१२ तक

बृहत्कल्प सूत्रके भाष्यमें कारण पड़ने पर साधुको जयणाके साथ कपाट खोलने और वन्द करनेका विधान किया है।

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	७	नियुक्ति	निर्युक्ति
१३	१४	धम	धर्म
१४	३०	सथा	सर्वथा
१५	११	जा	जो
१७	२	रेसी	ऐसी
१९	३	मोक्ष माग	मोक्ष मार्ग
२०	४	तधा	तथा
२०	५	लिगे गये हैं	लिये गये हैं
२०	८	लटका दिये हैं	लटका दिये गये है।
२५	९	उन्हें मोक्ष मार्गका	उन्हें अज्ञानी होनेसे मोक्ष मार्ग का
२८	७	पठमें	पढमे
२८	१२	दशाराधक	देशाराधक
२८	२४	अथात्	अर्थात्
३२	३१	सम्यग्दष्टिका	सम्यग्दष्टि था
३३	१८	घिपाक	विपाक
३५	३०	ज्ञात अध्ययन	ज्ञाताध्ययनं
४७	१८	क्रियावाद्वी	क्रियावादी ही
४५	२७	सुसल	मुसल
५२	२७	विरतिपुक्त	विरतियुक्त
५३	२०	निमल	निर्मल
५६	२६	मिथ्यथ्यात्व	मिथ्यात्व
५६	३०	अद्धे	अर्द्धे
५७	१८	पिपर्य्याय	विपर्य्याय
६०	२०	उद्देशा १	उद्देशा ३१

७

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	१५	उद्देशा १	उद्देशा ३१
६३	२८	"	"
६४	९	"	"
६९	२५	होता	होता है
७२	१४	चन्तवना	चिन्तवना
८२	३	अच्छा	शुभ
८२	७	"	"
८२	२०	"	"
८५	५	पूर्वत्	पूर्ववत्
८८	१४	चार	चोर
८८	१७	अधम	अधर्म
९६	६	बनलाते	बतलाते
९६	२८	निर्वाह	जीविका निर्वाह
९९	१७	नुनि	मुनि
१०५	१८	अथमें	अर्थमें
१०७	९	अहृत	आर्हत
१०७	१०	शिरमणि	शिरोमणि
१०७	११	प्रनिग्रह	प्रतिग्रह
१०७	२९	वैडाल व्रातिक	वैडाल व्रतिक
१०८	५	जना	जाना
१०९	२	जनता	जानता
१११	२३	टकानुसार	टीकानुसार
१२८	२७	तहर	तरह
१३८	९	अथमें	अर्थमें
१४४	३	करसेने	करनेसे
१४६	११	मरवाने	मारवाने
१४८	१४	करने	कारने
१५३	१३	सरम्भ	संरम्भ
१५५	४	परिग्रहमें	उसकी ममता परिग्रहमें
१५६	१२	गतम	गोतम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	२१	मिट्टीको	जलको
१६६	१०	गणांग	ठाणांग
१७९	३	बोल २९	बोल ३०
१८२	६	बोल ३०	बोल ३१
१८३	८	बोल ३१	बोल ३२
१८४	२८	बोल ३२	बोल ३३
१८५	६	कहने हैं	कहते हैं
१८७	८	बोल ३३	बोल ३४
१८७	१२	विसुलं	विपुलं
१८८	१८	बोल ३४	बोल ३५
१९०	१९	बोल ३५	बोल ३६
१९३	३	बोल ३६	बोल ३७
१९३	१७	वाग	नाग
१९४	३	बोल ३७	बोल ३८
१९७	८	बोल ३८	बोल ३९
१९८	५	अव्रतमें	आरम्भमें
१९९	२१	बोल ३९	बोल ४०
२०३	१४	बोल ४०	बोल ४१
२०४	१८	मूले हुए	भूले हुए
२१२	१७	कमका	कर्मका
२१३	१५	आय्य	आर्य्यो
२१५	२५	उपहेश	उपदेश
२१५	२९	हिंसके	हिंसकके
२१७	१५	भुक्त करना	मुक्त करना
२१८	५	बोल छट्ठा	बोल पांचवां
२२०	१७	विमित्त	निमित्त
२२०	२८	देखकर	बंचाकर
२२१	१०	बोल ७ वां	बोल छट्ठा
२२३	१०	बोल आठवां	बोल ७ वां
,,	१९	मनमार	मत मार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२५	कहिणे	कहिणो
२२४	२६	मीर्जारादीन	मार्जारादीन्
२२५	१४	बोल ९ वां	बोल आठवां
२२६	४	श्रुत० १	श्रुत० २
२२७	९	बोल १० वां	बोल ९ वां
२२९	७	बोल ११ वां	बोल दशवां
२३१	२६	बोल १२ वां	बोल ११ वां
२३३	५	एक प्रकारका	एक प्रकारके
,,	१८	बोल १३	बोल १२
२३६	३	बोल १४	बोल १३
२३६	२२	पासके समान	पाशके समान
२३७	२६	जीवित रहनेकी की	जीवित रहनेकी
,,	३०	बोल १५	बोल १४
२३८	२	भ्रमविध्वंससन	भ्रमविध्वंसन
,,	५	मारे जाने जाने वाले	मारे जाने वाले
,,	२७	बोल १६	बोल १५
२३९	११	यह यह	यह
,,	१६	कनुकम्पा	अनुकम्पा
२४०	४	कते	करते
,,	८	तुझको	तुमको
,,	१८	सांसासारिक	सांसारिक
,,	२२	बोल १७	बोल १६
२४१	१३	श्रेय	जीत
,,	,,	अहित	हार
२४४	२९	बोल १९	बोल १८
२४७	२१	बोल २०	बोल १९
,,	२८	राजा	क्योंकि राजा
२४८	२८	उतरना	उतारना
२४९	९	दिता जाता है	दिया जाता है
,,	२०	धमको	धर्मको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५०	१९	बोल २१	बोल २०
२५२	१६	निवरणार्थ	निवारणार्थ
”	१८	बोल २२	बोल २१
२५३	२	उच्चित्ता	उद्धित्ता
२५४	२२	बोल २३	बोल २२
२५६	६	जेभिक्ख	जेभिक्खू
२५७	१७	बोल २५	बोल २४
२६१	१६	बोल २६	बोल २५
२६४	११	बोल २७	बोल २६
२६५	१३	कनुकम्पा	अनुकम्पा
”	१४	जा है	जाती है
२६७	१९	अर्थ है	भावार्थ है
२६९	२२	बोल २९	बोल २८
२७०	२५	बोल ३०	बोल २९
२७१	१६	कहते	कहते हैं
२७२	२९	बोल ३१	बोल ३०
२७५	३	बोल ३२	बोल ३१
२७६	१६	बोल ३३	बोल ३२
२७९	२६	बोल ३४	बोल ३३
१८०	१	नदीथी	नदीघी
२८२	८	बोल ३५	बोल ३४
२८४	९	बोल ३६	बोल ३५
२८५	९	बोल ३७	बोल ३६
”	१२	अपनी	उपनी
२९०	५	बोल ३८	बोल ३७
२९४	१८	स्वल्प संवेग और निर्वेद होनेसे	आर्तध्यान होनेसे
३०३	१०	धमका	धर्मका
”	२२	कम	कर्म
३०८	११	कारित्था	न कारित्था
”	१८	करते हुए	न करते हुए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	२५	अनेक दिनके	अनेक वर्णके
३१४	२८	तिर्णय	निर्णय
३१८	२७	दोष अप्रतिसेवी	दोषका अप्रतिसेवी
३२३	४	बोल (०)	बोल १२ वां
३२४	१७	गाथाका अर्थ है	पाठका अर्थ है
"	२५	छद्यस्थ	छद्मस्थ
३२५	८	गोशालको	गोशालक को
३२९	५	टीकामें	- अर्थमें
३४८	१७	लेइया	लेश्या
३४९	२	पच्चक्खाण	पच्चक्खाण
३५२	४	द्ररु	रुद्र
३५४	२८	गच्छज्जा	गच्छेज्जा
३५५	९	सादिका	आदिका
"	२०	स्वीकारए	सीरीकारए
३६१	२	भगद्भक्ति	भगवद्भक्ति
"	१५	छ	छै
३६९	१३	भंगोंमें	भंगमें
३७१	१	कतव्य है	कर्तव्य है
"	६	श्रावकोंको	श्रावकों के
३७५	७	…………	श्रु० २ अ० ३ उ० २
३७९	२६	सूत्रको	सूत्रका
३८०	४	अथ	अर्थ
"	९	करान वाले	कराने वाले
३८२	४	धम बुद्धिसे	धर्म बुद्धिसे
"	११	अण्णपरेण	अण्णयरेण
३८३	१३	भगवती शत १५	भगवती शतक २५
३८४	१	असातना	अनासातना
३८७	५	निर्जराक	निर्जराका
३८९	६	असनानुप्रदान	आसनानुप्रदान
३९१	१	भुनियोंको	मुनियोंको
३९२	३	वाहर	वारह
३९६	१९	कुप्रावाचनिक	कुप्रावचनिक
३९८	५	सिरलावत्तं	सिरसावत्तं
४०५	२९	हर्षके साथ	धर्मके साथ
४०६	१४	अपने शिष्योंको	अपने ७०० शिष्योंको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०७	१९	इसीलिगे	इसलिये
४१३	१९	छायन्ते	जायन्ते
४१५	१०	थह	यह
,,	१५	१३ वें अ० की २१ वी	३ रे अ० की पहली
४१९	८	स्वर्गप्राप्ति	मोक्ष प्राप्ति
४२२	१०	क्रिया	क्रिया
४२३	१९	तीना	तीनो
४२४	१७	आरोलिय	ओगलिय
४२४	१८	सगारो	सागारो
,,	२७	वतमान	वर्तमान
४३१	१८	होता	हो ता
,,	२४	ल	लघु
४३३	२०	मुख्यता	मुख्यता
४३७	१३	श्रुनाज्ञान	श्रुताज्ञान
४४३	११	नकरूपत्वात्	नैकरूपत्वात्
,,	१८	अरीर	शरीर
४४४	९	ससारी	संसारी
,,	२०	द्रव्य	द्रव्य
४४५	१३	तत्पर्य्य	तात्पर्य्य
४५०	३	प्रति संलीलता	प्रतिसंलीनता
४६४	१०	गभज	गर्भज
,,	२०	जीर्वो	जीवों
४६५	५	असंज्ञी	असंज्ञीभूत
,,	२९	सवत्र	सर्वत्र
४७१	४	आश्रवों	श्रावकों
४७२	१३	बोल १	बोल २
,,	२७	पावपणे	पावयणे
४८०	१४	धम	धर्म
४८२	७	पढना	पढाना
,,	२०	मूत्रोंका	सूत्रोंका
४९०	२५	हेनेसे	देनेसे
,,	२७	समझर	समझकर
४९१	९	पए सगओ	पएसगाओ
४९२	१५	चीजको	चीजको ही
४९३	२६	जावा	जीवा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९७	१४	मौनन्द्रागम	मौनीन्द्रागम
४९८	७	उपयोग	उपभोग
"	२८	तथापि	अतएव
५०३	४	श्लोचं	श्लोयं
५०४	११	प्रमाजन	प्रमार्जन
५०५	१	सुन्नघरस्स	सुन्नघरस्स
५०६	१०	अलसीकें काण्डकी टट्टू से	सणके
"	२५	प्रम जन	प्रमार्जन
"	२७	कके	करके
५०८	३०	आन्तो	अन्तो
५०९	५	खले	खुले
५१०	१९	वाघ्रादय	व्याघ्रादयः

—※—

परिशिष्ट ।

पृष्ठ ६१, पंक्ति चौथीके १५ वें अक्षरके आगेका छुटा हुआ पाठ यह है :—

"विसुज्झमाणेविजाणइ"

पृष्ठ ७६, पंक्ति १७ के २३ अक्षरके आगेका पाठ यह है :—

"अणाराहगा"

पृष्ठ १६७, पंक्ति ११ के १४ अक्षरके आगेका छूटा हुआ पाठ यह है :—

"किंचा दचा"

पृष्ठ २६८ पंक्ति २२ के दश अक्षरके आगेका छूटा हुआ वाक्य यह है :—

"वास्तवमें शास्त्रसे मिलती हुई सभी चूर्णी मान्य हैं ।

पृष्ठ ३२३ के चौथी पंक्तिके आगेका छूटा हुआ बोल यह है :—

(बोल १२)

३३५ पृष्ठके २९ वीं पंक्तिके आगेका छूटा हुआ वाक्य यह है :—

"जहां जहां आरम्भ है वहां सर्वत्र यदि कृष्ण लेश्या है तो फिर शुक्ल लेश्या केवल अनारम्भो में ही पाई जानी चाहिये परन्तु वह आरम्भीमें भी पाई जाती है अतः पूर्वोक्त नियम मिथ्या है ।





❀ श्रीवीतरागाय नमः

सद्धर्ममण्डनम् ।

मिथ्यात्विक्रियाधिकारः ।

अथ सद्धर्ममण्डनमारभ्यते

सिद्धाण नमो किच्चा संजयाणंच भावओ
अत्थ धम्म गइं तच्चं अणुसिट्टिं सुणेहमे १
भव वीजांकुर जनना रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य
ब्रह्मावा विष्णुर्वा हरो जिनोवा नमस्तस्मै २

सिद्ध और साधुओंको भावपूर्वक नमस्कार करके हिताहितका ज्ञान देनेवाला सदुपदेश दिया जाता है उसे सुनिये। भववीजका अंकुर उत्पन्न करनेवाले रागादि दोष जिसके क्षीण हो गये हैं वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो चाहे शिव या जिन हो उसे मेरा नमस्कार है।

सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विद्या चारित्र और श्रुत चारित्र को "सद्धर्म" कहते हैं। उसका मण्डन तथा मिथ्या ज्ञान दर्शन और चारित्रका खण्डन और जीवरक्षा तथा अनुकम्पा दान आदिके विरोधी सिद्धान्तोंका निराकरण, शास्त्रीय प्रमाणसे इस ग्रन्थमें किया जाता है, इसलिये इसका नाम "सद्धर्म मण्डन" रक्खा है। भव्य जीवोंके उपकारार्थ, तथा आत्मलाभार्थ, यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

श्रीवीतरागदेवकी आज्ञाराधना रूप धर्मके दो भेद ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमें कहे हैं। वह पाठ—

"दुविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा—सुयधम्मे चेव चारित्तधम्मे चेव" (ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा २)

अर्थ—धर्म दो प्रकारका है एक श्रुत और दूसरा चारित्र ।

सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आठ ज्ञानाचार और आठ सम्यक्त्वके आचार श्रुतधर्ममें माने जाते हैं। साधु धर्म, तथा गृहस्थ धर्मके मूलगुण एवं आठ चारित्रके आचार, चारित्र धर्ममें कहे गये हैं। इस प्रकार श्रुत और चारित्र ये दो ही वीतरागकी आज्ञाके धर्म हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरा धर्म, वीतराग भाषित या वीतरागकी आज्ञाका धर्म नहीं है। इन्हीं श्रुत और चारित्र धर्मोंका आराधक पुरुष वीतरागकी आज्ञाका आराधक है।

श्रीवीतरागकी आज्ञाराधनाके तीन भेद भगवती सूत्रमें कहे हैं

वह पाठ—"कतिविहाणं भन्ते ! आराहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता तंजहा नाणाराहणा दंसणाराहणा चारित्ता राहणा। णाणाराहणाणंभन्ते ! कतिविहा पण्णत्ता गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता तंजहा—उक्कोसिया मज्झिमा जहण्णा। दंसणाराहणाणं भन्ते ! एवंचेव तिविहावि एवं चारित्ताराहणावि"

(भगवती शतक ८ उद्देशा १०)

अर्थ—हे भगवन् ! आराधनाके भेद कितने होते है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आराधनाके भेद तीन हैं, ज्ञानाराधना (ज्ञानकी आराधना) दर्शनाराधना (दर्शनकी आराधना) और चारित्राराधना (चारित्रकी आराधना)।

(प्रश्न) हे भगवन् ! ज्ञानाराधनाके कितने भेद होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! ज्ञानाराधनाके तीन भेद हैं, उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। इसी तरह दर्शनाराधना और चारित्राराधनाके भी तीन तीन भेद समझने चाहिये।

यहां भगवान्ने आराधनायें तीन प्रकारकी कही हैं ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। इसलिये इन्हींका आराधक पुरुष मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक समझा जाता है। परन्तु इनकी आराधना नहीं करके जो किसी दूसरे धर्मका आराधन करता है वह मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक नहीं है। ऊपर बताये हुए मूलपाठमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे जो तीनों आराधनाओंको तीन तीन प्रकारका कहा है उनमें किस भेदका आराधक पुरुष कितना भव करता है यह निर्णय भी इसी जगह भगवतीजीके मूलपाठमें कर दिया है वह पाठ—

"उक्कोसियाणं भन्ते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्ग-हणे हिं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति ? गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव

भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति अत्थे गइए कप्पोवएसुवा कप्पातीएसुवा उववज्जंति। उक्कोसियणं भंते! दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं एवं चेव उक्कोसियणं भन्ते! चारित्ताराहणं आराहेत्ता एवंचेव नवरं अत्थेगइए कप्पातीएसुउववज्जंति। मज्झिमियंणं भंते! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अंतं करेंति? गोयमा! अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अन्तं करेंति तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ। मज्झिमियं णं भन्ते! दंसणाराहणं आराहेत्ता एवंचेव एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणंवि। जहन्नियंणं भन्ते! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिंज्झंति जाव अन्तं करेंति? गोयमा! अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अन्तं करेंति सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ एवं दंसणाराहणं वि एवं चरित्ताराहणं वि" (भगवती शतक ८ उ० १०)

इस पाठमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उत्कृष्ट आराधना करनेवाले पुरुषको जघन्य एकभव और उत्कृष्ट दूसरे भवमें मोक्ष जाना कहा है तथा उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनकी आराधना करनेवालेको कल्प और कल्पातीत नामक स्थानोंमें ही देवता होना, एवं उत्कृष्ट चारित्रकी आराधना करनेवालेको अनुत्तर विमानमें ही जाना कहा है। इसी तरह इन तीनों आराधनाओंके मध्यम आराधकको जघन्य दो और उत्कृष्ट तीन भवमें, तथा इनके जघन्य आराधकको जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना बतलाया है। इसका खुलासा करते हुए टीकाकारने लिखा है कि—जिस ज्ञान दर्शनकी जघन्य आराधनासे उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना इस पाठमें बतलाया है वह ज्ञान और दर्शनकी आराधना चारित्राराधनाके साथ की जानेवाली समझनी चाहिए। परन्तु चारित्रकी आराधनासे रहित जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधना नहीं। क्योंकि चारित्रकी आराधनासे रहित जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधनासे, तथा श्रावकपनेके देशव्रतकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हैं। इस प्रकार जिस पुरुषमें चारित्रकी आराधना नहीं है किन्तु ज्ञान और दर्शनकी जघन्य आराधना है वह पुरुष, तथा देशव्रती श्रावक, जघन्य तीन और उत्कृष्ट असंख्य भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस न्यायसे जो

पुरुष वीतरागकी आज्ञाराधनाके किसी भी भेदका आराधक है वह दो तीन भवोंमें अथवा असंख्य भवोंमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर जो पूर्वोक्त आराधनाओंके किसी भी भेदका आराधक नहीं है वह कभी भी मोक्ष नहीं जाता किन्तु वह अनन्त कालतक संसारमें ही पड़ा रहता है। अतः मिथ्यादृष्टि पुरुष वीतरागकी आज्ञाका किञ्चित् भी आराधक नहीं है क्योंकि आज्ञाराधक पुरुष पूर्वोक्त पाठ और टीकानुसार दो तीन भवमें अथवा उत्कृष्ट असंख्य भवमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर मिथ्या दृष्टि नहीं जाता। इसलिये वह वीतराग की आज्ञाराधनाके किसी भी अंशका आराधक नहीं है यह उक्त मूल पाठसे सिद्ध होता है। जो लोग मिथ्यादृष्टिको देशसे मोक्ष मार्गका आराधक मानते हैं उन्हें उक्त मूल पाठ और उस की टीकानुसार मिथ्यादृष्टि को उत्कृष्ट असंख्यभव में मोक्ष जाना भी मानना चाहिये। यदि मिथ्यादृष्टिको असंख्य भव में वे मोक्ष जाना नहीं मानते, तो फिर उसे वीतरागकी आज्ञाका देशसे आराधक भी नहीं मान सकते जो आज्ञाका आराधक तो हो और असंख्य भव में भी मोक्ष न जाय यह बात उक्त मूल पाठ और उस की टीका से विरुद्ध है।

पूर्वोक्त त्रिविध आराधनाएं श्रुत और चारित्रके ही अन्तर्गत हैं। ज्ञानके विना दर्शन और दर्शनके विना ज्ञान नहीं होता इसलिए ज्ञान और दर्शन ये दोनों श्रुत धर्ममें माने जाते हैं और चारित्राराधना चारित्रस्वरूप है इसलिए धर्मके मूलभेद श्रुत और चारित्र ये दो ही हैं। दशवैकालिक सूत्र में "अहिंसा संजमो तवो" यह कह कर अहिंसा संयम, और तपको जो धर्म कहा है वह श्रुत और चारित्रको ही अहिंसा संयम और तप कह कर वतलाया है। पर श्रुत और चारित्र से अतिरिक्त अहिंसा संयम तप धर्म नहीं कहे हैं। अतएव इस गाथा की निर्युक्ति में धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "दुविहो लोगुत्तरियो सुयधम्मो खलु चरित्त धम्मोय" अर्थात् लोकोत्तर धर्म दो प्रकारका होता है एक श्रुत और दूसरा चारित्र। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र रूप लोकोत्तर धर्मको ही उक्त गाथा में अहिंसा, संयम और तप कह कर वतलाया है परन्तु किसी लौकिक धर्मको नहीं।

इसी तरह उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें मोक्षका मार्ग वतलानेके लिए यह गाथा कही है कि:—

"नाणञ्च दंसणंचेव चरित्तंच तवो तहा। एसमग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" (उत्तरा० अ० २८ गाथा २)

अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र और तपको तत्त्वदर्शी जिनवरोंने मोक्षका मार्ग वतलाया है।

यहां गाथामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप ये चार मोक्ष के मार्ग कहे हैं। ये चारों ही श्रुत और चारित्र धर्म के भेद हैं ज्ञान और दर्शन तो श्रुत के अन्दर और चारित्र तथा तप चारित्र के अन्दर माने जाते हैं। अतः गाथा में कहे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, श्रुत तथा चारित्रके अन्तर्गत हैं। अतएव इस गाथाकी पाई टीका में तप के विषय में लिखा है कि—

"तपो वाह्याभ्यन्तर भेद भिन्नं यदर्हद्वचनानुसारि तदेवो पादीयते"

अर्थात् वाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे भिन्न अर्हद्वचनानुसारी जो तप है उसी का इस गाथा में ग्रहण है।

यहां टीकाकारने वीतराग भाषित तप को ही मुक्तिका मार्ग बतला कर गाथामें उसीका ग्रहण होना बतलाया है पर मिथ्यादर्शनानुसारी तपको मुक्ति का मार्ग नहीं कहा है। अतः वीतरागकी आज्ञामें होने वाला यह तप चारित्र का ही भेद है। अतएव इस गाथा की टीकामें चारित्रसे पृथक् तपको लिखनेका प्रयोजन बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—"इहच चारित्र भेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादान मस्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारण हेतुत्वमुपदर्शयितुम्।" अर्थात् तप, चारित्रका ही भेद है तथापि कर्मक्षय करनेमें यह सबसे प्रधान है यह बतलानेके लिए इस गाथामें चारित्रसे अलग तप कहा गया है।

यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि तप चारित्र का ही भेद है अतः सिद्ध हुआ कि ऊपर लिखी हुई गाथामें श्रुत और चारित्र धर्म ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप कह कर बतलाये गये हैं इस न्यायसे श्रुत और चारित्रसे भिन्न कोई तीसरा वीतरागकी आज्ञाका धर्म नहीं है यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है।

ठाणाङ्ग सूत्रमें विद्या और चारित्रके द्वारा संसार-सागरसे पार जाना कहा है, वह विद्या और चारित्र भी श्रुत तथा चारित्र धर्म ही हैं इनसे पृथक् नहीं। वह पाठ—

"दोहिं ठाणेहिं अणगारे सम्पन्ने अणादियं अणवयग्गं दीह-मद्धं चाउरंतर संसारकंतारं वीतिवत्तेज्जा। तंजहा विज्जाएचेव चर-णेणचेव" (ठणाङ्ग ठाणा २ उद्देशा ३)

इस पाठमें विद्या और चारित्रके द्वारा संसार सागर से पार जाना कहा है और मूलपाठ में विद्या और चरण शब्द के साथ "एव कार" लगाकर भवसागर को पार करने के लिये अन्य उपाय का निषेध किया है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिये विद्या और चरण ये दो ही कारण सिद्ध होते हैं इनसे भिन्न कोई तीसरा कारण नहीं। यहां विद्या शब्द से ज्ञान दर्शन का और चरण शब्द से चारित्र का ग्रहण है इसलिये इस पाठ में श्रुत और

चारित्र ही विद्या, तथा चरण कहकर बतलाये हैं। अतः इस पाठसे भी यही सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र धर्म ही मोक्ष प्राप्तिके कारण हैं इनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है।

यहां कोई यह शङ्का करे कि विद्या शब्द तो केवल ज्ञान अर्थमें ही प्रसिद्ध है उससे ज्ञान और दर्शन इन दोनों का ग्रहण क्यों होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि इस पाठ की टीका में विद्या शब्दसे ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण होना लिखा है। वह टीका यह है—"ननु सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्ग इति श्रूयते इह तु ज्ञान क्रियाभ्यामसावुक्त इति कथं न तद्विरोधः अथ द्विस्थानकानुरोधादेवं निर्देशेऽपि न विरोधो नैवमवधारणगर्भत्वान्निर्देशस्येति। अत्रोच्यते विद्याग्रहणेण दर्शनमप्यविरुद्धं द्रष्टव्यं ज्ञानभेदत्वात्सम्यग्दर्शनस्य। यथाहि अवोधात्मकत्वे सति मतेरनाकारत्वादवग्रहे दर्शनं साकारत्वाच्चापायधारणे ज्ञानमुक्तमेवं व्यवसायात्मकत्वे सत्यवायस्य रुचिरुपोंऽशो ऽवाय एवे ति न विरोधः। अवधारणंतु ज्ञानादिव्यतिरेकेण नान्यउपायो भव व्यवच्छेदस्येति दर्शनार्थ मिति"

अर्थ—सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र मोक्षके मार्ग सुने जाते हैं परन्तु यहां ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा गया है इस कारण उससे विरोध क्यों नहीं ? यदि कहो कि ठाणाङ्ग सूत्रका यह दूसरा ठाणा है इसमें तीनका समावेश नहीं है इसलिये यहां ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा, किन्तु दर्शनसे नहीं। तो यह अयुक्त है। क्योंकि इस मूल पाठमें "विज्जाए चेव चरणेण चेव" इन पदोंमें विद्या और चरण से ही मोक्ष जाने का नियम करके दूसरे से मोक्ष प्राप्तिका निषेध किया है। इसका उत्तर यह है कि विद्या शब्द से यहां दर्शन का भी ग्रहण समझना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञानका ही भेद है। जैसे कि अवबोध स्वरूप और अनाकार स्वरूप होने से मतिज्ञान के अवग्रह और ईहारूप भेद दर्शन स्वरूप हैं और साकार होने के कारण अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान के भेद, ज्ञान के अन्दर कहे हैं इसी तरह व्यवसाय स्वरूप अवाय का रुचि रूप अंश सम्यग्दर्शन है और अवगमरूप अंश अवाय, ज्ञान स्वरूप ही है इसलिये कोई विरोध नहीं है। इस पाठ में जो "एवकार" आया है वह सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र से भिन्न कोई मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं हैं यह दर्शाने के लिये समझना चाहिये। यह उक्त टीका का अर्थ है।

यहां टीकाकार ने विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण बतलाया है और सम्यग्ज्ञान दर्शन ही श्रुत कहलाते हैं इसलिये उक्त मूलपाठ में श्रुत और चारित्रधर्म ही विद्या और चरण शब्द से कहे गये हैं। मूलपाठ में 'एवकार' देकर इनसे भिन्न पदार्थ को मोक्ष प्राप्ति में निषेध किया है अतः श्रुत और चारित्रधर्म ही मोक्ष के मार्ग तथा वीतराग की आज्ञा के धर्म सिद्ध होते हैं। श्रुत तथा चारित्र अथवा विद्या या चारित्रधर्म

अज्ञानी और मिथ्यात्वियों में नहीं होते सम्यग्दृष्टि पुरुषों में ही होते हैं अतः सम्यग्दृष्टि पुरुष ही वीतराग की आज्ञाराधक या मोक्ष मार्गके आराधक हैं मिथ्यादृष्टि नहीं।

(१) पहला बोल समाप्त।

जो जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि हैं उनसे जो परलोक के लिये तपोदानादि रूप क्रिया की जाती हैं वह वीतराग की आज्ञा में नहीं हैं और वे पुरुष मोक्ष मार्गके किञ्चित् भी आराधक नहीं हैं यह बात शास्त्र के प्रमाण से बतलाई जाती है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ४ में कहा है कि जो पुरुष अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि हैं उनकी परलोक सम्बन्धी क्रिया मोह कर्म के उदय से होती है। वह पाठ—

"जीवेणं भन्ते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिन्नेणं उवट्टावेज्जा ? हंता गोयमा उवट्टाएज्जा। से भन्ते ! किं वीरियत्ताए उवट्टाएज्जा अवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा ? गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्टाएज्जा णोअवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा। जइ वीरियत्ताएउवट्टाएज्जा किं बाल वीरियत्ताए उवट्टाएज्जा पण्डियवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा बालपंडियवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा णोपंडियवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा" (भगवती शतक १ उद्देशा ४)

अर्थ—हे भगवन् ! मिथ्यात्व-मोहनीय कर्मके उदयसे जीव परलोककी क्रिया स्वीकार करता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गोतम ! करता है।

(प्रश्न) हे भगवन् वीर्य्यके द्वारा स्वीकार करता है या अवीर्य्यके द्वारा करता है ?

(उत्तर) वीर्य्यके द्वारा स्वीकार करता है अवीर्य्यके द्वारा नहीं क्योंकि परलोककी क्रिया करनेमें वीर्य्यकी आवश्यकता होती है।

(प्रश्न) यदि वीर्य्यके द्वारा स्वीकार करता है तो क्या बाल वीर्य्यके द्वारा करता है या पण्डित वीर्य्यके द्वारा करता है अथवा बाल पण्डित वीर्य्यके द्वारा स्वीकार करता है ?

(उत्तर) बाल वीर्य्यके द्वारा स्वीकार करता है पण्डितवीर्य्य अथवा बालपण्डितवीर्य्यके द्वारा नहीं। यह इस पाठका अर्थ है।

यहां "बाल" शब्दका अर्थ टीकाकारने मिथ्यादृष्टि किया है। वह टीका यह है—

"बालवीर्य्यत्ताए" त्ति बालः सम्यगर्थानवबोधात् सद्बोधकार्य्यविरत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टिः तस्य वीर्यता परिणति विशेषः सा तथा तया"

अर्थात् जिसको सम्यक् अर्थका बोध नहीं है और सद्बोधसे उत्पन्न होनेवाली विरति भी नहीं है वह जीव "बाल" कहलाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टिको बाल कहते हैं। उसकी वीर्यता बाल वीर्यता कहलाती है। यह टीकाका अर्थ है।

यहां मूलपाठ और टीकामें मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके उदयसे जो परलोककी क्रिया की जाती है उसे बालवीर्य्यके द्वारा होना कहा है और बालवीर्य्य (मिथ्यात्वीका वीर्य्य) वीतरागकी आज्ञासे बाहर है इसलिए उस वीर्य्यके द्वारा जो परलोककी क्रिया की जाती है वह भी आज्ञासे बाहर सिद्ध होती है। अतः अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियोंकी परलोकके लिए की जानेवाली तपोदानादिरूपा क्रिया वीतरागकी आज्ञासे बाहर समझनी चाहिए।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमें मिथ्यादृष्टियोंकी क्रिया अज्ञान क्रिया कही हैं और अज्ञान भगवान्‌की आज्ञासे बाहर है अतः मिथ्यादृष्टिकी क्रिया भी आज्ञा बाहर सिद्ध होती है वह पाठ—

"अण्णाणकिरिया तिविहा पण्णत्ता तंजहा—मतिअण्णाण किरिया सुय अण्णाण किरिया विभंगण्णाण किरिया"

(ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देशा ३)

(टीका) "मइ अण्णाण किरिए" त्ति। "अविसेसिया मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स सा मइ-ण्णाणं मइअण्णाणं मिच्छदिट्ठिस्स सुयं वि एवमेव" त्ति मत्यज्ञानात् क्रियाऽनुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया एवमितरेऽपि नवरं विभंगो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभंगा ज्ञानमिति।"

अर्थात्—जो क्रिया, अज्ञानसे की जाती है उसे "अज्ञान क्रिया" कहते हैं। उसके तीन भेद हैं मत्यज्ञानक्रिया, श्रुताज्ञानक्रिया और विभंगाज्ञानक्रिया।

यह मूलपाठका अर्थ है। इसमें अज्ञानक्रियाके जो मत्यज्ञानादिक तीन भेद बतलाए हैं इनका अर्थ जो उपरोक्त टीकामें किया है उसका भाव यह है—

सम्यग्दृष्टि पुरुषकी मतिको "मतिज्ञान" कहते हैं। और मिथ्यादृष्टिकी मतिको "मतिअज्ञान" कहते हैं। इसी तरह श्रुतके विषयमें भी जानना चाहिये। जो क्रिया मत्यज्ञानसे की जाती है वह मत्यज्ञानक्रिया कहलाती है। इसी तरह श्रुताज्ञानक्रिया और विभङ्गाज्ञान क्रिया समझनी चाहिये। "विभङ्ग" नाम मिथ्यादृष्टि के अवधि ज्ञान का है वह ज्ञान भी अज्ञान है इसलिये इसे "विभङ्गाज्ञान" कहते हैं। यह टीका का अर्थ है। यहां टीकाकार ने मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की मति, श्रुत, और अवधि को मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, और विभङ्गाज्ञान कहा है और इनसे की जाने वाली उसकी क्रियाओं को मत्यज्ञान क्रिया

श्रुताज्ञान क्रिया और विभङ्गाज्ञान क्रिया कहा है। ये सभी क्रियायें उपरोक्त मूल पाठमें अज्ञान क्रिया के भेद कही हैं। अज्ञान, वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञानसे की जाने वाली मिथ्यादृष्टियों की ये क्रिया भी आज्ञा से बाहर ही हैं।

आवश्यक सूत्र में अज्ञान को त्यागने योग्य और ज्ञानको आदरने योग्य कहा है।

वह पाठ—"अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपवज्जामि मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपवज्जामि" (आवश्यक सूत्र)

अर्थ—साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञान को छोड़ता हूं और ज्ञान को प्राप्त करता हूं। तथा मिथ्यात्व को छोड़ता हूं और सम्यक्त्व को प्राप्त करता हूं। यह इस पाठका अर्थ है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान और मिथ्यात्व वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञान तथा मिथ्यात्व से जो क्रिया कीजाती है वह भी आज्ञा से बाहर ही सिद्ध होती है।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा २ में जिसको जीव, अजीव, त्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा बाहर सिद्ध होती है क्योंकि मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव, त्रस और स्थावरका सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

उवाई सूत्रमें कहा है कि जो पुरुष, अकामनिर्जराकी क्रिया करके दश हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो हाडी बन्धनादिक दुःख सह कर बारह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो माता पिता आदिकी सेवासे चौदह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य्य पालन करके चौसठ हजार वर्षकी आयुकी देवता होती है जो अन्न जल आदिका नियम रखकर चौरासी हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो कन्द मूलादि खाकर एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयु के देवता होते हैं जो परिव्राजकधर्मका पालन करके दश सागरकी आयुके देवता होते हैं तथा गोशालक मतानुयायी जो बाईस सागरकी आयुके देवता होते हैं ये सभी लोग मोक्षमार्ग के आराधक नहीं हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वसे की जाने वाली क्रिया वीतराग की आज्ञासे बाहर है और उन क्रियाओंका आचरण करनेवाले मिथ्या दृष्टि पुरुष मोक्ष मार्गके आराधक नहीं है किन्तु जो ज्ञानवान और सम्यग्दृष्टि हैं वे ही भगवान् की आज्ञाके आराधक हैं।

(दूसरा बोल समाप्त।)

—०—

(प्रेरक)

आपने पहले बोलमें ठाणाङ्ग आदि सूत्रोंका प्रमाण देकर धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र बतलाये हैं और मिथ्यादृष्टिमें इन धर्मोके न होनेसे उसे मोक्ष मार्गका किञ्चित् भी आराधक न होना कहा है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार आपकीतरह धर्मका भेद नहीं करते जैसे कि भ्रमविध्वंसनके पहले पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है "ते धर्मरा दो भेद सवंर निर्जरा। ए बीहूं भेदांमे जिन आज्ञा छे। ए संवर निर्जरा बीहुईं धर्म छै। ए संवर निर्जरा टाल अनेरो धर्म नहीं छै। कई एक पाखण्डी संवरने धर्मश्रद्धे पिण निर्जराने धर्म श्रद्धे नहीं। त्यांरे संवर निर्जरारी ओलखगा नहीं" इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

शास्त्रमें कहीं भी धर्मके दो भेद संवर और निर्जरा नही कहे हैं। किन्तु ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमें श्रुत और चारित्र ये दो धर्मके भेद बताये हैं। वह पाठ पहले बोल में लिखा जा चुकाहै। इसलिए संवर और निर्जराको धर्मका भेद बतलाना अप्रामाणिक है। * शास्त्रकारको यदि यह इष्ट होता तो ठाणाङ्ग सूत्रमें जहां यह पाठ आया है कि "दुविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा—सुय धम्मे चेव चारित्त धम्मेचेव।" वहां ऐसा पाठ आता कि "दुविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा संवर धम्मेचेव निज्जरा धम्मेचेव" मगर ऐसा पाठ नहीं आया। इसलिए संवर और निर्जराको धर्मका भेद कायम करना मिथ्या है। भ्रमविध्वं-सनकारने मिथ्यादृष्टिकी अप्रशस्त निर्जराको वीतरागकी आज्ञाके धर्ममें कायम करनेके लिये अपने मनसे धर्मके दो भेद संवर और निर्जरा लिख दिये हैं। परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। संवर रहित निर्जरा कहीं भी वीतरागकी आज्ञामें नहीं कही है और इसका आराधक भी कहीं मोक्ष मार्गका आराधक नहीं कहा है। तथापि यदि संवर रहित निर्जराको धर्ममें मान कर मिथ्यादृष्टिको मोक्ष मार्गका आराधक माना जाय तो कोई भी जीव मोक्ष मार्गका अनाराधक न होगा। क्योंकि संवर रहित अप्रशस्त निर्जरा सभी प्राणियोंमें होती है। ऐसी निर्जरासे २४ ही दण्डकके जीव युक्त हैं, अतः

नोट—संवर और सकाम निर्जरा श्रुत तथा चारित्रके अन्तर्गत हैं अतः ये धर्म हैं पर अकाम निर्जरा धर्म नहीं है। लेकिन धर्मके दो भेद "संवर और निर्जरा" कहनेसे अकाम निर्जरा भी धर्म में ठहरती है और अकामनिर्जरा मिथ्यादृष्टिमें भी होती है इसलिए वह भी मोक्षमार्ग का आराधक कायम होता है परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है। इसलिए शास्त्रानुसार धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र ही कहने चाहिये। इस प्रकार संवर और सकाम निर्जरा धर्ममें कायम होंगे और अकाम निर्जरा न होगी, क्योंकि वह श्रुत तथा चारित्रसे बाहर है और अकाम निर्जरा के धर्मसे पृथक् होनेपर मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्गका आराधक न होगा इस प्रकार शास्त्रसे कोई विरोध न आवेगा यही यहांका तात्पर्य्य है।

सभी जीव भ्रमविध्वंसनकारके मतमें मोक्ष मार्गके आराधक ही ठहरेंगे। पर यह बात शास्त्र विरुद्ध है। भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० के मूल पाठमें स्पष्ट लिखा है कि जो मोक्ष मार्गके एक अंशका भी आराधक नहीं है वह सर्वविराधक कहलाता है। यदि संवर रहित अप्रशस्त निर्जरा, धर्ममें हो तो कोई भी जीव सर्व विराधक नहीं हो सकता। अतः अप्रशस्त निर्जराको धर्ममें कायम करनेके लिए धर्मका दो भेद संवर और निर्जरा बतलाना दुराग्रहका परिणाम समझना चाहिए।

बोल तीसरा।

(प्रेरक)

संवर और निर्जरा, ये दो धर्मके भेद हैं ऐसा अर्थ बतलानेवाला यद्यपि कोई मूल पाठ शास्त्रमें नहीं आया है तथापि भ्रमविध्वंसनकारने दशवैकालिक सूत्रके, पहले अध्ययनकी पहली गाथा लिख कर संवर रहित अप्रशस्त निर्जराको वीतरागकी आज्ञामें सिद्ध करनेके लिए उक्त गाथाकी समालोचनामें यह लिखा है कि "इहां धर्मने माङ्गलिक उत्कृष्ट कह्यो। ते अहिंसाने संयमने अने तपने धर्म कह्यो छै। संयमते संवर धर्म अने तपते निर्जरा धर्म छै। अने त्याग विना जीवरी दया पाले ते अहिंसा धर्म छै। अने जीव हणवारा त्याग ते संयम पिण कहीजे अने अहिंसा पिण कहीजे अहिंसा तिहां तो संयमनी भजना छै अने संयम तिहां अहिंसानी नियमाछै। ए अहिंसा धम अने तप धर्म तो पहिला च्यार गुणठाणा पिण पावे छै"

(भ्र० पृ० २)

इसका क्या समाधान।

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्रके प्रथम अध्ययनकी पहली गाथामें श्रुत और चारित्र धर्म ही अहिंसा,, संयम, तथा तप कह कर बतलाये हैं परन्तु सम्यक्त्व रहित द्रव्य अहिंसा और संवर रहित तप नहीं कहे हैं क्योंकि जो अहिंसा, सम्यक्त्वके बिना होती है और जो तप संवर रहित होता है उनमें कोई महत्त्व नहीं है। ऐसी द्रव्यरूपा अहिंसा और संवर रहित द्रव्य तप जीवने अनन्त बार किये हैं पर उनसे स्वल्प भी मोक्ष मार्गकी आराधना न हुई। अतः उनका कथन न होकर इस गाथामें श्रुत और चारित्र धर्मके अन्तर्गत जो सम्यक्त्वके साथ होनेवाली अहिंसा तथा संवरके साथ होनेवाला तप है उन्हींका कथन है। इसलिए गाथोक्त अहिंसा और तप धर्मको मिथ्यादृष्टिमें कायम करना अज्ञान मूलक है। अतएव गाथामें कहे हुए धर्म पदकी व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकारने लिखा है कि—

"दुविहो धम्मो लोगुत्तरियो सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य सुयधम्मो सज्झाओ चरित्तधम्मो समणधम्मो"

अर्थात् दशवैकालिक सूत्रकी पहली गाथामें कहा हुआ धर्म लोकोत्तर धर्म है वह दो तरहका होता है एक श्रुत और दूसरा चारित्र। स्वाध्याय (शास्त्र पाठ) को श्रुत और श्रमण यानी सम्यग्दृष्टि साधुके धर्मको चारित्र कहते हैं। यह निर्युक्तिके पाठका अर्थ है।

इस निर्युक्तिकी गाथासे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दशवैकालिक सूत्रकी पहली गाथा में लोकोत्तर धर्म श्रुत और चारित्रकोही अहिंसा संयम और तप कह कर बतलाया है पर इससे भिन्न किसी लौकिक अहिंसा या तपको नहीं। अतः गाथामें कही हुई अहिंसा और तपको श्रुत तथा चारित्रसे अलग कायम करके मिथ्यादृष्टियोंमें इन धर्मोंका सद्भाव बतलाना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान तथा इस निर्युक्तिकी गाथासे भी विरुद्ध समझना चाहिये।

उक्त गाथामें कहे हुए अहिंसा और तप धर्मका मिथ्यादृष्टिमें सद्भाव बतलाना, उक्त निर्युक्ति तथा शास्त्रीय सिद्धान्तसे तो विरुद्ध होता ही है परन्तु इससे भ्रमविध्वंसनकारके मुख्य मुख्य सिद्धान्त भी विरुद्ध होते हैं। इनका सिद्धान्त है कि "साधुसे इतरको वन्दन नमस्कार करना एकान्त पाप है" "साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं" इत्यादि। यदि सम्यक्त्व रहित अहिंसा और संवर रहित तप वीतरागकी आज्ञामें हैं, और ये मिथ्यादृष्टिमें होते हैं तो मिथ्या दृष्टिको वन्दन नमस्कार दान सम्मान आदि करना भी तेरह पन्थियोंको वीतराग की आज्ञामें ही मानना चाहिए और मिथ्यादृष्टि को भी सुपात्र कहना चाहिए क्योंकि यह गाथा "अहिंसा संयम और तपमें जिसका सदा मन लगा रहता है उसको देवता भी नमस्कार करते हैं" यह कह कर अहिंसा संयम और तप धर्मसे युक्त पुरुषके वन्दन नमस्कारको वीतरागकी आज्ञामें कायम करती है इसलिए भ्रमविध्वंसनकारके मतसे मिथ्यादृष्टिको वन्दन नमस्कार आदि करना वीतरागकी आज्ञा में ही ठहरता है। जिसका वन्दन नमस्कार वीतरागकी आज्ञामें है उसकी पूजा प्रतिष्ठा दान सम्मान आदि भी आज्ञामें ही होंगे अतः भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे मिथ्यादृष्टिकी पूजा प्रतिष्ठा और दान सम्मानादि भी वीतरागकी आज्ञामें ही ठहरते हैं। तथा मिथ्या दृष्टि भी सुपात्र ठहरता है क्योंकि जिसकी पूजा प्रतिष्ठा दान सम्मान आदि वीतरागकी आज्ञामें है वह कदापि कुपात्र नहीं हो सकता। ऐसी दशामें साधुसे इतरको वन्दन नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना तथा साधुसे इतर सभीको कुपात्र बतलाना इनका मिथ्या सिद्ध होता है।

इसका समाधान यदि भ्रमविध्वंसनकार यह देवें कि जिस पुरुषका संयमके साथ अहिंसा और तपमें सदा मन लगा रहता है उसीको यह गाथा देववन्दनीय बतलाती है इसलिये संयमी पुरुषकी ही वन्दना वीतरागकी आज्ञामें है तो फिर संयमी पुरुषकी ही अहिंसा और तपको इस गाथामें कहा जाना भी मानना चाहिए और संयमके साथ जो अहिंसा और तप होते हैं उन्हींको वीतरागकी आज्ञामें भी कहना चाहिए। अतः दशवैकालिक सूत्रके पहले अध्ययनकी पहली गाथाका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको आज्ञामें कायम करना और धर्मका दो भेद संवर तथा निर्जरा बतलाना मिथ्या समझना चाहिए। पाठकोंके ज्ञानार्थ दशवैकालिक सूत्र की वह गाथा लिख कर उसका मूलार्थ कर दिया जाता है।

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो
देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।"

(दशवैकालिक सूत्र अ० १ गाथा १)

अर्थ—धर्म, मंगल अर्थात् कल्याणका दाता और उत्कृष्ट यानी सब वस्तुओंमें प्रधान है। वह धर्म अहिंसा, संयम, तथा तप स्वरूप है। धर्ममें जिसका सदा मन लगा रहता है देवता भी उसे नमस्कार करते हैं। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इस गाथामें मंगल देने वाला सबसे श्रेष्ठ देववन्दनीय धर्मका कथन है। ऐसा धर्म, श्रुत और चारित्र ही हो सकता है लौकिक धर्म नहीं। क्योंकि लौकिक धर्म न तो देववंदनीय है और न मोक्ष रूप मंगल देनेवाला सबसे प्रधान ही है इसलिये उसका कथन न होकर इस गाथामें मोक्ष रूप मंगलको देनेवाला सबसे प्रधान और देववन्दनीय श्रुत और चारित्र धर्मका ही कथन है। वह श्रुत और चारित्र ही इस गाथामें अहिंसा संयम तथा तप कह कर बतलाये हैं। इसलिये गाथोक्त अहिंसा संयम और तप मिथ्यादृष्टि अज्ञानीमें नहीं होते क्योंकि वह श्रुत तथा चारित्र धर्मसे रहित होता है। अतः इस गाथा का नाम लेकर मिथ्यादृष्टि अज्ञानीमें अहिंसा और तप धर्मका सद्भाव बतलाना और उसे मोक्ष मार्गका देशाराधक कहना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

बोल चौथा

(प्रेरक)

आपने मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका किंचित् भी आराधक न होना बतलाया पर भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४ पर लिखते हैं कि—

"तिवारे कोई कहे ते मिथ्यादृष्टि बालतपस्वीरे संवर व्रत तो किञ्चिन्मात्र नहीं तो व्रत विना देशाराधक किम हुवे इमि पूछे तेहनो उत्तर—व्रतीनेतो सर्वआराधक कहीजे

अने ए बालतपस्वीने व्रत नहीं पिण निर्जरारेलेखे देशाराधक कह्या छै ।" इस विषयमें भ्रम विध्वंसनकारने भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० का मूलपाठ प्रमाण दिया है और उक्त मूल पाठकी चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गमें मिथ्यादृष्टिको कहा जाना बतलाया है। इसका समाधान क्या है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० में कही हुई चतुर्भङ्गीके पहले भङ्गका स्वामी प्रथम गुण स्थान वाला मिथ्यादृष्टि पुरुष नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टिमें सम्यग् ज्ञान दर्शन तथा चारित्र इनमेंसे एक भी नहीं होता तथापि संवररहित निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें मान कर उस करनीकी अपेक्षासे मिथ्यादृष्टिको भ्रमविध्वंसनकार मोक्ष मार्ग का देशाराधक कहते हैं लेकिन यह बात शास्त्र संमत नहीं है। भगवती सूत्रके इस पाठमें तथा इसकी टीकामें संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्षमार्गकी देशाराधनामें नहीं कहा है और उस करनीको लेकर यह आराधक विराधककी चतुर्भङ्गी भी नहीं कही है किन्तु श्रुत और शीलको लेकर कही है। श्रुत नाम ज्ञान और दर्शनका तथा 'शील' नाम चारित्रका है। इसलिये जिसमें श्रुत और शील इनमेंसे एक भी नहीं है वह पुरुष मोक्ष मार्गका देशाराधक कैसे हो सकता है ? अतः मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मोक्षमार्गका देशाराधक नहीं है क्योंकि उसमें श्रुत तथा शील (चारित्र) इनमेंसे एक भी नहीं होता ।

संवर रहित निर्जराको मोक्षमार्गमें मानकर उसके होनेसे यदि मिथ्यादृष्टि का इस चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गमें माना जाय और मिथ्यादृष्टिको भी देशाराधक कहा जाय तो यह आराधक विराधक की चतुर्भङ्गी नहीं बन सकती क्योंकि जो पुरुष मोक्ष मार्गकी किंचित् भी आराधना नहीं करता वह चतुर्थभङ्गका स्वामी सर्वविराधक कहा गया है परन्तु संवर रहित निर्जरा उसमें भी होती है अतः निर्जराके होनेसे मोक्षमार्गका देशाराधक मानने पर यह पुरुष भी देसाराधक ही ठहरता है सर्व विराधक नहीं। क्योंकि संवर रहित निर्जरा एकेन्द्रियादिक चौवीस ही दण्डकके जीवोंमें होती है इसलिये (संवर रहित निर्जराको मोक्षमार्गके आराधनमें मानने पर) सभी मिथ्यादृष्टि आराधक ही ठहरते हैं पर कोई भी सर्वविराधक नहीं होता। इस प्रकार इस चतुर्भङ्गीका चौथा भङ्ग खाली रह जाता है पर यह इष्ट नहीं है इसका भी स्वामी होता है। अतः संवर रहित निर्जराको मोक्षमार्गके आराधनमें मानना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये।

जब कि संवर रहित निर्जरा मोक्षमार्गमें नहीं मानी जाती और उस निजराके होते हुए भी आराधक नहीं माना जाता तब उक्त चतुर्भङ्गीका चौथा भङ्ग खाली नहीं रहता क्योंकि जो पुरुष श्रुत, तथा शील (चारित्र) इन दोनोंसे सर्वथा रहित है वह भगवती

सूत्रोक्त चतुर्भङ्गीके चतुर्थ भङ्गका स्वामी होता है इस प्रकार सभी मिथ्यादृष्टि चतुर्थभङ्गके ही स्वामी हैं क्योंकि उनमें श्रुत ओर शील (चारित्र) इनमेंसे एक भी नहीं होता। अतः मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका देशाराधक कहना और इसके लिये भगवतीकी साक्षी देना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गके आराधन में कायम करके मिथ्या दृष्टिको देशाराधक माननेसे भ्रमविध्वंसनकारकी प्ररूपणा भी यहां पूर्वापर विरुद्ध हो गई है। जैसे कि भगवतीके इस पाठका अर्थ करते हुए जीतमलजीने लिखा है कि "म्है ते पुरुष देश आराधक प्ररूप्यो एप वाल तपस्वी" "म्हैं ते पुरुष सर्वविराधक कह्यो अव्रती वाल तपस्वी" (भ्रम० पृ० ३) यह लिख कर भ्रमविध्वंसनकारने पहला और चौथा इन दोनों ही भंगोंमें वालतपस्वीका होना बतलाया हैं परन्तु यह परस्पर विरुद्ध है। जा वाल तपस्वी देशसे मोक्ष मार्गका आराधक होकर प्रथम भङ्गका स्वामी है वह चतुर्थ भङ्गका स्वामी नहीं हो सकता है क्योंकि चतुर्थ भङ्गवाला मोक्ष मार्गका किंचित् भी आराधक नहीं है। यदि कहो कि चतुर्थ भङ्गवाला अव्रती वाल तपस्वी है और प्रथम भङ्गवाला पुरुप वाल तपस्वी है इसलिये जीतमलजी ने पूर्वापर विरुद्ध प्ररूपणा नहीं की है तो यहां यह प्रश्न होता है कि प्रथम भङ्गवाला वालतपस्वी अव्रती है या नहीं ? यदि अव्रती है तो फिर चतुर्थभङ्ग वाले अव्रती वालतपस्वीसे इसका कुछ भी भेद नहीं है क्योंकि यह भी अव्रती वालतपस्वी है और चतुर्थभङ्ग वाला भी अव्रती बाल तपस्वी है इस प्रकार जीतमलजीके लेखानुसार प्रथम भङ्ग और चतुर्थ भङ्गके स्वामियोंमें कुछ भी भेद नहीं रहता। ये दोनों ही भङ्गके स्वामी एक ही हो जाते हैं परन्तु यह बात एकान्त विरुद्ध है प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक है और चौथा भङ्गका स्वामी सर्व विराधक है अतः ये दोनों एक नहीं हैं। यदि कहो कि प्रथम भङ्ग वाला वालतपस्वी अव्रती नहीं किन्तु व्रती है इसलिये यह चतुर्थ भङ्ग वाले वालतपस्वीसे भिन्न है तो फिर यह मिथ्यादृष्टि कैसे ? मिथ्यादृष्टिमें व्रत नहीं होता और यह व्रती है इसलिये सम्यग्दृष्टि ही ठहरता है मिथ्यादृष्टि नहीं अतः मिथ्यादृष्टिको देशाराधक वतलाना जीतमलजीका अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि भगवतीके मूल पाठमें देशाराधक शीलवान् पुरुषको "अविण्णायधम्मे" कह कर धर्मका ज्ञाता न होना कहा है इसलिये यह सम्यग्दृष्टि नहीं है तो यह भी मिथ्या है क्योंकि "अविण्णाय धम्मे" इस पदका अर्थ अज्ञानी या धर्मको बिलकुल नहीं जानने वाला नहीं है। व्याकरणानुसार इसका अर्थ यह है कि—"न विशेषेण ज्ञातः धर्मो-येन स" अविज्ञात धर्मा" अर्थात् जिसने विशेष रूपसे धर्मको नहीं जाना है वह अविज्ञात धर्मा पुरुष कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पहला देशाराधक पुरुष वह है जो चारित्रकी

आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है। जैसे कोई धनवान् यदि धनकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करता तो उसे दरिद्र नहीं कह सकते, वैसे ही यदि कोई पुरुष ज्ञान प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न (आराधना) नहीं करता तो उसे अज्ञानी नहीं कह सकते। अतः उक्त भगवतीकी चौभङ्गीके पहले भङ्गका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—

(१) देशाराधक—जो चारित्रकी आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है।

ऐसा मानना ही शास्त्रके अनुकूल है इससे विरुद्ध अर्थ करनेसे "अविण्णायधम्मे" इस पाठमें दिया हुआ "वि" उपसर्ग निरर्थक ठहरता है और उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा से भी विरोध होता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है—

"नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न होंति चरणगुणा"

अर्थात् मिथ्यादृष्टिको ज्ञान नहीं होता और विना ज्ञानके चारित्र तथा गुण (पिण्ड विशुद्धि आदि) नहीं होते। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें ज्ञानके विना चारित्रका न होना स्पष्ट कहा है इस लिये भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामी चारित्री पुरुषको अज्ञानी मानना इस गाथासे भी विरुद्ध होता है अतः भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामीको अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये। सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्रकी आराधनासे भिन्न कोई मोक्ष मार्गकी आराधना नहीं कही है और उक्त आराधना जिसमें नहीं है उसको आराधक भी नहीं कहा है ऐसी दशामें संवर रहित निर्जराकी करनीसे कोई मोक्ष मार्गका आराधन करने वाला कैसे हो सकता है ? यह पाठकोंको स्वयं सोच लेना चाहिये। अतएव इस चतुर्भङ्गी में आराधक विराधकोंका चारभङ्ग वतला कर आराधनाका भेद वतलाते हुए आगेके मूलपाठमें तीन हीं आराधना कही हैं पर चौथी निर्जरा आदिकी आराधना नहीं वतलाई है। वह पाठ—

"कतिविहाणं भन्ते ! आराहणा पण्णत्ता गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता तंजहा—णाणाराहणा दंसणाराहणा चारित्ताराहणा"

(भगवती शतक ८ उ० १०)

अर्थ—हे भगवन् ! आराधना कितनी होती हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! आराधना तीन प्रकारकी होती है ज्ञानकी आराधना दर्शनकी आराधना और चारित्रकी आराधना।

यहां मूल पाठमें ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनकी ही आराधना कही हैं पर निर्जराकी करनी आदिकी आराधना वीतरागकी आज्ञामें नहीं कही है। अतः संवर रहित

निर्जराकी करनी करके कोई मोक्षमार्गकी आराधना करने वाला कदापि नहीं हो सकता। ऐसी दशामें संवर रहित निर्जराकी करनीको वीतरागकी आज्ञामें ठहरा कर उस करनीसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका देशाराधक कहना उत्सूत्र भाषण करनेवालोंका कार्य्य समझना चाहिये।

बोल पाचवां।

(प्रेरक)

संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन में नहीं है इसलिए उस करनी से कोई मोक्ष मार्ग का आराधक नहीं हो सकता यह मुझे ज्ञात हुआ। परन्तु किसी मूलपाठ में संवर रहित निर्जरा की करनीकरनेवाले को मोक्ष मार्गका आराधक न होना स्पष्ट लिखा हो तो उसे भी बतलाइये।

(प्ररूपक)

उवाई सूत्र के मूलपाठों में संवर रहित निर्जरा की करनी करने वाले जीवों को अलग अलग गिन कर उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा है। वे पाठ यहां दिये जाते हैं।

"जीवेणं भन्ते ! असंजए अविरए अपडिहयपच्चक्खाय पाव कम्मे इओचुए पेच्चा देवेसिया ? गोयमा ! अत्थे गइया देवेसिया अत्थे गइया णो देवेसिया। सेकेणट्ठेणं भन्ते ! ऐवं वुचइ अत्थेगइया देवेसिया अत्थेगइया णो देवे सिया ?। गोयमा ! जेइमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कब्बड मडंब दोणमुह पट्टणा-सम संवाह सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभ-चेर वासेणं अकामअण्हाण सीय ताव दंस मसग सेय जल्ल मल्ल पङ्क परितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरोवा कालं अप्पाणं परिकिले सन्ति, अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता काल मासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उवव त्तारो भवंति। तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठोति तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसिंणं भन्ते ! देवाणं केवइयं कालं ठोई पण्णत्ता गोयमा ! दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता। अत्थिणं भन्ते ! तेसिं देवाणं

इड्ढीवा जुईवा जसेतिवा वलेतिवा वीरिएवा पुरिसक्कार परिक्कमेइवा ? हन्ता ! अत्थि । तेणं भन्ते ! देवा परलोगस्स आराहगा ? णोइणट्ठे समट्ठे" (उवाई सूत्र)

अर्थ—

(प्रश्न) हे भगवान्! जो, संयम और विरतिसे रहित है तथा जिसने भूत काल के पापों का हनन और भविष्यत् के पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया है वह इस लोक से मर कर क्या देवता हो सकता है ?

(उत्तर) कोई कोई देवता होता भी है और कोई नहीं भी होता है।

(प्रश्न) इसका वजह क्या है ?

(उत्तर) ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड़, कव्वड़, मडंव, द्रोणमुख, पट्टणासम, संवाह और सन्निवेशों में रहनेवाले जो जीव निर्जरा की इच्छा के बिना अकाम तृष्णा, अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन, अकाम स्नानका न करना तथा अकाम से शर्दी, गर्मी, दंश, मसक, स्वेद, धूलि, पङ्क, और मलका सहन करते हैं वे थोड़े या बहुत दिनों तक क्लेश सहन करके मरण काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाण व्यन्तर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहीं उनकी गति स्थिति और देवभव की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) वे जीव देवता होकर देवलोक में कितने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) दश हजार वर्ष तक वे देवलोक में रहते हैं।

(प्रश्न) उन देवताओं की वहां पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर तथा भूपणोंकी दीप्ति, यश, बल, वीर्य्य पुरुषाभिमान और पराक्रम होते हैं ?

(उत्तर) होते हैं।

(प्रश्न) वे देवता परलोक यानी मोक्षमार्गके आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं। वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं। यह उवाई सूत्र के ऊपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है।

इस मूलपाठ में अकाम क्षुधा तृष्णा अकाम ब्रह्मचर्यपालन अकाम शर्दी, गर्मी, दंश मशक आदिका कष्ट सहन करके दश हजार वर्षकी आयुसे देवता होनेवाले जीव को श्री तीर्थंकर देवने मोक्ष मार्ग का आराधक न होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन में नहीं है। अन्यथा इस मूलपाठ में कहे हुए पुरुष को भगवान् मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कैसे बतलाते ? अतः संवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष का मार्ग कह कर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्ष मार्ग का देशाराधक बतलाना प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध समझना चाहिये।

(६ छट्ठा बोल समाप्त)

(प्ररूपक)

जो जीव असंक्लिष्ट परिणाम से हाडी (खोडा) बन्धनादि दुःख सह कर बारह हजार वर्षकी आयु से देवता होते हैं उन्हें इसी जगह उवाई सूत्र में मोक्षमार्ग का आराधक न होना कहा है। वह पाठ—

"से जे इमे गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड़ कव्वड मडंब दोणमुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति तंजहा— अंडुवद्धका णियलवद्धका हाडिवद्धगा हत्थछिन्नका पायछिन्नका कण्ण-छिन्नका णक्कछिन्नका उट्ठछिन्नका जिब्भछिन्नका सीसछिन्नका मुख-छिन्नका मज्झछिन्नका वेकछछिन्नका हियउत्पाडियगा णयणुत्पाडियगा दसणुप्पाडियगा वसणुप्पाडियगा गेवछिण्णका तंडुलछिन्नका कागणि मंसक्खाइयया ओलंविया लम्बियया घंसियया घोलियया फाडियया पीलियया सुलाइयया सूलभिण्णका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपु-च्छियया दवग्गिदड्ढिगा पंकोसण्णका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्ट-मयका नियाणमयका अन्तोसल्लमयका गिरिपडियका तरुपडियका गिरि-पक्खंदोलिया तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया जलपवेसिका जलण पवेसिका विसभक्खितका सत्थोवाडितका वेहाणसिया गिद्धपिटका कंतारमतका दुभिक्खमतका असंकिलिट्ठपरिणामा ते कालमासे कालं किचा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसिंणं भन्ते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा! वारसवाससहस्साइं ठिती पण्णत्ता। अत्थिणं भन्ते! तेसिं देवाणं इड्ढीवा जुइवा जसेतिवा वलेतिवा वीरिएवा पुरिसकार परक्कमेइवा? हन्ता! अत्थि। तेणं भन्ते! देवा परलोगस्स आरा-हगा? णोइणट्ठे समट्ठे"

(उवाई सूत्र)

अर्थ—

ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड़, कब्बड़, मडंब, द्रोणमुख, पट्टणासम, संवाह और संनिवेशों में रहने वाले मनुष्य जो हाथ और पैर में काष्ठ या लोहे के बन्धन से बांधे गये हैं, जो पैर में बेड़ियों द्वारा बांधे गये हैं, जो हाडीबन्धन में पड़े हैं, जो बन्दीगृह में पड़े हैं, तथा जिनके हाथ, पांव, कान, नाक, ओठ, जीभ, मस्तक, मुख और पेट काट लिये गये हैं, जो चादर की तरह चीर दिये गये हैं, जिनके हृदय, नेत्र, दांत और अण्डकोश उपाड लिये गये हैं, एवं चावलकी तरह जिसका शरीर खण्ड खण्ड कर दिया गया है जिसके शरीर के चीकने चीकने मांस खा लिये गये हैं जो रस्सी से बांध कर गड्ढे आदि में लटका दिये हैं, जिनकी भुजा वृक्ष की शाखा में बांध दी गई है, जो पत्थर आदि पर चन्दन के समान घिसे गये हैं, जो दही की तरह घोल दिये गये हैं, जो कुठार से लकड़ी के समान काट दिये गये हैं, जो यन्त्र के द्वारा ईख की तरह पेरे गये हैं, जो शूली दे दिये गये हैं, जिनका मस्तक फाड़ कर शूल निकल गया है, जो क्षार में डाल दिये गये हैं, या जिस पर क्षार रक्खा गया है, या, जो, क्षार खिलाये गये हैं, जो रस्सीसे बांधे गये हैं, जिनका लिङ्ग काट लिया गया है, जो दावाग्निमें जल गये हैं, जो कीचड़ में फंसकर उससे पार जाने में असमर्थ हैं, जो क्षुधा आदि की पीड़ा से मर गये हैं, जो विषय में परतन्त्र होकर मर गये हैं, जो बालतपस्या करके मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, जो मिथ्यात्व आदि शल्य को, तथा पेटमें चुभे हुए भाले आदि को न निकाल कर मर गये हैं, जो पर्वत से गिर कर मर गये हैं, जो वृहत् पाषाण के शरीर पर गिरने से मर गये हैं, जो वृक्ष से गिर कर मर गये हैं, जो निर्जल देश में या निर्जल देशके स्थल विशेष से गिराये हुए मर गये हैं, जो तृण कपास आदि के भार से दब कर मर गये हैं, जो मरने के लिये पर्वत या वृक्ष के एक देशमें कम्पायमान होकर वहां से गिर कर मर गये हैं, जो शस्त्र के द्वारा अपने शरीर को चीर कर मर गये हैं, जो वृक्ष की शाखा में लटक कर मर गये हैं, जो मरने के लिये हाथी, ऊंट, गदहे आदि के शरीर के नीचे गिर जाते हैं और गीध आदि पक्षियों से नोच कर खा लिये जाते हैं, जो घोर जङ्गल में दुर्भिक्षसे मर जाते हैं, ये सब मनुष्य यदि असंक्लिष्ट परिणामी होते हैं तो काल मास में काल करके वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में देवता होते हैं। वहीं पर उनकी गति स्थिति और देवभव की प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) देवलोक में उनकी स्थिति कितने काल की होती है ? (उत्तर) वहां उनकी बारह हजार वर्ष की स्थिति होती है।

(प्रश्न) उन देवों की वहां पर पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर और भूषणों की दीप्ति, यश बल, वीर्य्य, पुरुषाभिमान, पराक्रम, ये सब होते हैं ?

(उत्तर) हां होते हैं।

(प्रश्न) वे परलोक (मोक्ष मार्ग) के आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं, वे परलोक के आराधक नहीं हैं।

यह ऊपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है।

इसमें कहा है कि जो मनुष्य असंक्लिष्ट परिणाम से हाडीवन्धनादिक दुःख सह कर वारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं वे मोक्ष मार्गके आराधक नहीं हैं। यदि संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्गमें होती और उस करनी के करने से मोक्षमार्ग की आराधना होती, तो श्रीतीर्थंकरदेव, असंक्लिष्ट परिणाम से हाडीवन्धन आदिका दुःख सहने वाले पुरुषोंको मोक्षमार्ग का आराधक न होना क्यों कहते ? क्योंकि ये पुरुष संवर रहित निर्जरा की करनी विशेष रूपसे करते हैं। परन्तु संवर रहित—निर्जरा, मोक्ष मार्गमें नहीं है इसलिए इन पुरुषोंको भगवानने मोक्ष मार्गका आराधक न होना कहा है। अतः संवर रहित निर्जरा की करनीको मोक्षमार्ग के आराधन में कायम करके उस करनी से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्ष मार्गका आराधक कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

बोल ७ वां समाप्त

(प्ररूपक)

जो जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं, परन्तु माता पिता की सेवा शुश्रूषा करके चौदह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं उनको मोक्षमार्गका आराधक न होना इसी पाठके नीचे कहा गया है वह पाठ—

"सेजे इमे गामागर नयर णिगम रायहाणि खेड़ कव्वड़ मडंव दोणमुह पट्टणासम संवाहसंनिवेसेसु मणुआ भवंति, तंजहा—पगइभद्दगा पगइउवसंता पगइपतणुकोहमाणमायालोहा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा विणीया अम्मापिउ सुस्सूसगा अम्मापिईणं अणतिक्कमणीज्जवयणा अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणा वहुइं वासाइं आउयं पालंति पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिंगती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते तेसिंणंभन्ते ! देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता गोयमा ? चउद्दसवाससहस्सा"

(उवाई)

अर्थ—

ग्रामसे लेकर यावत् संनिवेशों में रहने वाले जो मनुष्य स्वभावसे परोपकारी स्वभाव से उपशान्त स्वभावसे ही क्रोधमान, माया और लोभ को न्यून किये हुए, अहङ्कार रहित, गुरु के

आश्रय में रहने वाले, विनीत, माता पिता के वाक्यका उल्लङ्घन न करनेवाले माता पिता की सेवा करनेवाले, अल्प इच्छा अल्प आरम्भ समारम्भ से अपनी जीविका चलाने वाले बहुत वर्षों तक अपनी आयु को व्यतीत करते हैं वे काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाण व्यन्तर संज्ञक देवलोक में देवता होते हैं। वहीं पर उनकी गति स्थिति और देवभवकी प्राप्ति होती है।

(प्रश्न) हे भगवन्! वहां वे कितने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) वहां वे चौदह हजार वर्ष तक रहते हैं।

(प्रश्न) वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं, वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं।

यह ऊपर लिखे हुए मूलपाठका अर्थ है।

यहां माता पिता की सेवा शुश्रूषा करनेवाले, स्वभावसे परोपकारी, उपशान्त, क्रोधमान माया और लोभ को न्यून किये हुए अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको चौदह हजार वर्ष की आयु के देवता होना वतला कर भगवान्ने इन्हें मोक्षमार्ग का आराधक न होना वतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग में नहीं है। इसीसे इस पाठ में माता पिताकी सेवा करने वाला जो पुरुष चौदह हजार वर्ष की आयु का देवता होता है उसे भगवानने मोक्षमार्गका आराधक न होना कहा है। अन्यथा इसे कदापि मोक्षमार्गका आराधक न होना न कहते क्योंकि इस पुरुषमें संवर रहित निर्जरा की करनी विद्यमान है अतः संवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्गमें कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्षमार्गका आराधक कहना इस पाठ से विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल आठवां)

(प्ररूपक)

जो स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य पालन करके चौसठ हजार वर्ष की आयु की देवता होती है उसे इसी पाठके नीचे मोक्षमार्गका आराधक न होना वतलाया है। वह पाठ—

"सेजाओ इमाओ गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड़ कव्वड़ मडंव दोणमुह पट्टणासम संवाह संन्निवेसेसु इत्थियाओ भवन्ति तंजहा—अंतो अंतेउरिआओ गयपइआओ मयपइयाओ वालविहवाओ छड्डितल्लिताओ माइरक्खिआओ पियरक्खिआओ ससुरकुलरक्खिआओ पारूढणहमंसकेसकक्खरोमाओ ववगयपुप्फ गंधमल्लालङ्काराओ अण्हाणगसेयजल्लमल्लपङ्कपरिताविआओ ववगय-

खोरदहिणवणीतसप्पितेलगुललोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहारो अप्पिच्छाओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणीओ अकामवंभचेरवासेणं तमेव पइसेज्जं णाइक्कमइ ताओणं इत्थिआओ एयारूवेणंविहारेणं विहरमाणीओ वहुइं वासाइं सेसं तंचेव जाव चउसट्ठिं वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता''

(उवाई सूत्र)

अर्थ—

ग्रामसे लेकर यावत् संन्निवेशों में रहने वाली जिस स्त्रीका पति कहीं चला गया है या, मर गया है तथा जो वाल्य काल में विधवा हो गई है, जो पति से छोड़ दी गई है, जो अपने माता पिता या भाई से पाली जाती है, जो पिता या श्वसुर के घर में पाली जाती है, जो अपने शरीरका संस्कार नहीं करती, जिसके नख, केश, और कांख के बाल बढ़ गये हैं, जो फूल की माला गन्ध और फूल नहीं धारण करती, जो स्नान नहीं करती और पसीना धूलि तथा कीचडका कष्ट सहन करती है, जो दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, नमक, मधु, मद्य और मांस से रहित भोजन करती है, जो अल्पइच्छा अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह करती है, जो अल्प आरम्भ और अल्प समारम्भ से जीविका करती है, जो अकाम ब्रह्मचर्य पालन करती हुई पतिकी शय्याका उल्लङ्घन नहीं करती है, वह स्त्री इस प्रकार अपने जीवन को व्यतीत करती हुई काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होती हैं। शेष पूर्व पाठ की तरह समझना चाहिये विशेष बात यह है कि यह स्त्री चौसठ हजार वर्ष तक देवलोक में रहती है। यह स्त्री भी मोक्ष मार्गका आराधक नहीं है। यह इस पाठ का अर्थ है।

यहां मूलपाठ में अकाम ब्रह्मचर्य्य पाल कर चौसठ हजार वर्ष की आयु से देवता होने वाली स्त्री को श्रीतीर्थङ्कर देवने मोक्षमार्ग का आराधक न होना वतलाया है। इससे भी पूर्ववत् यही वात सिद्ध होती है कि संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग के आराधन में नहीं है। क्योंकि इस पाठ में कही हुई स्त्री संवर रहित निर्जरा की करनी भली भांति करती है तो भी वह मोक्षमार्ग की आराधिका नहीं मानी गई है। अतः संवर रहित निर्जरा को मोक्ष मार्ग में कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

जो मनुष्य अन्न जल आदिका नियम रख कर चौरासी हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं उन्हें भी भगवान् ने मोक्षमार्गका आराधक न होना वतलाया है। वह पाठ—

"सेजे इमे गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड़ कब्बड़ मडंब दोणमुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवंति तंजहा—दगविइया दगतइया दगएक्कारसमा गोअमा गोव्वइया गिहिधम्मा धम्मचिंतका अविरुद्धविरुद्ध वुड्ढसावकप्पभिअओ तेसिं मणुआणं णो कप्पइ इमाओ नवरस विगईओ आहारित्तए तंजहा—खीरं दहिं णवणीयं सप्पिं तेल्लं फाणियं महुं मज्जं णण्णत्थ एक्काए सरसव विगए तेणं मणुआ अप्पिच्छा तंचेव सव्वं णवरं चउरासीइ वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ॥ ९ ॥

(उवाई)

अर्थ—

ग्रामसे लेकर यावत् संनिवेशों में रहने वाला जो मनुष्य भात और पानी इन दो ही वस्तुओंका आहार करता है। जो भात तथा एक और पदार्थ, तीसरा पानी का ही आहार करता है जो, भात आदि छः और सातवां पानी का आहार करता है जो भात आदि दश और एग्यारहवां पानीका आहार करता है जो छोटे बैल को पैर पर गिरने आदि की शिक्षा देकर उससे मनुष्यों को प्रसन्न करके भिक्षा वृत्ति करता है, जो गाय के चलने पर चलता है और बैठने पर बैठता है भोजन करने पर भोजन करता है और सोने पर सोता है, जो गृहस्थ धर्मको श्रेष्ठ जानकर देवता अतिथि आदिका सत्कार तथा दान करता हुआ गृहस्थधर्मका आचरण करता है, जो धर्मशास्त्र को पढ़ता है, जो देवता आदि में परम भक्ति रखता हुआ विनीत है, जो आत्मा आदि पदार्थों को नहीं मानता हुआ अक्रियावादी (नास्तिक) है जो, वृद्ध यानी तापस है जो धर्मशास्त्रका श्रवण करने वाला श्रावक (ब्राह्मण) है इन मनुष्योंको रसीले ९ पदार्थ अभक्ष्य होते हैं। वे ये हैं—दूध, दही, नवनीत, घी, तेल, गुड़, मद्य, और मांस। परन्तु एक सर्षपका (सरसों) तेल भक्ष्य होता है, ये सब मनुष्य अल्प आरम्भ और अल्पपरिग्रह, करके चौरासी हजार वर्ष की आयुके देवता होते हैं। और सब पूर्ववत् समझना चाहिये।

यह इस पाठ का अर्थ है।

इस पाठमें अन्न जल आदिका नियम रखने वाले धर्मशास्त्र पाठी गोव्रत करने वाले गृहस्थ धर्म के पालक रसवान् नो पदार्थोंका भोजन नहीं करने वाले मनुष्यों को चोरासी हजार वर्ष की आयु के देवता होना कह कर भगवान् ने इन्हें मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलाया है क्योंकि ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया ही मोक्ष देती है परन्तु ये लोग इन क्रियाओंको करते हुए भी अज्ञानी हैं अतः अज्ञान (मिथ्यात्व) के कारण इन्हें मोक्षमार्ग का आराधक न होना कहा है। यदि संवर रहित निर्जरा की करनी

मोक्षमार्ग के आराधन में होती तो भगवान् इन पुरुषों को मोक्षमार्ग का आराधक न होना कदापि न कहते। क्योंकि संवर रहित निर्जरा की क्रिया इन पुरुषोंमें पूर्णतया विद्यमान है। अतः संवर रहित तथा अज्ञान (मिथ्यात्व) के साथ की जाने वाली निर्जरा की करनी को वीतराग की आज्ञा में मानना उत्सूत्र भाषकों का कार्य्य समझना चाहिये।

[बोल दशवां समाप्त]

(प्ररूपक)

जो गङ्गाजी के तट पर रहते हैं, जो अग्निहोत्री हैं जो वानप्रस्थ हैं जो कन्द मूल फल आदि का आहार करते हैं उनको एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयु का देवता होना बता कर भगवान्ने उन्हें मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलाया है। वह पाठ—

"सेजे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति तंजहा—होतिया पोतिया कोतिया जण्णई सड्ढई, घालई, हुंपउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जका संमज्जका निमज्जका संपक्खाला दक्खिण कूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधमका मिगलुद्धका हत्थितावसा दिसापेक्खिणो वाकवासिणो अंबुवासिणो बिलवासिणो जलवासिणो वेलवासिणो रुक्खमूलिया अंबुभक्खिणो वायुभक्खिणो सेवाल भक्खिणो मूलाहारा कन्दाहारा तोयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीयाहारा परिसडियकन्दमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेअकठिण कायभूए आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इङ्गालसोल्लियं कडुसोल्लियं कठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहुइं वासाइं परियायं पाउणंति। बहुइं वासाइं परियायं पाउणित्ता काल मासे कालं किच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। पलिओपमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई। आराहगा? णो इणट्ठे समट्ठे"

(उवाई सूत्र)

अर्थः—

गंगातटमें निवास करनेवाले वानप्रस्थ तापस जो अग्निहोत्र करते हैं जो वस्त्रधारी और पृथ्वीपर सोते हैं जो यज्ञ कराते हैं, जो श्रद्धा रखते हैं, जो भाण्ड ग्रहण किये रहते हैं जो कमण्डलुधारी हैं जो सिर्फ फूल खाकर रहते हैं जो पानीमें एक बार डुब्वी लगाकर निकल जाते हैं जो

पानीमें बार बार डुब्बी लगाते हैं जो पानीमें डुब्बी लगाकर बहुत देर तक रहते हैं जो शरीर में मृत्तिका लगाकर स्नान करते हैं जो गंगाके दक्षिण तटपर रहते हैं जो गंगाके उत्तर तटपर रहते हैं जो शङ्ख बजा कर भोजन करते हैं जो तटके ऊपर शब्द करके भोजन करते हैं जो मृग मार कर उसके मांससे बहुत दिन तक अपना निर्वाह करते हैं जो हाथी मार कर उसके मांससे चिरकाल तक अपना उदर पालते हैं जो दिशाओंके अन्दर जल छिड़क कर फल तोड़ते हैं जो दण्डको ऊंचा करके भोजन करते हैं जो वृक्षके छिल्के पहिनते हैं जो जलमें निवास करते हैं जो बिल बना कर रहते हैं जो जलमें प्रवेश करके रहते हैं जो समुद्रके तट पर रहते हैं जो वृक्षकी जड़में निवास करते हैं जो पानी पीकर रहते हैं जो हवा पीकर रहते हैं जो शैवाल खाकर रहते हैं जो कन्द, मूल, त्वचा, पत्ते फूल और फल खाकर रहते हैं जो सड़े गले कन्द मूल फल आदिको खाकर रहते हैं जिनका शरीर जल स्नान करनेसे कठिन हो गया है जिनका शरीर पञ्चाग्नि तापनेसे कोयला, कड़ाही और अधजले काठकी तरह काला हो गया है ये सब तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रव्रज्याका पालन करके काल आने पर मृत्युको प्राप्त होकर उत्कृष्ट ज्योतिष्क नामक देव लोकमें जाते हैं। वहां पर उनकी एक पल्योपम और एक लाख वर्षतक स्थिति होती है। शेष पूर्ववत् जानना चाहिये। ये सब तापस भी परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं। यह ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है।

इस पाठमें कहा है कि जो अज्ञानी तापस कन्द मूल फलादिका आहार करके, पंचाग्नि तापकर अग्निहोत्र करके तथा जलमें शयन आदि करके एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुके देवता होते हैं वे परलोकके आराधक नहीं हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्गकी आराधनामें नहीं है क्योंकि उक्त पाठमें गिनाये हुए तपस्वी संवर रहित निर्जराकी करनी करते हैं तो भी उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कहा गया है। यदि संवर रहित निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गके आराधनमें होती तो उक्त तपस्वी मोक्षमार्गके अनाराधक क्यों कहे जाते? अतः संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्षमार्गमें कायम करना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध समझना चाहिए।

(बोल ग्यारहवां समाप्त)

(प्ररूपक)

छठे बोलसे लेकर ग्यारहवें बोल तक उवाई सूत्रके मूल पाठोंकी साक्षीसे संवर रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गके आराधनमें न होना कहा गया है। उवाई सूत्रमें इस विषय पर और भी पाठ आये हैं। इन सभी पाठोंमें संवर रहित निर्जराकी करनीको और इन कार्य्योंका आचरण करने वाले अज्ञानी तापसोंको अलग अलग गिन कर यह स्पष्ट कहा गया है कि ये अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके आराधक नहीं हैं। यह देखते हुए निःस-

न्देह मानना पड़ता है कि संवर रहित निर्जराकी करनी मोक्षमार्गके आराधनमें नहीं है अन्यथा ये तापसादि मोक्ष मार्गके अनाराधक क्यों कहे जाते ? यद्यपि उवाई सूत्रके एक ही पाठ दे देनेसे यह बात सिद्ध हो जाती थी तथापि इतने पाठ यहां इसलिये दिखलाये गये हैं कि इन पाठोंमें सभी अकाम निर्जराकी क्रियायें और सभी अज्ञानी तापस गिना दिये गये हैं। इनसे भिन्न एक भी अकाम निर्जराकी क्रिया, तथा अज्ञानी तापस शेष नहीं रह जाते।। जब कि सभी अकाम निर्जराकी क्रिया और उनके आराधक सभी अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके अनाराधक यहां कह दिये गये हैं तो यह अपने आप ही सिद्ध हो जाता है कि सकामनिर्जराकी क्रिया, और ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि पुरुष ही मोक्षमार्गके आराधक हैं। अतः संवर रहित निर्जराको आज्ञामें कायम करके अज्ञानी मिथ्यात्वीको मोक्षमार्गका आराधक कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिए।

बोल बारहवां।

(प्रेरक)

उवाई सूत्रके पूर्वोक्त मूल पाठोंसे संवर रहित निर्जराकी करनी मोक्षमार्गसे अलग सिद्ध होती है और उस करनीका आचरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष भी मोक्ष मार्गके अनाराधक सिद्ध होते हैं तथापि इन पाठोंका तात्पर्य्य बतलाते हुए भ्रमविध्वंसन-कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५ पर लिखते हैं कि—“प्रथम गुणठाणारोधणी शुद्ध करणी करे तेहने उवाईमें तो कह्यो परलोकना आराधक न थी। अने भगवती शतक ८ उद्देशा १० कह्यो ज्ञान विना जे करणी करे ते देश आराधक छै। एविहूंई पाठरो न्याय मिलावणो सर्वथकी तथा संवर आश्रीतो आराधक नथी अने निर्जरा आश्री तथा देशथकी तो आराधक छै। पिण जावक किञ्चिन्मात्र पिण आराधक नथी एहवो ऊंधी थाप करणी नहीं” इसके पहले लिखा है कि “जिम भगवती शतक १० उद्देशा १ कह्यो पूर्व दिशे “धमत्थिकाए” धर्मास्तिकाय नथी एहवूं कह्यो। अने धर्मास्तिकायने देश प्रदेश तो छै। ते पूर्व दिशे धर्मास्तिकायनो ना कह्यो ते तो सर्वथकी धर्मास्तिकाय बर्जी छै। पिणं धर्मास्तिकायनो देश वर्ज्यो नथी। तिम अकाम शील उपशान्तपणो ए करणीरा धणीने परलोकना आराधक नथी इम कह्या ते पिण सर्वथकी आराधक न थी परं निर्जरा आश्री देशाराधक तो छै।” (भ्र० पृ० २५)

इसका क्या उत्तर—

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा १० में कही हुई चतुर्भङ्गीमें जिसको मोक्ष मार्गका देशा-राधक कहा है उसी पुरुषको उवाई सूत्रमें मोक्ष मार्गका आराधक न होना नहीं कहा है।

किन्तु जो पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा पापसे हट गया है उसे भगवतीमें देशाराधक कहा है और जो पापसे नहीं हटा है उवाई सूत्रमें उसे मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है। अतः उवाई सूत्रोक्त मोक्षमार्गके अनाराधक पुरुषको भगवतीका नाम लेकर देशाराधक कहना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान समझना चाहिए।

देखिए भगवती सूत्रमें देशाराधक पुरुषका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है:—

" तत्थणं जेते पठमे पुरिसजाए सेणं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णाय धम्मे, एसणं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते ।"

अर्थात् इन चार प्रकारके पुरुषोंमें जो पहले पुरुष हैं, वे शीलवान् और अश्रुतवान् हैं। अर्थात् ये पुरुष पापसे हटे हुए और धर्मके विशिष्ट ज्ञाता नहीं हैं। इन पुरुषोंको मैं मोक्ष मार्गका देशाराधक मानता हूं। यह भगवतीके उक्त पाठका अर्थ है। इसमें कहा है कि:—

"जो पुरुष पापसे हट गया है वह मोक्ष मार्गका देशाराधक है" परन्तु पापसे नहीं हटे हुए पुरुषको देशाराधक नहीं कहा है। और इस पाठकी टीकामें "उवरतः" इस पदका अर्थ टीकाकारने भी पापसे हटा हुआ ही किया है। वह टीका यह है—"निवृत्तः स्वबुद्ध्या पापात्" अर्थात् भगवती सूत्रोक्त आराधक विराधक चतुर्भंगीके प्रथम भङ्गका स्वामी वह है जो अपनी बुद्धिके द्वारा पापसे हट गया है। यही बात खुद भ्रमविध्वंसनकारने भी लिखी है। जैसे कि "पोतानी बुद्धिए पाप थी निवर्त्यो छै" (भ्रम० पृ० ३) इसलिए भगवती सूत्रोक्त चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक पुरुष पापसे हटा हुआ है परन्तु उवाई सूत्रमें कहा हुआ निर्जराकी करनी करने वाला पुरुष पापसे हटा हुआ नहीं है इसलिए ये दोनों पुरुष भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। देखिए उवाई सूत्रके मूल पाठमें अकाम निर्जराकी करनीसे स्वर्ग जानेवाले पुरुषका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—"जीवेणंभन्ते असंजए अविरए अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे" (उवाई सूत्र)।

"अथात् जो पुरुष संयम रहित विरतिहीन और भूत कालके पापोंका हनन और भविष्यत्के पापोंका प्रत्याख्यान नहीं करने वाला है" वह पुरुष उवाई सूत्रमें कहा हुआ है। इसलिए उवाई सूत्रमें कहे हुए अनाराधक पुरुषको भगवती सूत्रकी चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका नाम लेकर देशाराधक बताना मिथ्या है।

उवाई सूत्रोक्त पुरुष पापसे हटा हुआ नहीं है और भगवती सूत्रोक्त पुरुष पापसे सर्वथा हटा है इसलिये ये दोनों कदापि एक नहीं हो सकते तथापि संवर रहित निर्जराकी

करनीको मोक्षमार्गके आराधनमें ठहरानेके लिये जीतमलजीने पापयुक्त और पापसे रहित पुरुषोंको एक कह दिया है अतः बुद्धिमानोंको इनकी प्ररूपणा शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये ।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकारने जो उवाई सूत्रोक्त अकामनिर्जराकी क्रिया करने वाले पुरुषको संवर नहीं होनेसे अनाराधक होना बतलाया है यह भी मिथ्या है क्योंकि गौतम स्वामीने वहां पर यह पूछा है कि जो पुरुष संवरसे रहित है पर अकामनिर्जराकी करनी करके स्वर्गमें जाता है वह मोक्षमार्गका आराधक है या नहीं ? इस प्रश्नका आशय यही हो सकता है कि उक्त पुरुषकी अकाम निर्जरा मोक्ष मार्गके आराधनमें है अथवा नहीं ? यदि है तब तो वह आराधक है और नहीं है तो आराधक नहीं है क्योंकि किसी बातका संशय होनेसे ही प्रश्न होता है निश्चय होनेसे नहीं होता जब कि उवाई सूत्रोक्त पुरुषमें संवरकी आराधना न होना स्वयं गौतम स्वामीको निश्चित है तब वह इस पुरुषको आराधक होनेके विषयमें जो प्रश्न करते हैं इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि इसकी अकाम निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें है अथवा नहीं । इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने इसे मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्षमार्गके आराधनमें नहीं है पर उसके द्वारा पुण्य बांध कर वह स्वर्गगामी होता है । यदि संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्षमार्गके आराधनमें होती तो भगवान् इस पुरुषको मोक्षमार्गका अनाराधक क्यों कहते ? इस प्रकार बातके स्पष्ट होते हुए भी भोले जीवोंमें भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने उवाई सूत्रोक्त पुरुषमें संवर नहीं होनेसे जो अनाराधक और निर्जराके होनेसे आराधक कहा है यह मिथ्या है ऐसा कभी नहीं होता कि "आम्रान् पृष्टः को विदारान् आचष्टे" आमके विषयमें बात पूछी जाय और "को विदार" के विषयमें उत्तर मिले । जब कि गौतम स्वामी अकाम निर्जराकी करनीके विषयमें प्रश्न करते हैं और उसीके होनेसे उक्त पुरुषको आराधक होने की जिज्ञासा करते हैं तब तीर्थङ्कर प्रकृत प्रश्न अकाम निर्जराके सम्बन्धमें उत्तर न देकर अप्रस्तुत विषय संवरके न होनेसे अनाराधक कहें यह कदापि नहीं हो सकता । इसलिये यहां भगवानने गौतम स्वामीकी पूछी हुई बातका ही उत्तर दिया है और संवर रहित निर्जराकी करनीके मोक्ष मार्गमें न होनेसे ही उक्त पुरुषको मोक्षमार्गका अनाराधक कहा है अतः उवाई सूत्रोक्त पुरुषको निर्जराकी करनीसे मोक्षमार्गका आराधक बतलाना प्रत्यक्ष शास्त्र विरुद्ध है । वास्तवमें अकाम निर्जराकी क्रियाके मोक्षमार्गमें न होनेसे उवाई सूत्रोक्त पुरुषको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है यही शास्त्र सम्मत बात समझनी चाहिये ।

(बोल तेरहवां)

(प्रेरक)

संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गमें नहीं है यह शास्त्रप्रमाणानुसार सिद्ध हुआ पर भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४ पर लिखते हैं कि "तामली तापस साठ हजार वर्ष तांई बेले बेले तपस्या की थी तेह थी घगा कर्मक्षय किया, पछे सम्यग्दृष्टि पामी मुक्तिगामी एकावतारी थयो। जो ए तपस्या न करतो तो कर्मक्षय न हुन्ता ते कर्मारी निर्जरा विना सम्यग्दृष्टि किम पावतो अने एकावतारी किम हुन्तो वली पूरण तापस बारह हजार वर्ष वेले वेले तपकरी घणा कर्म खपाया चमरेन्द्र थयो सम्यग्दृष्टि पामी एकावतारी थयो इत्यादिक घणां जीव मिथ्यात्वी थकां शुद्ध करणी थकां कर्म खपाया ते करणी शुद्ध छै मोक्ष नो मार्ग छे" इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

संवर रहित निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देना अयुक्त है क्योंकि तामली तापस और पूरण तापस जब तक अज्ञान दशामें अकाम निर्जराकी करनी करते थे तब तक उन्हें शास्त्रकारने मोक्ष मार्गका आराधक होना नहीं कहा। जब वे ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि हुए हैं तब भगवती शतक ३ उद्देशा १—२ में मोक्ष मार्गके आराधक कहे गये हैं। यदि अकाम निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गमें होती तो ये लोग सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे पहले भी मोक्षमार्गके आराधक कहे जाते परन्तु सम्यक्त्व पानेके पहले ये लोग मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कहे गये हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान दशामें की जानेवाली संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें नहीं है। तथा उवाई सूत्रके पूर्वोक्त पाठोंमें जो संवर रहित निर्जरा की क्रिया गिनाई गई हैं उन क्रियाओंके अन्दर तामली तापस और पूरण तापसकी क्रिया भी शामिल हैं। उवाई सूत्रोक्त क्रियाओंका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट सिद्ध है इस लिये तामली तापस और पूरण तापसकी अज्ञान क्रियाका मोक्षमार्गमें न होना भी स्पष्ट है। अतः तामली और पूरण तापसकी अज्ञान दशाकी क्रियाओंको मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञान मूलक है।

दूसरी जगह जीतमलजी और भीषणजीने स्वयं यह स्वीकार किया है कि सम्यक्त्वको पाये विना कैसा ही साधुका आचार पाला जाय पर उससे किंचित् भी मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं होती। भीषणजीने "श्रावक धर्म विचार" नामक पुस्तकमें लिखा है कि "समकित विन सुध पालियो अज्ञान पणे आचार नवग्रैवेक ऊंच्यो गयो नहीं सरी गरज लिगार" इसका अर्थ तेरह पन्थी श्रावक गुलाब चन्दजी का किया हुआ इस प्रकार है—

"सम्यकृत्व विना संयमकी शुद्ध क्रिया पालन कर जीव नव ग्रैवेक स्वर्ग तक गया परन्तु कुछ गरज नहीं सरी मिथ्यात्वी ही रहा।" इसके आगे भीषणजीने फिर लिखा है कि "नवतत्त्व ओलख्या विना पहरे साधुरो भेप। समझ परे नहीं तेहने भारी हुवे विशेप" इसका अर्थ उक्त श्रावक गुलाव चन्दजीने इस प्रकार किया है कि "नवतत्वको जाने विना कई मनुष्य साधु वेप पहन कर साधु वन जाते हैं लेकिन उनको साधुके आचारकी क्रिया शास्त्र वचनोंकी समझ नहीं पड़ती सिर्फ वेपधारी द्रव्य साधु हैं। रजोहरण चद्दर पात्रादि साधु वेप अनन्तवार ग्रहण किया और गोतम स्वामी जैसी क्रिया मिथ्यात्व पनेमें करके नवग्रैवेक कल्पातीत तक जीव जा पहुंचा परन्तु कुछ भी मोक्ष फलितार्थ न हुआ।"

इन पद्योंमें भीषणजीने साफ साफ स्वीकार किया है कि सम्यकृत्व पाये विना अज्ञान दशामें चाहे गोतम स्वामी जैसी साधुपनेकी क्रिया भी की जाय पर उससे किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। यदि मिथ्यात्व दशाकी करनी मोक्ष मार्गमें होती तो भीषण जी उस करणीसे किञ्चित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कैसे कहते? अतः भीषणजीने इस पद्यमें अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट स्वीकार किया है। तथा जीतमलजी ने भी आराधनाकी ढालमें अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमें न होना स्वीकार किया है। जैसे कि उन्होंने लिखा है—

"जे समकित विन म्हैं। चारित्रनी किरियारे, वार अनंत करी पिण काज न सरियारे" अर्थात् सम्यकृत्व पाये विना मैंने अनन्त वार चारित्रकी क्रिया की थी, पर उससे कुछ भी कार्य्य नहीं सिद्ध हुआ। इस पद्यमें जीतमलजीने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मिथ्यात्व दशाकी करनीसे कार्य नहीं सिद्ध होता। यदि मिथ्यात्व दशामें की जाने वाली अकाम निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गके आराधनमें है तव फिर उससे कार्य्य नहीं सिद्ध होने का क्या कारण है? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व दशाकी करनी मोक्ष मार्गमें नहीं है तथापि जान वूझ कर भोले जीवोंमें भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने भ्रमविध्वंसन में अपनी उक्ति तथा भीषणजीकी उक्ति और शास्त्रसे भी विरुद्ध मिथ्यात्व दशाकी करनी को मोक्ष मार्गमें कह दिया है। अतः तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देकर संवर रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करना मिथ्या समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि "भीषणजी और जीतमलजीके पूर्वोक्त पद्योंमें "नही सरी गरज लिगार" और "काज न सरियारे" इसका भाव यह नहीं है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आराधन नहीं होता किन्तु सम्यकृत्व पाये विना मुक्ति नहीं होती यह आशय है" तो यह भी मिथ्या है उसी भवमें मोक्षकी प्राप्ति तो केवल क्षीणमोह और यथाख्यातचारित्र वालोंको ही होती है उनसे इतरकी उसी भवमें मुक्ति नहीं

होती । यदि मुक्ति नहीं होनेसे मिथ्यात्व दशाकी करनी किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करती तो फिर चतुर्थगुणस्थानसे लेकर ११ वें गुणस्थान तकको क्रियासे भी किंचित् प्रयोजन न सिद्ध होना मामना पड़ेगा क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव भी द्वादशादि गुण स्थानोंमें गये विना मोक्षगामी नहीं होते । यदि कहो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुण स्थान तकके जीवोंकी क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उन क्रियाओंसे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना नहीं कहा जा सकता तो फिर भ्रमविध्वंसन कारकी श्रद्धानुसार मिथ्यात्व दशाकी क्रिया भी परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उससे भी प्रयोजनका न सिद्ध होना नहीं कहना चाहिये । परन्तु भीषणजी और जीतमलजीने उक्त पद्योंमें मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कहा है इससे स्पष्ट जाना जाता है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ये लोग भी मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं मानते परन्तु अपने शास्त्र विरुद्ध पक्षके आग्रहमें पड़ कर भ्रमविध्वंसन में मिथ्यात्वीकी क्रियाको जीतमलजीने मोक्ष मार्गमें कह दिया है अतः भ्रमविध्वंसन कारकी यह प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये ।

बोल चौदहवां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६ के ऊपर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं कि—"वली प्रथम गुणठाणारो धणी सुपात्र दान देई परीत संसार करी मनुष्यनो आयुषो बांध्यो सुबाहु कुमारने पाछिले भवे सुमुख गाथा पति इ" इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि सुमुख गाथा पतिने मिथ्यात्व दशाकी करनीसे संसार परिमित करके मनुष्यकी आयु बांधी थी, इससे मिथ्यात्व दशाकी क्रिया मोक्ष मार्ग में सिद्ध होती है । यदि मिथ्यात्वीकी क्रिया मोक्ष मार्गमें न होती तो सुमुखगाथा पतिका संसार उससे परिमित कैसे होता ? इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित नहीं होता क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व उनमें मौजूद रहता है । जब सम्यग् दर्शनके उदयसे मिथ्यात्व का विनाश होता है तब संसार परिमित होता है परन्तु मिथ्यात्वके रहने पर नहीं होता । कारण के रहने पर कार्य्यका न होना असम्भव है । अतः मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित होना जो वतलाता है उसे अज्ञानियोंका शिरोमणि समझना चाहिये ।

सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वी नहीं था इसी लिए उसका संसार परिमित हुआ । अव प्रश्न यह होता है कि सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टिका इसमें क्या प्रमाण ?

तो इसका उत्तर यह है कि सुमुख गाथापतिके विषयमें जो विपाक सूत्रमें मूलपाठ आया है वही प्रमाण है। यह बात मूलपाठ लिख कर बतलाई जाती है।

वह पाठ यह है।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसाणं थेराणं अन्तेवासी सुदत्ते नामं अणगारे उराले जाव संखित्त विउल तेउलेसे मासं मासेणं खममाणे विहरन्ति। तत्तेणं सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेति जहा गोयमसामी तहेव सुधम्मेथेरे आपुच्छति जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गिहं अणुपविट्ठे। तत्तेणं सुमुहे गाहावइ सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासइ पासित्ता हट्ठतुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठिता पादपीठाओ पच्चोरुहति पाओयाओ मुयइ एगसाडियं उत्तरासङ्गं करेइ सुदत्तं अनगारं सत्तट्ठपयाइं पच्चुगच्छइ तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ वंदइ नमंसइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सयहत्थेणं विउलेणं असण पाण खाइम साइम पडिलाभेस्सामीति तुट्ठे ३ तत्तेणं तस्स सुमुहस्स तेणं दव्वसुद्धेणं तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं २ सुदत्ते अणगारे पडिलामएसमाणे परीत्त संसारकए मणुस्साउए निवद्धे"

(विपाक सूत्रसुख विपाक)

अर्थः—

उस समय धर्म घोष नामक स्थविरके अन्तेवासी शिष्य सुदत्त नामक अनगार उदार यावत् तेजो लेश्याको गुप्त रखने वाले मास मासका क्षमण करते हुए जीवन व्यतीत करते थे वे मासक्षमण तपस्याके पारणेके दिन प्रथम पौरुषीमें स्वाध्याय करते थे शेष गोतम स्वामीकी तरह समझना चाहिये। वह सुदत्त अनगार अपने गुरु धर्मघोष स्थविरसे पूछ कर यावत् गोचरीके निमित्त जाते हुए सुमुख नामक गृहस्थके घरपर गये। अनन्तर सुमुख गाथापतिने सुदत्त अनगारको आते हुए देख कर हर्षके साथ आसन छोड़ दिया और पादपीठसे नीचे उतरकर पादुकाको छोड़कर एक शाटिक वस्त्रकी उत्तरासंग करके मुनिके सम्मुख सात आठ पैर तक आगे गया। दाहिनी ओरसे उसने मुनिकी तीन वार प्रदक्षिणादी और मुनिको वन्दन नमस्कार करके वह अपने भोजन गृहमें आया। वहां उसको इस बातके लिए बहुत हर्ष हो रहा था कि आज मैं अपने हाथसे मुनिको

विपुल अशनपान खाद्य और स्वाद्य दूंगा। देते समय भी उसे हर्ष हो रहा था और देनेके अनन्तर भी उसे हर्ष हुआ था इस प्रकार शुद्ध भाव शुद्ध मन वचन और कायसे जो सुमुख गाथापतिने सुपात्रके लिए शुद्ध द्रव्यका प्रदान किया था उससे उसने अपना संसार परिमित करके मनुष्यकी आयु बांधी। यह इस मूल पाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि "सुमुख गाथापतिने सुदत्त अनगारको आते हुए देख कर अपना आसन छोड़ दिया और पादपीठसे उतर कर एक शाटिक वस्त्रका उत्तरासंग करके मुनिके सम्मुख सात आठ पैरतक गया, और मुनिको दाहिनी ओरसे तीन वार प्रदक्षिणादी" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वी नही। क्योंकि मिथ्यादृष्टि पुरुप साधुको साधु नहीं समझता किन्तु असाधु समझता है इसलिये वह इस प्रकारका आदर सत्कार मुनिका नहीं कर सकता। जैसे हरिकेशी मुनिको देख कर ब्राह्मण कुमारोंने आदर सत्कार नहीं किया था किन्तु उनका अनादर करने लगे थे उसी तरह सुमुख गाथापति भी मिथ्यादृष्टि होता तो मुनिका आदर सत्कार नहीं करता किन्तु अनादर करता परन्तु उसने मुनिका सत्कार सम्मान किया था इससे उसका सम्यग्दृष्टि होना सिद्ध होता है। कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी कारणवश मुनिका आदर सत्कार करे तो उसका हार्दिक भाव शुद्ध नहीं होता किन्तु उसके हृदयमें मुनिके प्रति अश्रद्धा बनी रहती है परन्तु सुमुख गाथापतिका हार्दिक भाव शुद्ध था इसीलिये मूलपाठमें "हट्ठतुट्ठे" यह पद आया है इसका अर्थ यह है कि सुमुख गाथापति मुनिका सत्कार सम्मान करते समय हृदयमें बहुत प्रसन्न था। यदि वह मिथ्यादृष्टि होता तो साधुके प्रति हृष्ट तुष्ट नहीं होता अतः सुमुख गाथापति उस समय सम्यग्दृष्टि ही था मिथ्यादृष्टि नहीं। तथा सुमुख गाथापतिने जो मुनिको दान दिया था उसका वर्णन करते हुए उक्त मूलपाठमें कहा है कि "सुमुख गाथापतिका दान, दातृ शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और पात्र शुद्धि इन तीनों शुद्धियोंसे युक्त था"। ये तीनों शुद्धियां सम्यग्दृष्टिके दानमें ही होती हैं मिथ्यादृष्टिके दानमें नहीं होतीं क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी साधुके प्रति अश्रद्धा होनेसे उसका हृदय शुद्ध नहीं होता और हृदय शुद्ध न होनेसे उसके दानमें दाताकी शुद्धि नहीं होती अतः मिथ्यादृष्टियोंके दानमें त्रिविध शुद्धियां नहीं होतीं परन्तु सुमुख गाथापतिका दान तीनों प्रकारकी शुद्धियोंसे युक्त था इसलिए सुमुखगाथापतिका सम्यग्दृष्टि होना स्पष्ट प्रमाणित होता है।

इसी तरह इस मूलपाठमें सुमुख गाथापतिके दानको मानसिक शुद्धिसे युक्त होना कहा है यह भी सुमुख गाथापतिके सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है। सम्यग्दृष्टिका ही साधु के प्रति मन शुद्ध होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। सुमुख गाथापतिका साधुके प्रति मन शुद्ध था इस लिये वह सम्यग्दृष्टि ही था मिथ्यादृष्टि नहीं। एवं सुमुख गाथापतिने मुनिको

दान देकर अपना संसार परिमित किया था यह भी इसके सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है। यद्यपि भ्रमविध्वंसनकारने मिथ्यादृष्टिका भी संसार परिमित होना लिखा है परन्तु यह बात शास्त्र विरुद्ध है। जबतक अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया और लोभका क्षयोपशम या उपशम नहीं होता तबतक संसार परिमित नहीं होता। अनन्तानुवंधी क्रोधादिका यही अर्थ है कि वह अनन्त संसारका अनुवंध करता है। उसके होते हुए संसार परिमिल हो जाय यह बात असंभव है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें "अनन्तानुवंधी" शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है "अनन्तं भवमनुवघ्नात्यविच्छिन्नंकरोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुवन्धी" जो धारा प्रवाह विच्छेदरहित अनन्तकाल तक संसारको उत्पन्न करता है उसे "अनन्तानुवन्धी" कहते हैं।

अनन्तानुबंधी क्रोधादि. जबतक सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती तबतक नष्ट नहीं होता और उसके रहते रहते संसारका समुच्छेद नहीं होता इसलिए सुमुख गाथापतिमें अनन्तानुवन्धी क्रोधादिका क्षयोपशम या उपशम होना अवश्य ही मानना पड़ेगा और उसके मान लेनेपर सुमुख गाथापतिका सम्यग्दृष्टि होना अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः सुमुख गाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे संसार का परिमित होना, बतला कर उसे मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

(बोल १५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८ के ऊपर मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे संसार परिमित होना सिद्ध करनेकेलिए लिखते हैं कि—"वली मेघकुमाररो जीव पाछिले भवे हाथी सुसलारी दया पाली परीत्त संसार मिथ्यात्वी थके कियो।"

इसका क्या समाधन ?

(प्ररूपक)

हाथीका भव पाया हुआ मेघ कुमारका जीव शशक आदि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं यह बात ज्ञाता सूत्रके मूलपाठसे सिद्ध होती है। उस मूलपाठमें हाथीको साक्षात् सम्यग्दृष्टि कहा है वह पाठ निम्नलिखित है:—

'तंजइ ताव तुमं मेहा तिरिक्खजोणियभावमुवागएणं अपडिलद्धसंमत्तरयणलंभेणं सेपाए पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तराचेव सन्धारिए णोचेवणं णिक्खित्ते"

ज्ञाता अध्ययन १.)

इसका टब्बा अर्थ यह है—" तं० तेमाटे तिहां तुम्मे तीजे भवे, मे० मेघा ? तिर्य्यञ्चरी योनि भावइ मु० उपनाहता अ० अनपाम्यो अछतो सम्यक्त्व लीधो रत्नपाम्यो से० तेसिकरी तेप्राणिनी अनुकम्पाइ जा० दयाइ करी जा० यावत् तिहांपग ऊंचो राख्यो तेणे मनुष्य भवपाम्यो ।"

यह टब्बा अर्थ भीषणजीके जन्मसे पहलेका लिखा हुआ प्राचीन है हस्तलिखित प्रतियोंमें इसके लिखे जानेकी मिति संवत् १७६८ लिखी है—

जैसे कि—"संवत् १७६८ वर्षे शा० १६६३ प्रथम कार्तिके मासे शुक्ल पक्षे ११ तिथौ भृगुवासरे लिपिंचके मुनिकपूरसागरः" यह लिखा है। इसमें "अपडिलद्धसंमत्त रयण लभेणं" इस पदका अर्थ यह किया है कि "अनपाम्यो अछतो सम्यक्त्वलीधो रत्न पाम्यो" अर्थात् "हाथीने पहले नहीं पाये हुए सम्यक्त्व रूपी रत्नको उस समय प्राप्त किया था।" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह हाथी शशक आदि प्राणियोंकी प्राण-रक्षा करतेसमय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं। इस टब्बा अर्थमें जो "अपडिलद्ध सम्मत्त रयणलभेणं" इस पदका सम्यक्त्व रूपी रत्नको पाना अर्थ लिखा है वह व्युत्पत्तिसे भी निकलता है। जैसे कि इस पदकी संस्कृतच्छाया "अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व रत्न लंभेन" वनती है। और इसकी व्युत्पत्ति यह है कि "अप्रतिलब्धमप्राप्तंयत्सम्यक्त्व रत्नं तल्लभत इति अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व रत्न लंभस्तेन" अर्थात् पहले कभी नहीं पाये हुए सम्यक्त्व रत्नको प्राप्त करने वाला" यह इसका अर्थ है। इस लिये टब्बाकारका किया हुआ अर्थ व्युत्पत्तिसे भी सङ्गत है तथापि हाथीको मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे संसारका समुच्छेद वतलाना उत्सूत्र भाषियोंका कार्य्य समझना चाहिये। कई अशुद्ध टब्बाओंमें उक्त पदका अर्थ अशुद्ध किया है। जैसे भ्रमम-विध्वंनमें उक्त पदका अशुद्ध टब्बा अर्थ लिखा है ऐसे अशुद्ध टब्बाओंका आश्रय लेकर जगत्में भ्रम फैलाना सच्चे साधुओंका कर्त्तव्य नहीं है। अतः भ्रमविध्वंसनकारने जो मूलपाठसे विरुद्ध हाथीको मिथ्यादृष्टि वतलाया है वह मिथ्या समझना चाहिए।

बोल १६ वां

(प्रेरक)

ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें हाथीको शशकादि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करते समय सम्य-ग्दृष्टि ही लिखा है यह ज्ञात हुआ। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंन पृष्ठ १० के ऊपर लिखते हैं कि "वलीत्यांमें इज दलपतिरायजी प्रश्न पूछ्या तेहना उत्तर दौलतरामजी दीधा छे। ते प्रश्नोत्तर मध्ये पिण हाथीने तथा सुमुख गाथापतिने प्रथम गुणठाणे कह्या छे"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दौलतरामजीके साथ दलपतिरायजीके जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उसकी सम्वत् १८९१ की लिखी हुई प्रति मेरे पास मौजूद है उसमें हाथी और सुमुखगाथापतिका प्रथम गुण स्थानमें होना कहीं नहीं कहा है अतः उक्त प्रश्नोत्तरीका उदाहरण देकर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करना मिथ्या है। तथा भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १० के नोटमें दौलतराम जी और दलपतिरायजीको "कोटा बूंदीके आसपास विचरनेवाले वाईस सम्प्रदायके साधु" लिखा है यह भी मिथ्या है। दलपतिरायजी देहलीके रहने वाले वाईस सम्प्रदायके प्रसिद्ध श्रावक थे साधु नहीं थे तथा इनके प्रश्नोत्तरमें हाथी तथा सुमुखगाथापतिको मिथ्यात्वी होनेका कथन भी नहीं है अतः उक्त प्रश्नोत्तरीका दाखला देकर जो नोटके अन्दर लिखा है कि "उक्त प्रश्नोत्तरीके १३८ वें प्रश्नके उत्तरमें हाथीको और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहा है" यह सब मिथ्या समझना चाहिए।

तेरह पन्थियोंको इस प्रश्नोत्तरीकी वात यदि मान्य हो तो इसके ५८ वें प्रश्नके उत्तरमें मिथ्यात्वीके अन्दर मोक्षप्राप्तिरूप सकाम निर्जराका प्रतिपेध किया है इस लिये मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका देशाराधक नहीं मानना चाहिये। वह ५८ वां प्रश्न और उस का उत्तर निम्नलिखित हैं—

"मिथ्यात्वीनो सकाम निर्जरा हो वा न हो, तेहनो उत्तर—मोक्ष प्राप्ति सकाम निर्जरा न होवे" इस प्रश्नोत्तरमें मिथ्यादृष्टिमें मोक्षमार्गका न होना स्पष्ट कहा है तथापि इसी प्रश्नोत्तरीका उदाहरण देकर जीतमलजीने मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका आराधक वतलाया है, यह इनका प्रत्यक्ष मिथ्याभाषण समझना चाहिये।

यहां विशेष ध्यानमें रखने योग्य वात यह है कि—किसी भी आधुनिक छद्मस्थ अल्पज्ञकी वात शास्त्राधारके विना नहीं मानी जाती यह आग्रह तो भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायियोंका ही है जो वावा वाक्यको प्रमाण मान कर लकीरके फकीर बने हैं। उनके भीषणजी आदिकी बात यदि सूत्रके मूलपाठसे भी विरुद्ध हो तो भी उसे वे नहीं छोड़ते यही तो आभिनिवेशिक मिथ्यात्वका लक्षण है। परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सूत्रप्रमाणको समझ कर हठ नहीं करते। चाहे किसीका कथन हो सूत्र विरुद्ध बात वे नहीं मानते।

[बोल १७ वां समाप्त]

(प्रेरक)

सुमुखगाथापतिने सुदत्त अनगारको जैसे वन्दन नमस्कार किया था उसी तरह गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रने भी भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था यदि मुनिको वन्दन नमस्कार करना ही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है तो फिर गोशालक

शिष्य शकडाल पुत्रको भी सम्यग्दृष्टि ही मान लेना चाहिये। परन्तु यदि उसे आप सम्यग्दृष्टि नहीं मानते तो फिर सुमुखगाथापतिको सम्यग्दृष्टि क्यों मानते हैं ?

(प्रत्यक)

सुमुखगाथापतिके वन्दन नमस्कारको गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रके वन्दन नमस्कार जैसा बतलाना अयुक्त है सुमुखगाथापतिने बिना किसीकी प्रेरणा और दबाव के अपनी हार्दिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे सुदत्त अनगारको वन्दन नमस्कार किये थे परन्तु शकडाल पुत्रने देवताके कहने, और उसके दबावसे भगवानको वन्दन नमस्कार किया था। इसलिये इन दोनोंके वन्दन नमस्कार तुल्य नहीं हैं।

जैसे कोई मनुष्य अपनी स्वाभाविक इच्छासे साधुका आचार पालता है और दूसरा अभव्य होकर भी सांसारिक पूजा प्रतिष्ठा आदिके लोभसे साधुका आचार पालता है ये दोनों पुरुष व्यवहार दशामें यद्यपि साधुका आचार पालने वाले ही कहे जाते हैं तथापि इनके आचार पालनमें तुल्यता नहीं है किन्तु महान भेद है उसी तरह जो अपनी मानसिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे मुनिको वन्दन नमस्कार करता है और जो किसीकी प्रेरणा या दबावसे वन्दन नमस्कार करता है इन दोनोंके वन्दन नमस्कारमें भी तुल्यता नहीं है महान् अन्तर है। सुमुखगाथापतिने अपनी इच्छा और स्वाभाविक श्रद्धा से मुनिको वन्दन नमस्कार आदि किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार सम्यग्दृष्टिका वन्दन नमस्कार है और वह मोक्षका मार्ग है परन्तु शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे वन्दन नमस्कार किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्य-रूप होनेसे मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार है वह मोक्षका मार्ग नहीं है। अतः इन दोनोंको तुल्य बतलाना मिथ्या है। शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे भगवान् महावीरस्वामीको वन्दन नमस्कार किया था अपनी इच्छासे नहीं यह बात उपासक दशांग सूत्रके मूलपाठमें कही है। वह पाठ यह है—

"समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीवियोवासयं एवं वयासी से नूनं सद्दाल पुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकालयंसि जेणेव असोगवणिया जाव विहरसि तएणं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था तएणं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी—हं भो सद्दाल पुत्ता! तंचेव सव्वं जाव पज्जुवासिस्सामि सेनूनं सद्दाल पुत्ता! अट्ठे समट्ठे! हंता अत्थि। नो खलु सद्दाल पुत्ता! तेणं देवेणं गोसालं मंखलि पुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते। तएणं तस्स सद्दाल

पुत्तस्स आजीवियो वासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिये ४ एसणं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्ननाणदंसणधरे जाव तच्चकम्मसंपया संपउत्ते"

(उपासक दशांग अ० ६)

अर्थ—

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रसे कहा कि हे शकडाल पुत्र! कल सन्ध्या समय अशोक वाटिकामें तू गया हुआ था। वहां एक देवताने तुम्हारे निकट आकाशमें स्थित होकर यह कहा था कि कल यहां महामाहन ज्ञान दर्शनका धारक यावत् सफल क्रियाओंसे युक्त पुरुष आवेगा तुम उसका वन्दन नमस्कार आदि यावत् शय्या संथारासे उपनिमंत्रित करना। यह सुन कर तुमने निश्चय किया कि "कल मेरे गुरु गोशालक मंखलिपुत्र आवेंगे उनकी वन्दना नमस्कार आदि यावत् उपासना मैं करूंगा" क्या यह बात सत्य है? यह सुन कर शकडाल पुत्रने कहा कि हां सत्य है। तब फिर भगवान्ने कहा कि हे शकडाल पुत्र! उस देवताने गोशालक मंखलिपुत्रके लिये ऐसा नहीं कहा था। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामीके कहने पर शकडाल पुत्रको यह निश्चय हुआ कि यह तो भगवान् महावीर स्वामी हैं यही महामाहन ज्ञान-दर्शनके धारक यावत् सफल क्रियाओंसे युक्त है यह इस पाठका अर्थ है।

इसमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने जब गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रसे यह कहा कि "अशोक वाटिकाके अन्दर देवताने जो बात कही थी वह गोशालक मंखलिपुत्रके लिये नहीं" तब शकडाल पुत्रको यह मालूम हुआ कि यह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं पर हमारे गुरु गोशालक नहीं हैं। इससे निश्चित होता है कि शकडाल पुत्र अपने गुरु गोशालकको आया हुआ जानकर वहां आया था और आते समय उसने भगवान् महावीर स्वामीको गोशालक समझ कर वन्दन नमस्कार किया था। अतः उसका यह वन्दन नमस्कार वास्तवमें भगवान् महावीर स्वामीको न होकर उसके गुरु गोशालक मंखलि पुत्रका ही हुआ। पश्चात् भगवान् महावीर स्वामीके कहने पर जब उसका वह भ्रम दूर हुआ और उसने भगवान् महावीरको जान लिया तब अशोक वाटिकामें मिले हुए देवताकी प्रेरणासे भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था परन्तु उनको गुरु जान कर आन्तरिक भक्तिके साथ नहीं इसलिये इसका यह वन्दन नमस्कार भी भावशून्य होनेके कारण अर्हद्भाषित धर्मका अङ्ग नहीं था किन्तु अर्हदाज्ञाबाह्य और मिथ्यात्व युक्त था। अतः इसे मोक्षमार्गमें नहीं कह सकते। परन्तु सुमुखगाथापतिका वन्दन नमस्कार आन्तरिक श्रद्धाके साथ होनेसे भावरूप था, इसलिये वह मोक्षका मार्ग और वीतराग भाषित धर्मका अङ्ग था। ऐसा भावरूप वन्दन नमस्कार

सम्यग्दृष्टियोंका ही होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। अतः सुमुखगाथापतिके वन्दन नमस्कारको शकडाल पुत्रके वन्दन नमस्कार जैसा बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४ के ऊपर लिखते हैं कि "अथ क्रियावादी मनुष्य तिर्यञ्च रे एक वैमानिक रो बंध कह्यो और आयुषो बांधे नहीं इमि कह्यो ते मांटे सुमुख गाथापति, तथा हाथी तथा सुव्रती मनुष्य इहां कह्या तेसर्वने मनुष्यनो आयुषानो बन्ध कह्यो ते भणी ए सम्यग्दृष्टि नहीं ते मांटे मनुष्यनो आयुषो बांध्यो छै सम्यग्दृष्टि हुवे तो वैमानिकरो बन्ध कहता" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा १ में कहा है कि "क्रियावादी मनुष्य एक वैमानिकके सिवाय दूसरेकी आयु नहीं बांधते" इसका अभिप्राय भ्रमविध्वंसनकारने नहीं समझा है इसीलिये वह मनुष्यका आयुबंध देख कर सुमुख गाथापति और हाथीको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। भगवतीके उक्त कथनका आशय यह है कि जो मनुष्य और तिर्य्यञ्च विशिष्ट क्रियावादी होते हैं और अतिचार रहित निर्मल व्रतका पालन करते हैं वे वैमानिक की ही आयु बांधते हैं परन्तु सामान्य क्रियावादी नहीं। यदि कोई कहे कि भगवतीमें तो सिर्फ क्रियावादी ही लिखा है विशिष्ट क्रियावादी नहीं लिखा है फिर आप विशिष्ट क्रियावादी अर्थ क्यों करते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रके मूलपाठमें महारंभी महापरिग्रही क्रियावादी मनुष्यको उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जाना भी कहा है यदि सभी क्रियावादी वैमानिककी ही आयु बांधते तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमें क्रियावादी मनुष्यको नरकयोनिकी आयु बांधना कैसे कहा जाता ? अतः निश्चित होता है कि भगवतीके मूलपाठमें जिस क्रियावादीके लिये एक वैमानिककी ही आयु बांधनेका नियम किया है वह विशिष्ट क्रियावादी है पर सभी क्रियावादी नहीं। दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें क्रियावादी मनुष्यको नरक योनिमें जाना कहा है वह पाठ यह है—

सेकिंतं किरियावाइयावि भवइ? तंजहा—आहियवाइ आहियपन्ने आहिय दिट्ठी सम्मावादी निइवादी संतिपरलोकवादी अत्थि इहलोके अत्थि परलोके अत्थि माया अत्थि पिया अत्थि अरिहन्ता अत्थि चक्कवट्टी अत्थि वलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकडदुक-

डाणं फलवित्तिविसेसे सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति सफले कल्लाणे पावए पच्चायंति जीवा अत्थि नेरइया देवा सिद्धि से एवंवादी एवंपन्ने एवंदिट्ठी छन्दरागमतिनिविट्ठे आविभवइ से भवइ महेच्छे जाव उत्तर गामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेसाणं सुलभ बोहियावि भवइ सेतं किरियावादी सव्वधम्मरुचियावि भवइ''

(दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र)

इनका टीकानुसार अर्थ यह है—

(प्रश्न) क्रियावादी किसे कहते हैं ?

(उत्तर) जो शास्त्रोक्त आत्मादिपदार्थोंको सत्य और मोक्षोपयोगी पदार्थोंको उपादेय तथा उसके प्रतिकूल वस्तुको हेय समझते हैं जो, जिसका जैसा स्वरूप है उसे उसी तरह अविपरीत बतलाते हैं और आस्तिकताके समर्थक सम्यग्दृष्टि हैं जो, मोक्षकी नित्यता और स्वर्ग, नरक, माता, पिता, इहलोक, परलोक, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, इनका अस्तित्व मानते हैं। जो शुभ और अशुभ कर्मोंका क्रमशः शुभ तथा अशुभ फल होना स्वीकार करते हैं जो शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये आत्माको विविध योनियोंमें जाना अङ्गीकार करते हैं जो नरक, मनुष्य, तिर्य्यञ्च, देवता, और मुक्तिको सत्य बताते हैं तथा पूर्वोक्त सभी बातोंमें जिसकी निश्चयात्मक मान्यता है वे क्रियावादी कहलाते हैं। ऐसे क्रियावादी यदि महारंभी महापरिग्रही और महान् इच्छावाले हों तो उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जन्म पाते हैं परन्तु वे शुक्लपक्षीय और भविष्यमें सुलभ बोधी होते हैं। यह उक्त मूलपाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि जो क्रियावादी मनुष्य महारंभी महापरिग्रही और महान् इच्छा वाले होते हैं वे उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जाते हैं। यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक की ही आयु बांधते तो इस पाठमें क्रियावादी मनुष्यको नरकयोनिमें जाना कैसे कहा जाता ? अतः भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा १ में विशिष्ट क्रियावादीके लिए ही वैमानिकके आयुबंधका नियम किया जाना समझना चाहिये सभी क्रियावादियोंके लिये नहीं।

इस विषयमें भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ का मूलपाठ भी प्रमाण है। वह पाठ यह है—

"अविराहिय संजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणं। विराहिय संजमाणं जहण्णेणं भुवणवासिसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे। अविराहिय संजमासंजमाणं जहण्णेणं सो-

इमूसे कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे । विराहिय संजमासंजमाणं जह-ण्णेणं भुवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु ।

(भगवती श० १ उद्देशा २)

अर्थ—

संयमकी विराधना नहीं करने वाले आराधक साधु यदि देवलोकमें उत्पन्न होवें तो जघन्य प्रथम स्वर्ग सौधर्म कल्पमें और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध नामक विमानमें उत्पन्न होते हैं। तथा संयम की विराधना करने वाले विराधक साधु यदि देवलोकमें उत्पन्न होवें तो जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट सौधर्म कल्प प्रथम स्वर्गके देवता होते हैं। एवं अतिचार रहित अपने व्रतकी आराधना करने वाले आराधक श्रावक देवलोकमें उत्पन्न हों तो जघन्य प्रथम स्वर्ग सौधर्म कल्प और उत्कृष्ट अच्युत कल्प यानी बारहवें स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं। तथा विराधक श्रावक यदि देवलोकमें उत्पन्न होवें तो जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होते हैं। यह मूलपाठका अर्थ है।

इसमें विराधक श्रावकको जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होना कहा है। यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक देवकी ही आयु बांधते तो इस मूल पाठमें विराधक श्रावकको जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें जाना क्यों कहा जाता ? क्योंकि विराधक श्रावक भी क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं है। अतः निश्चित होता है कि सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च एक वैमानिककी ही आयु नहीं बांधते किन्तु सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यंच अपने अपने कर्मानुसार दूसरे भवोंमें भी जाते हैं। अतः भगवती शतक ३० उद्देशा १ के मूलपाठका नाम लेकर सभी क्रियावादियोंको एक वैमानिकका ही आयुबन्ध बतलाना मिथ्या है। जब कि क्रिया-वादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिकके सिवाय दूसरे की भी आयु बांधते हैं तब मनुष्य का आयुबंध होना देख कर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहना मिथ्यादृ-ष्टियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिक देवके सिवाय दूसरे भवमें भी जाते हैं इसका प्रमाण और भी दिया जाता है—

भगवती शतक ८ उद्देशा १० के मूलपाठमें जघन्य ज्ञान और जघन्य दर्शनारा-धनाका फल जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवसे मोक्ष जाना बतलाया है इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवोंमें जो यहां मोक्ष जाना कहा है वह चारित्राराधनाके सहित जघन्यज्ञान और जघन्य

दर्शनाराधनाका फल समझना चाहिये क्योंकि चारित्र रहित ज्ञान दर्शन तथा देश व्रतकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हैं। इस टीकाकारकी बातको स्वीकार करते हुए जीतमलजीने "प्रश्नोत्तर तत्त्ववोध" नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

"अष्टम शतके भगवती दशम उद्देशे इष्ट
जघन्य ज्ञान आराधना सत अठ भव उत्कृष्ट।
वृत्तिकार कह्यूं यह विध चरित सहित जे ज्ञान
तेहनी जघन्य आराधना तसुभव ए पहिचान
बीजा समदृष्टि तणा देशव्रतीना जे ह।
भव उत्कृष्ट असंख्य छै न्याय वचन छै एह।

इन दोहोंमें टीकाकारकी वातको प्रमाण मानते हुए जीतमलजीने चारित्र रहित जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशव्रतकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव होना भी स्वीकार किया है। अब इनको क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चका वैमानिक भवके सिवाय दूसरे भवका ग्रहण करना भी मानना पड़ेगा। क्योंकि जिस जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशव्रत के आराधक पुरुषको असंख्य भवोंसे मोक्ष जाना है वह अपनी असंख्य भवोंकी पूर्ति वैमानिक और मनुष्य भवोंमें ही नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य भवसे वैमानिकका और वैमानिकसे मनुष्य भवका लगातार सात आठ वारसे अधिक होना भगवती शतक २४ में वर्जित किया है। इसलिये असंख्य भवोंकी पूर्तिके लिये उसे वैमानिकके सिवाय दूसरा भव करना ही होगा इस प्रकार जब कि असंख्य भवोंसे मोक्ष जाने वाले जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशव्रती पुरुषका वैमानिकके सिवाय दूसरेका आयुबंध होना भ्रमविध्वंसनकार को स्वीकृत है तब फिर क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चका वैमानिक देवके सिवाय दूसरा भव ग्रहण करना भी अपने आप ही स्वीकार हो जाता है क्योंकि जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशव्रतका आराधक पुरुष क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं। अतः भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा एकका नाम लेकर सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चको एक वैमानिकका ही आयु बंध बतलाना मिथ्या समझना चाहिये।

[बोल २० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३ के ऊपर उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ७ गाथा बीसवींको लिख कर उसकी समालोचनामें लिखते हैं कि "एतो मिथ्यात्वी अनेक भला गुणां सहितने सुव्रती कह्यो। ते भली करणी आज्ञा मांहि छै। अने क्षमादि गुण आज्ञामें नहीं हुवे तो सुव्रती क्यूं कह्यो। ते क्षमादिगुणागी करणी अशुद्ध हुवे तो कुव्रती

कहता एतो साम्प्रत भली करणी आश्रय मिथ्यात्वीने सुव्रती कह्यो छै। अने जो सम्य-ग्दृष्टि हुवे तो मरीने मनुष्य हुवे नहीं" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा दीपिकाके साथ लिख कर इसका समाधान किया जाता है —

वह गाथा यह है—"वे मायाहिं सिक्खाहिं जेनरा गिहिसु-व्वया। उवेंति माणुसं जोणिं कम्म सचाहु पाणिणो"

(उत्तरा० अ० ७ गाथा २०)

इसकी दीपिका यह है—

"मानुषं योनिं के व्रजन्ति तदाह—ये नराः विमात्राभिर्विविधप्रकाराभिः शिक्षाभिः गृहिसुव्रताः गृहिणश्चते सुव्रताश्च गृहिसुव्रताः गृहीतसम्यक्त्वादिगृहस्थद्वादशव्रताः सत्यान्यवंध्यफलानि ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि येषां तेसत्यकर्माणःकर्मसत्याः प्राकृतत्वात्कर्म शब्दस्य प्राक्प्रयोगः ते जीवा "हु" इति निश्चयेन मानुषं योनिमुत्पद्यन्ते"

इसका अर्थ यह है—

मनुष्य योनिमें कौन प्राणी जन्म लेते हैं यह इस गाथामें बतलाया है। जो मनुष्य विविध प्रकारकी शिक्षाओंसे युक्त और गृहस्थ सम्बन्धी सम्यक्त्व आदि बारह व्रतोंके धारक हैं तथा जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म अवश्य फल देनेवाले हैं वे अवश्य मनुष्य योनिमें जन्म पाते हैं। यह इस गाथाकी दीपिकाका अर्थ है।

यहां सुव्रत शब्दका अर्थ दीपिका कारने बारह व्रतधारी किया है इस लिए इस गाथामेंकहा हुआ सुव्रतपुरुष सम्यग्दृष्टि है मिथ्या दृष्टि नहीं। अतः इस गाथामें कहे हुए सुव्रत पुरुषको मिथ्या दृष्टि बतलाना दीपिकासे विरुद्ध समझना चाहिए।

यदि कोई कहे कि इस गाथामें कहा हुआ सुव्रत पुरुष सम्यग्दृष्टि होता तो वह मनुष्यभवमें क्यों जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक वैमानिककी ही आयु बांधते हैं तो इसका समाधान इसके पूर्व बोलोंमें विस्तारके साथ सप्रमाण दे दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी वैमानिक देवसे भिन्न भवको प्राप्त करते हैं अतः मनुष्य भवके पानेसे गाथोक्त सुव्रत पुरुषको मिथ्यादृष्टि बतलाना अयुक्त समझना चाहिए।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

सामान्य व्रतधारी श्रावकका वैमानिक देवके सिवाय दूसरा भव पाना शास्त्रीय विधि वादसे तो आपने सिद्ध कर दिया परन्तु कहीं चारित्रानुवादमें इसका उदाहरण मिलता हो तो उसे भी बतलाइए।

(प्ररूपक)

भगवती शतक ७ उद्देशा ९ के मूलपाठमें सामान्य व्रतधारी पुरुषका मनुष्य भव छोड़ कर फिर मनुष्य भवमें जन्म पानेका उदाहरण मिलता है यह बात पाठ लिख कर बतलाई जाती है। वह पाठ यह है—

"तएणं तस्स नागनत्तूयस्स एगे पियबालवयंसए रह मुसलं सङ्गमेमाणे एगेणं पुरिसेण' गाढप्पहारीकएसमाणे अत्थामे जाव अधारणिज्जमोत्ति कट्टु वरुणं नागनत्तूयं रहमुसलाओ सङ्गामाओ पडिनिक्खममाणं पासइ, पासइत्ता तुरगे निगिह्णइ निगिह्णइत्ता जहावरुणे जाव तुरए विसज्जेइ, पडसन्थारगं दुरूहइ दुरूहइत्ता पुरत्थाभिमुहे जाव अञ्जलिं कट्टु एवं वयासी—जाइणं मम पियबाल वयंसस्स वरुणस्स नागनत्तूयस्स सीलाइं वयाइं गुणाइं वेरमणाइं पचक्खाणपोसहोववासाइं ताइणं ममंपि भवन्तुत्ति कट्टु सण्णाह पट्टं परिमुयइ मुयइत्ता सल्लुद्धरणं करेइ करेइत्ता आणुपुव्वीए काल गए"

इसके अनन्तर एक और पाठ आया है वह यह है—

"तस्सणं भन्ते ! नागनत्तूयस्स पियबालवयंसए काल मासे कालंकिच्चा कहिं गए कहिं उववन्ने ?

गोयमा ! सुकुले पच्चाजाए । सेणंभन्ते ! तवा ओहिंतो अणंतरं उवट्टित्ता कहिंगच्छिहिंति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति जाव अन्तं करेहिंति सेवं भन्ते भन्तेति "

(भगवतीशतक ७ उद्देशा ९)

इन पाठोंके अर्थ क्रमशः दिये जाते हैं—

उस समय वरुणनाग नत्तूयाका प्रियबाल मित्र, रथ मुसल नामक संग्राममें युद्ध करता हुआ किसीसे गाढ प्रहारको प्राप्त होकर बहुत शक्तिहीन हो गया। उसी समय अपने बाल मित्र

वरुणको भी घायल होकर संग्राम भूमिसे बाहर जाते देखा। पश्चात् वह युद्ध भूमिसे बाहर आकर घोड़ोंको जङ्गलमें छोड़ अपने प्रियबालमित्र वरुणके समान कपड़ेके सन्थारेपर बैठ गया। संथरे-पर बैठ कर पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़ कर कहने लगा कि—"प्रियबाल मित्र वरुणनाग नत्तूयाके समान मेरे भी शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सत्कर्म हों।" यह कह कर उसने अपने सन्नाहको निकाला। पश्चात् अङ्गमें चुभे हुए बाणको निकालकर मृत्युको प्राप्त हुआ। (यह पहले पाठका अर्थ है।)

इसमें वरुणनागनत्तूयाके प्रियबाल मित्रका सामान्य रूपसे बारह व्रतधारण करना कहा है। इस पाठमें जो शील, व्रत, गुण और विरमण शब्द आये हैं इनका अर्थ टीका-कारने इस प्रकार किया है—

"वयाइं" त्ति अहिंसादीनि गुणाइं त्ति गुणव्रतानि 'वेरमणाइं' त्ति सामान्येन रागा-दि विरतयः। "पच्चक्खाण पोसहो वासाइं" त्ति प्रत्याख्यानं पौरुष्यादिविषयं पौषधोप-वासः पर्व दिनो पवासः"

इसका अर्थ यह है—

यहां व्रत, अहिंसा समझनी चाहिए। तथा "गुण" शब्दका अर्थ गुणव्रत और विरमण शब्दका सामान्यतः रागादि निवृत्ति अर्थ जानना चाहिए। एवं प्रत्याख्यान नाम पौरुषी आदि कालतक त्याग करनेका है और पर्वके दिन उपवास करनेका नाम पौषधो-पवास है। यह टीकाका अर्थ है।

यहांटीकाकारने व्रत आदि शब्दोंका अहिंसादि अर्थ किया है। उन व्रतोंको वरुण नागनत्तूयाके प्रियबाल मित्रसे ग्रहण किया जाना ऊपर लिखे हुए मूलपाठमें लिखा है इस प्रकार वरुणनागनत्तूयाके प्रियबालमित्रने सामान्य रूपसे बारह व्रतधारी होकर मनुष्य योनिमें जन्म लिया था यह ऊपर लिखे हुए दूसरे पाठमें कहा है। उस पाठका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन्! वरुणनाग नत्तूयाका प्रियबाल मित्र मृत्युको प्राप्त होकर किस योनिमें उत्पन्न हुआ?

(उत्तर) हे गोतम! वह मनुष्य लोकमें उत्तमकुलके अन्दर उत्पन्न हुआ।

(प्रश्न) अब वह किस योनिमें जन्म लेगा?

(उत्तर) वह मनुष्य भवसे निकल कर महाविदेह क्षेत्रमें मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध होगा यावत् कर्मोंका अन्त करेगा।

यह दूसरे पाठका अर्थ है।

इसमें, सामान्य रूपसे बारह व्रतधारी वरुणनागनत्तूयाके प्रियबालमित्रका मनुष्य भव छोड़ कर फिर मनुष्य भवमें ही जन्म लेना कहा है यह सामान्य व्रतधारी

श्रावकका मनुष्य भव छोड़ कर फिर मनुष्य भवमें आनेका ज्वलन्त उदाहरण है इसलिये उत्तराध्ययन सूत्रके अध्ययन ७ की वीसवीं गाथामें कहे हुए सुव्रत शब्दका सामान्य व्रतधारी अर्थ है मिथ्यादृष्टि नहीं ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्रके अध्ययन ९ की चौवालीसवीं गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां तो मिथ्यात्वीनो मास क्षमण तप सम्यग्दृष्टिना चारित्र धर्मने सोलवीं कला न आवे एहवूं कह्यो । तेचारित्र धर्मतो संवर छै तेहने सोलवीं कलाइं न आवे कह्यो तें सोलवीं कलाइंज नाम लेइ बतायो पिण हजारमेंइ भाग न आवे तेहने संवर धर्म छै इज नहीं । पिण निर्जरा धर्म आश्रय कह्यो नथी निर्जरा धर्म निर्मल छै तेकरणी तपस्या शुद्ध छै आज्ञामांहि छै"

(भ्र० पृ० १६-१७) इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा यह है—

"मासे मासेउ जोवालो कुसग्गेणंतु भुञ्जइ नसो सुक्खाय धम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं"

(उत्तरा० अ० ९ गाथा ४४)

जो पुरुष, बाल यानी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है वह हर एक मासमें कुशके अग्रभागमें जितना अन्न ठहरता है उतना ही खाकर चाहे कुशके अग्रभागको ही खाकर रह जावे तो भी वह जिनोक्त धर्मके आचरण करनेवाले पुरुषके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं होता । यह इस गाथाका अर्थ है ।

यहां मास-मास क्षमण रूप घोर तपस्या करने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको जिनोक्त धर्मका आचरण करने वाले पुरुषके सोलहवें अंशके बराबर भी न होना कहा है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टिकी कठिनसे कठिन भी तपस्या, वीतरागकी आज्ञामें नहीं है । यदि वह आज्ञामें होती, तो उस तपस्याके आचरण करनेसे गाथोक्त मिथ्यादृष्टि पुरुष भी जिनोक्त धर्मका ही आचरण करनेवाला होता और जब वह जिनोक्त धर्मका आचरण करने वाला होता तो उसके लिये इस गाथामें यह कदापि नहीं कहा जाता

कि "उक्त तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें भी नहीं है।" क्योंकि जो पुरुष जिनोक्त धर्मका आचरण न करके किसी अन्यके धर्मका आचरण करता है उसीके लिये यह कहा जा सकता है कि "यह जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवालेके सोलहवें अंशमें भी नहीं है" परन्तु जो जिनोक्त धर्मका ही आचरण करता है उसके लिये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह तो स्वयमेव जिनोक्त धर्मका ही आचरण करने वाला है। अतः इस गाथामें कही हुई मिथ्यात्वीकी तपस्या वीतरागकी आज्ञामें नहीं है और उसके आज्ञामें न होनेसे उसका आचरण करनेवाला गाथोक्त वाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाला नहीं है। अतएव उसे जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके सोलवें अंशमें भी न होना कहा है। इसलिए इस गाथासे मिथ्यादृष्टिकी तपस्या स्पष्ट रूपसे जिन आज्ञा वाहर सिद्ध होती है। टीकाकारने भी गाथोक्त वाल तपस्वीकी तपस्याको जिन आज्ञासे वाहर वतलाया है वह टीका यह है—

"घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वादन्यस्यत्वात्मविघातादिव दन्यथात्वात्" अर्थात् जो धर्म जिन भाषित है वह यदि घोर (कठिन) हो तो भी धर्मकामी पुरुषोंसे आचरण करने योग्य है परन्तु जो घोर-धर्म जिन भाषित नहीं है वह आत्मघातादिकी तरह आचरण करने योग्य नहीं है। यह इस ठीकाका अर्थ है।

इसका तात्पर्य्य यह है कि गाथोक्त वालतपस्वीकी मास क्षमण तपस्या यद्यपि घोर है तथापि जिन भाषित न होनेके कारण धर्मार्थी पुरुषोंसे आचरण करने योग्य नहीं है। यदि गाथोक्त वाल तपस्वीकी तपस्या जिन भाषित धर्ममें होती तो उसे टीकाकार जिन भाषित न होना क्यों कहते? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गाथोक्त वाल तपस्वीकी मासक्षमण तपस्या जिन आज्ञामें नहीं है इसी लिये उसे टीकाकारने अनाचरणीय कहा है और मूलगाथामे उसे जिनभाषित धर्मके सोलहवें अंशमें भी न होना वतलाया है। तथापि भ्रमविध्वंसनकारने गाथोक्तवालतपस्वीकी मिथ्यात्व युक्त तपस्याको वीतरागकी आज्ञामें होना वतलाया है यह प्रत्यक्ष उक्तगाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध है। यद्यपि अपनी वातको सत्य और शास्त्रानुकूल सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारने यहां यह कल्पना की है कि "मिथ्यादृष्टिमें संवर नहीं होता इसलिए उसे संवर धर्मवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें न होना इस गाथामें कहा है" तथापि उनकी यह कल्पना निराधार है इस गाथामें "संवर" का नाम भी नहीं आया है यहां तो "स्वाख्यात धर्म" कहा गया है। स्वाख्यात धर्म वही है जो जिनवरोंसे कहा हुआ है। उस जिनवर भाषित धर्मसे जो अन्य धर्म है, यानी जो जिनोक्त धर्म नहीं है उसे इस गाथामें जिनोक्त धर्मके

सोलहवें अंशमें न होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहां जिन भाषित धर्मका और जो धर्म जिन भाषित नहीं है उसका भेद बतलाया गया है, संवर और निर्जरा का विचार यहां नहीं किया है। अतः इस गाथासे मिथ्यादृष्टिकी तपस्या वीतरागसे नहीं कही हुई स्पष्ट सिद्ध होती है तथापि उसे आज्ञामें कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका आराधक बतलाना सूत्रार्थ नहीं समझनेका परिणाम है।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसकार भ्र० पृ० पृष्ठ १८ के ऊपर सुयगडांग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—"इहां सूत्रमें तो कह्यो जे मासने छाडे भोगवे पिण माया करे ते मायाथी अनन्त संसार भमे एतो मायाना फल कह्या छै। पिण तपने खोटो कह्यो नथी इहां तो तपने अपूठो विशिष्ट कह्यो "आगे चलकर लिखते हैं कि "तिवारे कोई कहे ए आज्ञा माहिली करणी छै तो मोक्ष क्यूं वर्जी तेहनो उत्तर—एहनो श्रद्धा ऊंधी ते मांटे मोक्ष नथी परं मोक्षनो मार्ग वर्ज्यो नथी जे अव्रती सम्यग्दृष्टि ज्ञान सहित छै तेहने पिण चारित्र विन मोक्ष नथी परं मोक्षनो मार्ग कहिए" (भ्र० पृष्ठ १८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा यह है—

"जइ विय णिगणे किसे चरे जइविय भुञ्जिय मासमन्तसो जे इह मायाइमिज्जइ आगन्ता गब्भाय णन्तसो"

(सुयगडांग श्रु० १ अ० २ उ० १ गाथा ९)

अर्थ—

(जे इह मायाइ मिज्जइ) जो पुरुष माया यानी अनन्तानुबन्धी कषायोंसे युक्त मिथ्यादृष्टि है वह घरवार आदि सब प्रकारके बाह्य परिग्रहोंको छोड़ कर नङ्गा और कृश होकर विचरे तथा मास-मास पर्य्यन्त उपवास करता हुआ उसके अन्तमें पारणा करे तो भी वह अनन्तकाल तक गर्भमें ही जाता है। अर्थात् उसका संसार घटता नहीं।

इस गाथामें कहा है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष घर वार छोड़ कर नङ्गा और कृश होकर विचरे और मास-मासकी तपस्या करके उसके अन्तमें पारणा करे तो भी वह अनन्त कालतक गर्भवासको ही प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी तपस्या वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। यदि वह आज्ञामें होती तो उस

तपस्यासे संसारका अन्त न होकर अनन्त कालतक गर्भवास भोगना क्यों पड़ता ? जो क्रिया वीतरागसे कही हुई है उसका आचरण करनेवाला पुरुष कदापि अनन्त संसारी नहीं होता । यदि वीतराग भाषित क्रियाके आचरण करनेपर भी संसारका अन्त न हो तो फिर मोक्षार्थियोंके लिए कोई आश्रय ही नहीं रहता । अतः मिथ्यादृष्टिको वीतरागकी आज्ञामें होने वाली क्रियाका आराधक मानना और उस क्रियाके करनेपर भी अनन्त कालतक गर्भवास की प्राप्ति कहना अज्ञानका परिणाम है ।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको गर्भवासका कारण बतला कर साफ साफ उसे आज्ञा बाहर और मोक्षमार्गमें न होना बतलाया है । अतएव इस गाथासे आगे की गाथाका इससे सम्बन्ध मिलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि "यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्ट तपसाऽपि न दुर्गति मार्ग निरोधोऽतो मदुक्त एव मार्गे स्थेयम् इत्येतत्संदर्भमुपदेशं दातु माह" इसका अर्थ यह है कि "मिथ्यादृष्टियोंसे उपदेश की हुई तपस्या दुर्गतिके मार्गको नहीं रोक सकती इस लिए मेरे बताए हुए मार्ग (वीतराग भाषित धर्म) में ही रहना चाहिए यह उपदेश देनेके लिए अगली गाथा कहीं गई है । यह इस टीकाका अर्थ है । इसमें मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी तपस्याको स्पष्ट रूपसे मिथ्यादृष्टियोंसे उपदेश की हुई बतलाया है वीतरागसे कही हुई नही कहा है इसलिए मिथ्यादृष्टिकी क्रिया स्पष्ट आज्ञा बाहर सिद्ध होती है । यदि यह मोक्ष मार्गमें होती तो उससे दुर्गतिका निरोध क्यों नहीं होता ? तथा उसे छोड़ कर फिर वीतराग भाषित धर्ममें आनेकी भी क्या आवश्यकता थी ? जबकि यह भी वीतराग भाषित ही होती तो इसे छोड़ कर वीतराग भाषित धर्ममें आनेके लिए इसकी आगेकी गाथामें क्यों कहा जाता ? अतः मिथ्यादृष्टिकी तपस्याका जिनोक्त धर्म और मोक्षमार्गमें न होना स्पष्ट सिद्ध होता है । तथापि इस गाथाका अन्यथा तात्पर्य्य बतला कर भ्रमविध्वंसनकारने यह भ्रम फैलाया है कि "मिथ्यादृष्टिकी तपस्या तो वीतरागकी आज्ञामें ही है पर मिथ्यादृष्टि मायाकरता है इसलिए उसको अनन्त कालतक गर्भवास भोगना यहां कहा है" यह इनका कथन नितान्त इस गाथासे विरुद्ध है ।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको मोक्षार्थी पुरुषोंसे सर्वथा त्यागने योग्य बतलानेके लिए उससे दुर्गति मार्गका निरोध न होना कहा है । यदि वह तपस्या मोक्ष मार्ग में होती तो उसे छोड़नेके लिये आग्रह करनेकी क्या आवश्यकता थी । तथा "जे इह मायाइ मिज्जइ" यह जो इस गाथामें वाक्य आया है उसका भी अर्थ यह नहीं है कि "जो पुरुष माया करता है ।" इसका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है कि—"यः तीर्थिकः मायादिना मीयते उपलक्षणार्थत्वात्कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते" इसका अर्थ

"जो पुरुष माया आदि यानी कषायोंसे युक्त कह कर बतलाया जाता है।" यह है। वह पुरुष मिथ्यादृष्टि है उस मिथ्यादृष्टि का निर्देश करनेके लिए इस गाथामें "जे इह मायाई मिज्जइ" यह वाक्य आया है। अतः इस वाक्यका आश्रय लेकर मायाके कारण संसार-का अन्त न होना बतला कर मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको मोक्षमार्गमें कायम करना अज्ञान-मूलक है।

यदि मायाके कारण अनन्त कालतक गर्भवास भोगना पड़े तो दशम गुण स्थान तकके जीवोंका भी अनन्त कालतक गर्भवास भोगना मानना चाहिए। क्योंकि शास्त्रमें दशमगुण स्थान पर्य्यन्त कषायका होना बतलाया है परन्तु यह शास्त्र विरुद्ध है दशम गुणस्थानवाले जीव कदापि अनन्त संसारी नहीं होते। अतः इस गाथाका नाम लेकर मायाके कारण अनन्त कालतक गर्भवास भोगनेकी कल्पना करके मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको जिनोक्त मोक्षमार्गमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

चतुर्थ गुणस्थानवाले अव्रती सम्यग्दृष्टिकी तरह अकाम निर्जराकी क्रिया करने वाले पुरुषको मोक्षमार्गका आराधक कहना भी मिथ्या है। अव्रती सम्यग्दृष्टिमें ज्ञान दर्शन रूप मोक्षका मार्ग है और वह असंख्य भवमें मोक्ष भी जाता है पर अकाम निर्जरा की क्रिया करनेवाले पुरुषमें ज्ञानदर्शन तथा चारित्र रूप मोक्षमार्गका कोई भी अंश नहीं है और वह अनन्त कालतक संसारमें ही भ्रमण करता है इस लिये अव्रती सम्यग्दृष्टिकी तरह अकाम निर्जराकी क्रिया करने वालेको मोक्षमार्गका आराधक बतलाना एकान्त मिथ्या है।

बोल २४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १९ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा २ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"तथा वली मिथ्यात्वी त्रस जाणने त्रसहणवारा त्याग करे, तेहने संवर न होवे ते मांटे दुष्पच्चक्खाण कहीजे। पच्चक्खाण नाम संवर नो छै। तेहने संवर नहीं ते भणी तेहना पच्चक्खाण दुष्पच्चक्खाण छै पिण निर्जरा तो शुद्ध छै ते निर्जरारे लेखे निर्मल पच्चक्खाण छै"

(भ्र० पृ० १९) इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ निम्नलिखित है—

"सेणूणं भन्ते ! सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमितिवद्‌माणस्स सुपच्चक्खायं भवइ दुप्पच्चक्खायं भवति ? गोयमा ! सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वद्‌माणस्स सिय सुप्पच्चक्खायं भवति सिय दुप्पच्चक्यायं भवति। सेकेणट्ठे णं भन्ते ! एवं वुच्चइ सव्व पाणेहिं जाव सिय दुप्पच्चक्खायं भवति ? गोयमा ! जस्सणं सव्व पाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खाय मिति वद्‌माणस्स णो एवं अभिसमण्णागयं भवइ इमे जीवा, इमे अजीवा इमे तसा इमे थावरा तस्सणं सव्व पाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खाय मिति वद्‌माणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति दुप्पच्चक्खायं भवति। एवं खलुसे दुप्पच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वद्‌माणे नो सच्चं भासं भासइ मोसं भासं भासइ एवं खलुसे मुसावाई सव्व पाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंत दण्डे एगंत बाले याविभवइ"

(भगवती शतक ७ उ० २)

इसका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन ! जो पुरुष यह कहता है कि मैंने सब प्राणियोंसे लेकर यावत् सब सत्वोंके हननका त्याग कर दिया है उसका वह प्रत्याख्यान (मारनेका त्याग) सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसीका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है और किसी किसीका दुष्प्रत्याख्यान भी होता है।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो यह कहता है कि हमने सब प्राणियोंसे लेकर यावत् सब स्वत्वोंका मारना छोड़ दिया है उसको यदि यह ज्ञान नहीं है कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं और ये स्थावर हैं, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है। इस प्रकार वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष "मुझे सब जीवोंके हननका त्याग है" यह कहता हुआ सत्य नहीं बोलता वह झूठ बोलता है वह तीन करण और तीन योगसे संयमधारी, विरतियुक्त, पापोंका हनन और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। वह कायिकी आदि क्रियाओंसे युक्त संवर रहित प्राणियोंको एकान्त दण्ड देनेवाला और एकान्त बाल है।

इस पाठमें, जिसको जीव अजीव त्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसको कायिकी आदि क्रियाओंसे युक्त संवर रहित प्राणियोंको एकान्त दण्ड देनेवाला और एकांत बाल कह कर उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान और उसे मिथ्यावादी कहा है। इससे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषकी प्रत्याख्यानादि क्रिया वीतरागकी आज्ञासे बाहर और मोक्षका अमार्ग सिद्ध होती है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार भोले जीवोंको भ्रममें डालनेके लिये यह कहते हैं कि "मिथ्यादृष्टि भी त्रसको त्रस जानकर उसके हननका त्याग करता है परन्तु उसमें संवर नहीं होता इसलिये उसके प्रत्याख्यानको इस पाठमें दुष्प्रत्याख्यान कहा है" यह इनका कथन सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। जो पुरुष त्रस जीवको त्रस जान कर उसके हननका त्याग करता है वह एकान्त बाल एकान्त प्राणियोंको दण्ड देनेवाला और एकान्त संवर रहित नहीं है किन्तु देशसे (त्रसके विषयमें) प्राणियोंको दण्ड न देनेवाला देशसे पण्डित और देशसे संवरधारी है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि है उसके प्रत्याख्यानको यहां दुष्प्रत्याख्यान नहीं कहा है क्योंकि उसका प्रत्याख्यान, अज्ञान पूर्वक नहीं है। जिसका प्रत्याख्यान अज्ञानपूर्वक होता है उसीके प्रत्याख्यानको यहां दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये जो त्रसको त्रस स्थावरको स्थावर नहीं जानता और झूठ ही कहता है कि मैंने जीवोंके हननका त्याग कर दिया है उस मिथ्यादृष्टि अज्ञानीके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कह कर उसे यहां आज्ञा बाहर होनेकी सूचना दी है। अतः त्रसको त्रस जानकर उसके हननका त्याग करनेवाले पुरुषको मिथ्या ही मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यादृष्टिके प्रत्याख्यानको सुप्रत्याख्यान कहना एकांत मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकार यहां यह भी कहते हैं कि "मिथ्यादृष्टिमें जो निर्जरा होती है वह निर्मल है उसके हिसाबसे मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है" परन्तु यह इनकी अपनी कल्पना है शास्त्रमें ऐसा कहीं नहीं कहा है कि मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान उसकी निर्जराके हिसाबसे सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिये इस पाठमें मिथ्यादृष्टिके प्रत्याख्यानको प्रत्यक्ष दुष्प्रत्याख्यान कहे जाने पर भी उसे अपने मतके आग्रहमें आकर सुप्रत्याख्यान कहना प्रत्यक्ष उत्सूत्र भाषण और अप्रामाणिक है।

(बोल २५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१ के ऊपर सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० ८ गाथा तेइसवींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ अठेतो इमि कह्यो—जे तत्वना अजाण मिथ्यात्वीनो जेतलो अशुद्ध पग-

क्रम छै ते सर्व संसारनो कारण छै। अशुद्ध करणीरो कथन इहां कह्यो अने शुद्ध करणीरो कथनतो इहां चाल्यो न थी”

(भ्र० पं० २१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा यह है—

“जे याऽवुद्धा महाभागा वीरा असंमत्त दंसिणो
अशुद्धं तेसिं परकंतं सफलं होइ सव्वसो”

(सुयगडांगसूत्र श्रुत० १ अध्ययन ८ गाथा २३)

इसका अर्थ यह है कि—

जो पुरुष तत्वअर्थको नहीं जाननेवाले महाभाग (संसारमें पूजनीय) वीर और असम्यग्दर्शी (सम्यग् ज्ञानादि विकल) हैं उनके किये हुए तप अध्ययन और नियमादिरूप उद्योग सभी अशुद्ध और कर्मबन्धके ही कारण होते हैं।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषोंसे किये हुए तप अध्ययन आदि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य्य अशुद्ध और कर्मवन्धके कारण कहे गये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रिया मोक्षमार्गमें नहीं है और उन क्रियाओंका अनुष्ठान करनेसे वह मिथ्यादृष्टि पुरुष भी मोक्ष मार्गका आराधक नहीं है। यही वात दूसरे दूसरे दर्शन भी वतलाते हैं वृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि—

“योवा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्ष सहस्राण्यन्तवदेवास्यतद्भवति”

हे गार्गि ! जो अविनाशी—आत्माको विना जाने इस लोकमें होम करता है यज्ञ करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारों वर्ष तक इन क्रियाओंको करता रहे पर वह संसारके लिए ही हैं (वृहदारण्यक ३-९-३०) इसी तरह कठोपनिषद्में लिखा है कि—

“यस्त्वविज्ञानवानभवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। नसतत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति”
यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः सतुतत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।

(कठोपनिषद्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत संसारमें ही भ्रमण करता रहता है। जो ज्ञानी है वह ठीक-ठीक विचार कर सकता है और वह सदा पवित्र है वह ऐसे पदको पाता है जिससे फिर कभी वापस नहं लौटना पड़ता।

इस उल्लेखमें अज्ञानीको सदा अपवित्र बताया है। 'सदा' शब्द देनेका तात्पर्य्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएं करे पर ज्ञानके अभाव होनेसे उसकी सब क्रियायें पवित्रताका कारण नहीं हो सकतीं वरन् अपवित्रताका ही कारण होती हैं।

इन उपनिषद्के वाक्योंमें जैसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी परलोक सम्बन्धी क्रियाओं को संसारका ही कारण कहा है ठीक उसी तरह सुयगडांगसूत्रकी ऊपर लिखी हुई गाथामें भी कहा है अतः उक्त गाथासे मिथ्यादृष्टिकी क्रियाका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है तथापि मूढ़मतियोंको बहकानेके लिये जीतमलजीने लिखा है कि "मिथ्यात्वीनो जेतलो अशुद्ध पराक्रम छै ते सर्व संसारनो कारण छै। अशुद्ध करणीरो कथन इहां कह्यो अने शुद्ध करणीरो कथन तो इहां चाल्यो न थी" यह एकान्त मिथ्या है। यहां मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी परलोक सम्बन्धी तपोदानाध्ययनादिरूप क्रियाओंको अशुद्ध और संसारका कारण कहा है पर उनके कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, संग्राम कुशील आदि क्रिआओंका कथन नहीं है। ये क्रियाएं चाहे मिथ्यादृष्टिकी हों या सम्यग्दृष्टि की हों संसारके लिये ही होती हैं इनसे मोक्षमार्गकी अराधना न होना प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः इस गाथामें कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और संग्राम कुशीलादि क्रियाओंका कथन नहीं है अतएव इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि "तेषां वालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययन नियमादिपुपराक्रान्त मुद्यमकृतं तदविशुद्ध मविशुद्धिकारि" अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका जो तपस्या, दान, अध्ययन और नियम आदिमें उद्योग होता है वह सभी अशुद्धिका ही कारण होता है यह इस टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका, तपस्या दान अध्ययन आदिमें जो उद्योग है उसको उक्त गाथामें अशुद्ध कहा जाना बतलाया है इसलिये उक्त गाथामें मिथ्या दृष्टियोंकी पारलौकिक क्रियाओंका कथन न मान कर कृषि वाणिज्य संग्राम कुशलादि अशुद्ध क्रियाओंका कथन बतलाना मिथ्या है। इस गाथासे मिथ्यादृष्टियोंकी पारलौकिक क्रिया स्पष्ट रूपसे जिन आज्ञा बाहर और मोक्षमार्गसे पृथक् सिद्ध होती है तथापि उसे मोक्षमार्गमें कायम करना मिथ्यादृष्टियोंका कर्य्य है।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी जिन क्रियाओंको अशुद्ध और कर्म बन्धका कारण कहा है सम्यग्दृष्टिकी उन्हीं क्रियाओंको इसके आगेकी गाथामें शुद्ध और कर्मक्षयका हेतु कहा है। वह गाथा यह है—

"जेय बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्त दंसिणो सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो"

अर्थात् जो पुरुष तत्वको जाननेवाले महा पूज्य कर्मको विदारण करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शी हैं उनके तप, दान, अध्ययन और नियमादि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य्य शुद्ध और कर्मक्षयके कारण हैं ।

इस गाथामें सम्यग्दर्शी पुरुषके परलोक सम्बन्धी तप दान अध्ययन और नियमादिरूप कार्य्यको शुद्ध और कर्मक्षयका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शी पुरुषोंका ही परलोक सम्बन्धी कार्य्य मोक्षमार्गमें है मिथ्यादृष्टिका नहीं क्योंकि इसके पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिके इन्ही कार्य्योंको अशुद्ध और कर्मबन्धका कारण कहा है परन्तु कईएक मिथ्यादृष्टि यह कहते हैं कि इस "गाथामें सम्यग्दृष्टिकी शुद्ध यानी परलोक सम्बन्धी क्रियाओंका वर्णन है और इसकी पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिकी अशुद्ध यानी संग्राम कुशीलादिको अशुद्ध कहा है इसलिये मिथ्यादृष्टिकी बालतपस्या आदि पारलौकिक क्रियाएं मोक्षमार्गमें ही हैं" यह कहने वाले इन गाथाओंका अर्थ नहीं समझते । यदि इन दोनों गाथाओंका यही तात्पर्य्य हो कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि इन दोनों ही की तप अध्ययनादि क्रियाएं शुद्ध हैं तो फिर यहां दो गाथा लिखने की आवश्यकता ही नहीं है केवल एकही जगह यह कह देते कि संग्राम कुशीलादि क्रियायें अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण होती हैं । तथापि अलग अलग जो यहां दो गाथाएं आई हैं उनका तात्पर्य्य सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी पारलौकिक क्रियाओंमें भेद दर्शाना है । वह भेद यही है कि मिथ्यादृष्टिकी तपोदानाध्यानादि पारलौकिक क्रियाएं अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण हैं क्योंकि वे अज्ञान तथा मिथ्यात्वपूर्वक की जाती हैं । और सम्यग्दृष्टि की ये ही क्रियाएं शुद्ध और कर्मक्षयके कारण हैं क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानके साथ की जाती हैं और यही बात दर्शनान्तर सम्मत भी है । अतः इन दोनों गाथाओंका अन्यथा तात्पर्य्य बतला कर मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रियाको मोक्षमार्गमें ठहराना अज्ञानका परिमाण है ।

बोल २६ वां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्र० पृष्ठ २७ के ऊपर लिखते हैं "मिथ्यात्व छै जेहने तिणने मित्यात्वी कह्यो तेहने कतियक श्रद्धा संउली छै अने केई एक बोल ऊंधा छै तिहां जे बोल ऊंधा तेतो मिथ्यात्यात्व अने जे केतला एक बोल सउंली श्रद्धारूप छै ते प्रथम गुण ठाणो छै । मिथ्यात्वीना जेतला गुणते मिथ्यात्व गुण ठाणो छै"

इसके आगे लिखते हैं—

"तिवारे कोई कहे प्रथम गुण ठाणे किसा बोल संवला छै । तेहनो उत्तर—जे मिथ्यात्वी गायने गाय श्रद्धे मनुष्यने मनुष्य श्रद्धे दिनने दिन श्रद्धे सोनोने सोने श्रद्धे इत्यादि जे सउंली श्रधा छै ते क्षयोपशम भाव छै" (भ्र० पृ० २७–२८)

इसका क्या उत्तर—

(प्ररूपक)

प्रथमगुण स्थानवाले मिथ्यादृष्टियोंमें जीवादि पदार्थोंकी एक भी शुद्ध श्रद्धा नहीं होती उनके सारे ही श्रद्धान विपरीत होते हैं। इसी लिए पहले गुणस्थानका नाम "मिथ्या दृष्टि गुणस्थान" रक्खा है। जिसमें मिथ्यादृष्टि यानी मिथ्यादर्शनरूपगुणकी स्थिति है वह प्रथम गुणस्थानका स्वामी है।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादृष्टियोंमें कई पदार्थोंकी श्रद्धा सम्यक् होती है उस सम्यक् श्रद्धारूप गुणका भाजन होनेसे वे प्रथम गुण स्थानके स्वामी हैं। जैसे कि मिथ्यादृष्टि गायको गाय मनुष्यको मनुष्य, सोनाको सोना श्रद्धते हैं इनकी ये श्रद्धाएं सम्यक् हैं तो यह मिथ्या है मिथ्यादृष्टियोंके सभी ज्ञानोंमें कारण विपर्य्यय स्वरूप विपर्य्यय और सम्बन्ध विपर्य्यय बने रहते हैं इनके बने रहनेसे उनका सभी पदार्थोंका ज्ञान विपरीत ही होता है सम्यक् नहीं होता। उक्त तीन विपर्य्ययोंका स्वरूप यह है—

जिस पदार्थका जो कारण नहीं है उसका वह कारण जानना "कारण विपर्य्यय" कहलाता है। जैसे घटपटादि रूपी पदार्थ रूपवान् पुद्गलोंसे बने हैं तथापि कई एक उन्हें अमूर्त द्रव्यसे बना हुआ बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान कारण विपर्य्यय होनेसे अज्ञान है यद्यपि वे घटपटको घटपट कह कर ही बतलाते हैं तथापि उनका घटापटादि ज्ञान पूर्वोक्त प्रकारसे अज्ञान है।

जिस वस्तुका जैसा स्वरूप नहीं है उसका वैसा स्वरूप मानना "स्वरूप विपर्य्यय" कहलाता है। जैसे घटपटादि पदार्थ कथंचिन्नित्य और अनित्य हैं तथापि उन्हें कईएक एकान्त नित्य और कई एकान्त अनित्य बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान स्वरूप विपर्य्ययके कारण अज्ञान है। कारण और कार्य्यका परस्पर जो सम्बन्ध है उसे न मानकर उससे विपरीत सम्बन्ध समझना "सम्बन्ध विपर्य्यय" कहलाता है जैसे घट और उसके कारणका कथंचित् भेदाभेद सम्बन्ध है उसे न मानकर कई इनमें एकान्त भेद और कई एकान्त अभेद सम्बन्ध मानते हैं इसलिए उनका घटादिज्ञान, सम्बन्ध विपर्य्ययके कारण अज्ञान है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान, कारण विपर्य्यय, स्वरूप विपर्य्यय और सम्बन्ध विपर्य्यय रूप मिथ्यात्वसे युक्त होनेके कारण अज्ञान है सम्यग्ज्ञान नहीं है। अतः मिथ्यादृष्टिके घटपटादि ज्ञानको सम्यक् श्रद्धारूप बतलाना एकान्त मिथ्या है।

अब प्रश्न यह होता है कि मिथ्यादृष्टिमें थोड़ी भी सम्यक् श्रद्धा नहीं है तो वह गुण स्थानमें कैसे गिना गया है? तो इसका उत्तर यह है कि सम्यक् श्रद्धाको लेकर चतुर्दश गुणस्थान नहीं कहे हैं किन्तु कर्म विशुद्धिका उत्कर्ष और अपकर्षको लेकर कहे गये

हैं इसलिए सम्यक् श्रद्धा न होनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीव, गुणस्थानमें गिना जाता है। जिसमें कर्मकी विशुद्धि सबसे निकृष्ट है वह पुरुष प्रथम गुणस्थानका स्वामी है और ज्यों ज्यों कर्मोंकी विशुद्धि होती जाती है त्यों त्यों जीव उन्नति करता हुआ ऊपरके गुण स्थानोंका स्वामी होता जाता है। मिथ्यादृष्टि पुरुषमें जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान है वह कर्मकी विशुद्धिमें है उसीको लेकर वह प्रथम गुणस्थानमें गिना गया है किसी सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। अतः मिथ्यादृष्टिमें झूठ ही सम्यक् श्रद्धाका सद्भाव बतलाकर उसके सबबसे उसे प्रथम गुणस्थानमें कायम करना अज्ञान मूलक है।

समवायांग सूत्रके मूल पाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्ष और अपकर्षका विचार करके चौदह गुणस्थान बतलाए हैं सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। वह पाठ यह है—

"कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीव ठाणा पण्णत्ता तंजहा—मिच्छदिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्ममिच्छदिट्ठी, अविरत सम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अपमत्तसंजए, नियट्टिबायरे, अनियट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, (उपसमएवा खवएवा) उवसन्त मोहे, खीण मोहे, सयोगी केवली अयोगी केवली"

(समवायांग सूत्र सू० ४)

अर्थात् कर्मकी विशुद्धिकी गवेषणा यानी उत्कर्ष और अपकर्षका विचार करके चौदह प्रकारके जीवोंके स्थान (भेद) कहे हैं।

वे ये हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि, (३) सम्यङ् मिथ्यादृष्टि, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि, (५) विरताविरत, (६) प्रमत्त संयत, (७) अप्रमत्त संयत, (८) निवृत्तिबादर, (९) अनिवृत्तिबादर, (१०) सूक्ष्म संपराय (यह उपशमक और क्षपक दो तरहका होता है) (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह (१३) सयोगी केवली (१४) अयोगी केवली।

यहां समवायाङ्ग सूत्रके मूलपाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्षापकर्षके विचारसे गुणस्थानोंका कहा जाना बतलाया है सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। इसलिए सम्यक् श्रद्धाको लेकर गुण स्थानोंका कथन बतलाना मिथ्या है। यहां जो कर्मकी विशुद्धि कही गयी है वह कर्मोंका क्षयोपशम रूप है मिथ्यादृष्टि पुरुषका जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान है वह क्षयोपशम भावमें है इस लिये मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको लेकर मिथ्यादृष्टि पुरुष प्रथम गुणस्थानमें कहा गया है। मिथ्यादर्शनका क्षयोपशमभावमें होना अनुयोग द्वार सूत्रमें कहा है। वह पाठ यह है—

"खओवसमिआ मइअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुयअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंगअण्णाणलद्धी, खओवस-

मिआ चक्खुदंसणलद्धी, खओवसमिआ अचक्खुदंसणलद्धी ओहिदंसणलद्धी, एवं सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्म-मिच्छादंसणलद्धी, एवं पण्डियवीरियलद्धी, वालपण्डिय वीरियलद्धी खओवसमिआ सोइन्दियलद्धी, जाव खओवसमिआ पासेन्दिय लद्धी"

(अनुयोग द्वार सूत्र)

इसका अर्थ यह है—

मति अज्ञानलब्धि, श्रुतअज्ञानलब्धि, विभङ्ग अज्ञान लब्धि, चक्षुर्दर्शन लब्धि, अचक्षुदर्शन लब्धि, अवधिदर्शन लब्धि, सम्यग्दर्शन लब्धि, मिथ्यादर्शन लब्धि, सम्यङ्मिथ्यादर्शन लब्धि, पण्डित वीर्य्य लब्धि, बालवीर्य्य लब्धि, बाल पण्डित वीर्य्य लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि, यावत् स्पर्शेन्द्रिय लब्धि, ये सब अपने अपने आवरण कर्मों के क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होती हैं अतः ये क्षयोपशमिक कहलाती हैं।

यहां मिथ्यादर्शन लब्धि, और मतिअज्ञानादिकको क्षयोपशमसे उत्पन्न होना कहा है। इसलिये मिथ्यादृष्टि पुरुषका मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान क्षयोपशमिक भावमें हैं उनको लेकर वह प्रथम गुण स्थानमें गिना जाता है किसी सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है तो इसे वीतरागकी आज्ञामें क्यों नहीं मानते ? तो इसका समाधान यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न होने मात्रसे कोई पदार्थ वीतरागकी आज्ञामें नहीं हो जाता। क्योंकि मति आज्ञान लब्धि श्रुत अज्ञान लब्धि, और विभङ्ग अज्ञान लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न होती हैं तथापि, त्यागने योग्य होनेसे ये वीतरागकी आज्ञामें नहीं हैं उसी तरह मिथ्यादर्शन लब्धि भी त्यागने योग्य होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं है।

मति अज्ञानादिक और मिथ्यादर्शन त्यागने योग्य है यह आवश्यक सूत्रमें कहा है। वह पाठ यह है—

"मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपवज्जामि, अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपवज्जामि"

अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं मिथ्यात्व और अज्ञानको छोड़ कर सम्यक्त्व और और ज्ञानका आश्रय लेता हूं।

इस पाठमें मिथ्यात्व और अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है अतः जैसे अज्ञान, क्षायोपशमिक भावमें होने पर भी आज्ञामें नहीं है उसी तरह मिथ्यादर्शन भी त्यागने योग्य होनेके कारण आज्ञामें नहीं है।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि, क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है तो उससे कर्मबन्ध क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी कर्मबन्धके कारण होते हैं। जैसे कि बालवीर्य्य लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न होती है पर वह सांसारिक आरम्भादि कार्य्योंमें प्रयुक्त होनेसे कर्मबन्धका कारण होती है उसी तरह अज्ञान और मिथ्यादर्शन क्षयोपशमसे उत्पन्न होकर भी विपरीत कार्य्योंमें लगे हुए होनेसे कर्मबन्धके ही कारण होते हैं अतः जो लोग यह कहते हैं कि मिथ्या-दृष्टि, (मिथ्यादर्शन) क्षयोपशमभावमें है और क्षयोपशमभाव कर्मबन्धका कारण नहीं होता इसलिये मिथ्यादृष्टि गुण स्थान वीतरागकी आज्ञामें है वे मिथ्यावादी हैं।

[बोल २७ वां समाप्त]

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३१ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—*"अथ इहां असोचा केवलीने अधिकारे इम कह्यूं—जे कोई बालतपस्वी साधु श्रावक पासे धर्मसुण्या विना बेले बेले तप करे, सूर्य्य साहमी आतापना लेवे ते प्रकृति भद्रिक विनीत उपशान्त स्वभावे पतला क्रोध, मान, माया, लोभ, मृदुकोमल अहङ्कार रहित एहवा गुण कह्यां ए गुण शुद्ध छै के अशुद्ध छै, ए गुण निरवद्य छै के सावद्य छै"* (भ्रम० पृ० ३२)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि असोचा केवलीके अधिकारमें उक्त बाल तपस्वी के प्रकृति भद्रकतादिक गुण और तपस्या वीतरागकी आज्ञामें कही है आज्ञा बाहर नहीं। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह हैं—

"तस्सणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोपकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावण भूमिय आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए पगइउवसन्तयाए पगइपतणुकोह माण माया लोभयाए मिउमद्दव सम्पन्नयाए अल्लीणयाए भद्दयाए विणीययाए अन्नया कयाइं सुभेणं अज्झवसाएणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोह मग्गणं गवेसणं करेमाणस्स विभंगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ

सेणंतेणंविभंगनाणसमुप्पन्नेणंजहन्नेणंअंगुलस्सअसंखेज्जाइ भागं उक्को-सेणं असंखेज्जाइं जोयण सहस्साइं जाणइ पासइ सेणंतेणं विभंग-नाणेणं समुप्पन्नेणं जीवेविजाणइअजीवेवि जाणइ पासंडत्थे सारंभे सपरिग्गहे संकिलिस्समाणेविजाणइ सेणं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ समणधम्मं रोएइ चरित्तं पडिवज्जइ लिंगंपडिवज्जइ''

जो जीव, केवली आदिके वाक्यको सुने विना सम्यक्त्वसे लेकर केवल ज्ञानतक प्राप्त करता है उसे जिस प्रकार सम्यक्त्वसे लेकर केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह इस पाठमें कहा है। इसका अर्थ यह है—

जो जीव, दो दो दिनकी लगातार तपस्या करता हुआ सूर्य्यके सम्मुख अपनी भुजाओं को उठा कर आतापन भूमिमें आतापना लेता है उसकी स्वाभाविक भद्रता, शान्ति, स्वाभाविक क्रोध, मान, मायालोभकी अल्पता, मृदुता, विनीतता, इन्द्रियनिग्रह इन गुणोंसे, किसी समय शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम और शुद्ध लेश्याओंसे विभङ्ग ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है। और विभंग ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम होनेसे वह जीव वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा करता है और उस चेष्टाके विपक्ष यानी बाधक वस्तुको हटा देता है पश्चात् वस्तुओंके सजातीय और विजातीय धर्मकी आलोचना करते हुए उस जीवको विभंग नामक अज्ञान पैदा होता है उस विभंग अज्ञानके प्रभावसे वह जीव, जघन्य अंगुलिके असंख्य भागको और उत्कृष्ट असंख्य हजार योजन तकके पदार्थोंको जानता और देखता है। वह जीवोंको भी जानता है और अजीवोंको भी जानता है व्रतधारियोंको भी जानता है और आरम्भ परिग्रह वालोंको भी जानता है। जो पुरुष आरम्भी और परिग्रही हैं उनको बहुत ज्यादा अशुद्ध और थोड़ा शुद्ध भी जानता है वह चारित्र प्राप्तिके पहले सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तब पीछे श्रमण धर्मको पसन्द करता है पश्चात् चारित्र प्राप्ति करके लिंगको ग्रहण करता है।

इस मूलपाठमें, बालतपस्या, प्रकृति—भद्रकता, शान्ति, विनीतता, शुभ अध्य-वसाय, शुभ—परिणाम और विशुद्धलेश्यासे विभंग ज्ञानके आवरणीय कर्मोंका क्षय हो कर मिथ्यादृष्टिको विभंग ज्ञानकी प्राप्ति और विभंग ज्ञानसे जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान होकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति बतलाई है। इससे सिद्ध होता है कि विभंग ज्ञान सम्यक्त्वकी प्राप्तिका साक्षात् कारण है और प्रकृति भद्रकतादि गुण तथा शुभ परिणाम और विशुद्ध लेश्याएं परम्परा कारण हैं। ऐसी दशामें सम्यक्त्वकी प्राप्तिके कारण होनेसे मिथ्यादृष्टिकी प्रकृति भद्रकता आदि गुण, तथा बाल तपस्याको कोई वीतरागकी आज्ञामें बतावे तो सबसे पहले उसे विभंग ज्ञानको वीतरागकी आज्ञामें मानना होगा। क्योंकि

विभङ्ग ज्ञान सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण यहां कहा है। यदि विभङ्ग ज्ञानको वीतरागकी आज्ञामें नहीं मानते तो बाल तपस्या और बाल तपस्वीके पूर्वोक्त गुणोंको भी आज्ञामें नहीं मान सकते क्योंकि जब सम्यक्त्वकी प्राप्तिका साक्षात् कारण विभङ्ग ज्ञान वीतरागकी आज्ञामें नहीं है तब परम्परा कारण प्रकृति भद्रकतादि गुण क्यों कर आज्ञामें हो सकते हैं ? अतः सम्यक्त्व प्राप्तिके परम्पराकारण बाल तपस्या आदिको वीतरागकी आज्ञामें कहना अज्ञानमूलक है।

यदि कोई विभङ्ग ज्ञानको भी वीतरागकी आज्ञामें बतावे तो उसे कहना चाहिये कि अज्ञान आज्ञामें नहीं होता। विभङ्ग ज्ञान अज्ञान है इसलिये वह आज्ञामें नहीं है। आवश्यक सूत्रमें कहा है कि "अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपवज्जामि" अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञानको छोड़ कर ज्ञानको प्राप्त करता हूं। यहां अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है इसलिये वह आज्ञामें नहीं है।

भगवतीके उक्त मूलपाठमें "लेस्साहिं विसुज्झमाणी हिं" यह पाठ आया है। इस में विशुद्ध लेश्याका कथन हुआ है इसे देख कर कई यह कहते हैं कि "उक्त लेश्या वीतरागकी आज्ञामें है क्योंकि वह विशुद्ध कही गई है" उनसे कहना चाहिये विशुद्ध होनेसे लेश्या आज्ञामें नहीं हो जाती। भगवती शतक १३ उद्देशा १ में नील लेश्या भी विशुद्ध कही है परन्तु वह वीतरागकी आज्ञामें नहीं है उसी तरह भगवतीके उक्त मूलपाठमें कही हुई मिथ्यादृष्टिकी विशुद्ध लेश्या भी आज्ञामें नहीं है। कृष्णलेश्यासे नील लेश्या विशुद्ध कही है वह पाठ यह है—

"सेनूणं भन्ते ! कण्हलेसे जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंन्ति ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव उववज्जंति। सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुचइ कण्हलेस्से जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्साठाणेसु संकिलिस्समाणेस्सु कण्हलेस्सं परिणमइ से कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति सेतेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। सेनूणं भन्ते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! जाव उववज्जंति। सेकेणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गोयमा ! लेस्सा ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्झमाणेसु नीललेस्सं परिणमइ नील लेस्सेसु नेरइएसु उववज्जंति। सेतेणट्ठेणं गोयमा ?"

(भगवती शतक १३ उद्देशा १)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

(प्रश्न) हे भगवन्! कृष्णलेश्यासे लेकर यावत् शुक्ललेश्यावाले जोव, कृष्णलेशी नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हां होते हैं।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानके संक्लिश्यमान होने पर जीवको कृष्णलेश्याका परिणाम होता है और वे कृष्णलेशी होकर कृष्णलेश्या वाली नरक योनिमें उत्पन्न होते हैं।

हे भगवन्! कृष्णलेश्यासे लेकर यावत् शुक्ल लेश्या वाले जीव, नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हां गोतम! होते हैं।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानके संक्लिश्यमान और विशुद्ध होनेसे जीवोंको नील लेश्याका परिणाम होता है और वे नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरकयोनिमें उत्पन्न होते हैं।

इस मूलपाठमें कृष्ण लेश्याकी अपेक्षा नील लेश्याको विशुद्ध कहा है तो भी वह वीतरागकी आज्ञामें नहीं है उसी तरह भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ के मूलपाठमें कही हुई बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या भी वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। अतः बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या और उसके मिथ्यात्व युक्त प्रकृति भद्रकता आदि गुणोंको वीतरागकी आज्ञामें ठहराना अप्रामाणिक है।

[बोल २८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार पृष्ठ ३३ के ऊपर लिखते हैं—

"वली ईहापोहमग्गणं गवेसणं करे माणस्स" ए पाठ कह्या ईहा कहिता भला अर्थ जाणवा सम्मुख थयो अपोह कहितां धर्मध्यान वीजा पक्षपात रहित मग्गणं कहिता समुच्चय धर्मनी आलोचना गवेसणं कहितां अधिक धर्मनी आलोचना प्रथम गुण ठाणे कही ते धर्मनी आलोचनाने अनेधर्मध्यानने आज्ञा बाहरे किम कहिए एतो प्रत्यक्ष आज्ञामांहि छै" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ९ उद्देशा १ के मूल पाठमें आये हुए "ईहा" 'अपोह' 'मागण' और 'गवेषण' शब्दका भ्रमविध्वंसनकारने अशुद्ध अर्थ किया है। टीकानुसार इन शब्दों का अर्थ यह है "इहेहा सदर्थाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिराशः, मार्गणञ्चान्वय धर्मालोचनम्, गवेषणञ्च व्यतिरेक धर्मालोचनम्,"

अर्थात् वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा करनेका नाम "ईहा" है। और उस चेष्टाके बाधक कारणोंको हटा देना 'अपोह' है। और अन्वयधर्म (सजातीय धर्म) की आलोचना करनेका नाम 'मार्गण' है तथा व्यतिरेक धर्म (विजातीय धर्म) की आलोचना करना, 'गवेषण कहलाता है। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

इस टीकामें 'मार्गण' शब्दका सजातीय धर्मकी आलोचना करना, और 'गवेषण' शब्दका विजातीय धर्मकी आलोचना करना अर्थ बतलाया है वीतराग भाषित श्रुत और चारित्र रूप धर्मकी आलोचना करना अर्थ नहीं कहा है इसलिये मार्गण शब्दका वीतराग भाषित धर्मकी आलोचना और गवेषण शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना अर्थ बतलाना एकान्त मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकारने जो भगवती शतक ९ उद्देशा १ के उक्त मूलपाठके नीचे टब्बा अर्थ लिखा है वह भी टीका विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४ पर लिखते हैं कि "इहां कह्यो आर्तरुद्र-ध्यान वर्जे और धर्मशुक्ल ध्यान ध्यावे ए शुक्ल लेश्याना लक्षण कह्या। ते शुक्ल ध्यान तो ऊपर ले गुण ठाणे पावे छै अने प्रथम गुण ठाणे शुक्ल लेश्यावर्ते ते वेलां आर्त रुद्र ध्यान तो वर्ज्यो छै अने धर्म ध्यान पावे छै। (भ्रमविध्वंसन पृ० ३४) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुण स्थानके स्वामी मिथ्यादृष्टि पुरुषोंमें शुक्ललेश्या तो पाई जाती है परंतु वीतराग भाषित धर्म ध्यान नहीं पाया जाता। वीतराग भाषित धर्म ध्यान, श्रुत धर्म और चारित्र धर्मके होने पर ही होता है। मिथ्यादृष्टिमें श्रुत चारित्र धर्म नहीं होता अतः उसमें वीतरागभाषित धर्म ध्यान भी नहीं होता। ठाणाङ्ग सूत्रके मूलपाठमें चार ध्यानों का वर्णन किया है वहां टीकाकारने श्रुत और चारित्र धर्म वालेको ही धर्मध्यान होना बतलाया है मिथ्यादृष्टिको नहीं वह टीका मूलपाठके साथ लिखी जाती है।

"चत्तारि झाणा पण्णत्ता—अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे झाणे सुक्के झाणे"

(ठाणाङ्ग ठाणा ४)

इसकी टीका यह है—

"तत्र ऋतं दुःखं तस्य निमित्तं तत्रवा भवम् ऋते पीडिते भव मार्त्तध्यानं दृढोऽध्यवसायः। हिंसाद्यति क्रौर्य्यानुगतं रुद्रम्। श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यम्। शोधयत्यष्ट प्रकारं कर्ममलं शुचंवाक्लमयतीति शुक्लम्"

अर्थात् जो ध्यान, दुःखका कारण अथवा दुःख होने पर होता है वह "आर्त्त-ध्यान कहलाता है। और जो हिंसा आदि अतिक्रूरताके साथ होता है उसे "रुद्र ध्यान" कहते हैं। तथा जो ध्यान श्रुत और चारित्र रूप धर्मके साथ होता है उसे "धर्म्मध्यान" कहते हैं। एवं जो आठ प्रकारके कर्ममलोंको दूर करता है या शोकको हटाता है उसे "शुक्लध्यान" कहते हैं।

यहां टीकाकारने स्पष्ट कहा है कि—जो ध्यान श्रुत और चारित्रधर्मके साथ होता है वही धर्म्म ध्यान है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि पुरुषमें धर्म्म ध्यान नहीं होता क्योंकि उसमें श्रुत और चारित्र धर्मका सर्वथा अभाव है। अतः प्रथम गुण स्थानमें धर्म्म ध्यानका सद्भाव बतलाना शास्त्रविरुद्ध है।

इसी जगह धर्म्मध्यान करने वाले पुरुषका लक्षण बतलानेके लिए ठाणाङ्ग सूत्रमें यह पाठ आया है—

धम्मस्सणं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता तंजहा—आणारूइ णिसग्गरूइ सुत्तरूइ ओगाढरूइ"

(ठाणाङ्ग)

इसकी टीका यह है—

"आणारुइ" त्ति आज्ञासूत्रव्याख्यानं निर्युक्त्यादि तत्र तयावा रूचिः श्रद्धानम् आज्ञा रुचिः एवमन्यत्रापि, नवरं निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश स्तेन, तथा सूत्रम् आगमः तत्र तस्माद्वा तथा अवगाहन मवगाढं द्वादशाङ्गावगाहो विस्ताराधिगम इति संभाव्यते तेन रुचिः अथवा 'ओगाढ' त्ति साधु प्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधूपदेशा द्रुचिः उक्तञ्च—"आगम उवएसेणं निसग्गाओ जं जिणप्पणीयाणं भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं" तत्त्वार्थ श्रद्धान रूपं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम्"

इस टीकाका यह अर्थ है—वीतराग भाषित सूत्रोंके व्याख्यानस्वरूप निर्युक्ति आदिको आज्ञा कहते हैं (१) उसमें रुचि रखना, या उसके अध्ययन करनेसे धर्ममें रुचि उत्पन्न होना, (२) स्वभावसे ही वीतराग भाषित धर्ममे रुचि होना, (३) वीतराग भाषित सूत्रोंमें रुचि होना या उनके पढनेसे धर्ममें रुचि होना, (४) द्वादशाङ्गमें प्रवेश होनेसे रुचि होना, या निकटवर्ती साधुके उपदेशसे धर्ममें रुचि होना, ये चार धर्म्मध्यानके लक्षण हैं। किसी आचार्य्यने भी कहा है आगमके उपदेशसे अथवा स्वभावसे जिन भाषित धर्ममें श्रद्धा रखना धर्मध्यानी पुरुषका लक्षण है। तात्पर्य्य यह है कि तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, धर्म्मध्यानका लक्षण है।

यहां मूलपाठ और उसकी टीकामें तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको धर्म्मध्यानका लक्षण कहा है वह तत्त्वार्थ श्रद्धान मिथ्यादृष्टि जीवमें नहीं होता इसलिये मिथ्यादृष्टिमें धर्म्मध्यान बतलाना उक्त मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३४ की ३१ वीं गाथामें धर्म्मध्यान होना शुक्ललेश्याका लक्षण कहा है और शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्टिमें भी पाई जाती है फिर उसमें धर्म्मध्यान क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह है कि उत्तराध्ययन सूत्रकी उस गाथामें विशिष्ट शुक्ल लेश्याका लक्षण कहा है जो कि संयमी पुरुषोंमें पाई जाती है सामान्य शुक्ललेश्याका नहीं। यह बात उस गाथा और उसकी टीकासे स्पष्ट ध्यानमें आ जावेगी इसलिए यहां वह लिखी जाती है—

"अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काइ झायए
पसंत चित्ते दंतप्पा समिए गुत्तेय गुत्तिसु"
सरागे वीय रागेवा उवसंते जिएन्दिए
एय जोग समाउत्तो सुक्कलेस्संतुपरिणमे"

(उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा ३१-३२)

जो पुरुष आर्तरुद्र ध्यानको त्याग कर धर्म्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है तथा अपने चित्त और इन्द्रियको वशमें रखते हुए समितिसे युक्त है। जिसने मनोगुप्ति आदिके द्वारा अपने समस्त व्यापारको रोक लिया है वह चाहे सरागी हो वीतरागी हो या इनसे अन्य उपशान्त और जितेन्द्रिय हो वह शुक्ललेश्याको प्राप्त होता है। यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका अर्थ है।

इनमें कहे हुए शुक्ललेश्याके लक्षग विशिष्ट शुक्ल लेश्याके हैं सामान्य शुक्ललेश्या के नहीं अतएव इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि "विशिष्ट शुक्ल लेश्यापेक्षयैवं लक्षणाभिधान मिति न देवादिभिर्व्यभिचारः"

अर्थात् इन गाथाओंमें विशिष्ट शुक्ललेश्याके लक्षग कहे हैं इसलिये शुक्ललेशी देवताओंमें गाथोक्त लक्षणोंके न मिलने पर भी कोई दोष (व्यभिचार) नहीं है। यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि गाथोक्त लक्षण विशिष्ट शुक्ललेश्याके हैं सामान्य शुक्ललेश्या के नहीं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये लक्षण संयमधारी विशिष्ट शुक्लेशी मुनियोंकी शुक्लेश्याके हैं सामान्य शुक्लेश्याके नहीं तथापि यदि कोई इस टीकाको प्रमाण न मान कर सभी शुक्लेश्याओंका गाथोक्त लक्षण बतावे तो उससे कहना चाहिये कि इन गाथाओंमें शुक्लेश्याके लक्षग शुक्लध्यान, समिति गुप्ति, सर्वसावद्य योगोंका परित्याग भी कहे हैं इन्हें भी प्रथम गुण स्थानमें तुम क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि शुक्लध्यान आदि

जो गाथामें शुक्ललेश्याके लक्षण बताये हैं वे सब ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं पहले गुण स्थानमें नहीं, तो उसी तरह धर्म्मध्यान भी ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाया जाता है प्रथम गुणस्थानमें नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि गाथामें कहे हुए और सब लक्षण तो ऊपरके गुणस्थानोंमें ही पावें मगर एक धर्म्मध्यान प्रथम गुणस्थानमें भी पावे अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी उक्त गाथाओंका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिमें धर्म्मध्यान बतलाना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३० वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४ के ऊपर लिखते हैं कि "जिम एक तालाव नो पाणी एक घडो ब्राह्मण भर ले गयो अने एक घडो भंगी भर ले गयो। भंगीरा घडामें भंगीरो पाणी बाजे अने ब्राह्मणरा घडामें ब्राह्मणरो पाणी बाजे पिण पाणी तो मीठो शीतल छै भंगीरा घडामें आया खारो थयो न थी। तथा शीतलता मिटी नहीं पाणी तो तेहिज तालाव नो छै। पिण भाजन लारे नाम बोलवा रूप छै। तिम शील, दया, क्षमा तपस्यादिक रूप पाणी ब्राह्मण समान सम्यग्दृष्टि आदरे भंगी समान मिथ्यादृष्टि आदरे ते नो तप शील दया नो गुण जाय नहीं। जिमि पानी ब्राह्मण तथा भङ्गी रो बाजे पिण पाणी मीठामें फेर नहीं पाणी मीठो एक सरीखो छै। तिमि मिथ्यादृष्टि शीलादिक पाले ते मिथ्यादृष्टि री करणी बाजे पिण करणी दोनूं मोक्षमार्गनी छै।" [भ्र० पृ० ३४] इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

एक तालावसे जल भरने वाले ब्राह्मण और भङ्गीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंके गुणको तुल्य बताना मूर्खता है। ब्राह्मण और भङ्गीमें जातिमात्रका भेद है किन्तु उस तालावकी मधुरता और उपादेयताके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है। जैसे ब्राह्मण उस तालावको मधुर और जलग्रहण करनेयोग्य समझता है भङ्गी भी उसे उसी तरह समझता है। यदि भङ्गी उस तालावको खारा या जलग्रहण न करनेके योग्य समझता तो वह उससे जल नहीं भरता इसलिये भङ्गी और ब्राह्मणका विचार उस तालावके सम्बन्धमें एक है परन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिमें यह बात नहीं है। मिथ्यादृष्टि जिस मिथ्यादर्शन रूप तालावको उत्तम समझता है सम्यग्दृष्टि उसे बुरा जानता है। तथा सम्यग्दृष्टि जिस सम्यग्दर्शनरूप तालावको अच्छा समझता है मिथ्यादृष्टि उसे बुरा जानता है इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके विचारमें महान् अन्तर है इस अन्तरके होते हुए

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही एक सम्यग्दर्शन, या एक मिथ्यादर्शन रूप तालावसे जल भरें यह कदापि सम्भव नहीं है अतः तालावके सम्बन्धमें समान विचार रखनेवाले भङ्गी और ब्राह्मणका उदाहरण देकर भिन्न भिन्न विचारवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिको एक तालावसे पानी लेने वाला बताना अज्ञानमूलक है।

भङ्गी और ब्राह्मणके घडेका उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके क्षमा दया आदिमें तुल्यता बताना भी अयुक्त है। भङ्गी और ब्राह्मणके घडोंमें माधुर्य्य गुणकी दृष्टिसे कुछ विशेषता नहीं है। ब्राह्मणका घट जैसे मधुर मिट्टीका बना होता है उसी तरह भङ्गीका भी होता है इसीलिये इन दोनों घडोंमें रक्खा हुआ मधुर जल मधुर ही रहता है परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंमें यह बात नहीं है इनके गुण परस्पर विपरीत होते हैं। मिथ्यादृष्टिका गुण मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्व होता है। ये सम्यक्त्व और मिथ्यात्व एक दूसरेसे विपरीत होते हैं अतः सम्यग्दृष्टिको मधुर मिट्टीके घड़े का दृष्टान्त और मिथ्यादृष्टिको खारे घडेका दृष्टान्त ठीक घटता है ब्राह्मण और भङ्गीके घडेका नहीं। तात्पर्य यह कि जैसे खारे घडेमें रक्खा हुआ जल खारा और मधुर घटमें रक्खा हुआ मीठा होता है उसी तरह सम्यग्दृष्टिके शील, दया, और तपस्या आदि गुण सम्यग्रूप और और मिथ्यादृष्टिके ये सब असम्यग्रूप हो जाते हैं अतः इन दोनोंको एक समान कह कर मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त शील दया और तपस्या आदिको वीतरागकी आज्ञामें बताना शास्त्रविरुद्ध है।

नंदी सूत्रकी टीकामें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके लिये सुगन्ध और दुर्गन्ध घट की उपमा दी है ब्राह्मण और भङ्गीके घटकी नहीं। वह टीका यह है—

"भाविताः द्विविधाः प्रशस्तद्रव्यभाविता अप्रशस्तद्रव्यभाविताश्च। तत्र ये कर्पूरागुरुचन्दनादिभिःप्रशस्तैर्द्रव्यैर्भावितास्तेप्रशस्तद्रव्यभाविताः ये पुनः पालाण्डु लशुन सुरा तैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्तद्रव्यभाविताः"

अर्थात् वासित घट दो प्रकारके होते है एक प्रशस्त द्रव्योंसे वासे हुए और दूसरे अप्रशस्त द्रव्योंसे वासे हुए। जो कपूर अगर और चन्दन आदि उत्तम द्रव्योंसे वासे हुए हैं वे "प्रशस्तद्रव्यभावित" कहलाते हैं और जो प्याज, लशुन, मद्य तथा तेल आदि अप्रशस्त द्रव्योंसे वासे गये हैं वे "अप्रशस्तद्रव्य वासित" हैं।

जिस पुरुषका अन्तःकरण जिनाज्ञाराधक मुनियोंके उपदेशसे वैराग्ययुक्त और निर्मल होता है वह पुरुष प्रशस्तद्रव्यवासित घटके समान है और जिसका अन्तःकरण जिनाज्ञा विरोधियोंके उपदेशसे कलुषित है वह अप्रशस्तद्रव्यवासित घटके समान है।

यहां नन्दी सूत्रकी टीकामें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंके गुणमें भेद होनेसे उनकी उपमा सुगन्ध और दुर्गन्ध घटकी दीहै ब्राह्मण और भङ्गीके घडेकी नहीं अतः जिनके माधुर्य्य गुणमें कुछ भेद नहीं है ऐसे ब्राह्मण और भङ्गीके घडोंका दृष्टांत देकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके गुणोंको तुल्य बताना एकान्त मिथ्या है।

बोल ३१ वां

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३५ के ऊपर लिखते हैं—

" जे मिथ्यादृष्टि साधुने पूछे हूं सुपात्र दान देवुं शील पालूं वेला तेलादि तप करूं जब साधु तेहने आज्ञा देवे कि नहीं ? जो आज्ञा देवे तो ते करणी आज्ञा मांहि थई " (भ्र० पृ० ३५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तप, शील, सुपात्र दानको अच्छा जान कर उनका आचरण करनेके लिए साधुसे आज्ञा मांगने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जा सकता है ? साधुके पास श्रद्धाभक्तिके साथ जाकर शील तप, सुपात्र दान आदिकी आज्ञा मांगना सम्यग्दृष्टिका लक्षण है यह बात सम्यग्दृष्टियोंमें ही पायी जाती है सम्यग्दृष्टि पुरुष ही साधुके पास भक्ति भावके साथ जाकर शील तप आदि धर्मोंकी आज्ञा मांगते हैं मिथ्यादृष्टि नहीं, क्योंकि वे साधुको साधु तथा उनके उपदेश किये हुए धर्मको धर्म नहीं मानते। ऐसी दशामें वे भक्ति भावके साथ साधुके पास जाकर शील तप दया आदि धर्मोंकी आज्ञा मांग ही नहीं सकते यह भव्य जीवोंको स्वयं सोच लेना चाहिए।

जो पुरुष साधुके निकट जाकर शील तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मांगता है उसे उस समय सम्यग्दृष्टि हीं मानना चाहिए क्योंकि उपशमसम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है इसलिए उस समय उस पुरुषको भावसम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई समझनी चाहिए। अतः साधुके पास जाकर शील तप आदिकी आज्ञा मांगने वालेको मिथ्यादृष्टि ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्वयुक्त क्रियाको आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

इसके अतिरिक्त यहां यह प्रश्न होता कि जो मिथ्यादृष्टि शील तप आदिकी आज्ञा मांग कर उसका अनुष्ठान करता है उसकी वह क्रिया सम्यग्रूप है या असम्यग्रूप है ? यदि सम्यग्रूप मानो तो सम्यक्क्रियाका अनुष्ठान करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे ? वह सम्यक्क्रियाका अनुष्ठान करता है इसलिए मिथ्यादृष्टि नहीं है यदि उसकी क्रियाको असम्यग्रूप कहो तो साधुने उसे असम्यक् क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है इसलिये उसकी वह

क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती । अतः मिथ्यादृष्टिकी असम्यग्रूप क्रियाको साधु की आज्ञामें बताना अयुक्त है ।

साधु पुरुष हर एक जीवको सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं उनकी आज्ञानुसार जो सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करता है वह मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है और जो साधुकी आज्ञा लेकर भी सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान नहीं करता मिथ्या क्रियाका अनुष्ठान करता है उसकी वह मिथ्याक्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं है उस क्रियाके करनेसे वह आज्ञाराधक नहीं हो सकता किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है और उसकी वह क्रिया आज्ञा बाहर है । अतः मिथ्यादृष्टिको साधुकी आज्ञाका आराधक कहना मिथ्या है ।

जैसे साधु मोक्षमार्गका आराधन करनेके लिए दीक्षा देते हैं और दीक्षा देकर सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं परन्तु दीक्षित पुरुष अभव्य हो और मिथ्यात्वी होनेसे अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करने लग जाय तो उसकी वह क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं कही जा सकती क्योंकि साधुने ज्ञानपूर्वक भावक्रिया करनेकी आज्ञा दी थी न कि अज्ञान पूर्वक द्रव्यक्रिया करनेकी, उसी तरह जो पुरुष साधुसे सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा लेकर अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करता है उसकी वह क्रिया आज्ञामें नहीं है क्योंकि साधुने अज्ञानपूर्वक द्रव्य क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है वल्कि ज्ञानपूर्वक भाव क्रिया करनेकी आज्ञा दी है इसलिये उसकी वह अज्ञान क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती । अतः मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्व युक्त क्रियाको वीतरागकी आज्ञामें ठहराना मिथ्या है ।

(बोल ३२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६ पर लिखते हैं कि “ इहां कह्यो सूर्य्यभना अभियोगिया देवता भगवान्ने वन्दन नमस्कार कियो तिवारे भगवान् बोल्या एवन्दनरूप तुम्हारो पुराणो आचार छै । ए तुम्हारो जित आचार छै ए वन्दनारी म्हारी आज्ञा छै । तो तिमकरणीने आज्ञा बाहिरे किम कहिए ” (भ्र० पृ० ३६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

सूर्य्याभ देवताके अभियोगिया देवताका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको वीतरागकी आज्ञामें कायम करना अज्ञान है । सूर्य्याभदेवके अभियोगिया देवताके मिथ्या दृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । नरकयोनिके जीव भी जब सम्यग्दृष्टि होते हैं तब

सूर्य्याभके अभियोगिया देवताओंके सम्यग्दृष्टि होनेमें क्या बाधा है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उठते हैं कि आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्यरूप वन्दना भगवान्की आज्ञामें है या भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दना ही आज्ञामें है ? यदि भावशून्य द्रव्यवन्दना भी भगवान्की आज्ञामें हो तो ऐसी वन्दना अभव्य जीव भी करते हैं इसलिए वे भी वीतरागकी आज्ञाराधक होकर मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता अभव्य जीव मोक्षमार्गका आराधक त्रिकालमें भी नहीं है अतः भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दनको ही आज्ञामें मानना चाहिये ऐसा वन्दन नमस्कार मिथ्यादृष्टियोंका नहीं होता क्योंकि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वके कारण द्रव्यरूप क्रिया ही करता है भावरूप नहीं। सूर्य्याभके अभियोगिया देवताओंका वन्दन नमस्कार सम्यग्ज्ञानपूर्वक भावरूप था अतएव उसे भगवान् ने आज्ञाके अन्दर बतलाया यदि वह द्रव्यरूप होता तो कदापि भगवान् आज्ञामें नहीं कहते अतः सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करने वाले सूर्य्याभके अभियोगिया देवता सम्यग्दृष्टि थे मिथ्यादृष्टि नहीं उनका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके भावशून्य द्रव्यरूप वन्दन नमस्कारको वीतरागकी आज्ञामें बताना अज्ञान मूलक है।

(बोल ३३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३७ पर भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि " अथ अठे स्कन्दके कह्यो हे गोतम ! तांहरा धर्माचार्य्य भगवान् महावीर स्वामीने बांदा यावत् सेवा करां। तिवारे गोतम बोल्या जिम सुख हुवे तिम करो हे देवानु प्रिय, पिणप्रतिबन्ध मत करो। इसी शीघ्र आज्ञा वन्दनानीदीधी ते वन्दना रूप करणी प्रथम गुणठाणा रो धणी करे तेहने आज्ञा बाहिरे किम कहिये।" (भ्र० पृ० ३७)। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि गोतम स्वामीने स्कन्दक जीको भक्ति भावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक तीर्थंकरको वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी या भावरहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी ? यदि भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी तो मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार उनकी आज्ञामें कैसे हो सकता है ? क्योंकि मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार भक्तिभाव रहित और मिथ्यात्वके साथ होता है भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक नहीं। यदि भक्तिभावरहित द्रव्य वन्दनाकी आज्ञा दिया जाना कहो तो यह अयुक्त है साधु कदापि किसीको

भक्ति-भावरहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा नहीं देते । इसलिये गोतम स्वामीनें भक्ति-भावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी। उस आज्ञाके अनुसार यदि स्कन्दकजीने भगवान्‌को भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार किया था तो वह उस समय सम्यग्दृष्टि ही थे मिथ्यादृष्टि नहीं ॥

यदि वैसा न करके स्कन्दकजीने मिथ्यात्वके साथ द्रव्य रूप वन्दन नमस्कार किया था तो उनका वह नमस्कार गोतम स्वामीकी आज्ञामें हुआ ही नहीं क्योंकि गोतम स्वामीने भक्तिभावके साथ भाव रूप वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी भक्ति रहित मिथ्यात्वयुक्त द्रव्य वन्दनकी नहीं । अतः स्कन्दकजीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यरूप वन्दन नमस्कारको जिन आज्ञामें कायम करना नितान्त मिथ्या है ।

(बोल ३४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४० पर लिखते हैं कि "अथ इहां तामली वालतपस्वीरी अनित्यचिन्तवना कही छे। ए संसार अनित्य छै एहवीचन्तवना ते तो शुद्ध छै" इसके वाद पुष्फियोपाङ्गका पाठ देकर लिखते हैं—अथ इहां सोमिल ऋषिनी अनित्य चिन्तवना कही। ए अनित्य चिन्तवना शुद्ध करणी छै निरवद्य छै तेहने आज्ञा वाहिरे किम कहिए"

इसके आगे और भी लिखते हैं—"वली अनित्य चिन्तवना धर्मध्यानरो भेद चाल्यो ते ही अनित्य चिन्तवना तामली सोमिल ऋषि प्रथम गुण ठाणे थकी कीधी तेहने अधर्म किम कहिए ए धर्मध्यानरो भेद आज्ञा वाहरे किम कहिए" (भ्र० पृ० ४०-४१

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तामली वाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणको धर्मध्यानकी अनुप्रेक्षामें कायम करके प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें कायम करना मिथ्या है। प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमें धर्म्मध्यान होता ही नहीं, क्योंकि धर्म्मध्यान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही होता है यह पहले वतलाया जा चुका है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन मिथ्यादृष्टियोंमें नहीं होता इसलिये उनमें धर्म्मध्यान भी नहीं हो सकता। जव कि प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमें धर्म्मध्यान नहीं होता तव धर्म्मध्यानका भेद स्वरूप अनित्य जागरणा उनमें कैसे हो सकती

है ? जब वृक्ष ही नहीं है तो शाखा पत्र कहांसे होंगे ? धर्म्मध्यान सम्यग्ज्ञान और सम्यक् दर्शनके साथ ही होता है इस विषयमें ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका लिखकर प्रमाण बतलाया जाता है।

"चत्तारि झाणा पण्णत्ता, तंजहा—अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे-झाणे सुक्के झाणे"

"धम्मस्सणं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा"

(ठाणाङ्गठाणा ४ उ० १)

इस पाठकी टीका यह है—

"ध्यातयोध्यानानि अन्तर्मुहूर्त्तमात्रकालंचित्तस्थिरतालक्षणानि। उक्तञ्च—"अन्तोमुहूत्त मित्तं चित्तावत्थाणमेग वत्थुम्मि छउमत्थाणं झाणं जोगणिरोहो जिणाणंतु" तत्र ऋतं दुःखं तस्य निमित्तं तत्रभवंवा ऋते पीडिते भवमार्तं ध्यानं छढोऽध्यवसायः। हिंसाद्यतिक्रौर्य्यानुगतं रौद्रम्। श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यम् शेधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्"

अर्थात् किसी एक विषयमें अन्तर्मुहूत्त तक चित्तको स्थिर रखना, ध्यान कहलाता है। कहा भी है किसी एक वस्तुमें अन्तर्मुहूर्त्त तक चित्तको स्थिर रखना ध्यान है। ऐसा ध्यान छद्मस्थोंका होता है। योगनिरोध काल तक सब वस्तुओंका ध्यान केवलियोंका होता है वह ध्यान चार प्रकारका है आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्मध्यान, और शुक्लध्यान। जो ध्यान दुःखका कारण है अथवा दुःख होने पर होता है उसे आर्त्तध्यान कहते हैं। जो ध्यान हिंसा आदि क्रूरतासे युक्त होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है। जो ध्यान, सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्रके साथ होता है वह धर्मध्यान है। जो ध्यान आठ प्रकारके कर्ममलोंको दूर करता है या शोकको दूर करता है वह शुक्लध्यान है।

इनमें सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्रके साथ होने वाले धर्म्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएं कहीं हैं। ध्यान होनेके पश्चात् भावना या पर्य्यालोचना करनेको 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं। पहली अनुप्रेक्षाको 'एकानुप्रेक्षा' कहते हैं। मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है ऐसी भावना करना एकानुप्रेक्षा है। दूसरी 'अनित्यानुप्रेक्षा' है। यह शरीर नाशवान है सम्पत्ति दुःखका स्थान है, संयोग, वियोगका हेतु है उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नश्वर हैं इस प्रकार जीवन आदिके विषयमें अनित्यताकी भावना करना 'अनित्यानुप्रेक्षा' है। तीसरी 'अशरणानुप्रेक्षा' है। इसका अर्थ जन्म जरा और मरणके भयसे भीत, व्याधि

और वेदनासे ग्रस्त इन प्राणियोंके लिए जिनवरोंके वाक्यसे अतिरिक्त कोई दूसरा शरण नहीं है ऐसी भावना करना है। चौथी 'संसरणानुप्रेक्षा' है। संसारके प्राणी सदा अपने अपने कर्मानुसार चारों गतियोंमें जाते रहते हैं वही स्त्री वेदी जीव, किसी भवमें माता होकर दूसरे भवमें उसी जीवकी भगिनी हो जाता है और फिर अन्य भवमें भार्य्या एवं किसी भवमें पुत्री हो जाता है। इसी तरह कभी पुत्र ही पिता और पिता पुत्र हो जाता है इस प्रकार संसारके सभी जीव एक भवको छोड़ कर दूसरे भवमें जाते रहते हैं ऐसी भावना करनेको 'संसरणानुप्रेक्षा' कहते हैं। उक्त चतुर्विध अनुप्रेक्षाएं धर्म्मध्यान होनेके पश्चात् होती हैं और धर्म्मध्यान श्रुत तथा चारित्रके साथ होता है मिथ्यादृष्टिमें श्रुत और चारित्र नहीं होता इसलिये धर्म्मध्यान भी उसमें नहीं होता और धर्म्मध्यानके न होनेसे मिथ्यादृष्टिमें चतुर्विध अनुप्रेक्षाएं भी नहीं होतीं अतः मिथ्यादृष्टिके अन्दर धर्म्मध्यानके पश्चात् होने वाली अनित्य जागरणाका सद्भाव बताना शास्त्रविरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य जागरणा शास्त्रमें कही है इसलिए मिथ्यादृष्टिमें अनित्य जागरणा होती है। तो इसका उत्तर यह है कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीमें जो अनित्य जागरणा शास्त्रमें कही है वह धर्म्मध्यानके पश्चात् होने वाली सम्यग्दृष्टियोंकी अनित्य जागरणा नहीं किन्तु मिथ्यात्वके साथ होने वाली दूसरी अनित्य जागरणा है। जैसे शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या कही है और सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है परन्तु वे दोनों प्रव्रज्याएं एक नहीं भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या, सम्यग्रूप और मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यारूप है उसी तरह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणाएं भी भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणा धर्म्मध्यानके अन्तर्गत होनेसे वीतरागकी आज्ञामें है और मिथ्यादृष्टिकी धर्म्मध्यानसे बहिर्भूत और अज्ञानपूर्वक होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। अतः सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य जागरणाको धर्म्मध्यानमें ठहरा कर वीतराग की आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है वह पाठ यह है—"पव्वज्जाए पव्वइत्तए" यह भगवती शतक ३ उद्देशा १ में तामली तापसकी प्रव्रज्याके लिये पाठ आया है। इस पाठमें तामली तापसको प्रव्रज्या धारण करना कहा है परन्तु यह प्रव्रज्या मिथ्यात्वके साथ होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं मानी जाती उसी तरह मिथ्यात्वके साथ होने से तामली तापसकी अनित्य जागरणा भी आज्ञामें नहीं मानी जा सकती तथापि शब्द की तुल्यता देख कर यदि कोई हठी तामली तापसकी अनित्य जागरणाको जिन आज्ञामें ठहरावे तो उसे तामली तापसकी प्रव्रज्या भी जिन आज्ञामें मान लेनी चाहिये। यदि

तामली तापसकी प्रव्रज्याको जिन आज्ञामें नहीं मानते तोउसकी अनित्य जागरणाको भी आज्ञामें नहीं मानना चाहिये ।

उवाई सूत्रमें वानप्रस्थ तापसोंकी प्रव्रज्याके लिये यह पाठ आया है—

"बहुइं वासाइं परियायं पाउणंति"

अर्थात् वानप्रस्थ तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रव्रज्याका पालन करते हैं। यहां जिस प्रकार वानप्रस्थ तापसोंकी प्रव्रज्याका पाठ आया है उसी तरह जिनाज्ञाराधक मुनियोंकी प्रव्रज्याके लिये भी पाठ आया है।

"बहुइं वासाइं केवल परियागं पाउणंति"

बहुइं वासाइं छउमत्थं परियागं पाउणंति"

इन पाठोंमें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंकी प्रव्रज्याके लिये समान पाठ आने पर भी जैसे इनकी प्रव्रज्याएं एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं उसी तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की अनित्य जागरणाएं भी भिन्न भिन्न हैं एक नहीं। अतः तामली और सोमिलकी अनित्य जागरणाको भगवान् महावीर स्वामीकी अनित्य जागरणाके तुल्य बताना मिथ्या है।

[बोल ३५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४२ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ९ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां चार प्रकारे मनुष्यनो आयुषो बंधे कह्यो। जे प्रकृति भद्रिक, विनीत, दयावान् अमत्सर भाव एचार करणी शुद्ध छै आज्ञा मांहि छै तो दयादिक परिणाम साम्प्रत आज्ञामें छै" इसके आगे लिखते हैं—

"वली सरागसंयम संयमासंयम ते श्रावक पणो, बाल तप, अकाम निर्जरा ए चार कारणे करी देव आयुषो बंधे इम कह्यो तो ए चार कारण शुद्ध छै के अशुद्ध छै। सावद्य छै के निरवद्य छै। आज्ञामें छे के आज्ञा बाहिरे छै। एतो चार करणी शुद्ध आज्ञा मांहि लीसूं देव आयुपो बंधे छै। अने जे बाल तप अकाम निर्जराने आज्ञा बाहिरे कहे तेहने लेखे सरागसंयम संयमासंयम पिण आज्ञा बाहिरे कहिणा। अने सराग संयम संयमासंयमने आज्ञामें कहे तो बाल तप अकाम निर्जराने पिण आज्ञामें कहिणा। ए बाल

तप अकाम निर्जरा शुद्ध आज्ञा मांहि छे ते मांटे सरागसंयम संयमासंयमरे भेला कह्या। जो अशुद्ध हुवे तो भेला नकहिता"

(भ्र० पृ० ४२—४३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ९ के मूलपाठके आश्रयसे मिथ्यादृष्टिकी करनीको आज्ञामें बताना मिथ्या है। भगवतीके उस पाठमें सिर्फ देवभव और मनुष्य भवकी प्राप्ति के चार कारण कहे हैं। वे कारण वीतरागकी आज्ञामें हैं या आज्ञाके बाहर हैं यह नहीं बतलाया है इसलिये भगवतीके उस पाठसे अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञामें ठहराना अप्रामाणिक है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञा बाहर कहा है इसलिये अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञामें कहना शास्त्र विरुद्ध है। उवाई सूत्रका वह पाठ निम्नलिखित है—

"जे इमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कव्वड मडंव दोण मुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु अकाम तण्हाए अकाम छुहाए अकाम बंभचेर वासेणं अकाम अण्हाणक सीयायव दंसमसक सेअजल्लमल्ल पंक परितावेणं अप्पतरोवा भूज्जतरोवा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति परिकिलेसित्ता काल मासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वाण मंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति"

(उवाई सूत्र)

इस पाठका अर्थ पृष्ठ (१८) पर दे दिया गया है।

इस पाठमें अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको जिन आज्ञाका अनाराधक कहा है। यदि अकाम निर्जरा वीतरागकी आज्ञामें होती तो उसके आराधकको परलोक का अनाराधक कैसे कहते ? अतः अकाम निर्जराका आज्ञा बाहर होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

इसी जगह उवाई सूत्रमें बाल तपस्या करने वालेको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है वह पाठ अर्थके साथ पृष्ठ (२५-२६) के ऊपर दे दिया गया है। यदि बाल तपस्या जिन आज्ञामें होती तो उक्त पाठमें गंगातट निवासी अज्ञानी तापसोंको परलोकका अनाराधक क्यों कहा जाता ? अतः बाल तपस्या जिन आज्ञामें नहीं है यह स्पष्ट सिद्ध होता है।

उवाई सूत्रमें, प्रकृति भद्रक, विनीत, अमत्सरी पुरुष जो सम्यक्श्रद्धासे हीन हैं उन्हें परलोकका अनाराधक बतलाया है। वह पाठ भी पहले लिखा जा चुका है

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—प्रकृति भद्रकता विनीतता और अमात्सर्य्य आदि गुण यदि मिथ्यात्व और अज्ञानके साथ हों तो वे जिन आज्ञामें नहीं होते। अतः अकाम निर्जरा, बालतपस्या, और मिथ्यात्व तथा अज्ञानयुक्त प्रकृतिभद्रकता, विनीतता, और अमात्सर्य्य आदि गुणोंको वीतरागकी आज्ञामें बताना उवाई सूत्रसे विरुद्ध है।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकारने जो यह कुतर्क किया है कि बालतपस्या और अकाम निर्जरा जिन आज्ञामें न होती तो सराग संयम और संयमासंयमके साथ क्यों कही जातीं, यह भी अयुक्त है। जो वीतरागकी आज्ञामें नहीं है वह वीतरागकी आज्ञामें होने वाले पदार्थके साथ न कहा जाय ऐसा कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। ठाणाङ्ग सूत्रके चौथे ठाणे में धर्म्म ध्यान और शुक्ल ध्यानके साथ रौद्र ध्यान भी कहा है। यदि आज्ञामें होनेवाले पदार्थके साथ आज्ञा बाहरके पदार्थ न कहे जाते तो धर्म्मध्यान और शुक्लध्यानके साथ रौद्र ध्यान क्यों कहा गया है ? अतः आज्ञामें होनेसे ही अकाम निर्जरा और बालतपस्याका सराग संयम और संयमासंयमके साथ भगवतीके पाठमें कथन बतलाना मिथ्या है। भगवतीके मूलपाठमें अकाम निर्जरा और बालतपस्या स्वर्ग, प्राप्तिके कारण होनेसे सराग संयम और संयमा संयमके साथ कही गयी हैं आज्ञामें होनेसे नहीं। अतः भगवतीके मूलपाठका नाम लेकर अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञामें ठहराना मिथ्या है।

बोल ३६ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४३ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठांणा ४ उद्देशा २ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ गोशालारे स्थविर एहवा तपना करणहार कह्या छे। उग्र तप, घोर तप, रसनात्याग जिव्हेन्द्रिय वश कीधी। तेहनी खोटी श्रद्धा अशुद्ध छे पिण एतप अशुद्ध नहीं तप तो शुद्ध छै आज्ञा मांहि छै। ए जिव्हेन्द्रिय प्रति संलीनता तो भगवन्तें बारह भेद निर्जराना कह्या तेहमें कही छै। उवाईमें प्रतिसंलीनतारा चार भेद किया। इन्द्रिय प्रति संलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता, विविक्त शयनासनसेवणिया। अने इन्द्रिय प्रतिसंलीनता ना ५ भेदामें रसइन्द्रिय प्रतिसंलीनता निर्जराना बाहर भेद चाल्या ते मध्ये कही छै। ते निर्जराने आज्ञा बाहिरे किम कहिए"

(भ्र० पृ० ४४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोशालक मतानुसारिणी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनता और वीतरागमतमान्य जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनता एक नहीं हैं भिन्न भिन्न हैं क्योंकि उवाई सूत्रके सत्रहवें बोल में गोशालक मतानुसारी तपस्वियोंको परलोकका अनाराधक कहा है। यदि गोशालक मतानुसारिणी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनता जिनोक्त प्रतिसंलीनतासे भिन्न न होती तो गोशालक मतानुसारी तपस्वियोंको परलोकका अनाराधक कैसे कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गोशालक मतानुसारिणी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनता अन्य है और वीतराग मतोक्त जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनता अन्य है। अतः पूर्वोक्त दोनों प्रतिसंलीनताओंको एक ठहरा कर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिनाज्ञामें बताना मिथ्या है।

उवाई सूत्रका वह पाठ नीचे लिखा जाता है जिसमें गोशालक मतानुयायी तपस्वियोंकी तपस्याका वर्णन करके उन्हें परलोकका अनाराधक कहा है।

"सेजे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु आजीविका भवंति तंजहा—दुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलवेंटिया, घरसमुदाणिया, विज्जुअन्तरिया, उट्टियासमणा तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहुइं वासाइं परियायं पाउणंति। पाउणिता कालमासे कालंकिचा उक्कोसेणं अच्चुएकप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवन्तितहिं तेसिंगती बावीसं सागरोवमाइं ठिती अणाराहगा सेसं तं चेव "

(उवाई सूत्र)

अर्थ—

ग्राम, आगर, यावत् सन्निवेशोंमें गोशालक मतानुसारी श्रमण होते हैं उनमें कई, दो घर टालकर तीसरे घरमें, कई तीन घरोंको टालकर चौथे घरमें, कई सात घरोंको टाल कर आठवें घरमें भिक्षा लेते हैं। कई, सिर्फ कमलवृंतको खाकर रहते हैं, कई, प्रत्येक घरोंमें भिक्षा लेते हैं केवल एक ही घरसे नहीं। कई, बिजली चमकनेपर भिक्षा नहीं लेते, कई एक ऊंटकी तरह बने हुए मिट्टी के पात्रमें रह कर तपस्या करते हैं। ये सभी अपने व्रतको बहुत वर्षोंतक पालकर कालके अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकरउत्कृष्ट बारहवें देवलोक अच्युत कल्पमें उत्पन्न होते हैं। वहीं तक उनकी उत्कृष्ट गति है बाईस सागर पर्य्यन्त उनकी स्थिति है। ये लोग परलोकके आराधक नहीं हैं।

यहां गोशालक मतानुयायियोंकी कष्ट कर तपस्याका वर्णन करके उन तपस्याओंको जिनाज्ञामें न होनेसे उन्हें जिनाज्ञाका आराधक न होना कहा है। यदि गोशालक मतानुयायियोंकी तपस्या जिनाज्ञामें होती तो उन्हें इस पाठमें परलोकका अनाराधक न कहते। तथा इनकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनीता यदि जिन आज्ञामें होती तो वे जिनाज्ञाके अनाराधक न कहे जाते। अतः गोशालक मतकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनताका वीतराग मतकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनतासे भिन्न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है। तथापि शब्दकी तुल्यता देख कर यदि कोई गोशालक मतानुयायियोंकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनताको जिन आज्ञामें बतावे तो उसे इनकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्याको भी जिन आज्ञामें ही मानना चाहिए क्योंकि इनकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्या भी जिन मार्गकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्यासे शब्दतः तुल्य हैं। यदि शब्दतः तुल्य होने पर भी गोशालक मतानुयायियोंकी भिक्षाचरी और प्रव्रज्याको जिन आज्ञामें नहीं मानते तो इनकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनताको भी आज्ञामें नहीं मानना चाहिये अतः गोशालक मतानुयायियोंकी जिव्हेन्द्रिय प्रतिसंलीनताको वीतरागकी आज्ञामें ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० ४४ पर प्रश्नव्याकरण सूत्रके दूसरे संवरद्वारका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहां कह्यो सत्य वचन साधुने आदरवा योग्य छै। ते साथ अनेक पाषण्डी अन्य दर्शनी पिण आदरयो कह्यो, ते सत्य लोकमें सारभूत कह्यो। सत्य महासमुद्रथकी पिण गम्भीर कह्यो मेरुथकी स्थिर कह्यो एहवा भगवन्ते सत्यने वखाण्यो ते सत्यने अन्य दर्शनी पिण धार्यो तो ते सत्यने खोटो अशुद्ध किम कहिए आज्ञा बाहरे कहे तो ते हनी श्रद्धा ऊंधी छै, पिण निरवद्य सत्य श्रीवीतरागे सरायो ते आज्ञा बाहरे नहीं"

(भ्रम० पृ० ४४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रश्न व्याकरण सूत्रका वह मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है—

"अनेग पासण्ड परिग्गहियं जं तिलोकम्मिसारभूयं गंभीर-तरं महासमुद्दाओ थिरतरं मेरुपव्वआओ"

(प्रश्न व्याकरण सम्वर द्वार २)

इसका अर्थ यह है—

सत्यरूप महाव्रतको विविध व्रतधारियोंने स्वीकार किया है यह महासमुद्रसे भी गम्भीर मेरु पर्वतसे भी अधिक स्थिर और तीन लोकमें सारभूत है।

यहां मूलपाठमें जो "अनेग पाषण्ड परिग्गहियं" पाठ आया है इसका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है—

"अनेक पाषण्डिपरिगृहीतं नानाविध व्रतिभि रङ्गी कृतम्" अर्थात् अनेक प्रकार के व्रतधारियोंसे स्वीकार किया हुआ व्रतका नाम पाषाण्ड है और वह व्रत जिसमें हो उसे "पाषण्डी" कहते हैं। उन पाषण्डियोंसे ग्रहण किए हुए होनेसे सत्य व्रत "अनेक पाषण्डि परिगृहीत" कहा गया है। यद्यपि लोकमें पाषण्डी शब्द दाम्भिक अर्थमें भी आता है तथापि उक्त पाठमें व्रतधारी अर्थमें ही आया है दाम्भिक अर्थमें नहीं। जैन शास्त्रमें पाषण्ड शब्दका व्रतधारी अर्थ भी होता है। दशवैकालिक सूत्र अध्याय २ नियुक्ति १५८ की टीकामें पाषण्ड शब्दका अर्थ यों किया है:—

पाषण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलंभुवि। सपाषण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाश विनिर्गतः"

अर्थात् पाषण्ड नाम व्रतका है वह जिसका निर्मल है उस कर्मबन्धनसे विनि-मुक्त पुरुषको पाषण्डी कहते हैं।

यहां टीकाकारने पाषण्ड शब्दका व्रत अर्थ बतलाया है और दशवैकालिक सूत्रकी नियुक्तिमें श्रमण निग्रन्थोंका 'पाषण्ड' नाम कहा है वह नियुक्तिकी गाथा यह है—

"पव्वईए अणगारे पासण्डे चरग तावसे भिक्खू परिवा-इए य समणे निग्गंथे सञ्जए मुत्ते"

अर्थात प्रव्रजित, अनगार, पाषण्ड, चरक, तापस, भिक्षु परिव्राजक, श्रमण, निग्रंथ, संयत और मुक्त ये सब श्रमण निग्रन्थोंके नाम हैं।

इस नियुक्तिमें श्रमणनिग्रन्थोंका नाम "पाषण्ड" कहा है उपासकदशांग सूत्रके प्रथम अध्ययनमें और आवश्यक सूत्रमें सम्यक्त्वका अतिचार बतलानेके लिये यह पाठ आया है "पर पासण्डपसंसा परपासंड संथव" इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है:—

"सर्वज्ञ प्रणीत पाषण्ड व्यतिरिक्तानां प्रशंसा प्रशंसनं स्तुतिरित्यर्थः।

अर्थात् सर्वज्ञसे रचा हुआ जो पाषण्ड हैं उससे भिन्न पाषण्डकी प्रशंसा करना सम्यक्त्वका अतिचार है।

यहां सर्वज्ञसे पाषण्डका रचा जाना कहा है जो लोग पाषण्डका अर्थ केवल दम्भ बतलाते हैं उनसे पूछना चाहिये कि सर्वज्ञने कौनसा दम्भ रचा है ? यदि वे सर्वज्ञसे दम्भ का रचा जाना न मानें तो उक्त टीकाके पाषण्ड शब्दका उन्हें व्रत अर्थ मानना ही पड़ेगा इस प्रकार उक्त टीकाका यही अर्थ है कि जो पाषण्ड यानी व्रत सर्वज्ञका कहा हुआ नहीं है उसकी प्रशंसा करना सम्यक्त्वका अतिचार है। यदि पाषण्ड शब्दका दम्भ ही अर्थ होता है तो मूलपाठमें "पाषण्ड" शब्दके पहिले "पर" लगानेकी क्या आवश्यकता थी क्योंकि जैसे दूसरेका दम्भ बुरा है वैसे ही अपना दम्भ भी तो बुरा होना चाहिये फिर "पर" शब्द क्यों लगाया ? केवल यही कहा जाता कि "मैंने यदि पाषण्डकी प्रशंसा की हो तो "तस्समिच्छामिदुक्कडं" परन्तु ऐसा न कह कर जो मूलपाठमें "परपाषण्ड" कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि "पाषण्ड" नाम व्रतका है उस व्रतके धारण करनेवाले पुरुषों से सत्यका ग्रहण किया जाना प्रश्न व्याकरण सूत्रके दूसरे संवरद्वारमें कहा है इसलिये प्रश्न व्याकरण सूत्रका नाम लेकर मिथ्यादृष्टि अज्ञानी दाम्भिक पुरुषोंमें सत्यका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५ पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे इम कह्यो ते वन खण्डने विषे वाण व्यन्तर देवता देवी बैसे सुवे क्रीडा करे पूर्वभवे भला पराक्रम फोडव्या तेहना फल भोगवे एहवा श्री तीर्थंकर देवे कह्यो। तो जे वाण व्यन्तरमें तो सम्यग्दृष्टि उपजै नहीं। व्यन्तरमें तो मिथ्यात्वीज उपजे छै अने मिथ्यात्वीरो सर्व पराक्रम अशुद्ध हुवे तो श्रीतीर्थंकर देवे इम क्यूं कह्यो जे वाण व्यन्तरे पूर्वभवे भला पराक्रम किया तेहना फल भोगवे छै। एतो मिथ्यात्वीरा शील तपादिकने विषे भलो पराक्रम कह्यो छै। जो तिगरो पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवन्त भलो पराक्रम न कहिता। एतो भली करणी करे ते आज्ञा मांहिं छै" (भ्र० पृ० ४५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके मूलपाठमें व्यन्तर संज्ञक देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको भगवान्ने अच्छा कह कर बतलाया है इससे यह नहीं सिद्ध हो सकता कि उन देवताओंके

पूर्वभवके कार्य्य वीतरागकी आज्ञामें थे क्योंकि व्यन्तर देवोंके पूर्वभवके कार्य्यको जैसे भगवान्‌ने अच्छा कहा है उसी तरह पद्मवर वेदिका वनखण्ड और उनमें देवताओंसे भोगे जाने वाले सुख विशेषको भी अच्छा कहा है। पद्मवर वेदिका और वनखण्डके लिये यह पाठ आया है:—

"पासाइया दंसणीया अभिरूवा पडिरूवा"

अर्थात् पद्मवर वेदिका चित्तको प्रसन्न करने वाली है, देखने योग्य है, अभिरूप है, और प्रतिरूप है। यहां भगवान् ने पद्मवर वेदिका और वनखण्ड को भी अच्छा कहा है।

इसी तरह व्यन्तर संज्ञक देवताओं के सुख विशेष के सम्बन्ध में यह पाठ आया है:—

"कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिविसेसे पच्चणुभवमाणा विहरंति"

अर्थात् व्यन्तर संज्ञकदेव पूर्वभवमें किये हुए कल्याण रूप कर्मोंका फलस्वरूप कल्याण रूप फल विशेषका अनुभव करते हैं।

यहां भगवान्‌ने जैसे व्यन्तर देवोंके पूर्वभवके कार्य्यको कल्याण कह कर बताया है उसी तरह उनसे भोगे जाते हुए सुख विशेषको भी कल्याणरूप कहा है। अतः जो लोग भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेके कारण व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको आज्ञामें बताते हैं उन्हें व्यन्तरदेवोंके सुखविशेषको भी आज्ञामें ही मान लेना चाहिये तथा पद्मवर वेदिका और वनखण्डको भी उन्हें आज्ञामें ही कहना चाहिये। यदि पद्मवर वेदिका वनखण्ड और वहां देवताओंसे भोगे जाने वाले सुखविशेषको भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेपर भी आज्ञामें नहीं मानते तो व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको भी आज्ञामें न मानना चाहिये। तथापि इस पाठका उदाहरण देकर व्यन्तर देवताओंके सुख विशेष और पद्मवर वेदिकाको आज्ञामें न मानते हुए भी उनके पूर्वभवके कार्य्यको आज्ञामें कहना दुराग्रहका परिणाम है।

वास्तवमें आज्ञामें होनेके कारण भगवान् ने व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्य, उनके सुख विशेष, और पद्मवर वेदिका तथा वन खंडको अच्छा नहीं कहा है किन्तु वस्तु स्थिति बतलाई है। जैसे रत्नको श्रेष्ठ और कङ्करको निकृष्ट कहा जाता है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रत्न भगवान् की आज्ञामें है और कङ्कर आज्ञामें नहीं है उसी तरह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके मूलपाठमें वस्तुस्थितिका कथन है वीतरागकी आज्ञामें होनेवाले मोक्षमार्गा-

राधनरूप कार्य्योंका कथन नहीं है। अतः जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको आज्ञामें वताना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ ४७ पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अने जो माता पितारा विनीत कह्या तेहिज गुण थायसे तो इहां इमि कह्यो माता पितारो वचन उल्लंघे नहीं तिणरे लेखे एपिण गुण कहिणो जो ए गुण छै तो धर्म करन्ता माता पिता वर्जे अने न माने तो एवचन लोप्यो ते मांटे तिणरे लेखे अवगुण कहिणो। साधुपणोलेतां श्रावक पणू आदरतां सामायक पोषा करतां माता पिता वर्जे तो तिणरे लेखे धर्म करणो नहीं अने सामायकादि करे तो अविनीत थयो ते अवगुण हुवे तेहथीतो धर्म हुवे नहीं"

(भ्रम० पृ० ४७-४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रके मूलपाठमें, माता पिताकी सेवा शुश्रूषा विनय भक्ति आज्ञा पालन करनेसे पुत्रको स्वर्ग प्राप्ति स्पष्ट लिखी है परन्तु इस शास्त्रोक्त बातके अङ्गीकार करनेसे भ्रमविध्वंसनकारका अपना कपोल कल्पित सिद्धांत मिथ्या ठहरता है इसलिये उवाइ सूत्रके उक्त मूलपाठका इन्होंने विपरीत अभिप्राय बतलाया है। इनका सिद्धान्त है कि "इनके मतके साधुओंके सिवाय सभी कुपात्र हैं" यहां तक कि माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरुजनोंको भी यह कुपात्र कहते हैं उनकी सेवा करनेसे यह एकान्त पाप मानते हैं ऐसी दशामें उवाई सूत्रके मूलपाठका विपरीत अर्थ न करनेसे इनका मत खडा नहीं रह सकता अतः इन्होंने इस पाठका विपरीत अर्थ किया है। इनका यह कहना कि "माता पिताका विनय करना उनकी आज्ञा पालन करना यदि धर्म है तो माता पिता चोरी जारी व्यभिचार और मद्यपान मांसभक्षणकी आज्ञा देवें तो वह आज्ञा पालन करना भी पुत्रके लिये धर्म होना चाहिये और उस आज्ञाके न माननेसे पाप होना चाहिये" बिलकुल कुतर्क है।

इस विषयमें बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि—अपने पुत्रको चोरी जारी मद्यपान मांसभक्षण वेश्यागमन आदि बुराइयोंकी शिक्षा देने वाले माता पिता अधिक हैं या

इन कुकृत्योंसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले माता पिता अधिक हैं ? जहां तक आशा की जाती है सभी बुद्धिमान् यही कहेंगे कि उक्त बुराइयोंसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले माता पिता ही अधिक हैं। सम्भव है कोई कोई माता पिता स्वार्थ या मूर्खतावश अपने पुत्र को उक्त बुराइयोंकी शिक्षा भी देते हों पर वे विरले होते हैं। उन अपवाद स्वरूप माता पिताकी आज्ञामें यदि पाप होता है तो उनके उदाहरणसे सभी माता पिताओंकी आज्ञामें पाप ही है यह कौनसा न्याय है ? किसी अपवादका आश्रय लेकर उत्सर्गको बुरा कहना कहांकी विद्वत्ता है ?

कभी कभी सूर्य्यग्रहण होने पर दिनमें ही अन्धकार हो जाता है उसे देख कर यदि कोई सूर्य्यको अन्धकार फैलानेवाला कहे तो वह मूर्ख है उसी तरह अपवादस्वरूप माता पिताके उदाहरणसे जो सभी माता पिताकी आज्ञा माननेमें पाप बताता है वह भी मूर्ख है। कोई कोई ऐसी भी दुष्टा माता सुननेमें आई है जिसने अपने पुत्रका घात कर दिया है, क्या उसके उदाहरणसे सभी माताएं पुत्रघातिनी कही जा सकती हैं ? कदापि नहीं। जब कि पुत्रघातिनी माताके उदाहरणसे सभी माताएं पुत्रघातिनी नहीं कहीं जा सकतीं तब कुकृत्यकी शिक्षा देनेवाले पिताके उदाहरणसे सभी पिता बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? अतः माता पिताका विनय और सेवा शुश्रूषा करनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्रविरुद्ध है।

उवाई सूत्रमें माता पिताकी सेवा भक्ति और उनकी आज्ञा पालन करनेसे स्वर्ग जाना कहा है वह पाठ यह है—

"सेजे इमे गामागर नगर जाव सन्निवेसेसु मणुआ भवंति पगइभद्दगा पगइउवसन्ता पगइपतणुकोहमानमायालोभा मिउ-मद्दव संपन्ना अल्लीणा वीणीया अम्मापिओउ सुस्सुसगा अम्मा-पत्ताणं अणतिक्कमणिज्ज वयणा अप्पिच्छा अप्पारम्भा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिंकप्पेमाणा बहुइं वासाइं आउयं पालयंति पालित्ता कालमासे कालं किचा अनुत्तरेसुवाणमंतरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तंचेव सव्वं नवरं ठिति चोद्दसवास सहस्साइं"

(उवाई सूत्र)

अर्थात् ग्राम नगर आदि सन्निवेशोंमें रहने वाले जो मनुष्य स्वभावसे भद्रक अर्थात् परोप-कारी हैं। स्वभावसे उपशान्त यानी शीतल हैं, स्वभावसे ही क्रोध मान माया और लोभको

ह्रस्व किये हुए हैं । अहङ्कार रहित होकर गुरुके आश्रयमें रहते हैं, विनीत हैं, माता पिताके वचन को उल्लङ्घन नहीं करने वाले हैं, माता पिताकी सेवाशुश्रूषा करते हैं, अल्पारम्भी अल्प-परिग्रही हैं और अल्प आरम्भ समारम्भसे अपनी जीविका चलाते हैं वे बहुत वर्षों तक अपनी आयुको पूर्ण करके कालके अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर वाण व्यन्तर संज्ञक देवलोकमें देवता होते हैं वहां वे चौदह हजार वर्ष तक रहते हैं । शेष पूर्ववत् है । यह ऊपर लिखे पाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि परोपकार करनेवाले विनीत और मातापिताकी आज्ञा पालने वाले पुरुष देवलोकमें जाते हैं । यदि मातापिताकी आज्ञा पालन करना उनकी सेवाभक्ति करना एकान्त पापमें होती तो उससे स्वर्ग जाना इस पाठमें क्यों कहा जाता ? स्वर्ग प्राप्ति पुण्यसे होती है पापसे नहीं होती । परन्तु भ्रमविध्वंसनकार मूढ मतियोंको बहकानेके लिये लिखते हैं—

"अहो महानुभावो ! ए गुण नहीं ए तो प्रतिपक्ष वचन छै । जे इहां इम कह्यो सहजे पतला क्रोध मान माया लोभ । क्रोध मान माया लोभ पतला थोड़ा ते तो अव गुण इज छै थोडा अवगुण छै पिण क्रोधादिक तो गुण नहीं पिण प्रतिपक्ष वचने करी ओल खायो छै । पतला क्रोधादिक कह्या तिवारे जाडा क्रोधादिक नहीं ए गुण कह्या छै ।"

यह लिख कर भ्रमविध्वंसनकार मूल पाठमें कहे हुए विनयकरने तथा माता पिताके वचन का उल्लङ्घन न करनेको गुण नहीं मानते । अतः इनके मतमें विनय करना भी बुरा है और अविनय करना भी बुरा है परन्तु यह बात शास्त्र और अनुभवसे सर्वथा विरुद्ध है । यदि विनय करना बुरा है तो अविनय करना अच्छा होना चाहिए एवं अविनय करना बुरा है हो विनय करना अच्छा होना चाहिए लेकिन विनय और अविनय दोनों ही बुरे हों यह बात नहीं हो सकती है इस पाठमें विनय करना स्पष्ट गुण बतलाया है उसे बुरा बताना शास्त्रसे भी विरुद्ध है ।

इसी तरह प्रतिपक्ष वचनका नाम लेकर इस पाठमें कहे हुए विनय आदि गुणोंको दोष कहना भी अज्ञान है । जैसे विनयका प्रतिपक्ष वचन अविनय और लघुक्रोध मान माया और लोभके प्रतिपक्ष वचन, महान् क्रोध मान माया और लोभ होते हैं उसी तरह माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करनेका प्रतिपक्ष वचन मातापिताके वचनका उल्ल-ङ्घन करना होता है यदि प्रतिपक्ष वचनसे इस पाठमें गुण बतलाये हैं तो भ्रमविध्वंसन-कारके मतमें माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण कहना चाहिए क्योंकि मातापिता के वचनको उल्लङ्घन न करनेका प्रतिपक्ष वचन उनके वचनको उल्लङ्घन करना होता है । यदि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण नहीं मानते तो उनके वचनको उल्लङ्घन

नहीं करनेको गुण कहना ही होगा जब कि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करना गुण है तो उसी तरह इस पाठमें विनय आदि करना भी गुण है दोष नहीं है । अतः प्रतिपक्ष वचनका झूठ ही नाम लेकर मातापिताकी सेवाभक्ति आज्ञा पालन और विनय आदि करनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्रसे सर्वथा विरुद्ध है ।

(बोल ४० वां)

इति मिथ्यात्वि क्रियाधिकारः ।



अथ दानाधिकारः ।



कईएक अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेका उपदेश देकर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं परन्तु जिस समय कोई दयालु पुरुष, हीन दीन दुःखी अनाथ प्राणीको कुछ देता है और वे दीन दुःखी लेते हैं उस समय एकांत पाप कह कर उसका (अनुकम्पा दानका) निषेध नहीं करते क्योंकि उस समय अनुकम्पा दानके त्याग करानेसे अन्तरायका पाप लगना वे भी मानते हैं। जैसे कि भ्रम० कारने लिखा है—"लेतो देतो इसो वर्तमान देखि पाप न कहे उण वेलां पाप कह्यां जे लेवे छै तेहने अन्तराय पडे ते मांटे साधु वर्तमाने मौन राखै" (भ्र० पृ० ५) आगे चल कर भ्र० पृ० ७२ पर लिखा है "राजादिक वा अनेरा पुरुष कुआं, तालाव, पो, दानशाला विषय उद्यतथयोथको साधु प्रति पुण्य सद्भाव पूछे तिवारे साधुने मौन अवलम्बन करनी कही पिण तीन कालनें निषेध कह्यो नथी"

वास्तवमें यह प्ररूपणा जैन शास्त्रसे सर्वथा प्रतिकूल है। जैन शास्त्र किसी कालमें भी अनुकम्पा दानका प्रतिषेध नहीं करता। उपदेशमें अथवा भूतकाल औरवर्तमान कालमें अनुकम्पा दानको एकान्त पाप कह कर त्याग करानेकी शिक्षा जैन शास्त्र नहीं देता प्रत्युत इसे पुण्यका भी कारण कहता है इसलिए जो उपदेशमें अनुकम्पा दानको एकान्त पाप कह कर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं वे मिथ्यादृष्टि और उत्सूत्रभाषी हैं।

शास्त्रमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे तीनों ही कालमें अन्तराय होना कहा है परन्तु देनेवाला देता हो और लेनेवाला लेता हो उसी समयमें अन्तराय होना नहीं कहा है। अतः उपदेशमें या किसी भी समयमें जो अनुकम्पा दानका निषेध करता है वह अन्तरायका भागी और हीनदीन जीवोंकी जीविकाका अपहरण करनेवाला है। शास्त्र में अधर्म दानको एकान्त पाप कह कर उसका त्याग कराना तीनों ही कालमें धर्म माना है। कोई अधर्म दान दे रहा हो और चोर जार हिंसक प्राणी उसे चोरी जारी हिंसाके लिए ले रहे हों उस समयमें भी साधु समझा बूझा कर उस अधर्म दानका यदि त्याग करावे तो इसमें धर्म ही होता है पर अन्तराय नहीं होता। कोई आभिग्रहिक मिथ्यात्वी न माने तो लाचार होकर साधु यदि मौन रह जाय तो यह बात दूसरी है, परन्तु योग्य पुरुषको किसी भी समयमें समझा कर उससे अधर्म दानका त्याग कराना अन्तराय

देना नहीं किन्तु धर्मका कार्य्य है। इस प्रकार तीनों ही कालमें अधर्म दानका निषेध करना शास्त्र सम्मत है। जो लोग अनुकम्पा दानको अधर्म दानमें गिनते हैं वे वर्तमान कालमें भी अनुकम्पा दानका निषेध क्यों नहीं करते ? क्योंकि अधर्म दानके निषेध करनेमें किसी भी कालमें अन्तराय नहीं कहा है। यदि अधर्म दानके त्याग करानेमें भी अन्तराय लगना कोई माने तो उसके हिसाबसे चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देने वाले पुरुषसे भी उसके दानका फल एकान्त पाप नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकान्त पाप बतलानेसे देनेवाला यदि न देवे तो चोर जार हिंसक आदिके लाभमें अन्तराय पड़ता है। यदि चोरी जारी हिंसा आदि महारंभका कार्य्य करनेके लिये चोर जार हिंसकको दान देना एकान्त पाप है इसलिए वर्तमानमें भी उसके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता तो उसी तरह तुम्हारे मतसे अनुकम्पा दान भी एकान्त पाप है इसलिए उसका वर्तमानमें निषेध करनेसे भी अन्तराय न होना चाहिये। यदि कहो कि हम इन सब विषयोंमें एक समान ही मौन रह जाते हैं अर्थात् "कोई दयालु किसी दीन दुःखीको कुछ दे रहा हो और व्यभिचारार्थ कोई वेश्याको दे रहा हो, तथा चोरी जारी हिंसाके लिये कोई चोर जार और हिंसकको दे रहा हो इन सभी विषयोंमें हम एक समान ही मौन रहते हैं, अन्तरायके भयसे पुण्य पाप कुछ भी नहीं कहते" तो फिर दूसरे अधर्मोमें भी आपको ऐसा ही करना चाहिये क्योंकि जैसे अधर्म दान अधर्म है उसी तरह हिंसा करना चोरी करना आदि भी अधर्म है इनका भी वर्तमान कालमें आप लोग क्यों निषेध करते हैं ?

कसाईको बकरा मारनेके लिए तैयार देख कर उपदेश द्वारा उसे हिंसा छुड़ानेमें भी आपके सिद्धान्तानुसार अन्तराय लगना चाहिये। यदि हिंसा छुडानेमें अन्तराय नहीं लगता तो अनुकम्पा दान छुड़ानेमें भी तुम्हारे मतमें अन्तराय न होना चाहिए क्योंकि जैसे हिंसा करना अधर्म हैं अधर्म दान देना अधर्म है उसी तरह तुम्हारे मतमें अनुकम्पा दान भी अधर्म है क्योंकि देनेवाला अधर्ममें ही देता है और लेनेवाला अधर्म में लेता है उसका त्याग करा देनेसे दोनोंका अधर्म छूट सकता है अतः जिस प्रकार उपदेश द्वारा हिंसा छुड़ानेमें वर्तमानमें भी अन्तराय नहीं होता उसी तरह कोई अनुकम्पा दान दे रहा हो और लेने वाला ले रहा हो उस समय भी अनुकम्पा दानके त्याग करानेमें तुम्हारे हिसाबसे पाप न होना चाहिये। भ्र० पृ० १५० में लिखा हैं कि "हिंसादिक अकार्य्य करता देखि उपदेश देई समझावणो" तो किसीको अधर्म दान देते देखकर क्यों नहीं समझाना चाहिये। जैसे हिंसा छुडाना धर्म है उसी तरह आपके मतमें अनुकम्पादान छुडाना भी धर्म है अतः जैसे वर्तमानमें भी हिंसा छुडानेमें आप धर्म मानते

हैं उसी तरह वर्तमानमें अनुकम्पादान छुडानेमें भी धर्म क्यों नहीं मानते ? यदि आप यह कहें कि अनुकम्पा दानके त्याग करानेसे वर्तमान कालमें लेनेके लिए उपस्थित हीन दीन जीवोंकी जीविकामें वाधा पड़ती है पर कसाईसे हिंसा छुड़ानेमें किसीकी जीविका का नाश नहीं होता इसलिये हम वर्तमान कालमें हिंसाका निषेध करते हैं अनुकम्पा दान का निषेध नहीं करते तो यह मिथ्या है जिस मांसाहारीको मांस देनेके लिये कसाई हिंसा करता है उसके लाभका अन्तराय कसाईसे हिंसा छुड़ानेमें भी हो सकता है ऐसी दशामें आपके मतमें उपदेश देकर कसाईसे हिंसा भी नहीं छुड़ानी चाहिए। परन्तु जैसे हिंसा करना अधर्म है उसके छुड़ानेमें कोई अन्तराय नहीं होता उसी तरह अनुकम्पा दान भी आपके मतमें अधर्म है अतः वर्तमानमें भी उसका त्याग कराने पर आपको अन्तराय नहीं मानना चाहिए। परन्तु वर्तमानमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेमें आप भी अन्तरायका पाप होना मानते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान, वेश्या चोर जार हिंसक प्राणियोंको व्यभिचार चोरी आदिके लिये दिया जानेवाला अधर्म दान के समान एकान्त पापका कारण नहीं है अतएव अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे अन्तराय लगना कहा है अधर्म दानके निषेध करनेसे नहीं कहा है।

दशवैकालिक सूत्रमें अनुकम्पा दानके अधिकारियोंको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वारपर खड़े देख कर उन्हें अन्तराय न देनेके लिए साधुको वहांसे हट जाना कहा है परन्तु वेश्या आदिको व्यभिचारार्थ दान लेनेके लिये गृहस्थके द्वारपर खड़ा देख कर साधुको टल जाना नहीं कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य कार्य्यमें वाधा पहुंचानेसे ही अन्तराय होता है एकान्त पापमें वाधा देनेसे अन्तराय नहीं होता वह दशवैकालिक सूत्रकी गाथा यह है—

"समणं माहणंवावि किविणंवा वणीमगं
उवसंकमन्तं भत्तट्ठा पाणट्ठाएवसंजए
तमइक्कमित्तुनपविसे नविचिट्ठे चक्खुगोयरे
एगन्तमवक्कमित्ता तत्थचिट्ठिज्जसंजए

(दश वै० अ० ५ उ० २ गाथा १०-११)

अर्थात् श्रमण माहन दरिद्र और वनीपकको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए या जाते हुए देख कर उनको उल्लङ्घन करके साधु भिक्षार्थ गृहस्थके मकानमें प्रवेश न करे और गृहस्वामीके दृष्टिगोचरमें भी न स्थित रहे किन्तु जहां गृहस्थकी दृष्टि न पड़े वहां एकान्तमें जाकर ठहरे।

यहां दशवैकालिक सूत्रकी गाथाओंमें अनुकम्पादान लेनेवाले श्रमण माहन दरिद्र भिखारी आदिको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए देख कर साधुको उनका अन्तराय न देनेके लिये गृहस्थके द्वारसे टल जाना कहा है परन्तु चोर जार हिंसक और वेश्या आदिको चोरी जारी आदि कुकर्मके निमित्त गृहस्थके द्वार पर दान लेनेके लिये खड़े देखकर साधुको वहांसे टल जाना नहीं कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि एकांत पापके कार्य्यमें वाधा देनेसे अन्तरायका पाप नहीं होता पुण्यकार्य्यमें वाधा पहुंचानेसे अन्तराय कर्म बंधता है अतः अनुकम्पादानका किसी भी समयमें निषेध नहीं करना चाहिये क्योंकि इसमें पुण्यका सद्भाव है अतएव उक्त गाथाओंमें अनुकम्पादानमें वाधा पहुंचानेसे अन्तराय होना माना है एकान्त पापके कार्य्य चोरी जारी आदिमें वाधा देनेसे अन्तराय लगना नहीं कहा है इसलिये अनुकम्पादानको एकान्त पापमें वताना मूर्खोंका कार्य्य है।

अनुकम्पादान यदि अधर्म दानमें है तो उसके निषेध करनेसे वर्तमानमें भी अन्तराय न होना चाहिये जैसे चोरी जारी हिंसा आदि कुकर्म करनेके लिये उद्यत हुए पुरुषको वर्तमानमें भी निषेध करनेसे अन्तराय नहीं लगता उसी तरह अनुकम्पादानको एकांत पाप कहनेवालोंके मतमें वर्तमानमें भी उसका (अनुकम्पादानका) निषेध करनेसे अन्तराय न होना चाहिये। यदि कहो कि चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे किसीके स्वार्थमें वाधा नहीं होती इसलिये वर्तमानमें भी चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता परन्तु अनुकम्पादानके निषेध करनेसे दान लेनेवालेके स्वार्थकी हानि होती है इसलिये हम वर्तमानमें अनुकम्पादानका निषेध नहीं करते तो यह वात अयुक्त है चोरके चोरी छुडानेसे उसके कुटुम्बके भरण पोषणमें वाधा पहुंचती है एवं जारको जारीका त्याग करानेसे उसकी प्रियाके कामसुखकी हानि होती है एवं हिंसकके हिंसा छुडाने पर मांसाहारीके मांस भोजनमें क्षति होती है ऐसी दशामें (उक्त जीवोंके स्वार्थमें वाधा पहुंचने पर भी) चोरी जारी हिंसा आदिका वर्तमानमें त्याग करा देना यदि अन्तराय रूप पापका कारण नहीं है तो हीन दीन प्राणियोंके स्वार्थमें वाधा पहुंचने पर भी वर्तमान कालमें अनुकम्पादानके निषेध करनेसे तुम्हारे मतमें पाप न होना चाहिये ? परंतु तुमने वर्तमानमें अनुकम्पादानका निषेध करना अन्तरायका कारण माना है और शास्त्रमें सभी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना पापका हेतु कहा है अतः अनुकम्पादानको एकान्त पापमें स्थापन करके उपदेशमें उसके त्यागकी शिक्षा देना अनुकम्पाद्रोहियोंका कार्य्य है।

अनुकम्पादानको एकांत पापमें कायम करने वाले मनुष्योंसे यह भी पूछना चाहिये कि एक पुरुष हाथमें रोटी लेकर भिक्षुकोंको देनेके लिये धर्मशालामें जा रहा है और

दूसरा रुपये लेकर व्यभिचारार्थ वेश्याको देने जा रहा है, तीसरा स्वयं खाने और दूसरे को मांस खिलानेके लिये छुरी लेकर बकरा मारने जा रहा है चौथा अपने परिवार के पोषणके लिये चोरी करने जाता है इन सभी पुरुषोंसे मार्गमें यदि साधु मिलें तो वह किसको एकांत पापकी शिक्षा देकर त्याग करावें और किसके विषयमें मौन रहें ? यदि कहो कि हाथमें रोटी लेकर भिक्षुकोंको देनेके लिये धर्मशालामें जाते हुए पुरुषके विषयमें साधु मौन रहें और शेष सभी लोगोंको एकान्त पापका उपदेश देकर उनसे चोरी व्यभिचार और हिंसाका त्याग करावें तो यहां यह प्रश्न होता है कि तुम्हारे मतमें अनुकम्पा दान देना भी तो चोरी जारी और हिंसाके समान ही एकान्त पाप है फिर अनुकम्पादान देनेके लिये जाने वालेके विषयमें साधु क्यों मौन रहता है ? तुम्हारे हिसावसे उसको भी त्याग करा देना चाहिये। परन्तु तुम लोग भी अनुकम्पा दानके विषयमें वर्तमानमें मौन रह जाते हो उसका त्याग नहीं कराते इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पादान चोरी जारी और हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य नहीं किंतु पुण्यका भी कारण है।

कई अनुकम्पादानके विरोधी, ऐसा कुतर्क करते हैं कि "अनुकम्पादानमें यदि पुण्य है तो श्रावकोंको सामायक और पोषा न कराना चाहिये क्योंकि सामायक और पोषामें बैठा हुआ श्रावक अनुकम्पादान नहीं देता इसलिये हीन दीन जीवोंकी जीविकामें बाधा पड़ती है" जैसे कि भ्रम० कारने लिखा है "वली कोईने सामायक पोषो करावणो नहीं सामायक पोसामें कोईने देवे नहीं यदपिण इहां अन्तराय कर्म बंधे छै" (भ्र० पृ० ५१)

इसका उत्तर यह है—श्रावक सामायक और पोषा विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये करते हैं न कि अनुकम्पादानसे अपनेको बचानेके लिए। अनुकम्पादान देना सामान्य गुण है और सामायक पोषा करना विशिष्ट गुण है उस विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके समय सामान्य गुणका त्याग होना स्वाभाविक है। जैसे दिशाकी मर्य्यादा करने वाला जो श्रावक घरसे वाहर जानेका त्याग किया हुआ है वह मुनिराजके सम्मुख भी उनके स्वागतार्थ नहीं जाता इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि मुनिराजके सम्मुख जाना छोड़नेके लिए इसने दिशाकी मर्य्यादा की है। तथा मुनिराजके स्वागतार्थ उनके सम्मुख जाना एकान्त पाप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस श्रावकने विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये दिशाकी मर्य्यादा की है मुनिराजके सम्मुख जानेको एकान्त पाप जान कर उसे छोड़नेके आशयसे नहीं उसी तरह सामायक और पोषा करने वाला श्रावक एकांत पाप जान कर अनुकम्पा दान देना नहीं छोड़ता है किन्तु विशिष्ट गुणका उपार्जन करते समय सामान्य गुण उससे छूट जाता है अतः अनुकम्पादानको एकान्त पाप जान कर श्रावक सामायक और पोषामें उसका त्याग करते हैं यह कहनेवाले अविवेकी हैं।

जो श्रावक विशिष्ट निर्जराके निमित्त वैराग्यभावसे स्वयं उपवास करता है और उपदेश देकर अपने परिवारको भी उपवास कराता है वह उस रोज घरमें रसोई न होनेसे साधुको आहार पानी नहीं देता, तो भी उसको साधुदानका अन्तराय नहीं होता किंतु विशिष्ट निर्जराका लाभ होता है क्योंकि उसने साधुदानमें अन्तराय देनेके लिये उपवास नहीं किया है उसी तरह जो श्रावक सामायक और पोपा करते हैं उनको अनुकम्पादान का अन्तराय नहीं होता किन्तु विशिष्ट गुणकी प्राप्ति होती है क्योंकि अनुकम्पादानको त्यागनेके उद्देश्यसे श्रावक सामायक और पोषा नहीं करते । अतः अनुकम्पादानको एकान्त पाप जान कर सामायक और पोषामें उसका त्याग बतलाना अज्ञानियों का कार्य्य है ।

भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना शास्त्र में वर्जित है । जैसे कि सुयगडांग सूत्रमें लिखा है—

"जेयणं पडिसेहंति वित्तिछेयं करंतिते"

अर्थात् जो अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन दीन जीवोंकी जीविका का उच्छेद करते हैं ।

यहां वर्तमान कालका नाम न लेकर सभी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना मना किया है इसलिये जो किसी भी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन दीनजीवोंकी जीविकाका छेदन करनेवाले पापी हैं । भ्रमविध्वंसनकारने इस गाथाको लिख कर इसके नीचे टव्वा अर्थ लिखा है वह टव्वा अर्थ यह है "जे गीतार्थ दाननेनिषेधे ते वृत्तिच्छेद वर्तमान काले पामवानो उपाय तेहनो विघ्न करे" तथा इस पाठकी समालोचना करते हुए भ्र० कारने लिखा है "दान लेवे ते देवे छै ते वेलां निषेध्यां बृत्तिछेद हुवे अने जेलेवे ते देवे न थी तो बृत्तिच्छेद किम हुवे । ते मांटे बृत्तिच्छेद वर्तमान काले इज छै । वली सुयगडांगनीवृत्ति शीलांकचार्य्य की धी ते टीकामें पिण वर्तमान कालरो इज अर्थ छै" परन्तु यह बिलकुल मिथ्या है सुयगडांग सूत्रकी उक्त गाथामें वर्तमान कालका नाम तक नहीं है और शीलांकाचार्य्यने जो उक्त गाथाकी टीका लिखी है उसमें भी वर्तमान कालका जिक्र नहीं है किन्तु गाथा और उसकी टीकामें सामान्यरूपसे सब कालके लिए अनुकम्पादानका निषेध करना वर्जित किया है । वह गाथा लिखी जा चूकी है उसकी टीका यह है—"येचकिलसूक्ष्मधियोवयमितिमन्यमानाआगमसद्भावानभिज्ञाःप्रतिषेधन्ति-तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां बृत्तिच्छेदं वर्तनोपाय विघ्नं कुर्वन्ति" अर्थात् जो अपने को सूक्ष्मदर्शी मानने वाले आगमके तत्त्वको न जाननेके कारण अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे गीतार्थ नहीं हैं क्योंकि वे प्राणियोंकी जीविकामें वाधा देते हैं ।

यहां टीकाकारने वर्तमान कालका नाम न लेकर किसी भी कालमें अनुकम्पादान का निषेध करनेवालेको अगीतार्थ और प्राणियोंकी जीविकाका विनाश करनेवाला कहा है इस लिए इस टीकाका नाम लेकर वर्तमान कालमें ही अनुकम्पादानके निषेध करनेसे पाप कहना मूर्खोंका कार्य्य है। भ्रमविध्वंसनकारने जो सुयगडांगकी इस गाथाके नीचे टब्बा अर्थ दिया है वह मूल गाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध होनेके कारण अप्रामाणिक है उसका आश्रय लेकर जनतामें भ्रम फैलाना साधुओंका कार्य्य नहीं है। भ्रमविध्वंसनकी पुरानी प्रतिमें तो शीलांकाचार्य्यकी टीकामें आये हुए "वर्तन" शब्दका वर्तमान काल अर्थ किया है। वह लेख निम्न लिखित है—

"वृत्तिच्छेदं वर्तनोपाय विघ्नं कुर्वन्ति"

"वृत्ति० आजीविका तेहनो छे० छेद व० वर्तमान काले उ० पामवानों उपाय तेहनो वि० विघ्न के० करे ते अविवेको"

यहां जीतमलजीने "वर्तन" शब्दका वर्तमान अर्थ किया है परन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। वर्त्तन शब्दका अर्थ आजीविका है वर्तमान काल नहीं। टीकाकारने मूल गाथामें आये हुए "वृत्ति" शब्दका अर्थ वर्त्तन लिखा है इसलिए "वृत्ति" शब्दका वर्तन शब्द पर्य्याय शब्द है यह वर्तमान अर्थका वाचक नहीं हो सकता तथापि मूर्ख जनताको भ्रममें डालनेके लिये अथवा अज्ञतावश जीतमलजीने "वर्तन" शब्दका वर्तमान अर्थ लिखा है ऐसे लोगोंसे न्यायकी आशा रखना दुराशा मात्र है।

भविष्यमें होनेवाले लाभमें विघ्न पहुंचानेसे "पिहितागामिपथ" नामक अन्तराय लगता है। ठाणाङ्ग सूत्रमें अन्तरायका भेद बतलानेके लिए यह पाठ आया है—

"अन्तराइए कम्मे दुविहे पण्णत्ते तञ्जहा—
पडुप्पन्नविनासिए पिहितागामिपहं"

अर्थात् अन्तराय कर्म दो प्रकारके कहे हैं एक प्रत्युत्पन्नविनाशी और दूसरा पिहिता गामि पथ। वर्तमानमें मिलती हुई वस्तुको न मिलने देना "प्रत्युत्पन्न विनाशी" कहलाता है। और भावी लाभके मार्गको रोक देना "पिहितागामिपथ" नामक अन्तराय कहलाता है।

यहां ठाणाङ्गके मूल पाठमें भावी लाभके मार्गको रोक देनेसे अन्तराय लगना कहा है इसलिए भ्रमविध्वंसनकारने जो यह लिखा है कि "अन्तराय तो वर्तमान कालमें इज कही छै पिण और वेलां अन्तराय कह्यो नही" यह बिलकुल शास्त्रविरुद्ध है। ठाणाङ्गके उक्त पाठमें भविष्य कालमें भी अन्तराय कहा है इसलिए जो लोग उपदेश में एकान्त पाप कह कर अनुकम्पा दानका त्याग कराते हैं वे ठाणाङ्ग सूत्रके मूल पाठानुसार "पिहिता गामि पथ" नामक अन्तरायके भागी हैं।

भावी लाभके मार्गको रोक देनेसे अन्तराय होना केवल शास्त्रसे ही नहीं प्रत्यक्षसे भी सिद्ध है। जैसे कोई मनुष्य किसी महाजनके दश हजार रुपयोंका ऋणी है उससे कोई यदि ऋण देनेका त्याग करावे तो यह प्रत्यक्षही महाजनके लाभमें अन्तराय देना है। अतः भावी लाभके मार्गको रोक देनेसे अन्तराय न मानना शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों से विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल १)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार आनन्द श्रावकका दाखला देकर अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप बतलाते हैं। जैसे कि भ्र० पृ० ५१ पर उन्होंने लिखा है "तथा उपासक दशाङ्ग अध्ययन १ आनन्द श्रावक अभिग्रह धार्यो जे हूं अन्यतीर्थीने दान देवुं नहीं दिवावुं नहीं" इन के कहनेका आशय यह है कि हीन दीन दुःखी जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे यदि पुण्य होता तो आनन्द श्रावक अन्य तीर्थीको दान न देनेका क्यों अभिग्रह धारण करता ? अतः हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देना एकान्त पाप है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आनन्द श्रावकका उदाहरण देकर अनुकम्पा दानमें पाप बताना अयुक्त है। आनन्द श्रावकने हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान न देनेका अभिग्रह नहीं लिया था। क्योंकि हीन दीन प्राणियोंपर दया लाकर उन्हें दान देना श्रावकोंके धर्मसे विरुद्ध नहीं है किन्तु यह कार्य्य श्रावक धर्मको पुष्ट करने वाला है इसलिए आनन्दने अनुकम्पा दान का त्याग नहीं किया था।

सर्वज्ञ भाषित धर्मसे भिन्न धर्मकी स्थापना करनेवाले अज्ञानी चरक परिव्राजक आदिको वन्दन नमस्कार करना, तथा भक्ति भावसे आहार देकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा करना, एवं उनके वन्दनीय पूजनीय सरागी देवताओंको वन्दन नमस्कार करना, यह सब कार्य्य श्रावकोंके धर्मसे विरुद्ध और मिथ्यात्वके पोषक हैं इसलिए इन्हीं कार्य्योंके न करनेका आनन्दने अभिग्रह लिया था अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोंको दान न देनेका नहीं। अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मूर्खोंका कार्य्य है।

उपासक दशांगका मूल पाठ लिख कर आनन्दके अभिग्रहका विवेचन किया जाता है। वह पाठ यह है—

"तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पञ्चाणुव्वइयं सत्तसिक्खाव्वइयं दुवालसविहं सावय धम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जइत्ता समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइत्ता एवं वयासो नो खलुमे कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिएवा अन्न-उत्थिय देवयाणिवा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणिवा वंदितएवा नमंसित्त एवा पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्त एवा संलवित्तएवा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमंवा साइमंवा दाऊंव्वा अणुप्प दाऊंवा नन्नत्थ रायाभियोगेणं गणाभियोगेणं वलाभियोगेणं देवयाभियोगेणं गुरुनि-ग्गहेणं वित्ति कन्तारेणं। कप्पइमे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणंवत्थपरिग्गहपायपुच्छणेणं पीढफलग सिज्जा संथारएणं ओसहभेषज्जेणं पडिलाभे माणस्स विह-रित्तएत्तिकट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं पडिगिहणइत्ता पासिणाइं पुच्छइत्ता अट्ठाइं आदियइं"

(उपासक दशाङ्ग अ० १)

इसके अनन्तर आनन्द गाथा पतिने श्रमण भगवान् महावीर स्वामीसे पांच अनुव्रत सात शिक्षा व्रत द्वादश विध श्रावक धर्मको स्वीकार करके भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार करके इस प्रकार कहा कि हे भगवन्! अन्य यूथिक, यानी सर्वज्ञ भाषित धर्मसे भिन्न धर्मकी स्थापना करनेवाले अज्ञानी चरक परिव्राजक आदि तथा उनसे स्वीकार किये हुए देवताओंको वन्दन नमस्कार करना और उनके बोले विना पहले ही उनसे आलाप संलाप करना, उन्हें एक वार या अनेक वार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य देना आजसे मुझको नहीं कल्पता। परन्तु राजाभियोग, गणाभियोग, वलाभियोग, देवाभियोग, गुरुनिग्रह और वृत्तिकान्तारको छोड़ कर यह बात समझनी चाहिए।

श्रमण निग्रंथोंको प्रासुक ऐषणिक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र परिग्रह, पादप्रोञ्छन, पीठ, फलक, शय्या, संथारा, और औषध भेषज आदि देते हुए विचरना आजसे मुझको कल्पता है। इस प्रकारका अभिग्रह धारण करके आनन्द श्रावकने भगवान्से अपने प्रश्नोंका उत्तर पूछा और भगवान्से कहे हुए उत्तरको स्वीकार किया। यह ऊपर लिखे मूल पाठका भावार्थ है।

नोट—इस पाठमें साम्प्रदायिक खींचातानीके कारण बहुत भेद पाया जाता है इसलिए एसियाटिक सोसाइटी कलकत्तामें छपी हुई पुस्तकसे लेकर यह पाठ लिखा गया है। निष्पक्ष अंग्रेज विद्वानने उक्त पुस्तक छपाई है और इसी पाठको यथार्थ माना है।

इस पाठमें आनन्द श्रावकने अन्य यूथिकको गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग किया है करुणासे दान देनेका त्याग नहीं किया है। अतएव इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है "अयंच निषेधो धर्म बुद्धयैव, करुणयातु दद्यादपि" अर्थात् यह जो अन्य यूथिकको दान देनेका निषेध है यह धर्म बुद्धि (गुरु बुद्धि) से ही समझना चाहिए अनुकम्पासे नही, अनुकम्पा करके अन्य यूथिकको दे भी सकते हैं। यहां टीकाकारने मूल पाठका आशय बतलाते हुए अन्य यूथिकको गुरु बुद्धिसे ही दान देनेका निषेध बतलाया है अनुकम्पासे नहीं अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पादानका निषेध करना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

कोई अज्ञानी यहां यह कुतर्क करते हैं कि अन्ययूथिकको दान देना यदि पुण्य का कारण है तो अन्य यूथिकको वन्दन नमस्कार करना पुण्यका कारण क्यों नहीं? उन लोगोंसे कहना चाहिये कि अनुकम्पा दान, अनुकम्पा लाकर दिया जाता है इस-लिए इसमें पुण्य है क्योंकि अन्य तीर्थीपर अनुकम्पा करना भी पुण्यकाही कारण है परन्तु वन्दन नमस्कार करना नहीं, क्योंकि वन्दन नमस्कार पूज्य बुद्धिसे किया जाता है और अन्य तीर्थीमें पूज्य बुद्धि रखना समकितका अतिचार है इसलिए अन्य यूथिकको वन्दन नमस्कार करना पुण्य नहीं है।

आनन्द श्रावकने अन्य यूथिकको जिस प्रकार पूज्य बुद्धिसे वन्दन नमस्कार करनेका त्याग किया था उसी तरह पूज्य बुद्धिसे उन्हें दान देनेका भी त्याग किया था अनुकम्पा दानका नहीं, अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पा दानको उड़ाना मूर्खोंका कार्य्य है।

उपासक दशाङ्गके उक्त मूल पाठमें "दाऊंवा" अणुप्पदाऊंवा" ये दो शब्द आये हैं इनका अर्थ जीतमलजीने देना और दूसरेसे दिलाना लिखा है परन्तु "अणुप्प-दाऊंवा" इस पदका दिलाना अर्थ नहीं होता बार बार देना अर्थ होता है तथा उक्त पाठ में आये हुए "वित्ति कंतारेणं" इस पदका अर्थ भी इन्होंने अशुद्ध किया है। जैसे कि भ्र० पृ० ५३ में लिखा है "वि० अटवी कांतारने विषे कारणे आगार" यह अर्थ बिल-कुल अशुद्ध है। टीकाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है "वृत्तिः जीविका तस्याः कान्तारम् अरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्रं कालोवा वृत्ति-कान्तारम् निर्वाहा भावइत्यर्थः।

अर्थात् "घोर जङ्गलकी तरह जीविकाके लिये कठिन क्षेत्र या कालका आना "वृत्तिकान्तार" कहलाता है। निर्वाह न होना इसका तात्पर्य्य है।"

ऐसे सरल अर्थको जो अशुद्ध टब्बा अर्थका आश्रय लेकर विपरीत बतलाता है उससे शास्त्रके यथार्थ अभिप्रायको समझने और प्रकट करनेकी आशा रखना दुराशामात्र समझनी चाहिये।

(बोल २)

(प्रेरक)

अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान देनेका निषेध, शास्त्र करता है अनुकम्पाकर दान देनेका नहीं इसलिये हीन दीन दुःखीको अनुकम्पादान देना एकान्त पाप नहीं है यह ज्ञात हुआ। अब शास्त्रके मूलपाठसे यह बतलाइये कि किस अभिग्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावकने बारह व्रत धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान दिया है ?

(प्ररूपक)

राजप्रश्नीय सूत्रमें आनन्द श्रावकी तरह अभिग्रहधारी समकित सहित बारह व्रतधारी राजा प्रदेशीका बारह व्रत धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुःखी जीवोंको दानशाला खोल कर अनुकम्पादान देना लिखा है यह अभिग्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावक के अनुकम्पा दान देनेका पूर्ण उदाहरण है। राजाप्रदेशी आनन्द श्रावकके समान ही बारह व्रतधारी श्रावक होनेके कारण अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा आदि न करनेका अभिग्रह धारण किया हुआ था तो भी उसने दीन हीन जीवों को अनुकम्पा दान दिया, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्यतीर्थीको अनुकम्पा लाकर दान न देनेका श्रावकोंको अभिग्रह नहीं होता पूज्य बुद्धिसे देनेका होता है अतः अन्य तीर्थी पर अनुकम्पा लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

यदि कोई यह पूछे कि राजा प्रदेशी आनन्द श्रावककी तरह अभिग्रह धारी था इसमें क्या प्रमाण है ? तो उसके लिए आवश्यक सूत्रका मूल पाठ प्रमाण दिया जाता है। वह पाठ यह है—

"तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ सम्मत्तं उवसंपज्जइ। नो से कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिएवा" इत्यादि।

(आवश्यक सूत्र)

यह पाठ हर एक समकितधारीके लिए कहा है इस लिए सभी समकितधारी श्रावक अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा न करनेका अभिग्रह धारण करते हैं।

राजा प्रदेशी भी समकित सहित बारह व्रतधारी था इसलिए वह भी आनन्द श्रावकके समान ही अभिग्रहधारी था तथापि उसने जो दानशाला खोल कर हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान दिया था इससे अन्यतीर्थीको अनुकम्पा दान देना श्रावकोंका कर्तव्य सिद्ध होता है। राजा प्रदेशीने हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान दिया था यह मूल पाठ लिख कर बताया जाता है।

"तएणं पएसो राया केसीकुमार समणं एवं वयासी नो खलु भन्ते! अहं पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविस्सामि। जहासे वनखंडेइवा जाव खलवाडेइवा। अहं णं सेयंवियापमोक्खाइं सत्तगाम सहस्साइं चत्तारिभागे करिस्सामि। एगे भागे वल वाहणस्स दलइस्सामि एगे भागे कोट्ठागारे दलइस्सामि एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि एगेणं भागेणं महइमहालिय कूडागारसालं करिस्सामि। तत्थणं वहुहिं पुरिसेहिं दिण्णभत्तिभत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता वहुणं समणमाहणभिक्खुयाणं पंथियपहियाणय परिभोय माणे वहुहिं सील पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामित्ति कट्टु जामेव दिसं पाउब्भुए तामेव दिसं पडिगए। ततेणं पएसी राया कल्लं पाओ जाव तेजसा जलन्ते सेयंवियापमोक्खाइं सत्तगाम सहस्साइं चत्तारि भाए करेति। एगं भागं वलवाहणस्स दलयति जाव कूडागार सालं करेति तत्थ वहुहिं पुरुसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता वहुणं समण माहणाणं जाव परिभोएमाणे विहरति"

(राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थः—

इसके अनन्तर राजा प्रदेशीने केशीकुमार श्रमण मुनिसे कहा कि हे मुने! पहले रमणीय होकर पश्चात् वन खण्ड यावत् खलिहानकी तरह मैं अरमणीय न बनूंगा। किन्तु श्वेताम्बिका प्रभृति सात हजार गांवोंको चार भागोंमें बांट कर एक भाग दलवाहनके लिये दूसरा कोष्ठागार के लिए और तीसरा अंतःपुरके लिये दूंगा। शेष चौथे भागसे अति विशाल दानशाला बनाकर उसमें बहुतसे वेतन भोगी पुरुषोंको नौकर रख कर उनके द्वारा चतुर्विध आहार तैयार कर कर श्रमण माहन भिक्षुक और राहगीरोंको भोजन कराता हुआ और शील प्रत्याख्यान पोषध

तथा उपवास करता हुआ यावत् मैं विचरूंगा यह कह कर राजा प्रदेशी जिधरसे आया था वहां चला गया। अनन्तर दूसरे दिन तेजसे प्रज्वलित सूर्योदय होनेपर राजा प्रदेशीने श्वेताम्बिका प्रभृति सात हजार गांवोंको चार भागोंमें विभक्त करके एक भाग बल वाहनको दूसरा कोष्ठागारको तीसरा अंतःपुरको दिया और चौथे भागसे अतिविशाल दानशाला बनवा कर उसमें बहुतसे रसोए रख कर उनके द्वारा अशनादि चतुर्विध आहार तय्यार कराकर बहुतसे श्रमण माहन भिक्षुक और राहगीरोंको भोजन देता हुआ विचरने लगा।

यहां राज प्रश्नीय सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठमें राजा प्रदेशीका दानशाला बना कर श्रमण माहन भिक्षुक आदिको अनुकम्पा दान देना स्पष्ट लिखा हुआ है इससे सिद्ध होता है कि समकितके साथ बारह व्रत धारण करने वाले श्रावकोंका अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान न देनेका ही अभिग्रह होता है अनुकम्पा दान देनेका नहीं। अन्यथा आनन्द श्रावकके समान ही अभिग्रह धारी बारह व्रतधारी श्रावक होकर राजा प्रदेशी श्रमण माहन भिक्षुकोंको अनुकम्पा दान क्यों देता ? तथा केशीकुमार श्रमण मुनि, अनुकम्पा दान देनेके लिए राजाकी प्रतिज्ञा सुन कर उसे क्यों नहीं इस कार्य्यसे रोक दिया ? जिस समय राजा प्रदेशीने मुनिके समक्ष रमणीय बने रहनेकी प्रतिज्ञा करता हुआ दानशाला बनानेकी इच्छा प्रकट की थी उस समय कोई याचक वहां दान लेनेके लिए आया भी न था और राजा उसे कुछ देता भी न रहा था ऐसी दशामें केशी कुमार मुनि यदि राजाको अनुकम्पादानमें पाप बता कर रोक देते तो उनको जीतमल जीके सिद्धान्तानुसार अन्तराय भी न होता, क्योंकि जीतमलजीने भ्र० पृ० ५० पर लिखा है कि —"लेतो देतो इसो वर्तमान देखि पाप न कहे उण वेलां पाप कह्यां जे लेवे छै तेहने अन्तराय पडे ते मांटे साधु वर्तमाने मौन राखे" यहां जीतमलजीने वर्तमानमें ही अनुकम्पा दानके निषेधमें अन्तराय माना है दूसरे कालमें नहीं इसलिये राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दानसे यदि मुनि वारण कर देते तो उस समय उनको अन्तराय भी न होता और राजा प्रदेशी एक नवीन पापसे भी बच जाता परन्तु मुनिने राजाको अनुकम्पा दान देनेसे वारण नहीं किया और यह भी नहीं कहा कि "राजन् ! तुम यह क्या कह रहे हो। अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है इस कार्य्यके आचरण करनेसे तुम्हारा अभिग्रह टूट जायगा और तुम फिर अरमणीय हो जाओगे" किन्तु मुनिने अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है तथा अभिग्रह धारी श्रावकोंको अन्यतीर्थीके लिए अनुकम्पा दान देनेका त्याग नहीं होता किन्तु गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग होता

है इस लिए जो अनुकम्पा दानमें एकान्त पापका उपदेश देकर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं वे हीन दीन जीवोंकी जीविकाका उच्छेद करने वाले अज्ञानी हैं।

(बोल ३)

(प्रेरक)

आपने प्रदेशी राजाका उदाहरण देकर राजप्रश्नीय सूत्रके प्रमाणसे हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान देनेमें पुण्यका सद्भाव बतलाया परन्तु भ्र० कार भ्र० पृ० ७५ पर लिखते है—"वलीराय प्रसेनीमें प्रदेशी दानशाला मंडाई कही छै। राजरा चार भाग करने आप न्यारो होय धम ध्यान करवा लाग्यो। केशी स्वामी वी हुई ठामें मौन साधी छै पिण इम न कह्यो हे प्रदेशी तीन भागमें तो पाप छै परं चौथो भाग दानशाला रो काम तो पुण्यरो हेतु छै। थारो भल्यो मन ऊठो ओतो अच्छो काम करिवो विचार्‌यो इम चौथा भागने सरायो नहीं केशी स्वामी तो वो हुई सावद्यजाणीने मौन साधी छै। तेमांटे तीन भागरो फल जिसोई चौथो भागरो फल छै" (भ्र० पृ० ७५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दानशाला बनवा कर हीन दीन दुःखी जीवोंको दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर केशी स्वामीने जो मौन धारण किया इसका तात्पर्य्य यह नहीं हो सकता कि अनुकम्पा दान एकान्त पापका कार्य्य था। क्योंकि एकान्त पापके कार्य्यकी प्रतिज्ञा सुन कर साधु मौन धारण नहीं करते, उपदेश देकर उसका निषेध करते हैं। साधुके समक्ष यदि कोई हिंसादि कुकर्म करनेका विचार प्रकट करे तो उस समय साधु मौन धारण न करके उस कार्य्यका प्रतिषेध करते हैं। अनुकम्पा दान देना यदि हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य होता तो उस कार्य्यके लिए प्रदेशीको प्रतिज्ञा करते देख कर मुनि कदापि मौन न होते किन्तु धर्मोपदेश देकर उस कार्य्यसे उन्हें अवश्य रोकते। अतः मुनिने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा करते हुए देख कर निषेध न करके जो मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य नहीं है किन्तु इससे पुण्य भी होता है। अतएव केशी स्वामीने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेसे नहीं रोका था किन्तु मौन होकर रहे अतः केशी स्वामीके मौन होनेका अभिप्राय अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेकी बात बतलाना मूर्खोंका कार्य्य है।

भीषगजीने अनुकम्पा दानका यहां तक विरोध किया है कि यदि कोई अनुकम्पा दान देनेका त्याग कर देवे तो उसे उन्होंने अतिशय बुद्धिमान कहा है देखिये—भीषणजीके इस अभिप्रायके ये पद्य हैं—

"अव्रतमें दान दे, तेहनों टालन री करे उपायजी ।
जाने कर्म बंधे छै म्हायरे मोने भोगवतां दुःखदायजी ।
अव्रतमें दान देवां तणूं कोई त्याग करे मन शुद्धजी ।
तिणरो पाप निरन्तर टालियो तीणरी वीर बखाणी बुद्धिजी ।"

(पद्य भीषणजीके)

इन पद्योंमें भीषगजीने अव्रतमें दान न देने वालेकी बुद्धिकी प्रशंसा वीर प्रभुसे किया जाना कहा है परन्तु केशी स्वामीने राजा प्रदेशीसे अव्रतमें दान देनेका त्याग नहीं कराया । यदि भीषगजीकी उक्ति सत्य होती तो केशी स्वामी राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कह कर उसका अवश्य त्याग कराते, मौन होकर न रहते । अतः अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप बताने वाले मिथ्यावादी हैं ।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकारने जो यह लिखा है कि "राजरा चार भाग करने आप न्यारो होय धर्मध्यान करवा लाग्यो" यह भी मिथ्या है। राजप्रश्नीय सूत्रके मूल पाठमें अनुकम्पादान देते हुए राजा प्रदेशीको धर्मध्यान करना लिखा है दान देनेसे न्यारा होकर धर्मध्यान करना नहीं । देखिये वहांका पाठ यह है—

"तत्थ वहुहिं पुरिसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता
वहुणं समण माहणाणं परिभोयमाणे विहरति"

अर्थात् राजा प्रदेशी दानशालामें बहुत पुरुषोंके द्वारा चतुर्विध आहार तय्यार करा कर बहुतसे श्रमण माहन और राहगीरोंको भोजन कराता हुआ विचरने लगा ।

यहां मूलपाठमें दान देनेसे न्यारा होकर राजा प्रदेशीका विचरना नहीं किंतु दान देते हुए विचरना लिखा है । अतः राजा प्रदेशीका दान देनेसे न्यारा होकर विचरनेकी प्ररूपणा मिथ्या है ।

(बोल चौथा)

(प्रेरक)

असंयतिको अनुकम्पा लाकर दान देना यदि एकान्त पाप नहीं है तो भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना क्यों कहा ? भ्रमविध्वंसनकारने भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ५५ पर इस विषयमें यह लिखा है "अथ अठे तथारूप असं-

यतिने फासु अफासु सूझतो असूझतो अशनादिक देवे ते श्रावकने एकान्त पाप कह्यो छै"
(भ्र० पृ० ५५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूल पाठमें तथारूप असंयतिको गुरु बुद्धिसे दान देनेसे एकान्त पाप होना कहा है अनुकम्पादान देनेसे नहीं। टीकाकारने इस विषय को खोल कर लिख दिया है। वह टीका यह है—

"सूत्र त्रयेणाऽपि चानेन मोक्षार्थ मेव यद्दानं तच्चिन्तितम् यत्पुनरनुकम्पादान मौचित्य दान म्वा तन्न चिन्तितम्। निर्जरायास्तत्रानपेक्षत्वात् अनुकम्पौचित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वात्। उक्तञ्च मोक्खत्थं जं दाणं तं पइ एसो विही समक्खाऊं अणुकम्पा दाणं पुण जिणेहिं न कहिंचि पडिसिद्धं"

अर्थात् भगवती शतक आठ उद्देशा छः के इन तीन सूत्रोंमें मोक्षके लिये जो दान दिया जाता है उसीका विचार किया गया है अनुकम्पादान और औचित्यदानका नहीं। अनुकम्पादान और औचित्य दानमें अनुकम्पा और औचित्य ही अपेक्षित होते हैं निर्जरा अपेक्षित नहीं होती (अतः निर्जराकी अपेक्षासे किये जाने वाले मोक्षार्थ दानका इन सूत्रोंमें फल कथन समझना चाहिये) कहा भी है—जो दान मोक्षके निमित्त दिया जाता है उसीका विधान भगवती शतक आठ उद्देशा ६ के तीनों सूत्रोंमें किया है दूसरे दानका नहीं क्योंकि जिनवरोंने अनुकम्पादानका कहीं भी निषेध नहीं किया है। यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

इसमें टीकाकारने भगवतीशतक ८ उद्देशा ६ के तीनों मूलपाठोंका तात्पर्य्य बतलाते हुए मोक्षार्थ दानका ही इन पाठोंमें विचार किया जाना बतलाया है अनुकम्पा तथा औचित्य दानका नहीं। तथा हरिभद्र सूरिने भी यही बात कही है। उनका पद्य निम्नलिखित है—

"शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते।
गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म वन्ध कृन्नानु कम्पया"

अर्थात् शुद्ध, या अशुद्ध जो गुरु बुद्धिसे असंयतिको दिया जाता है वही कर्म-वन्धका कारण है, जो अनुकम्पासे दिया जाता है वह नहीं। यह उक्त पद्यका अर्थ है। इसमें हरिभद्र सूरिने भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठका आशय बतलाते हुए अनु-कम्पादानका निषेध नहीं किया जाना स्पष्ट लिखा है। तथा आगे चलकर अनुकम्पादानका शुभ फल बतलाते हुए यह लिखा है—

"शुभाशय करं ह्येतदाग्रहच्छेद कारिच।
सदभ्युदय सारांग मनुकम्पा प्रसूति च॥

अर्थात् अनुकम्पा दान देनेसे चित्तकी शुद्धि, और धनके प्रति ममताका नाश तथा कल्याणानुवन्धी कल्याणकी प्राप्ति होती है और अनुकम्पाभावके उदय होनेसे यह दान दिया जाता है।

इस श्लोकमें हरिभद्र सूरिने अनुकम्पादानका फल एकान्त पाप न कह कर इसे कल्याणानुवन्धी कल्याणका कारण कहा है अतः भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठ में असंयतिको मोक्षार्थ गुरु वुद्धिसे दिया जाने वाला दानका ही फल एकान्त पाप कहा गया है अनुकम्पादानका नहीं इसलिये भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का नाम लेकर अनुकम्पादानमें एकान्त पाप कहना सूत्रार्थ न जानने वालोंका कार्य्य है।

यदि कोई कहे कि "हरिभद्र सूरि और भगवती सूत्रका टीकाकार यद्यपि असंयतिको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप होना नहीं कहते तथापि यह वात मूलपाठसे नहीं निकलती। मूलपाठमें किसी दान विशेपका नाम न लेकर असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप कहा है इसलिये टीकाकार और हरिभद्रसूरिके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है" तो इसका उत्तर यह है कि टीकाकार और हरिभद्र सूरिका पूर्वोक्त कथन निराधार नहीं है वह भगवतीके इस मूलपाठसे ही निकलता है। यह वात मूल पाठ लिख कर वताई जाती है। वह मूलपाठ यह है—

"समणोवासएणं भन्ते ! तहारूवं असंजय अविरय अपडिहय पच्चक्खाय पाव कम्मे फासुएणवा अफासुएणवा एसणिज्जेणवा अणेसणिज्जेणवा असणपाण जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ"

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

इस पाठमें सभी असंयतिओंका नाम न लेकर तथा रूपके असंयतिको दान देने से श्रावकको एकान्त पाप होना कहा है। तथारूपका असंयति वह है जिसको लोकमें गुरु बुद्धिसे दान दिया जाता है और जो अन्य तीर्थियोंके शास्त्रानुसार लिङ्ग रखता हुआ अन्य तीर्थी धर्मकी स्थापना करता है उसीको दान देनेसे एकान्त पाप होना कहा है इसलिये भगवती सूत्रके इस मूलपाठ से ही यह वात निकलती है कि गुरु बुद्धिसे असंयतिको दान देना एकान्त पापका कारण है अतः भगवतीके टीकाकार और हरि भद्र सूरिका पूर्वोक्त कथन स्वकपोल कल्पित न होकर मूल पाठके अनुसार ही है उसे अप्रामाणिक समझना अज्ञान है। टीकाकारोंने "तथा रूप" शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—

"तथा तत्प्रकारं रूपं स्वभावो नेपथ्यादिर्वा यस्यस तथारूपः" (ठाणाङ्ग टीका ठाणा ३ उद्देशा १)

"उचित स्वभावे" "भक्ति दानोचित पात्रे" (भगवती शतक ५ उ० ५)

"दानोचिते" (ठा० ठा० ३ उद्देशा १)

अर्थात् जिसका स्वभाव या वेष भूषा आदि उसी तरहका है वह 'तथा रूप' कहलाता है। जो भक्तिपूर्वक दान देनेके योग्य पात्र समझा जाता है वह तथा रूप कहलाता है।

उस तथा रूपके असंयतिको दान देनेसे श्रमणोपासकको एकान्त पाप होना भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कहा है इसलिये हरिभद्र सूरि और भगवती के टीकाकारका कथन इस मूलपाठके शब्दसे ही निकलता है अतः वह अप्रामाणिक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जहां सब असंयतियोंको बतलाना होता है वहां 'तहा रूवं" इस पदसे रहित पाठ आता है जैसे भगवती आदि सूत्रोंमें सब असंयतियों को बतानेके लिये यह पाठ आया है—

"जीवेणं भन्ते ! असंजए अविरए अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे" इत्यादि पाठों में "तहारूवं" इस पदसे रहित पाठ आया है इसलिये इन पाठोंमें सभी असंयतियों का ग्रहण होता है परन्तु भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में "तहा रूवं" इस पदके साथ पाठ आया है इसलिये उसमें सभी असंयतियोंका ग्रहण न होकर अन्य तीर्थियोंके वेष भूषा धारण करने वाले उनके धर्माचार्य्य धर्म गुरुओंका ही ग्रहण होता है अतएव भगवती सूत्रके टीकाकार और हरिभद्र सूरिने गुरु बुद्धिसे असंयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाया है अनुकम्पादान देनेसे नहीं।

इस पाठमें "पडिलभमाणे" इस पदके आनेसे भी यही बात सिद्ध होती है। "पडिलभमाणे" इस पदका प्रयोग, स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको दान देने अर्थमें ही होता है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं होता क्योंकि कहीं भी मूलपाठमें गृहस्थको दान देने अर्थमें "पडिलभमाणे" इस पदका व्यवहार नहीं देखा जाता इसलिये अन्य तीर्थियोंके मान्य पूज्य असंयतियोंको दान देनेका ही फल एकान्त पाप इस पाठमें कहा है सभी असंयतियोंको दान देनेका फल नहीं कहा। यदि कोई कहे कि भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का मूल पाठ श्रावकके लिये आया है और श्रावक अन्य तीर्थियोंके गुरुको गुरु बुद्धिसे दान नहीं देते फिर उस दानके फल बतानेकी इस पाठमें क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे साधु मैथुन सेवन, रात्रिभोजन आदि पापकार्य्य नहीं करते तथापि शास्त्रमें साधुको रात्रिभोजन और मैथुन सेवन करनेका प्रायश्चित्त कहा

है, वह इसलिये कि प्रायश्चित्तका कारण जान कर साधु उक्त कार्यों का सेवन न करे उसी तरह भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में श्रमणोपासकके लिये अन्यतीर्थी धर्माचार्य्य को गुरु बुद्धिसे दान देनेका फल एकान्त पाप कह कर उस कार्य्यसे निवृत्त रहने का संकेत किया है। जो कार्य्य साधु या श्रावक नहीं करते उसका फल शास्त्र न बतावे यह कोई नियम नहीं है प्रत्युत निषिद्ध कर्मों का फल बता देना शास्त्रकारको आवश्यक है। नहीं तो निषिद्ध कर्मोंका बुरा फल किसीको कैसे ज्ञात हो, अतः अन्यतीर्थी धर्माचार्य्यको गुरु बुद्धिसे दान देनेका फल एकान्त पाप होना इस पाठमें कहा है अनुकम्पा दानमें पाप होना नहीं कहा अतः भगवतीके इस पाठका आश्रय लेकर हीन दीन दुःखी प्राणी पर दया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहना मूर्खोंका कार्य्य है।

(प्रेरक)

स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको ही देने अर्थमें "पडिलभ माणे" इस पदका व्यवहार मूलपाठोंमें हुआ है गृहस्थको देने अर्थमें नहीं यह बात भ्रमविध्वंसनकार नहीं मानते। उन्होंने ठाणाङ्ग, भगवती और ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ लिख कर गृहस्थको दान देनेके अर्थमें भी "पडिलभमाणे" इस पदका व्यवहार होना बताया है और आचारांग सूत्रका मूल पाठ लिख कर यह कहा है कि "दलएज्जा" और "पडिलभमाणे" ये दोनों शब्द एकार्थक हैं इनमें गृहस्थको दान देनें अर्थमें "दलएज्जा" शब्द आया है इस लिए उसका समानार्थक "पडिलभ माणे" पद भी हर एकको दान देने अर्थमें आ सकता है केवल साधुको देने अर्थमें ही नहीं। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग, भगवती, और ज्ञाता आदि सूत्रोंमें कहीं स्वतीर्थी और कहीं परतीर्थी साधुको ही देने अर्थमें "पडिलभमाणे" इस पदका व्यवहार हुआ है गृहस्थको देने अर्थमें उक्त सूत्रोंमें कहीं भी उक्त पदका व्यवहार नहीं है इसलिए ठाणाङ्ग आदि सूत्रोंका झूठ ही नाम लेकर स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुसे इतरको दान देने अर्थमें "पडिलभमाणे" पद का व्यवहार बताना मिथ्या है। आचारांग सूत्रका मूल पाठ लिख कर जो जीतमलजीने "दलएज्जा" पदके समानार्थक होनेसे "पडिलभमाणे" इसका व्यवहार गृहस्थको दान देने अर्थमें बताया है वह भी अयुक्त है। साधुको दान देने अर्थमें दलएज्जा और "पडिलभमाणे" ये दोनों शब्द आते हैं परन्तु गृहस्थको देने अर्थमें "पडिलभमाणे" इस पदका व्यवहार कहीं भी नहीं है। गृहस्थ और साधु दोनोंको दान देने अर्थमें "दलएज्जा" यह पद आता है परन्तु "पडिलभमाणे" यह पद स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको देने अर्थमें ही आता है अतः आचारांग सूत्रकी साक्षी देनाभी भ्रमविध्वंसनकारका अयुक्त है।

इसी तरह सूयगडांग श्रुत स्कन्ध २ उद्देशा ५ गाथा ३२ को लिख कर भ्रमविध्वंसनकारने जो गृहस्थको दान देने अर्थमें "पडिलभमाणे" इस पदका व्यवहार बतलाया है वह भी मिथ्या है। उस गाथामें स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको ही देने अर्थमें "पडिलभमाणे" इस पदका व्यवहार हुआ है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं यह बात आगे चलकर बतायी जायगी अतः सूय० की गाथाका नाम लेकर गृहस्थको दान देने अर्थमें "पडिलभमाणे" पदका व्यवहार बताना भी अयुक्त है। भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूल पाठमें "पडिलभमाणे" यह पद आया है इसलिए यह पाठ परतीर्थी साधु यानी अन्य यूथिकोंके गुरुको गुरुबुद्धिसे दान देने में ही एकान्त पाप बतलाता है अनुकम्पा दान देनेमें नहीं। अतः भगवतीके उक्त मूल पाठका नाम लेकर अनुकम्पा दानका निषेध करना मूर्खोंका कार्य्य है।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६६ पर सुय० श्रुत० २ अ० ६ गाथा ४३-४४ और ४५ वीं को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

" अथ अठे आर्द्र मुनिने ब्राह्मणां कह्यो—जे पुरुष बे हजार ब्राह्मण नित्य जीमाडे ते महा पुण्यस्कन्ध उपार्जी देवता हुई एहवो हमारे वेदनो वचन छै तिवारे आर्द्र मुनि बोल्या अहो ब्राह्मणो! जे मांसना गृद्धी घर घरने विषे मर्जारनी परे भ्रमण करनहार एहवा बेहजार कुपात्र ब्राह्मणाने नित्य जीमाडे ते जीमाडनहार पुरुष ते ब्राह्मणां सहित बहु वेदना छै जेहने एहवी महाअसह्य वेदना युक्त नरकने विषे जाई" (भ्र० पृ० ६६) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आर्द्र कुमार मुनिने हिंसक, मांसाहारी, वैडालव्रतिक ब्राह्मणोंको पूज्य बुद्धिसे भोजन करानेसे नरक जाना कहा था, हीन दीन प्राणियोंपर दया लाकर उनको दान देनेसे एकान्त पाप या नरक जाना नहीं कहा इसलिए आर्द्र कुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पा दानका खण्डन करना मूर्खोंका कार्य्य है। अब वे गाथा ये लिख कर उनका अर्थ बताया जाता है जिससे पाठकोंको आर्द्र कुमार मुनिके कथनका भाव ज्ञात हो जाय। वे गाथाएं ये हैं—

"सिणायगाणंतु दुवे सहस्से जे भोयए णियए माहणाणं।
ते पुण्ण खन्धे सुमहज्जणित्ता भवन्ति देवा इति वेयवाओ।

सिणायगाणंतु दुवे सहस्से जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छइ लोलुव संपगाढे तीव्वाभितावी नरगाभिसेवो।
दयावरं धम्म दुगुंच्छमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा।
एगंविजेभोयइ असीलं णिवो णिसंजाति कुओ सुरेहिं।"

(सुयगडांग सूत्र श्रु० २ अ० ६ गाथा ४३-४४-४५)

अर्थ—

पशुयागके समर्थक कर्मकाण्डी ब्राह्मण आर्द्र कुमार मुनिके पास आकर कहने लगे—हे आर्द्र कुमार ! तुमने गोशालक और बौद्ध मतको स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया है क्योंकि ये दोनों ही मत वेद बाह्य होनेके कारण अमान्य हैं और यह अर्हत मत भी वेद बाह्य होनेसे निन्दित ही है अतः आप जैसे क्षत्रिय शिरमणिके लिए इसका आश्रय लेना भी अयुक्त है। आप सब वर्णों से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सेवा करें शूद्रोंकी नहीं। वेदमें कहा है कि यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मों में तत्पर रहने वाले दो हजार ब्राह्मणोंको जो प्रतिदिन भोजन कराता है वह पुण्य समूहका उपार्जन करके स्वर्गलोक में देवता होता है। ४३

इसका उत्तर देते हुए आर्द्र कुमार मुनिने कहा कि हे ब्राह्मणो ! जो मांसकी तलासमें विडालकी तरह घर घर फिरते हैं, जो अपनी उदर पूर्तिके लिए क्षत्रिय आदिके घरोंमें नीच वृत्ति करते हैं ऐसे दो हजार ब्राह्मणोंको नित्य भोजन कराने वाला पुरुष उन मांसाहारी ब्राह्मणोंके साथ तीव्र वेदना युक्त नरकमें जाता है। ४४

जो, दया प्रधान धर्मकी निन्दा करता हुआ हिंसामय धर्मकी प्रशंसा करता है ऐसे एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे भी घोर अन्धकारसे पूर्ण नरककी प्राप्ति होती है फिर दो हजार ऐसे ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे तो कहना ही क्या है। पूर्वोक्त कुशील ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जब कि अधम देवता भी नहीं होता तब उत्तम देव होनेकी तो बात ही क्या है। ४५

यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका टीकानुसार अर्थ है।

इन गाथाओंमें दया धर्मकी निन्दा और हिंसामय धर्मकी प्रशंसा करने वाले वैडाल व्रतिक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणोंको पूज्य बुद्धिसे दान करनेसे नरक जाना कहा है, हीन दीन दुःखी जीवोंपर दया लाकर अनुकम्पा दान देनेसे नहीं अतः इन गाथाओं की साक्षी देकर अनुकम्पा दानका निषेध करना एकान्त मिथ्या है। इन गाथाओंमें अनुकम्पा दानका कोई प्रसंग नहीं है यहां तो ब्राह्मणोंने जैन धर्मकी निन्दा करके ब्राह्मण भोजन करानेसे स्वर्ग जाना कहा था इसका उत्तर देते हुए आर्द्र कुमार मुनिने वैडाल-व्रतिक हिंसक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणको भोजन करानेसे नरक जाना कहा इससे न तो अनुकम्पा दानका खण्डन होता है और न दयावान् अहिंसक ब्रह्मचारी ब्राह्मणको

भोजन करानेसे ही पाप होना सिद्ध होता है अतः आर्द्र कुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पा दान देने और ब्राह्मण मात्रको भोजन करानेसे नरक बतलाना सूत्रार्थ न जानने वालोंका कार्य्य है ।

वैडाल व्रतिक हिंसक नीच वृत्ति करने वाले ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे मन्वादि धर्म शास्त्रोंमें भीं नरक जना कहा है । इस विषयमें मनुजीके निम्नलिखित पद्य है—

"धर्म ध्वजी सदा लुब्धः छाद्मिको लोक दम्भकः ।
वैडाल व्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ ९५
अधो दृष्टि नैष्कृतिकः स्वार्थसाधन तत्परः ।
शठो मिथ्या विनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ ९६
ये बकव्रतिनो विप्राः येच मार्जार लिङ्गिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ ९७
न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेद विदि धर्मवित् ॥
त्रिष्वप्येतेषुदत्तंहि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेवच ।
यथा प्लवे नौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ॥
तथा निमज्जतोऽधस्ता दज्ञौ दातृ प्रतीच्छकौ ॥"

(मनुस्मृति अ० ४)

अर्थ—

जो धर्मात्माओंका चिन्ह धारण करके अपनेको धार्मिक प्रसिद्ध करता है और छिप कर पापाचरण करता है वह धर्मध्वजी कहलाता है । जो ब्राह्मण धर्मध्वजी है जो दूसरेके धन हरण करनेकी ताकमें सदा लगा रहता है जो छली कपटी लोकवञ्चक और हिंसक है जो सबकी निन्दा करता है उसको "वैडालव्रतिक" कहते हैं ।

जो अपनी बनावटी नम्रताको प्रकट करनेके लिए दृष्टि, नीचे रखता है और निष्ठुरताके साथ दूसरेका स्वार्थ बिगाड़ कर अपना स्वार्थ साधन करता है जो शठ है और कपटयुक्त नम्रता धारण करता है वह ब्राह्मण "बकव्रतिक" कहलाता है ।

बकव्रतिक और वैडाल व्रतिक ब्राह्मण, अपने पाप कर्मका फल भोगनेके लिए अन्धतामिस्र संज्ञक नरकमें जाते हैं ।

चक व्रतिक और वैडालव्रतिक ब्राह्मणको जल देना भी धार्मिक मनुष्योंका कर्त्तव्य नहीं है। जो वेद नहीं जनता उसको भी दान देना धार्मिक मनुष्योंके लिये अयोग्य है।

न्यायवृत्तिसे उपार्जन किया हुआ भी धन, वकव्रतिक और वैडाल व्रतिक ब्राह्मणको दिया हुआ परलोकमें दाता और ग्रहीता (लेनेवाला) दोनोंका अनर्थके लिये होता है।

जैसे पत्थरकी नावपर चढ़ा हुआ मनुष्य उस नावके साथ ही डूब जाता है उसी तरह दान और प्रतिग्रहकी विधि न जानने वाले दाता और ग्रहीता (लेनेवाला) दोनों ही नरकमें जाते हैं।

यहां मनुजीने भी दयारहित हिंसक वैडालव्रतिक ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना कहा है और इन्हीं ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे मुनि आर्द्रकुमारने भी नरक प्राप्ति बताई है इसलिये आर्द्रकुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पादान देने और ब्राह्मणमात्रको भोजन करानेसे नरक प्राप्ति बतलाना मिथ्यावादियोंका कार्य्य है।

(बोल छट्ठा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ट ६८ पर लिखते हैं "अथ इहां भगुने पुत्रां कह्यो वेद भण्यां त्राण न होवे ब्राह्मण जीमायां तमतमा जाय तमतमा ते अन्धेरा में अंधेरा ते एहवी नरकमें जाय इम कह्यो जो विप्र जीमायां पुण्य कहे तो नरक क्यूं कही" (भ्र० पृ० ६८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भृगु पुरोहितके पुत्रोंका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप बताना मूर्खोंका कार्य्य है। भृगुके पुत्रोंने अनुकम्पा दान देनेमें पाप होना नहीं कहा था किन्तु यज्ञ यागादि करके पूज्य बुद्धिसे ब्राह्मण भोजन कराने, और पुत्रोत्पादन करनेसे जो लोग दुर्गतिमार्गका निरोध होना मानते हैं उनके मन्तव्यको मिथ्या बतलाया था। यदि कोई कहे कि अनुकम्पा करके असंयतिको दान देनेसे पुण्य होता तो भृगुके पुत्रोंने ब्राह्मण भोजन करानेसे तमतमा जाना क्यों कहा ? तो इसका उत्तर यह है। यहां टीकाकारने लिखा है कि:—

तेहि भोजिताः कुमार्ग प्ररूपण पशुवधादावेव कर्मोपचयनिबन्धनेऽसद्व्यापारे प्रवर्तन्त इत्यसत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरक गति हेतुत्वमेव"

अर्थात् हिंसामय धर्मकी प्रशंसा और दयामय धर्मकी निंदा करने वाले ब्राह्मण, भोजन कराये हुए कुमार्गकी प्ररूपणा और कर्मको बढाने वाले पशुवध आदि असद् व्यापारमें ही प्रवृत्त होते हैं अतः असद् व्यापारमें प्रवृत्त होनेके कारण उनको भोजन कराना नरक प्राप्तिका हेतु होता है।

यहां टीकाकारने जो ब्राह्मण असद् व्यापारमें प्रवृत्त होता है उसीके भोजन करानेसे नरक जाना कहा है परन्तु पशुवध आदि नीच कर्मोंका समर्थन न करनेवाले दयालु ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना नहीं कहा है इसलिये मूलगाथामें जो ब्राह्मण भोजन करानेसे तमतमा जाना कहा है उसका अभिप्राय सब ब्राह्मणोंके भोजन करानेसे नहीं है किंतु दया रहित हिंसक ब्राह्मणको भोजन करानेसे है अतः भृगुके पुत्रोंका नाम लेकर अनुकम्पादानका विरोध करना मिथ्या है। हिंसक छली कपटी वक व्रतिक आदि नीच ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना मनुने भी लिखा है और वही बात भृगुके पुत्रोंने कही है इसलिये अनुकम्पादानका खण्डन करना अयुक्त है।

(बोल ७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० ७३ पर सुयगडांग सूत्र श्रु० २ अ० ५ गाथा ३३ वीं को लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ ईहां पिण इम कह्यो दान देवे लेवे इसो वर्तमान देखि दूषण नहीं कहे। ए तो प्रत्यक्ष पाठ कह्यो जे लेवे देवे ते वेलां पाप पुण्य नहीं कहिणो। दक्खिणाए कहितां दाननो पडिलंभ कहितां आगलाने देवो ते प्राप्ति एतले दान देवे ते दाननी आगलाने प्राप्ति हुवे ते वेलां पुण्य पाप कहिणो वर्ज्यो पिण और वेलां वर्ज्यो नहीं" इत्यादि इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि जिस समय दाता अनुकम्पा लाकर किसी हीन दीनको दान दे रहा है और वह हीन दीन ले रहा है उस समय साधुको उस दानमें एकान्त पाप न कहना चाहिये परन्तु दूसरे समयमें अनुकम्पादानका फल एकान्त पाप कह कर उसका निषेध कर देना चाहिये। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी वह गाथा, टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा यह है:—

"दक्खिणाए पडिलंभो अत्थिवा णत्थिवा पुणो
णवियागरेज्ज मेहावी संति मग्गंच बूहए"

(सुय० श्रु० २ अ० ५ गाथा ३३)

(टीका)

दानं दक्षिणा तस्याः प्रतिलंभः प्राप्तिः स दानलाभोऽस्माद् गृहस्थादेः सकाशादस्ति नास्तिवा इत्येवं न व्यागृणीयात् मेधावी मर्य्यादाव्यवस्थितः यदिवा स्वयूथ्यस्य तीर्था-

न्तरीयस्यवा दानं ग्रहणं प्रति योलाभः स एकान्तेनास्ति संभवति नास्तीत्येवं न ब्रूया देकान्तेन, तद्दान ग्रहण निषेधे दोषोत्पत्ति संभवात्। तथाहि तद्दान निषेधेऽन्तराय संभवस्तद्वैचित्यश्च, तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भवः इत्यतोऽस्ति दानं नास्तिवेत्येवमेकान्तेन न ब्रूयात् कथं ब्रूयादिति दर्शयति—शान्तिः मोक्षः तस्य मार्गः सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्रात्मकस्तमुपवृंहयेद् वर्धयेद्। यथा मोक्ष मार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति पृष्टः केनचिद्देय प्रति ग्राहक विषयं निरवद्य मेव ब्रूयादित्येवमादिक मन्यदपि विविध धर्मदेशनावसरे वाच्यम्। तथा चोक्तम् "सावज्जण वज्जाणं वयणाणं जोणजाणइ विसेसं"

अर्थः—

साधुकी मर्य्यादामें स्थित हुए मुनिको यह न कहना चाहिये कि अमुक गृहस्थसे दानकी प्राप्ति होगी या न होगी। अथवा दानलाभके विषयमें स्वयूथिक या परयूथिक साधुके पूछने पर एकान्त रूपसे यह न कहना चाहिये कि आज तुझको भिक्षा मिलेगी या, न मिलेगी। यदि "आज तुझको भिक्षा न मिलेगी" ऐसा कहे तो अन्तराय होना सम्भव है और भिक्षार्थीके चित्तमें दुःख भी उत्पन्न होगा। तथा "आज तुमको भिक्षा मिलेगी" ऐसा कहने पर पूछने वाले साधुको हर्ष की उत्पत्ति होनेसे अधिकरणादि दोष उत्पन्न होगा इसलिये स्वयूथिक या परयूथिकके पूछने पर भिक्षा लाभके सम्बन्धमें साधुको एकान्तरूपसे कुछ भी न कहना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्गकी उन्नति हो वही बात भाषा समतिके द्वारा कहनी चाहिए। तात्पर्य्य यह है कि स्वयूथिक या परयूथिक साधु मुनिसे आकर पूछे कि "आज मुझको भिक्षाका लाभ होगा या नहीं ?" तो साधुकी मर्य्यादामें स्थित मुनि एकान्त रूपसे यह न कहे कि आज तुझको भिक्षा न मिलेगी, और यह भी न कहे कि आज तुझको भिक्षा मिलेगी किन्तु विधि निषेध न करके भाषा समतिके द्वारा उत्तर देना चाहिये। इसी प्रकार धर्मोपदेश करते समय भी साधुको निरवद्य भाषा बोलनी चाहिये। कहा है कि जिस साधुको सावद्य और निरवद्य भाषाका ज्ञान नहीं है वह धर्मोपदेश क्या दे सकता है ? यह ऊपर लिखी हुई गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

यहां तो अनुकम्पादानका कोई प्रसङ्ग नहीं है। भाषासुमतिका यह प्रकरण है इस लिये उक्त गाथामें यह उपदेश किया है कि स्वयूथिक या परयूथिक साधु मुनिसे यदि यह पूछे कि आज मुझको भिक्षाका लाभ होगा या नहीं ? तो मर्य्यादामें कायम रहनेवाला मुनि एकान्त रूपसे भिक्षाका लाभ और अलाभ कुछ भी न कहे किन्तु भाषा सुमतिके द्वारा उसके प्रश्नका उत्तर देवे अतः इस गाथाका नाम लेकर यह कहना कि "जिस समय दाता हीन दीनको दे रहा हो और लेनेवाला ले रहा हो उसी समयमें साधुको अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप न कहना चाहिये परन्तु उपदेश करते समय एकान्त पाप कह कर अनुकम्पादानका निषेध करना चाहिये" एकांत मिथ्या है।

इस गाथामें जो "पडिलंभ" पद आया है वह स्वयूथिक या परयूथिक साधु के दान लाभ अर्थमें ही आया है गृहस्थके दान लाभ अर्थमें नहीं। अतएव टीकाकारने लिखा है कि:—"यदि वा स्वयूथ्यस्य तीर्थान्तरीय स्य वा दानं ग्रहणं प्रति यो लाभः" अर्थात् स्वयूथिक यानी अपने यूथके साधुको और तीर्थान्तरीय यानी अन्य दर्शनीय साधुको दानकी प्राप्ति होना प्रतिलम्भ है।"

अतः इस गाथाकी साक्षी देकर जो जीतमलजीने गृहस्थके दान लाभ अर्थमें "प्रतिलम्भ" पदका व्यवहार बतलाया है वह मिथ्या है तथा इस गाथाको लिखकर इसके नीचे जो जीतमलजीने टव्वा अर्थ दिया है वह भी मूलपाठ और टीकासे असम्मत होने के कारण एकान्त अशुद्ध और अप्रामाणिक है उसका आश्रय लेकर अनुकम्पादान का खण्डन करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य्य है।

(बोल ८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० ७४ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ इहां कह्यो जे नन्दन मणिहारो दान शालादिकनो घणो आरंभ करी मरीने डेड़को थयो। जो सावद्य दान थी पुण्य हुवे तो दानशालादिकथी घणां असंयति जीवां रे साता उपजाई ते सातारा फल किहां गयो" इनके कहनेका भाव यह है कि नन्दन मनिहारने अनुकम्पा दान देकर अनेक हीन दीन दुःखी जीवोंको सुख दिया था परन्तु वह मर कर मेढक योनिमें उत्पन्न हुआ यदि अनुकम्पादान देना पुण्य होता तो नन्दन मनिहार मर कर मेढक क्यों होता? अतः अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

नन्दन मनिहारका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है। ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें स्पष्ट लिखा है कि नन्दन मनिहार नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेसे मेढक योनिमें उत्पन्न हुआ था, हीन दीन जीवोंको अनुकम्पादान देनेसे नहीं। ज्ञाता सूत्रका वह पाठ यह है:—

"तत्तेणं णंदे तेहिं सोलसेहिं रोगायंकेहिं अभिभूएसमाणे णंदाए पोक्खरिणीये मुच्छित्ते तिरिक्ख जोणिएहिं वद्धाण वद्धए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे कालं किच्चा णंदाए पोक्खरिणीये ददुरिये कुत्थिं सि ददुरत्ताए उववण्णे"

इसके अनन्तर वह नन्दन मनिहार सोलह रोगोंसे पीडित होकर नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेके कारण तिर्य्यञ्च योनिकी आयु बांध कर अतिरुद्र ध्यान ध्याता हुआ काल के अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर नन्दा नामक पुष्करिणीके अन्दर मेढक योनिमें उत्पन्न हुआ।

यहां नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त (गृद्ध) होनेके कारण नन्दन मनिहारको मेढक योनिमें जन्म लेना लिखा है हीन दीन जीवों पर दया लाकर दान देनेके कारण नहीं। अतः नन्दन मनिहारका नाम लेकर अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मिथ्या-वादियोंका काम है। कई ऐसा प्रश्न करते हैं कि अनुकम्पा दान देनेमें यदि पुण्य था तो नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देकर मेढक क्यों हुआ ? अनुकम्पा दानका फल उसको क्या मिला था ? उनसे कहना चाहिये कि नन्दन मनिहारने श्रावकोंके बारह व्रत भी धारण किये थे उसका फल उसको क्या मिला था यह आप बतलाइये ? यदि वह कहें कि बारह व्रत धारण करनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूल-पाठमें उसका कुछ कथन नहीं है, तो यही उनके प्रश्नका भी उत्तर है अर्थात् अनुकम्पा दान देनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूलपाठमें उसका कुछ कथन नहीं है यहां तो नन्दन मनिहार का चरित्र बता कर यह उपदेश किया है कि भव्य जीवोंको सांसारिक पदार्थोंमें आसक्त न होना चाहिये और भूल कर भी कुसङ्गतिमें न पड़ना चाहिये क्योंकि नन्दन मनिहार कुसङ्गतिमें पड़ कर बारह व्रतधारी श्रावकसे फिर मिथ्यादृष्टि हो गया था और नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होकर मेढक योनिमें जन्म लिया था। यही नन्दन मनिहारके उपाख्यानका सार है अतः नन्दन मनिहारके उदाहरण से अनुकम्पा दानमें एकांत पाप कहना अज्ञान है।

कोई कोई कहते हैं कि "नन्दन मनिहार जब तक सम्यग्दृष्टि था तब तक उसने दानशाला आदि परोपकारका कार्य्य नहीं किया था किन्तु मिथ्यादृष्टि होने पर उसने दानशाला आदि परोपकारके कार्य्य किये थे इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकार के कार्य्य मिथ्यादृष्टि करते हैं सम्यग्दृष्टि नहीं" वे भोले जीव हैं। राजा प्रदेशी जब तक मिथ्यात्वी था तब तक दानशाला आदि परोपकारका कार्य्य नहीं करता था बल्कि हीन दीन जीवोंकी जीविकाका उच्छेद करता था परन्तु केशीकुमार मुनिके उपदेशसे जब वह बारह व्रतधारी श्रावक हुआ तब वह दानशाला बना कर हीन दीन जीवोंको दान देने लग गया था अतः अनुकम्पा दान देना मिथ्यादृष्टियोंका ही कार्य्य नहीं है सम्यग्दृष्टि भी यह कार्य्य करते हैं इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकारके कार्य्यसे जनता को विमुख करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल ९)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७६ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर एक धर्मदानको छोड़ शेष नौ दानोंको अधर्म दानमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं:—

"असंयतिने सूझता असूझता अशनादिक ४ दीधां एकान्त पाप भगवती शतक आठ उद्देशा ६ कह्यो ते मांटे ए नौ दानामें धर्मपुण्य मिश्र नहीं छै कोई कहे एक धर्म-दान एक अधर्मदान बीजा आठांमें मिश्र छै। केई एकलो पुण्य छै इम कहे तेहनो उत्तर—जो वेश्यादिकनो दान अधर्ममें थापे विषयरो दोष बतायने तो बीजा आठ पिण विषयमें इज्ज छै" (भ्र० पृ० ७६)

इसका समाधान ?

(प्ररूपक)

धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्मदानमें गिनना शास्त्रविरुद्ध है। शास्त्र-कारने दश ही दानोंको परस्पर विलक्षण और एकमें दूसरेका समावेश न होना बतलाया है। यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दान अधर्मदानके भेद होते तो शास्त्रकार यह लिखते कि "दुविहे दाणे पण्णत्तो तंजहा—धम्म दाणे चेव अधम्मदाणे चेव" यह लिख कर पश्चात् अनुकम्पा आदि दानोंको अधर्मदानमें समावेश कर देते परन्तु ऐसा न कह कर जो दानके दश भेद शास्त्रकारने बतलाये हैं इससे अनुकम्पा आदि दानोंका अधर्म-दानसे भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि इन दश दानोंके गुणानु-सार नाम रक्खे गये हैं जिस दानका फल अनुकम्पा है उसका 'अनुकम्पा' नाम रक्खा है और जिसका फल संग्रह (दीन दुःखीको सहायता देना) है उसका संग्रह नाम रक्खा है इसी तरह शेष आठ दानोंके भी गुणानुसार ही नाम रक्खे गये है और भीषणजीने भी यह बात मानी है जैसे कि उन्होंने लिखा है "दश दान भगवन्त भाषिया, सूत्र ठाणांग माय। गुण निष्पन्न नाम छै तेहनो, भोलांने खबर न काय" (पद्य भीषणजी कृत)

इस पद्यमें दश दानोंका गुणानुसार नाम होना स्वयं भीषणजीने स्वीकार किया है ऐसी दशामें धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दानोंको अधर्मदानमें बताना जीतमलजी का अपने गुरुकी उक्तिसे ही विरुद्ध होता है। जब कि इन दानोंके नाम इनके गुणानुसार रक्खे गये हैं तब अनुकम्पादानका गुण अनुकम्पा कहना होगा अनुकम्पा अधर्ममें नहीं है, इसलिये अनुकम्पादान अधर्मदानमें नहीं हो सकता। इसी तरह संग्रह दानका फल संग्रह (दीन दुःखीको सहायता देना) करुणादानका फल करुणा और लज्जा आदि दानों के फल लज्जा आदि हैं। दीन दुःखीको सहायता देना आदि अधर्ममें नहीं है अतः संग्रह

आदि दान अधर्मदानमें नहीं हो सकते ऐसी दशामें एक धर्मदानके सिवाय बाकीके नौ ही दानोंको अधर्मदानमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है।

जो लोग एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्ममें गिनते हैं उनसे कहना चाहिये कि जो दान, भक्ति भावसे प्रत्युपकारकी आशाके विना पञ्च महाव्रतधारी साधुको दिया जाता है वही मुख्य रूपसे एकान्त धर्मदान है। परन्तु जो लज्जावश या अनुकम्पा करके साधुको दिया जाता है वह दान, दाताके परिणामानुसार मुख्यरूपसे लज्जादान और अनुकम्पादान है। यह दान, धर्मदानसे कथंचित् भिन्न है क्योंकि इसमें दाताका परिणाम लज्जा और अनुकम्पाका भी है अतः तुम्हारे हिसाबसे इस दानका फल अधर्म ही होना चाहिये यदि कहो कि "किसी भी परिणामसे साधुको दान देना एकांत धर्मदान है इसलिये उक्त दानोंका फल अधर्म नहीं है" तो नागश्री ब्राह्मणीने मुनि को मारनेके परिणामसे कडुवा तुम्बा का शाक दिया था और साहुकारकी स्त्रीने विषय भोग करानेकी लालसासे अर्णक मुनिको मोदक दिये थे फिर इन दानोंका फल भी अधर्म न होना चाहिए यदि कहो कि नागश्रीने मुनिको मारनेके परिणामसे, और साहूकार की स्त्रीने मुनिको भ्रष्ट करनेके भावसे दान दिये थे इसलिये उनके दान उनके परिणामानुसार अधर्मदान थे धर्मदान नहीं, तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दान, लज्जावश या अनुकम्पा करके मुनिको दिया जाता है वह भी दाताके परिणामानुसार लज्जादान और अनुकम्पादान ही है। तुम्हारे सिद्धांतानुसार इन दानोंमें भी अधर्म ही होना चाहिये परन्तु यह शास्त्र संमत नहीं है इन दानोंमें भी दाताके परिणामानुसार धर्म ही होता है। अतः धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्ममें कायम करना अज्ञान है। अनुकम्पा दान साधु भी देते हैं इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है।

"अणुकम्पं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता तंजहा—तवस्सि पडिणीए, गिलाण पडिणीए, सेहपडिणीए"

(ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४)

अर्थात् तीन मनुष्य अनुकम्पा करने योग्य होते हैं। तपस्वी क्षपक, रोग आदिसे ग्लान, और नवदीक्षित शिष्य, इनकी अनुकम्पा न करे और न करावे तो वह वैरी समझा जाता है।

इस पाठके अनुसार यदि कोई, रोग आदिसे ग्लान और तपस्वी क्षपक, तथा नवदीक्षित शिष्य पर अनुकम्पा करके दान देवे तो वह दान दाताका परिणामके अनुसार मुख्य रूपसे अनुकम्पादान है। इसमें भी जो लोग धर्मदानके सिवाय नौ दानोंको अधर्ममें मानते हैं उनके हिसाबसे अधर्म होना चाहिये। उवाई सूत्रमें लोकोपचार विनय के "कार्य्यहेतु" और "कृतप्रतिक्रिया" नामक दो भेद कहे गये हैं। "यदि गुरुजीको भात

पानी आदि देकर मैं प्रसन्न रक्खूंगा तो वह मुझको शास्त्र देनेकी कृपा करेंगे" इस भाव से गुरुकी सेवा भक्ति दान सम्मान आदि करना "कार्य्यहेतु विनय" कहलाता है। यह विनय "करिष्यतीति दान" के अन्तर्गत है क्योंकि जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसीको 'करिष्यतीति" दान कहते हैं। साधु भी अपने गुरुको यह दान देकर लोकोपचार विनय करता है। यह दान प्रत्युपकारकी आशासे किये जानेसे 'करिष्यतीति दान" है। जीतमलजीके हिसाबसे यह दान भी अधर्ममें ही ठहरता है क्योंकि प्रत्युपकार की आशासे किये जानेके कारण यह दान कथंचित् धर्मदानसे भिन्न है।

जो दान उपकारी पुरुषको उपकारके बदलेमें दिया जाता है वह "कृत दान" कहलाता है। साधु भी उपकारके बदलेमें अपने गुरुको यह दान देकर "कृत प्रति क्रिया" नामक विनय करता है। यह दान उपकारके बदलेमें दिया जाता है इसलिये कथंचित् धर्मदानसे भिन्न है अतः जीतमलजीके हिसाबसे इसमें भी पाप ही होना चाहिये। कई मनुष्य मुनिको गर्वसे भी दान देते हैं वह दान दाताका परिणामके अनुसार गर्वदान है उस मेंभी जीतमलजीकी प्ररूपणाके अनुसार पाप ही ठहरता है परन्तु शास्त्र प्रमाणसे यह प्ररूपणा मिथ्या सिद्ध होती है क्योंकि लोकोपचार विनय करनेके लिये अपने गुरु को "कृत दान" और "करिष्यतीति दान" करने वाले मुनिको और गर्वसे मुनिको दान देने वाले गृहस्थको धर्म होता है पाप नहीं होता। अतः एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको एकान्त अधर्ममें कायम करना अज्ञान है।

वास्तवमें ये दशविध दान, परस्पर एक दूसरेसे भिन्न और नामानुसार गुणवाले हैं अतएव ये अलग अलग कहे गये हैं यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दान एकान्त रूपसे अधर्म में ही होते तो इन्हें अधर्म दानसे अलग लिखनेकी कुछ भी आवश्यकता न थी। भीषणजीने अपने पद्यमें स्पष्ट स्वीकार किया है कि इन दानोंके नाम गुणानुसार रक्खे गये हैं इसलिये जैसा इनका नाम है वैसा ही इनका गुण भी है अतः अनुकम्पा आदि नौ दानोंको एकांत अधर्ममें स्थापन करना अज्ञान है।

ठाणाङ्ग सूत्रकी मूलगाथा टीकाके साथ लिख कर इन दश दानोंकी व्याख्या की जाती है। वह गाथा यह है—

"दसविहे दाणे पण्णत्ते तंजहा—
"अनुकम्पा संगहे चेव भए कालुणि एति च
लज्जाए गारवेणं च अधम्मे पुण सत्तमें
धम्मेत अट्ठमे वुत्ते काही तीत कतंति त"

(ठाणाङ्ग ठाणा १० उद्देशा ३)

टीका:—

'दशेत्यादि' अनुकम्पेत्यादि श्लोकः सार्धः 'अनुकम्प' त्ति दानशब्दसम्बन्धादनुकम्पया कृपया दानं दीनानाथ विषय मनुकम्पादान मथवा अनुकम्पातो यद्दानं तदनुकम्पैवोपचारात् उक्तञ्च वाचक—मुख्यै [उमास्वातिपूज्यपादैः 'कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्तेच रोगशोकहते यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवेद्दानम्' संग्रहणं संग्रहः व्यसनादौ सहाय करणं तदर्थं दानं संग्रहदानम् अथवा अभेदाद्दानमपि संग्रह उच्यते आहच 'अभ्युदये व्यसनेवा यत्किञ्चिद्दीयते सहायार्थं तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय'' तथा भयाद्दानं भयदानं भयनिमित्तत्वाद्दानमपि भय मुपचारात्। उक्तञ्च 'राजारक्षपुरोहित मधुमुखमावल्ल दण्डपाशिशुच। यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम्' कालुणिएत्ति कारुण्यं शोकस्तेन पुत्रादिवियोगजनितेन तदीयस्यैव तल्पादेः स जन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य वा यद्दानं तत्कारुण्य दानम्। कारुण्यजन्यत्वा द्दान मपि कारुण्य मुक्त मुपचारात्। तथा लज्जया ह्रिया दानंयद् तल्लज्जादान मुच्यते उक्तञ्च 'अभ्यर्थितः परेणतु यद्दानं जनसमूहमध्य गतः परचित्त रक्षणार्थं लज्जायास्तद्भवेद्दानम्'' 'गारवेणंत्ति गौरवेण गर्वेण यद्दीयते तद्गौरवदानम् उक्तञ्च "नट नर्त्तक मुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धि बन्धु मित्रेभ्यः यद्दीयते यशोऽर्थं गर्वेणतु तद्भवेद्दानम्'' अधर्मपोषकं दानधर्मदानम् अधर्मकारणाद्वा अधर्म एवेति उक्तञ्च। 'हिंसानृत चौर्य्योद्यत परदार परिग्रह प्रसक्तेभ्यः यद्दीयतेहि तेषां तज्जानीयादधर्माय' धर्मकारणम् यत्तद्धर्मदानं धर्मएववा उक्तञ्च—'समतृण मणि मुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः अक्षयमतुल मनंतं तद्दानं भवति धर्माय' करिष्यति कञ्चनोपकारं ममायमित्ति बुद्धया यद्दानं तत्करिष्यतीति दान मुच्यते तथा कृतं ममानेन तत्प्रयोजन मिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत्कृत मिति। उक्तञ्च 'शतशः कृतोपकारो दत्तञ्च सहस्रशो ममानेन अहमपि ददामि किञ्चित्प्रत्युपकाराय तद्दानम्।

अर्थः—

दान दश प्रकारके हैं (१) अनुकम्पा दान (२) संग्रह दान (३) भय दान (४) कारुण्य दान (५) लज्जादान (६) गौरव दान (७) अधर्म दान (८) धर्म दान (९) करिष्यति दान (१०) कृत दान। यह मूलार्थ है। टीकाका अर्थ निम्नलिखित है—

मूलगाथामें यद्यपि अनुकम्पा और संग्रह आदि शब्दोंके आगे दान शब्द नहीं आया है तथापि गाथाके पूर्वमें पठित वाक्यसे दान शब्दका सम्बन्ध करके अनुकम्पादान संग्रह दान इत्यादि इन दानोंका नाम जानना चाहिये। अथवा अनुकम्पा से जो दान दिया जाता है उपचारसे वह अनुकम्पा ही कहा जाता है। वाचक मुख्य उमा स्वातिने

कहा है कि कृपण, अनाथ, दरिद्र, दुखी और रोग शोकसे पीड़ित जीव को अनुकम्पा करके जो दान दिया जाता है उसे 'अनुकम्पा' या 'अनुकम्पादान' कहते हैं। दुखी जीव को सहायता देनेका नाम 'संग्रह' है इसके निमित्त जो दान दिया जाता है उसे संग्रह या संग्रहदान कहते हैं। पूज्यपाद उमा स्वातिने कहा है कि अभ्युदय (खुशी) या संकट होने पर सहायताके लिये जो दान दिया जाता है उसे मुनि लोग संग्रहदान कहते हैं यह दान मोक्षके लिये नहीं होता। जो दान भयसे दिया जाता है वह 'भय' या भयदान कहा जाता है। राजा महाराजा कोटवाल आदिको भयके कारण दान देना 'भयदान' है। जो दान करुणा (शोक) से दिया जाता है वह कारुण्य या कारुण्यदान कहलाता है। पुत्र आदिके मरने पर उस पुत्रको परलोकमें सुखी होनेके भावसे उसके खाट आदिको दान देना 'कारुण्य-दान' समझना चाहिये। जो दान लज्जाके कारण दिया जाता है वह लज्जा-दान कहलाता है। सभा आदिमें बैठे हुए पुरुषसे कोई वस्तु मांगने पर वह पुरुष लज्जावश परायेका चित्त भङ्ग न होनेके लिये जो दान देता है वह लज्जादान कहलाता है। नाचने गाने वाले मल्लयुद्ध करनेवाले और अपने सम्बन्धी बन्धु बान्धव, और मित्र आदिको कीर्ति के लिये जो दान दिया जाता है उसे गौरवदान कहते हैं यह दान गर्वसे दिया जाता है इस लिये इसका गौरवदान नाम रक्खा है। जो दान अधर्मके लिये दिया जाता है वह अधर्म-दान कहलाता है। हिंसा झूठ चोरी और परस्त्री सेवन करनेवालोंको हिंसा झूठ चोरी और जारीकी सहायता देनेके लिये जो दान दिया जाता है वह 'अधर्मदान' है। धर्मके लिये दान देना धर्मदान है। तृण मणि और मुक्ताको समान समझने वाले सुपात्रको जो दान दिया जाता है वह धर्मदान है यह दान अक्षय अतुल्य और अनन्त होता है। जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसे 'करिष्यति इति दान' कहते हैं। जो उपकारका बदला चुकानेके लिये उपकारीको दान दिया जाता है वह कृत दान कहलाता है। इसने सैकड़ों मेरे उपकार किये हैं और हजारों बार मुझको दान दिये हैं अतः इसे मैं भी दूं यह समझ कर जो दान दिया जाता है वह कृतदान समझना चाहिये। यह ऊपर लिखी हुई टीकाका भावार्थ है।

यहां मूलपाठ और टीकामें हिंसा झूठ चोरी और जारीके लिये जो हिंसक चोर जार आदिको दान दिया जाता है उसीको अधर्मदान कहा है इससे भिन्न दानोंको नहीं इस लिये धर्मदानको छोड़ कर शेष दानोंको अधर्मदानमें बताना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये। जो लोग धर्मदानके सिवाय दूसरे दानोंको अधर्म तथा एकांत पापमें बतलाते हैं उनके हिसाबसे उपकारीको उपकारके बदलेमें कृतदान करना अधर्म और एकान्त पाप ठहरता है और उपकारका बदला चुकानेवाला कृतज्ञ पुरुष एकान्त पापी

कायम होता है इसके विपरीत उपकारीको उपकारका बदला न चुकाना धर्म और उपकार का बदला न चुकानेवाला कृतघ्न पुरुष धार्मिक सिद्ध होता है परन्तु यह बात लोक और शास्त्र दोनों ही से विरुद्ध है शास्त्र और शिष्ट पुरुष कृतज्ञको पापी और कृतघ्नको धार्मिक कदापि नहीं कह सकते यह तो जीतमलजीकी ही अलौकिक प्रतिभा है जो कृतज्ञ को पापी और कृतघ्नको धार्मिक कायम करती है। वास्तवमें इन दश दानोंके गुणानुसार नाम रक्खे गये हैं इसलिये एक अधर्मदान ही अधर्म है उससे भिन्न दान अधर्मदान नहीं हैं किंतु नामानुसार उनके गुण हैं भीषणजीने भी इन दानोंके नाम गुण निष्पन्न कहे हैं अतः धर्मदानको छोड़ कर शेष नौही दानोंको अधर्मदानमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल दसवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—

'एनव दान चार विसामा बाहिरे छै। धर्मदान विसामा माहि छै। एन्याय तो चतुर हुवे तो ओ लखे' इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवोंको सावद्य कर्मों का भार उतार कर विश्राम करनेके लिये चार स्थान कहे हैं। वे ये हैं—बारह व्रत ग्रहण, सामायक देशावकाशिक व्रत, पौषधोपवास और संथारा सल्लेखना द्वारा पण्डित मरण प्राप्त करना, इन विश्राम स्थानोंमें एक धर्मदान ही शामिल होता है शेष नौ दान नहीं होते अतः वे अधर्मदान हैं। इसका समाधान क्या है ?

(प्ररूपक)

जो क्रिया विश्राम स्थानसे बाहर है उसे एकान्त पापमें बताना मूर्खता है क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंकी सभी क्रियाएं विश्राम स्थानोंसे बाहर ही होती हैं तो भी वे अपनी क्रियाओंसे पुण्य संचय करके स्वर्गगामी होते हैं यदि विश्राम स्थानसे बाहर की सभी क्रियाएं एकांत पापमें होतीं तो मिथ्यादृष्टि विश्राम स्थानसे बाहरकी क्रिया करके उसके द्वारा स्वर्गगामी क्यों होता ? क्योंकि ऊपर कहे हुए चार विश्राम स्थान सम्यक्दृष्टियोंके हैं मिथ्यादृष्टियोंके नहीं यह बात निर्विवाद है ऐसी दशामें विश्राम स्थानोंसे बाहर की क्रियाओंको एकान्त पापमें कायम करना मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं है।

(बोल ग्यारहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं:—'अठ दश धर्म दश स्थविर कह्या पिण सावद्य निरवद्य ओलखणा, अने दश दान कह्या ते पिण सावद्य निरवद्य पिछाणणा। धर्म अने स्थविर कह्या छै पिण लोकिक लोकोत्तर दोनूं छै जिम जम्बूद्वीप

पन्नत्तिमें तीन तीर्थ कह्या मागध वरदाम प्रभास पिण आदरवा योग्य नहीं तिम सावद्य धर्म, स्थविर, द न पिण आदरवा योग्य नहीं सावद्य छाड़वा योग्य छै" इसका क्या समाधान ?
(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ यह है:—

"दसविहे धम्मे पन्नत्ते तंजहा—गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चारित्तधम्मे अत्थिकायधम्मे"

(ठाणाङ्गठाणा १०)

टीका:—

ग्रामा: जनपदाश्रया स्तेषां तेषुवा धर्म: सदाचारो व्यवस्थेति ग्राम धर्म:। सचप्रतिग्रामं भिन्न इति। अथवा ग्राम इन्द्रियग्रामो रूढे स्तद्धर्मो विषयाभिलाष:। नगरधर्मो नगराचार: सोऽपि प्रतिनगरं भिन्न एव। राष्ट्रधर्मो देशाचार: पाषण्डधर्म: पाखण्डिनामाचार: कुलधर्म उग्रादि कुलाचार:। अथवा कुलं चान्द्रादिक मार्हतानां गच्छ समूहात्मकं तस्यधर्म: समाचारो। गणधर्मो मल्लादिगण व्यवस्था जैनानांवा कुलसमुदायो गण: कोटि कादि: तद्धर्मस्तत्समाचार:। श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गति प्रपतज्जीव धारणाद्धर्म: श्रुतधर्म: चयरिक्तकरणा चारित्रं तदेव धर्मश्चारित्रधर्म:। अस्तय: प्रदेशा स्तेषां कायोराशि रस्तिकाय: स एव धर्मो गतिपर्य्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादस्तिकायधर्म:"।

अर्थ:—

ग्रामस्थ जनताके आचार व्यवहार आदिकी व्यवस्थाका नाम ग्रामधर्म है वह भिन्न भिन्न ग्रामों का भिन्न भिन्न होता है धर्म यानी विषयाभिलाप को ग्रामधर्म कहते हैं।

नगरमें रहने वाली जनताके आचार व्यवहारका नाम नगरधर्म है और देश विदेश के आचार व्यवहारकी व्यवस्था को राष्ट्रधर्म कहते हैं। पाखण्डी यानी व्रतधारियों के आचार व्यवहार की व्यवस्था का नाम पाखण्ड धर्म है। उग्र आदि कुलके

विषयाभिलाप इन्द्रियोंके स्वभावका भी नाम है उसमें रागद्वेष करना कर्मबन्धका कारण है अन्यथा नहीं इसलिये इसे एकान्त पापमें नहीं कह सकते। भीषणजीने भी लिखा है। 'कामने भोग शब्दादिक तेहथी रे समता नहीं पावे जीव लिगार रे। असमत्ता पिण नहीं पामेछे एहथीरे यहां सू मूल नहीं पावे जीव विकार रे। जो रागद्वेष आणे त्यां ऊपरे रे ते ही विकार विषय कपाय रे।" (इन्द्रियादिकी ढाल)

आचार व्यवहारकी व्यवस्थाको कुल धर्म कहते हैं, अथवा कुल नाम जैनोंके चान्द्रादिक गच्छका है उसकी समाचारीको कुल धर्म कहते हैं। मल्लयुद्ध आदिसे अपनी जीविका चलाने वाले मनुष्योंके आचार व्यवहारकी व्यवस्थाका नाम गण धर्म है। अथवा जैनोंके कुल समुदाय कोटिकादिका नाम गण है उसके समाचारको गणधर्म कहते हैं। सभा आदिके नियम और उपनियमोंको सङ्घधर्म कहते हैं अथवा जैनोंके साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके समूहका नाम सङ्घ है उसके धर्मको सङ्घधर्म कहते हैं। दुर्गतिमें पड़ते हुए जीवोंको बचाने वाले आचाराङ्गादि बारह अङ्गोंका नाम श्रुत धर्म है। कर्म समूहको विनाश करनेवाले धर्मको चारित्र धर्म कहते हैं। अस्ति नाम प्रदेशोंका है उनकी राशिको अस्तिकाय धर्म कहते हैं यह जीवोंको गति और पर्य्यायमें धारण करता है इसलिये इसे धर्म कहते हैं इसी तरह पञ्चास्ति कायका धर्म समझना चाहिए। यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

यहां मूलपाठ और टीकामें पहले पहल ग्राम धर्म कहा गया है यह ग्राम धर्म, ग्रामस्थ जनताको चोरी जारी हिंसा झूठ आदि बुराइयोंसे हटा कर सत्पथमें प्रवृत्त करता है ग्रामवासियोंकी स्थिति रक्षा और उन्नति इसी ग्राम धर्म पर अवलम्बित है। जिस ग्राममें ग्रामधर्मका पालन नहीं होता उसका शीघ्र ही अन्त हो जाता है इसलिये ग्रामधर्मको जो एकान्त पाप कहता है उसे प्रथम श्रेणिका मूर्ख समझना चाहिये। जिससे चोरी जारी झूठ हिंसा आदि पाप कर्म रुकें और जनता सदाचारिणी बने वह एकान्त पाप कैसे हो सकता है? इसी तरह नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी नगर तथा राष्ट्रमें रहने वाली जनताको चोरी जारी हिंसा आदि पाप कर्मोंसे रोक कर सुमार्गमें प्रवृत्त करते हैं। इनके बिना नगर और राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं रह सकते अतः इन धर्मोंको एकांत पापमें कहना अज्ञानका परिणाम है। जिससे चोरी जारी और हिंसा आदि एकान्त पापके कार्य्य रोक दिये जाते हैं वह एकान्त पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये।

यदि कोई कहे कि "ये ग्रामधर्म आदि जनताके हितसाधक अवश्य हैं परन्तु मोक्षके सहायक नहीं हैं इसलिये ये लौकिक धर्म हैं लोकोत्तरधर्म नहीं हैं और लोकोत्तरधर्मसे भिन्न सभी धर्म एकान्त पाप हैं तो यह मिथ्या है। ये ग्रामधर्मादि मोक्षके भी सहायक हैं क्योंकि श्रुत और चारित्रधर्मके पालनसे मोक्ष होता है और उनका पालन करनेवाले पुरुष ग्राम नगर तथा राष्ट्रमें ही रहते हैं वे अपने श्रुत और चारित्र धर्मका पालन तभी कर सकते हैं जब ग्राम नगर और राष्ट्रोंमें ग्रामधर्म नगरधर्म और राष्ट्रधर्मका पालन होता

हो। जहां उक्त धर्मोंका पालन न होकर चोरी जारी हिंसा आदिका साम्राज्य हो उस स्थान पर चारित्री पुरुषका चारित्र नहीं पल सकता। अतएव श्रुत तथा चारित्रधर्म के पालन करने वाले पुरुषोंके ठाणाङ्ग सूत्रमें पांच सहायक वताए हैं वह पाठ—

"धम्मं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तंजहा—छःकाए, गणे, राया, गिहपती, सरीरं"

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थात् श्रुत और चारित्र धर्मका पालन करने वाले पुरुषोंके पांच सहायक होते हैं वे ये हैंः—छःकाया, गण, राजा, गृहपति और शरीर।

यहां छः काय आदिके समान ही राजा भी श्रुत और चारित्रधर्मके पालनमें सहायक माना गया है। यदि राजा न हो तो राष्ट्रमें शांति और सुव्यवस्था नहीं रह सकती और शांति तथा सुव्यवस्थाके विना श्रुत और चारित्रधर्मका पालन नहीं हो सकता इसलिये ठाणाङ्गसूत्रमें श्रुत और चारित्रधर्मके पालनमें राजा भी सहायक माना गया है। जिस प्रकार राज्यमें शांति और सुव्यवस्थाके विधान करनेसे राजा, श्रुत और चारित्रधर्मके पालन में सहायक होता है उसी तरह ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी ग्राम आदिकी सुव्यवस्था करके श्रुत और चारित्र धर्मके पालनमें सहायक होते हैं अतः ये लौकिकधर्म होने पर भी परम्परासे मोक्षके साधक हैं इसलिये इन्हें एकान्त पापमें कहना अज्ञानियों का कार्य्य है।

पाषण्ड धर्म भी एकान्त पापमें नहीं है क्योंकि पाषण्ड नाम व्रतका है और व्रतधारियोंके धर्मका नाम पाषण्ड धर्म है इसलिए यह भी एकान्त पापमें नहीं हो सकता। पर पाषण्डियोंके धर्ममें भी कई उत्तम गुण होते हैं और उन उत्तम गुणोंके प्रभावसे पर पाषण्डी भी स्वर्गगामी होते हैं इसलिए पर पाषण्डियोंके धर्मको भी एकान्त पाप नहीं कह सकते इसी प्रकार कुल, गण और सङ्घधर्म भी एकान्त पापमें नही हैं। उक्त दश ही धर्म अपने अपने कार्य्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी बुरा नहीं है इसलिये इन दशविध धर्मों में से कई धर्मोंको एकांत पापमें कायम करना अज्ञानका कार्य्य समझना चाहिये।

इन दश विध धर्मोंकी व्यवस्था करनेवाले स्थविर भी दशप्रकारके कहे गये हैं वे सभी अपने अपने कार्य्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी एकांत पापी नहीं है अतः कई स्थविरों को एकान्त पापी कहना भी अज्ञान है। इन स्थविरोंका स्वरूप ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ लिख कर वताया जाता है। वह पाठ—

"दशथेरा पन्नत्ता तंजहा—ग्रामथेरा, नगरथेरा, रट्ठथेरा, पसत्थारथेरा, कुलथेरा, गणथेरा, संघथेरा, जाइथेरा, सुयथेरा, परियायथेरा।

(ठाणाङ्ग ठाणा १०)

टीका:—

"स्थायपन्ति दुर्व्यवस्थितं जनं सन्मार्गे स्थायपन्तीति स्थविराः तत्र ये ग्रामनगर राष्ट्रेषु व्यवस्थाकारिणो बुद्धिमन्त आदेयाः प्रभविष्णवस्ते तत्स्थविराः। प्रशासति शिक्षयन्ति येते प्रशास्तारः धर्मोपदेशकास्तेच ते स्थिरी करणात्स्थविराश्च प्रशास्तृस्थविराः। ये कुलस्य, गणस्य, सङ्घस्यच लौकिकस्य लोकोत्तरस्यच व्यवस्थाकारिण स्तद्भङ्क्तुश्च निग्राहका स्तेतथोच्यन्ते। जातिस्थविराः षष्ठिवर्ष जन्म पर्य्यायाः। श्रुतस्थविराः समवायाद्यङ्गधारिणः पर्य्यायस्थविराः विंशति वर्ष प्रव्रज्या वन्तइति"

अर्थ:—

कुमार्गमें जाने वाले जनको जो सुमार्गमें स्थापन करते हैं वे स्थविर कहलाते हैं। जो ग्राम, नगर और राष्ट्रकी व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान् ग्राह्यवचन और प्रभावशाली हैं वे क्रमशः ग्रामस्थविर, नगरस्थविर और राष्ट्रस्थविर कहलाते हैं। जो धर्मका उपदेश देकर जनताको धर्ममें स्थिर करते हैं वे 'प्रशस्तृ स्थविर' कहलाते हैं। जो लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकारके कुल, गण और सङ्घकी व्यवस्था करते हैं और उस व्यवस्थाके भङ्ग करने वाले मनुष्यको युक्त उपायोंसे रोकते हैं वे क्रमशः कुलस्थविर, गणस्थविर और सङ्घस्थविर कहे जाते हैं वे लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकारके होते हैं। जिसकी अवस्था साठ वर्षकी हो गई है वे जातिस्थविर कहलाते हैं, जो समवायादि अङ्गोंको धारण करते हैं वे श्रुतस्थविर हैं जिनका प्रव्रज्या काल बीस वर्षका हो गया है वे पर्य्याय स्थविर कहे जाते हैं।

यहां मूलपाठ और टीकामें ग्राम धर्म आदि दश प्रकारके धर्मोंकी व्यवस्था करने वाले दश स्थविर कहे गये हैं ये दश ही स्थविर जनताको बुरे कर्मसे हटा कर सन्मार्गमें प्रवृत्त करते हैं इसलिए अपने अपने कार्य्यक्षेत्रमें ये सभी अच्छे हैं कोई भी एकांतपापी नहीं हैं। जिस ग्राम, नगर या राष्ट्रमें उनके स्थावर नहीं होते उनकी सुव्यवस्था नहीं हो सकती और ग्राम नगर तथा राष्ट्रकी सुव्यवस्था हुए बिना वहांकी जनता सन्मार्गसे नहीं चल सकती परन्तु ये ग्रामस्थविर आदि ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदिका निर्माण करके वहांकी जनताको कुमार्गसे रोक कर सन्मार्गसे चलाते हैं और ग्राम नगर तथा राष्ट्रमें चोरी जारी झूठ हिंसा आदि पापोंका प्रचार बन्द करते हैं अतः इन स्थविरोंको

जो एकान्त पापका कार्य्य करने वाला कहता है वह अज्ञानी है जिनसे चोरी जारी और हिंसा आदि सावद्य कर्मों का प्रचार बन्द होता है वे कदापि एकान्तपापी नहीं हो सकते। यदि कोई कहे कि ये स्थविर मोक्षमार्गके सहायक नहीं हैं किन्तु लोकोत्तर स्थविरोंको छोड़ कर बाकीके सब स्थविर सांसारिक कार्य्यकी व्यवस्था करते हैं और सांसारिक सभी कार्य्य बुरे हैं इसलिए उनके स्थविर भी एकान्त पाप करने वाले हैं तो वह मिथ्या-वादी है लौकिक स्थविर, जनताकी बुरी प्रवृत्तिको रोक कर उन्हें सन्मार्गमें स्थापन करते हैं तथा ग्राम नगर आदिमें चोरी जारी हिंसा आदि एकान्त पापोंके प्रचारको बन्द करते हैं एवं ग्राम नगर और राष्ट्रमें शान्ति स्थापित करके श्रुत और चारित्र धर्मके पालनमें भी सहायता देते हैं। जिस ग्राम नगर या राष्ट्रमें शांति तथा सुव्यवस्था न हो वहां श्रुत और चारित्र धर्मका पालन नहीं हो सकता इसलिए ये स्थविर मोक्षधर्मके भी उपकारक हैं अतः लौकिक होनेसे इन्हें एकान्त पापमें कहना शास्त्र नहीं जाननेवालोंका कार्य्य है। पूर्वोक्त दश स्थविर और दश धर्म सभी अपने अपने कार्य्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई भी बुरा नहीं है इसी तरह दशविध दानोंमें भी अधर्म दानको छोड़ कर शेष अनुकम्पा आदि दान भी एकान्त पापमें नहीं हैं किन्तु अनुकम्पा दानका फल अनुकम्पा और संग्रह दान का फल दीन दुःखी आदिको सहायता देना एवं भय दान आदिका उनके नामानुसार फल हैं इसलिए धर्मदानको छोड़ कर बाकीके दान एकान्त पापमें नहीं हैं। अतः जो ग्रामधर्म आदि धर्म तथा ग्राम स्थविर आदि स्थवरों को अपने मनसे एकान्त पापमें ठहरा कर उनके दृष्टान्तसे अनुकम्पादान आदिको एकान्त पापमें कायम करता है उसे अज्ञानियोंका शिरोमणि समझना चाहिये।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा नौ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अनेराने दीधां अनेरी प्रकृतिनो बन्ध कह्यो छै ते साधुथी अनेरो तो कुपात्र छै तेहने "दीधां अनेरी प्रकृतिनो बन्ध ते अनेरी प्रकृति पापनी छै" इनके कहनेका आशय यह है कि ठाणाङ्ग सूत्रमें कहे हुए नौ प्रकारके पुण्य साधुको देनेसे ही होते हैं दूसरेको देनेसे नहीं दूसरेको दान देनेसे एकान्त पाप होता है क्योंकि साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है:—

"नवविहे पुण्णे पण्णत्ते तंजहा—
अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थपुण्णे, मन पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे"

(ठाणाङ्ग ठाणा ९)

अर्थः—

पुण्य नौ प्रकारके होते हैं अन्न दान देना, जल दान देना, घर मकान देना, शय्या संथारा देना, वस्त्र दान देना, गुणवान् पुरुष पर हर्षित रहना, वचनसे गुणवान्की प्रशंसा करना और गुणवान्को नमस्कार करना।

यहां मूल पाठमें किसीका नाम निर्देश न करके साधारण रूपसे अन्न जल आदि के दान देनेसे पुण्य बन्ध होना कहा गया है इसलिए हीन दीन जीवोंको दया लाकर दान देनेसे एकान्त पाप कहना मूर्खोंका कार्य्य है। कोई कहते हैं कि "साधुसे भिन्नको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधुसे भिन्नको नमस्कार करने और उसकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होना चाहिए परन्तु साधुसे भिन्नको नमस्कार और प्रशंसा करनेसे पुण्य नहीं होता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे भी पुण्य नहीं होता है" उनसे कहना चाहिए कि तुम्हारी यह कल्पना मिथ्या है साधुसे इतरको वन्दन नमस्कार करने और प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होता है परन्तु जिसको वन्दन नमस्कार तथा प्रशंसा की जाय वह पुरुष गुणवान् होना चाहिए जैसे कि टीकाकारने लिखा है:—"मनसा गुणिषु तोषाद्वाचा प्रशंसनात्कायेन पुर्य्युपासनान्नमस्काराच्च यत्पुण्यन्तन्मनः पुण्यादीनि" अर्थात् गुणवान पुरुषोंपर मनमें प्रसन्नता लाने और वचनसे उनकी प्रशंसा करने और शरीरसे उनकी सेवाशुश्रूषा करने तथा उनको नमस्कार करनेसे जो पुण्य होता है उसे क्रमशः मनःपुण्य वचन पुण्य कायपुण्य और नमस्कार पुण्य कहते हैं।

यहां टीकाकारने गुणवान् पुरुषमें प्रसन्नता लाने उनकी प्रशंसा आदि करनेसे पुण्य-बन्ध होना कहा है केवल साधुको ही नमस्कार आदि करनेसे पुण्यबंध होना नहीं कहा इसलिए साधुसे इतर सभीको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे पाप बतलाना मिथ्या है। जिस प्रकार साधुसे इतर गुणवान् पुरुषको वन्दन नमस्कार और सेवा शुश्रूषा आदि करनेसे पुण्य होता है उसी तरह साधुसे इतर हीन दीन जीवोंपर अनुकम्पा करके दान देनेसे भी पुण्य होता है अतः हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे जो एकान्त पाप बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

यदि कोई कहे कि "ऊपर लिखी हुई टीकामें जो "गुणिषु" यह पद आया है उस का साधु अर्थ है क्योंकि गुणवान् साधु ही होते हैं इसलिए उक्त टीकामें साधुको ही

वन्दन नमस्कार और सेवा शुश्रूषा करनेसे पुण्यवन्ध होना कहा है अन्यको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे नहीं" तो उससे कहना चाहिये कि टीकाकारको यदि यही इष्ट होता तो "गुणिषु" के स्थानमें "साधुषु" ऐसा लिखते परन्तु यह नहीं लिख कर जो "गुणिषु" यह पद दिया है इससे सभी गुणियोंके ग्रहण करनेका आशय है केवल साधुको ही नहीं तथा साधु ही गुणवान् होते हैं यह भी मिथ्या है साधुसे इतर भी गुणवान कहे गये हैं ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें सङ्घ शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकारने लिखा है कि "सङ्घः गुण रत्न पात्र भूत सत्त्व समूहः अर्थात् गुणरूपी रत्नोंके पात्र भूत जीवोंके समूहका नाम संघ है उस सङ्घमें केवल साधु ही नहीं किन्तु श्रावक श्राविका भी मौजूद रहते हैं इसलिए साधुसे इतर भी गुणवान् होते हैं उन सभी गुणवान् पुरुषोंका ग्रहण करनेके लिए ऊपर लिखी हुई टीकामें 'गुणिषु' यह पद आया है अतः उक्त टीकामें "गुणिषु" इस पदका अर्थ केवल साधु बतलाना मिथ्या है।

साधुसे इतरकी प्रशंसा करनेसे भी ठाणाङ्ग सूत्रमें पुण्य वन्ध होना कहा है वह पाठ यह है:—

"पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभ वोधियत्ताए कम्मं पकरेंति तंजहा—अरिहंताणं वन्नं वद्माणे जाव विवक्क तव वंभचेराणं देवाणं वन्नं वद्माणे"

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थात् पांच कारणोंसे जीव सुलभ वोधी कर्म बांधते हैं अरिहन्तोंकी प्रशंसा करनेसे, अरिहन्त भाषित धर्मकी प्रशंसा करनेसे आचार्य्य और उपाध्यायकी प्रशंसा करनेसे, साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके समूह की प्रशंसा करनेसे, तथा उत्तम श्रेणिका ब्रह्मचर्य्य धारण करने वाले देवताओंकी प्रशंसा करनेसे।

यहां मूल पाठमें उत्तम श्रेणिका ब्रह्मचर्य्य धारण करने वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे सुलभ वोधी कर्मका वन्ध होना कहा है अतः साधुसे इतरकी प्रशंसा करनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है। जिस प्रकार साधुसे इतर परिपक्व ब्रह्मचर्य्य वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे पुण्यवन्ध होता है उसी तरह साधुसे इतर गुणी पुरुषकी वन्दना नमस्कार सेवा शुश्रूषा करनेसे और हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देनेसे पुण्य वन्ध होता है यदि साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यवन्ध न हो तो फिर साधुसे इतर परिपक्व ब्रह्मचर्य्य वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्य वन्ध न होना चाहिये इसलिए साधुसे इतरको दान सम्मान वन्दन नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है।

छोटे साधु बड़े साधुको छोटे श्रावक बड़े श्रावकको छोटा भाई बड़े भाईको पुत्र अपने माता पिता आदि गुरु जनोंको जो वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीसे पुण्य ही होता है एकान्त पाप नहीं होता कोई कोई कहते हैं कि हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो उसको नमस्कार करनेसे भी पुण्य होना चाहिए, उनसे कहना चाहिए कि अनुकम्पा, छोटे बड़े सब पर की जाती है पर वन्दन नमस्कार अपने से श्रेष्ठको ही किया जाता है। सबको नहीं। हीन दीन दुःखी अनुकम्पा करनेके पात्र हैं पर श्रेष्ठ न होनेके कारण नमस्कार करनेके पात्र नहीं हैं इसलिए उनको अनुकम्पा दान देनेसे पुण्य होता है पर नमस्कार करनेसे नहीं इस प्रकार बातके स्पष्ट होनेपर भी खोटे कुतर्कको सहायतासे अनुकम्पा दान देने और साधुसे इतर माता पिता श्रेष्ठ श्रावक आदिको नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

कोई कोई कहते हैं कि "साधुसे इतरको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो कसाई को बकरा मारनेके लिये, चोरको चोरी करानेके लिए, वेश्याको व्यभिचार सेवन करने के लिए दान देनेसे भी पुण्य होना चाहिये" उनसे कहना चाहिए कि चोरी हिंसा और व्यभिचार सेवनार्थ चोर, हिंसक और वेश्या आदिको दान देना अधर्म दान है और दाता भी यह दान एकान्त पापके भावसे देता है अतः इसमें एकान्त पाप ही होता है पुण्य नहीं होता जो दान पुण्यार्थ दिया जाता है उसीसे पुण्य बन्ध होता है और उसी दानका ठाणाङ्ग सूत्रके नवमे ठाणेमें कथन हुआ है अतः जो दान पुण्यके अर्थ हीन दीन दुःखी जीवों पर दया लाकर दिया जाता है उसीसे पुण्य होता है चोर, हिंसक, वेश्या आदिको चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ दिया जानेवाला दानसे नहीं अतः चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ चोर हिंसक और वेश्याको दिये जांनेवाले दानके समान ही अनुकम्पा दानको भी एकान्त पापमें ठहराना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

[बोल १३ वां समाप्त]

(प्रेरक)

आपके कथनसे ज्ञात हुआ कि ठाणाङ्ग सूत्रोक्त नवविध पुण्य केवल साधुको ही दान देनेसे नहीं साधुसे इतरको देनेसे भी होते हैं परन्तु ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त पाठके नीचे जीतमलजीने टब्बा अर्थ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखा है कि "अने जे टब्बामें कह्यो पात्रने विषे जे अन्नादिकनो देवो ते हथकी तीर्थंकरादिक पुण्य प्रकृति नो बन्ध तो आदि शब्दमें तो बेयाली सुई पुण्य प्रकृति आई" फिर आगे चल कर लिखा है "वलीकांई पुण्य नी प्रकृति बाकी रही नहीं अनेराने दीधां अनेरी प्रकृतिनो बन्ध ते अनेरी प्रकृति पाप नीछै" (भ्र० पृ० ७९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसन कारने जो टब्बा अर्थ लिखा है वह अपूर्ण है भीषणजीके जन्मसे पहलेके बने हुए टब्बा अर्थमें उक्त मूल पाठका अर्थ इस प्रकार किया है "पात्रने विषे अन्नादिक दीजे तेथकी तीर्थंकर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो बन्ध तेहथकी अनेराने देवुं ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो बंध" इस टब्बा अर्थमें साधुसे इतर जीवको दान देनेसे पुण्य प्रकृतिका बंध होना स्पष्ट लिखा है इसलिए भ्रमविध्वंसनकारने इस टब्बा अर्थको छोड़ कर दूसरा अपूर्ण टब्बा अर्थ दिया है। वह टब्बा अर्थ भी साधुसे भिन्नको दान देने से पाप होना नहीं बतलाता तथापि खींचातानी करके जीतमलजीने साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप सिद्ध करनेकी चेष्टा की है इनके लिखे हुए टब्बा अर्थमें लिखा है "अनेरा ने देवुं ते अनेरी प्रकृतिनो बंध" इसमें "अनेरी प्रकृतिनो बंध" यह लिखा है "पाप प्रकृतिनो वन्ध" यह नहीं लिखा है और अनेरी प्रकृति, तीर्थंकर नामादिक पुण्य प्रकृतिसे भिन्न पुण्य भी हो सकता है इसलिए अनेरी प्रकृतिका तात्पर्य्य पापकी प्रकृति बतलाना दुराग्रहका परिणाम है। अनेरी प्रकृतिको पापकी प्रकृति सिद्ध करनेके लिए भ्रमविध्वंसनकार जो यह लिखते हैं कि "जिम ऋषभादिक कहिवे चौबीसुई तीर्थंकर आया, प्राणातिपातादिक कहिवे अठारह पाप आया, मिथ्यात्वादिक आस्रव कहिवे पांच आस्रव आया तिम तीर्थंकरादिक पुण्य प्रकृति कहिवे सर्व पुण्यनी प्रकृति आई वली काइं पुण्यनी प्रकृति बाकी रही नहीं" यह इनका कथन भी अयुक्त है। ऋषभ-देवजी सब तीर्थंकरोसे प्रथम हैं, गोतम स्वामी महावीर स्वामीके सभी साधुओंमें आदि हैं, अठारह पापोंमें सबसे प्रथम प्राणातिपात है, आस्रवोंमें मिथ्यात्व ही पहला आस्रव है इसलिए ऋषभादि तीर्थंकर कहनेसे चौबीस ही तीर्थंकरका, गोतमादि साधु कहनेसे सभी साधुओंका, प्राणाति पातादि पाप कहनेसे सभी पापोंका और मिथ्यात्वादि आस्रव कहनेसे सभी आस्रवोंका ग्रहण होता होता है परन्तु तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतिओंका ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें है आदिमें नहीं है इसलिये जैसे सब तीर्थं-करोंके अन्तमें होनेके कारण महावीरादि तीर्थंकर कहनेसे सभी तीर्थंकरोंका ग्रहण नहीं हो सकता उसी तरह सभी पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें होनेके कारण तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहनेसे वेयालीस ही पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण नहीं हो सकता। शास्त्रकी टीकानुसार तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमे है आदिमें नहीं है वह टीका यहहैः—

"सायं १ उच्चागोयं २ नर ३ तिरि ४ देवाउ ५ नाम एयाउ ६ मनुयदुगं ७ देव दुगं ९ पञ्चेन्दिय जाइ १० तणुपणगं १५ अङ्गोवंग तियंपिय १८ संघयणं वज्जरिसहनारायं १० पढमं चिय संठाणं वन्नाइ चउक्क सुपसत्थं । अगुरुलघु २५ पराघायं २६ उस्सासं २७ आयवंच २८ उज्जोयं २९ सुपसत्था विहयगइ ३० तसाइ सदृगंच ४० णिम्माणं तित्थयरेणं सहिया वयाला पुण्ण पगइओ"

(ठाणाङ्ग टीका)

इस गाथामें वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका क्रमशः वर्णन करते हुए सबसे पहले सातावेदनीय पुण्य प्रकृतिका नाम आया है और सभीके अन्तमें तीर्थंकर नाम पुण्य प्रकृति कही गई है अतः सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृति कहनेसे वेयालीस ही पुण्य प्रकृतिका ग्रहण हो सकता है किन्तु तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहनेसे नहीं। ऊपर लिखी हुई गाथामें पुण्य प्रकृतियोंका जो क्रम बतलाया है वही क्रम भीषणजीने भी स्वीकार किया है "नव सद्भाव पदार्थ निर्णय" नामक पुस्तकमें पुण्यकी ढालमें भीषणजीने वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका इसी क्रमसे वर्णन किया है। सर्वप्रथम सीतावेदनीयको, और सबसे अन्तमें तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृतिको भीषणजीने माना है अतः उपरोक्त टीकामें जो वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका क्रम बतलाया है वह जीतमलजीको भी मान्य है। जब कि तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमें मानी जाती है तब तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण कैसे हो सकता है? अतः तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृतिसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण बतलाना मिथ्या है। यदि कोई पूछे कि तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृति जब कि वेयालीसही पुण्य प्रकृतिके अन्तमें है तब फिर तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहनेका यहां क्या तात्पर्य्य है? तो उससे कहना चाहिये कि तीर्थंकरादि शब्दके आदि शब्दका यहां सादृश्य अर्थ है प्राथम्य अर्थ नहीं इसलिये तीर्थंकर नामकी पुण्य प्रकृतिके सदृश विशिष्ट पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण करनेके लिये यहां आदि शब्द टीका और टब्बामें आया है। आदि शब्दका सादृश्य अर्थ भी पूर्वाचार्य्योंने कहा है जैसे कि:—

"सामीप्येच व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी ह्यादि शब्दंतु लक्षयेत्।

अर्थात् आदि शब्दके चार अर्थ पण्डितोंको जानने चाहिये, [१] सामीप्य [२] व्यवस्था [३] प्रकार (सादृश्य) [४] और अवयव।

इस पद्यके अनुसार भ्रमविध्वंसनकारके लिखे हुए टब्बा अर्थका तात्पर्य्य यही है कि पात्रको दान देनेसे तीर्थंकर नामके सदृश उच्च पुण्य प्रकृतिका बंध होता है और दूसरे को देनेसे दूसरी पुण्य प्रकृति बंधती है, यह नहीं कि सभी पुण्य प्रकृति पात्रको ही दान देनेसे बंधें और दूसरेको दान देनेसे एकान्त पाप हो अतः उक्त टब्बा अर्थके आश्रयसे साधुसे भिन्नको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

ऊपर लिखा हुआ ठाणाङ्ग सूत्रका 'नवविहे पुण्णे पण्णत्ते' इत्यादि पाठ, पुण्यका वर्णन करनेके लिये आया है पापका वर्णनके लिये नहीं इसलिये इस पाठमें पापका वर्णन बताना मिथ्या है। जब कि इस पाठमें पापका वर्णन नहीं है पुण्यका ही वर्णन है तब फिर इसका अर्थ करते हुए टब्बाकार साधुसे इतरको दान देनेसे पाप होना कैसे बतला सकते हैं? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये।

(बोल चौदहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर लिखते हैं कि "अने भगवन्त तो साधुने कल्पे तेहिज द्रव्य कह्या छै अनेराने दियां पुण्य हुवे तो गाय पुण्णे भैंस पुण्णे रुप्यो पुण्णे खेती पुण्णे इत्यादिक बोल आणतां ते तो आण्या नहीं" इनके कहने का तात्पर्य्य यह है कि ठाणाङ्गके उक्त पाठमें साधुके लेने योग्य वस्तुका ही नाम लेकर पुण्य होना कहा है जो साधुके लेने योग्य चीज नहीं है उसके दान करनेसे पुण्य होना नहीं कहा है इसलिये इस पाठमें साधुको दान देनेसे ही पुण्यबन्ध बताया है साधुसे इतरको दान देनेसे नहीं इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारकी यह कल्पना अयुक्त है। यदि साधुके कल्पनेयोग्य वस्तुओंका ही कथन ठाणाङ्गके इस पाठमें है तो फिर 'सुई पुण्णे कतरनी पुण्णे भस्म पुण्णे' इत्यादि पाठ भी यहां होना चाहिये, क्योंकि साधुको सुई कतरनी अचित्त मिट्टीके ढेले और भस्म भी कल्पनीय होते हैं अतः इनके दान करनेसे भी पुण्य ही होता है पाप नहीं होता फिर ये सब इस पाठमें क्यों नहीं कहे गये ? इससे ज्ञात होता है कि यह पाठ केवल साधुके लिए ही नहीं किन्तु सभी प्राणियोंके लिये आया है और पुण्यके निमित्त दूसरे प्राणीको दान देनेसे भी पुण्य ही होता है एकांतपाप नहीं होता अतः केवल साधुको ही देनेसे पुण्य बन्ध मान कर साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञान है। इस पाठमें जो नव बातोंसे पुण्य होना कहा है उसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि इन नव

चीजोंसे भिन्न वस्तु यदि पुण्यार्थ दी जाय तो उससे पुण्य नहीं होता क्योंकि पडीहारी सुई कतरनी आदि देनेसे पुण्य होना इस पाठमें नहीं कहा है पर उनके दानसे भी पुण्य ही होता है तथापि इस पाठमें पुण्यके मुख्य २ कारण कहे गये हैं : गौण रूप पुण्यका कथन यहां नहीं है इसलिये अन्न दानादिसे भिन्न वस्तुओंका दान भो यदि धर्मानुकूल हो तो वह एकान्त पापमें नहीं है। जैसे इस पाठमें नहीं लिखी हुई सुई कतरनी अचित्त मिट्टीके ढेले औषधादि चीजोंके दानसे पाप नहीं होता उसी तरह साधुसे इतरको पुण्यार्थ यदि धर्मानुकूल वस्तु दी जाय तो उससे भी एकान्त पाप नहीं होता। अतः 'अनेराने दियां पुण्य हुवे तो गाय पुण्णे' इत्यादि भ्रमविध्वंसनकारका तर्क अयुक्त समझना चाहिये।

(बोल १५)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार साधुसे इतर सभीको कुपात्र मानते हैं। माता पिता ज्येष्ठ बंधु आदि गुरुजन भी इनके मतमें कुपात्र हैं उनको यदि धर्मानुकूल कोई वस्तु दी जाय तो भ्रमविध्वंसनकार कुपात्र दान ठहरा कर उसे एकान्त पाप कहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि वेश्या हिंसक चोर आदिको व्यभिचार, हिंसा और चोरीके लिये दान देना जैसे एकान्त पाप है उसी तरह साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप है। भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर जीतमलजीने लिखा है कि "साधुथी अनेरो तो कुपात्र छै तेहने दीधां अनेरी प्रकृतिनो बन्ध ते अनेरी प्रकृति पापनी छै" अर्थात् साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं उनको दान देना कुपात्र दान है। कुपात्र दानका फल जीतमलजीके सिद्धान्तानुसार बतलाते हुए संशोधक महाशयने भ्र० पृ० ८२ पर यह लिखा है :—

"कुपात्रदान, मांसादिसेवन व्यसन कुशीलादिक ये तीनों एक ही मार्गके पथिक हैं। जैसे चोर, जार, ठग ये समान व्यवसायी हैं उसी तरह जयाचार्य्य सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी मांसादि सेवन व्यसन कुशीलादिकी श्रेणीमें ही गिनने योग्य हैं।"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतर सभीको कुपात्र कहना शास्त्र विरुद्ध है। कहीं भी साधुसे इतरको कुपात्र नहीं कहा है। श्रावक साधुसे इतर होता हुआ भी गुणरत्नका पात्र और तीर्थमें कहा गया है। भगवती सूत्र शतक २० उद्देशा ८ में यह पाठ आया है :—

"तित्थं पुण चाउवण्णा इण्णो समणसंघे तंजहा—समणा समणीओ सावया साविआओ"

इस पाठमें साधु और साध्वीकी तरह श्रावक और श्राविका भी तीर्थ कहे गये हैं। तीर्थ नाम सुपात्रका है कुपात्रका नहीं जैसे कि मेदिनी कोषमें लिखा है:—"तीर्थं शास्त्राध्वर क्षेत्रो पाय नारी रजः सुच अवतारर्षि जुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमंत्रिषु" इस कोषके पद्यमें 'तीर्थ' शब्दका पात्र अर्थ बतलाया है अतः श्रावक सुपात्र सिद्ध होता है कुपात्र नहीं इस लिये साधुसे इतर सभीको कुपात्र कायम करना एकान्त मिथ्या है। ठाणाङ्ग सूत्रके चौथा ठाणामें 'संघ' शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकारने लिखा है कि—"संघः गुणरत्नपात्र भूत सत्त्व समूहः" अर्थात् गुणरूपी रत्नके पात्र भूत प्राणियोंके समूहका नाम 'सङ्घ' है। उस संघमें साधु और साध्वीके समान श्रावक और श्राविका भी मौजूद हैं इस लिये वे भी गुण रूपी रत्नके पात्र होनेसे सुपात्र ही ठहरते हैं कुपात्र नहीं अतः साधुसे इतर सभीको कुपात्र कायम करना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

जब कि साधुसे इतर सभी कुपात्र नहीं हैं तब साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कैसे हो सकता हैं ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं विचार लेना चाहिये। साधु विशिष्ट पात्र है अतः उसको दान देनेसे विशिष्ट पुण्य बन्ध होता है और दूसरे लोग साधुकी अपेक्षा निकृष्ट पात्र हैं इस लिये उनको दान देनेसे निकृष्ट पुन्यबन्ध होता है। परन्तु साधुसे इतरको धर्मानुकूल वस्तु दान देनेसे एकान्त पाप हो यह शास्त्र विरुद्ध है। जो व्यभिचार सेवनके लिये वेश्याको दान देता है और जो विनीत मनुष्य माता पिताकी सेवाके लिये दान देता है ये दोनों ही जीतमलजीके हिसाबसे कुपात्रको दान देते हैं इस लिये ये दोनों जीतमलजीके मतानुसार एकान्त पाप का कार्य्य करते हैं परन्तु शास्त्र ऐसा नहीं कहता यह जीतमलजीकी अपनी कपोल कल्पना है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें माता पिताकी सेवा भक्ति करने वाले मनुष्यको स्वर्गगामी कहा गया है यदि माता पिता को दान देना उसकी सेवा भक्ति करना कुपात्र दान और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकांत पाप होता तो माता पिताके शुश्रूषक पुरुषको स्वर्गगामी होना कैसे कहा जाता ? पुण्य से स्वर्गकी प्राप्ति होती है पापसे नहीं अतः साधुसे इतर माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरुजन तथा श्रावकको कुपात्र कहना अज्ञानका परिणाम है।

राजा प्रदेशीने बारह व्रत धारण करनेके पश्चात् दान शाला खोल कर बहुतसे हीन दीन दुःखी प्राणियोंको अनुकम्पा दान दिया था और शास्त्रकारने उसके दानकी निन्दा नहीं की है यदि साधुसे इतरको दान देना मांसाहार और व्यसन कुशीलादिकी तरह

एकान्त पापका कार्य्य होता तो शास्त्रकार राजा प्रदेशीके दानकी अवश्य निन्दा करते और राजा प्रदेशी भी बारह व्रत धारण करके एक नवीन एकान्त पापका कार्य्य क्यों आरम्भ करता ? पहले उसने दानशाला नहीं बनाई थी अब वह ऐसा निन्दित कार्य्य क्यों करता ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतरको दान देना एकान्त पापका कार्य्य नहीं है तथा साधुसे इतर सभी कुपात्र भी नहीं हैं। हीन दीन प्राणी भी अनुकम्पा दानके पात्र हैं अतः हीन दीन जीवों पर दया लाकर दान देना भी पुण्य कार्य्य है एकांत पाप नहीं है इस लिये साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पापकी स्थापना करना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल १६)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८० के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"अथ इहां पिण कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या कुपात्ररूप कुक्षेत्रमें पुण्य रूप बीज किम उगे" इनके कहनेका भाव यह है कि साधुसे इतर सभी कुपात्र हैं और कुपात्रोंको इस पाठमें कुक्षेत्र कहा है अतः जैसे कुक्षेत्रमें गेहूं चने आदिके बीज नहीं उगते उसी तरह साधुसे इतर मनुष्यको दिया हुआ दान भी पुण्य रूप अंकुरको नहीं उत्पन्न करता।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है :—

"चत्तारि मेहा पण्णत्ता तंजहा खेत्तवासी नाम मेगे णो अखेत्तवासी एवामेवा चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता तंजहा खेत्तवासी नाम मेगे णो अखेत्तवासी" (ठाणाङ्ग ठाणा ४) अर्थात् मेघ चार प्रकारके होते हैं एक तो वह है जो क्षेत्रमें ही बरसता है अक्षेत्रमें नहीं। दूसरा अक्षेत्रमें बरसता है क्षेत्रमें नहीं बरसता। तीसरा—क्षेत्र और अक्षेत्र दोनोंमें बरसता है। चौथा—क्षेत्र अक्षेत्र किसीमें नहीं बरसता। इसी तरह मनुष्य भी चार प्रकारके होते हैं। एक तो वह है जो पात्रको दान देता है अपात्रको नहीं देता। दूसरा-अपात्रको दान देता है पात्रको नहीं देता। तीसरा—पात्र और अपात्र दोनों ही को दान देता है। चौथा—पात्र और अपात्र किसीको भी नहीं देता। यह उक्त मूलका अर्थ है।

इस पाठमें आये हुए क्षेत्र और अक्षेत्र शब्दका अर्थ टीकाकारने यह किया है—"क्षेत्रं धान्याद्युत्पत्ति स्थानम्" अर्थात् 'जिस पृथ्वीमें बोये हुए गेहूं चने आदिके वीज अंकुर उत्पन्न करें उसे क्षेत्र समझना चाहिये और इससे जो भिन्न है वह अक्षेत्र है। मेघ पक्षमें क्षेत्र और अक्षेत्रसे पृथ्वी विशेषका ग्रहण होता है और मनुष्य पक्षमें दान देने योग्य जीव क्षेत्र और दान न देने योग्य अक्षेत्र है। यहां मूलपाठ और टीकामें सामान्य रूपसे क्षेत्र और अक्षेत्रका वर्णन है परन्तु यह नहीं कहा है कि एक मात्र साधु ही क्षेत्र है और साधुसे इतर सभी अक्षेत्र हैं। अतः इस पाठका आश्रय लेकर साधुसे इतर सभी जीवोंको अक्षेत्र या कुक्षेत्र कायम करके उनको दान देनेसे एकान्त पाप कहना मिथ्या है। शास्त्रमें साधुको दान देनेसे निर्जरा लिखी है और हीन दीन जीवोंको दान देनेसे पुण्यवन्ध कहा है—इस लिये मुख्यमें मोक्षार्थ दानका क्षेत्र साधु है और अनुकम्पा दानके क्षेत्र हीन दीन दुखी प्राणी हैं तथा साधुसे इतर पुरुप मुख्यतामें मोक्षार्थ दानके और हीन दीन दुखियोंसे अतिरिक्त पुरुष अनुकम्पा दानके प्रायः अक्षेत्र हैं। जो पुरुष हीन दीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देते हैं वे अक्षेत्र वर्षी नहीं किन्तु क्षेत्र वर्षी हैं क्योंकि दीन हीन दुःखी जीव अनुकम्पा दानके क्षेत्र हैं अतः हीन दीन दुःखी प्राणीको अनुकम्पा दान देने वाला पुरुप उक्त चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका स्वामी क्षेत्रवर्षी है। जो पुरुष हीन, दीन दुःखीको अनुकम्पा दान नहीं देता और पंच महाव्रतधारी साधुको मोक्षार्थ दान नहीं देता किन्तु जिसको दान देनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है अथवा जिसको दान देनेसे उस दानके द्वारा हिंसादिक महारम्भका कार्य किया जाता है उसको दान देता है वह दूसरे भङ्गका स्वामी अक्षेत्र वर्षी पुरुष है। जिस पुरुषको यह ज्ञान नहीं है कि अमुक पुरुष दान देने योग्य है और अमुक नहीं है किन्तु पात्र अपात्र सभीको दान देता है वह विवेकविकल पुरुष तृतीय भङ्गका स्वामी उभयवर्षी है। अथवा जो विशाल उदारताके कारण या प्रवचनकी प्रभावनाके लिये सबको दान देता है वह तीसरे भङ्गका स्वामी उभयवर्षी है। जो क्षेत्र अक्षेत्र किसीको भी कुछ नहीं देता वह परम कृपण अनुभय वर्षी है।

इस चतुर्भङ्गीके तीसरा भङ्गका स्वामी, जो विवेक विकल है उसका दान यद्यपि पूर्ण फलवान् नहीं हैं तथापि सर्वथा निष्फल भी नहीं है क्योंकि अपात्रके साथ साथ वह पात्रको भी देता है। जो विशाल उदारताके कारण सबको दान देता है वह भी उदारता रूप गुणके प्रभावसे प्रशंसनीय है और जो प्रवचन प्रभावनाके लिये सबको दान देता है वह पुरुष प्रवचन प्रभावना रूप महान् पुण्यका उपार्जन करता है। प्रवचन प्रभावनासे तीर्थङ्कर नाम गोत्र वंधना ज्ञाता सूत्रके मूल पाठमें कहा है। वह पाठ यह है—

"इमेहिं यणं वीसाएहिं कारणेहिं अविसेसिय वहुली कएहिं तित्थयर नाम कम्मं निवत्तिसु' तंजहा—अरिहन्त सिद्ध पवयण गुरुथेर वहुस्सुए तवस्सिसु वच्छलयाय तेसिं अभोक्ख णाणोवयोगे य दंसण विणए सावस्सए य सोलव्वए निरइयारं खणलवतवच्चियाए समाही य अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणपभावणया एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो"

(ज्ञाता सूत्र)

इस पाठमें प्रवचन प्रभावनासे तीर्थङ्कर नाम गोत्रका बन्ध होना कहा है इसलिए जो पुरुष प्रवचन प्रभावनाके लिये सभीको दान देता है वह उत्तम पुण्यका उपार्जन करता है एकान्त पाप नहीं करता अतः साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप कहना मूर्खोंका कार्य्य है।

प्रवचन प्रभावनाके लिये साधुसे इतरको भी दान देने वाला पुरुष शास्त्रानुसार पुण्यका कार्य्य करता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे यह एकान्त पापी ठहरता है अतः शास्त्र विरुद्ध जीतमलजीकी प्ररूपणा सर्वथा त्यागने योग्य और मिथ्या है।

यदि कोइ कहे कि प्रवचनकी प्रभावनाके लिये सभीको दान देनेसे जब कि पुण्य ही होता है तो सभी जीव दान देने योग्य क्षेत्र ही कायम होते हैं कोई भी अक्षेत्र या कुक्षेत्र नहीं ठहरता फिर ठाणाङ्गके उक्त मूल पाठमें क्षेत्र और अक्षेत्रको लेकर उक्त चतुर्भङ्गी कैसे लिखी गयी है? तो उससे कहना चाहिए कि प्रवचन प्रभावना रूप पुण्यके हिसाबसे यहां क्षेत्र और अक्षेत्रका विचार नहीं रक्खा गया है क्योंकि प्रवचन प्रभावना के निमित्त दिये जाने वाले दानके सभी क्षेत्र ही हैं कोई भी अक्षेत्र नहीं है। वेश्या चोर जार आदिको भी उनका कुकर्म छुड़ा कर सुमार्गमें स्थापित करनेके लिए दान देना भी प्रवचनकी प्रभावना है अतः जो जिस दानके लायक नहीं है वह उस दानका यहां अक्षेत्र समझा जाता है। जैसे मोक्षार्थ दानका साधुसे भिन्न जीव अक्षेत्र हैं और अनुकम्पा दानका हीन दीन दुःखी जीवसे भिन्न अक्षेत्र हैं इसी तरह यहां क्षेत्र और अक्षेत्रका विभाग समझना चहिये यह नहीं कि साधुसे भिन्न सभी जीव अक्षेत्र या कुक्षेत्र हों अतः साधुसे भिन्न सभी जीवको अक्षेत्र कायम करके उनको दान देनेसे एकान्त पाप वताना मूर्खोंका कार्य्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८० के ऊपर लिखते हैं कि "अथ अठे पिण गोशालाने पीठ फलक शय्या संथारा शकडाल पुत्र दिया तिहां धर्म तप नहीं इमि कह्यो तो गोशाला तो तीर्थङ्कर वाजतोथो तिणने दिया ही धर्म तप नहीं तो असंयतिने दियां धर्म तप किम कहिए पुण्य पिण न श्रद्धवो पुण्य तो धर्म लारे वैधे छै शुभ योग छै ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं ते मांटे असंयतिने दियां धर्म पुण्य नहीं" (भ्र० पृ० ८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतमें पञ्च महाव्रतधारी साधुके सिवाय संसारके सभी जीव कुपात्र हैं, उनको दान देना या किसी प्रकारसे उनकी सहायता करना इनके मतमें मांस भोजन व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य है। भ्रमविध्वंसनका मूल लेख और उसकी टीप्पणी लिख कर यह कहा जा चुका है। इनका यह सिद्धान्त यदि शास्त्रानुकूल होता और शकडाल पुत्र श्रावक भी इसे मानता तो वह गोशालक जैसे असंयति और अन्य तीर्थियोंके शिरोमणिको शय्या संथारा देकर मांस भोजन और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य क्यों करता ? क्योंकि इसके विना शकडाल पुत्रका कोई आवश्यक कार्य्य नहीं रुका था। शकडाल पुत्र भी आनन्द श्रावक की तरह अभिग्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावक था यदि अन्य तीर्थीको दान देनेसे श्रावकका अभिग्रह नष्ट हो जाता है और उसको मांस भोजनादिकी तरह एकान्त पाप होता है तो फिर शकडाल पुत्रका अभिग्रह गोशालकको दान देनेसे अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये था और उसे एकांतपाप होना चाहिये था परन्तु शास्त्र में, गोशालकको दान देनेसे शकडाल पुत्रको एकान्त पाप होना या उसका अभिग्रह टूट जाना नहीं लिखा है अतः अन्य तीर्थीको दान देनेसे एकान्त पाप और अभिग्रह भङ्गकी स्थापना करना मिथ्या है। अन्य तीर्थीको गुरुबुद्धिसे मोक्षार्थ दान न देनेका ही श्रावक को अभिग्रह होता है अनुकम्पा लाकर हीन दीन दुःखीको दान देनेका नहीं होता तथा प्रवचन प्रभावनाके अर्थ भी दान न देनेका अभिग्रह नहीं होता है। अतएव शकडाल पुत्र ने गोशालकको शय्या संथारा दिया था और इस कार्य्यसे उसको एकान्त पाप होना शास्त्रकारने भी नहीं कहा है किन्तु इस दानसे धर्म और तप न होनेका मूलपाठमें वर्णन है एकान्त पाप होनेका या, पुण्य न होनेका कथन नहीं है। वह मूलपाठ यह है:—

तएणं से सद्दाल पुत्ते समणो वासए गोसालं मंखलि पुत्तं एवं वयासी जम्हाणं देवणुप्पिया ? तुम्हेमम धम्मा यरियस्स जाव

जाव महावीरस्स सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भेहिं सब्वभूएहिं भावेहिं गुण कीत्तणं करेहि तम्हाणं अहं तुब्भे पडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंत्तेमि णो चेवणं धम्मोत्तिवा तवोत्तिवा ”

(उपासक दशांग अध्ययन ७)

अर्थ—

शकडाल पुत्र श्रावकने गोशालक मङ्खलि पुत्रसे यह कहा कि हे देवानुप्रिय ! तुमने हमारे धर्माचार्य्य यावत् महावीर स्वामीके विद्यमान और सत्यगुणोंका कीर्त्तन किया है इसलिए मैं तुझको पीठ फलक शय्या संथारा आदि देनेके लिये निमन्त्रित करहता हूं परन्तु इसे धर्म या तप समझ कर नहीं ।

इस पाठमें शकडाल पुत्र श्रावक गोशालक मंखलिपुत्रको शय्या संथारा देनेसे धर्म और तप होनेका ही निषेध करता है पुण्य होनेका निषेध नहीं करता अथवा इस दानसे एकान्त पाप होना नहीं बतलाता इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पञ्चमहाव्रत धारी साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है किन्तु उससे पुण्य भी होता है। यदि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो उक्त मूल पाठमें गोशालकको दान देनेसे शकडाल पुत्र एकान्त पाप बतलाता सिर्फ धर्म और तपका निषेध ही नहीं करता अतः शकडाल पुत्र श्रावकका नाम लेकर साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बताना मिथ्या समझना चाहिये ।

इस शकडाल पुत्रके उदाहरणसे प्रवचन प्रभावनाके लिए साधुसे इतरको दान देना भी श्रावकोंका कर्त्तव्य सिद्ध होता है। शकडाल पुत्रने भगवान् महावीर स्वामीके गुणानुवाद करनेसे गोशालकको शय्या संथारा देकर प्रवचनकी प्रभावना की थी । यह प्रवचनकी प्रभावना, तीर्थङ्कर गोत्रबन्धका कारण कही गयी है इसीलिये शकडाल पुत्रने गोशालकको दान देनेसे पुण्यका निषेध नहीं किया है । जो लोग कहते हैं कि “पुण्यबन्ध निर्जराके साथ ही होता है इसलिए गोशालकको दान देनेसे शकडाल पुत्रको पुण्य भी न हुआ ” वे मिथ्यावादी हैं शास्त्रमें निर्जराके साथ ही पुण्यबन्ध होनेका कहीं भी नियम नहीं है इसलिए प्रवचनकी प्रभावनाके लिये दान देनेसे पुण्यकी उत्पत्ति न मानना अज्ञानका परिणाम है । उक्त शकडाल पुत्रके उदाहरणसे साधुसे इतरको दान देनेसे मांस भोजनादिकी तरह एकान्त पाप होनेका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या कायम होता है क्योंकि साधुसे इतरको दान देना यदि मांसाहारादिके समान एकान्त पापका कार्य्य होता तो शकडाल पुत्र कदापि गोशालकको शय्या संथारा नहीं देता अतः शकडाल पुत्रका नाम

लेकर साधुसे इतरके दानमें मांसाहार व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पाप बताना अज्ञानका परिणाम है।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८२ के ऊपर विपाक सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी साक्षीसे साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बतलाते हुए यह लिखते हैं कि "अथ इहां गोतम भगवन्तने पूछ्यो इण मृगा लोढे पूर्वे काईं कुकर्म कीधा कुपात्र दान दीधा तेहना फल ए नरक समान दुःख भोगवे छै। तो जो वोनी कुपात्र दानने चौड़े भारी कुकर्म कह्यो छः कायारा शस्त्रते कुपात्र तेहने पोष्यां धर्म पुण्य किम निपजे"

(भ्र० वि० ८२—८३)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

विपाक सूत्रके मूल पाठकी साक्षीसे हीन दीन दुःखी जीवपर दया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप बताना मिथ्या है। वहां गोतम स्वामीने महावीर स्वामीसे पूछा है कि "हे भगवन् यह "मृगालोढ" (किंवा दचा) क्या देकर ऐसा नरकके समान दुःख भोगता है" इसका तात्पर्य्य यह है कि यह मृगा लोढ, किस चोर जार हिंसक आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देकर ऐसा दुःख भोग कर रहा है हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे दुःख भोग पूछनेका तात्पर्य्य यहां नहीं है क्योंकि जो दान मोक्षार्थ संयति पुरुषको दिया जाता है और जो अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोंको दिया जाता है उनसे दुःख भोग नहीं होता क्योंकि ये दान पापके कारण नहीं हैं अतः विपाक सूत्रकी साक्षीसे हीन दीन दुःखी जीवोंपर दया लाकर दान देनेसे एकान्त पाप बताना मिथ्या है। बिपाक सूत्रका पूरा पाठ देकर इसका खुलासा किया जाता है वहपाठ यह हैः—

"सेणं भन्ते! पुरिसे पुव्वभवे के आसिं किं णाम एवा किं गोएवा कायरंसि गामंसिवा नयरंसिवा किंवादच्चा किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता केसिंवा पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं असुभाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्ति विसेसं पच्चणुभव माणे जाव विहरइ"।

(विपाक सूत्र अ० १)

अर्थात् हे भगवन्! यह पुरुष, पूर्व जन्ममें कौन था इसका क्या नाम था और गोत्र क्या था किस ग्राम या नगरमें यह रहता था। क्या देकर, क्या खाकर, क्या आचरण करके और प्रायश्चित्तसे नहीं हटाए हुए किस निन्दित पुराने अशुभ कर्मके पाप स्वरूप फल विशेषको यह भोग रहा है?

इस पाठमें जैसे "किंवा भोच्चा" और "किंवा समायरित्ता" ये दो पाठ अ-भक्ष्य मांसादि भक्षण और हिंसादि आचरण अर्थमें आये हैं, दाल रोटी आदिका भोजन और न्याय वृत्तिसे कुटुम्ब पालनादिके अर्थमें नहीं उसी तरह "किंवा दच्चा" यह पाठ भी चोर जार हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देने अर्थमें ही आया है अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोंको दान देने अथमें नहीं इसलिए इस पाठके आश्रय से अनुकम्पा दानका खण्डन करना अज्ञान है। यदि कोई "किंवा दच्चा" इस पाठसे अनुकम्पा दानका ग्रहण करके अनुकम्पा दानमें भी पाप बतावे तो फिर वह "किंवा दच्चा" इस पदसे साधु दानका ग्रहण करके उसे भी पाप क्यों नहीं बतलाता?

यदि कहो कि पञ्च महाव्रतधारी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता इस लिए उसका इस पाठमें ग्रहण नहीं है तो हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देने से भी एकान्त पाप नहीं होता इसलिए उसका भी इस पाठमें ग्रहण नहीं है किन्तु जैसे पञ्च महाव्रतधारीको मोक्षार्थ दान देना प्रशस्त है उसी तरह हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देना भी कनुकम्पा रूप गुणका हेतु है अतः अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मूर्खता है।

टव्वाकारने "किंवा दच्चा" इस पाठका कुपात्र दान अर्थ किया है कुपात्र दानका अर्थ, चोर जार हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिये दान देना है अनुकम्पा लाकर हीन दीनको दान देना नहीं क्योंकि चोर जार हिंसक आदि जीव ही कुपात्र हैं भ्रमविध्वंसनकारकी कपोल कल्पित परिभाषानुसार साधुसे इतर सभी कुपात्र नहीं हैं इसलिए उक्त टव्वाकारके अर्थानुसार भी हीनदीन जीवोंको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप नहीं सिद्ध होता अतः उक्त टव्वा अर्थका आश्रय लेकर भी अनुकम्पा दानमें पाप बताना मिथ्या है।

विपाक सूत्रका यह पाठ जो अभी लिखा गया है भ्रमविध्वंसनकी पुरानी प्रतिमें अपूर्ण छपा हुआ है उसमें "किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता" यह पाठ ही नहीं है और ईश्वरचन्द चोपडाकी छपाई हुई नयी प्रतिमें भी यह पाठ व्युत्क्रमसे लिखा है। विपाक सूत्रकी शुद्ध प्रतियोंमें सर्वत्र "किंवा दच्चा किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता" ये पाठ साथ

ही मिलते हैं और होना भी ऐसा ही चाहिए परन्तु भ्रमविध्वंसनकी नई प्रतिमें "किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता" यह पाठ "किंवा इच्चा" के अनन्तर न होकर "पच्चणुभव माणे" इस शब्दके अनन्तर आया है इस प्रकार क्रम विरुद्ध पाठ देनेका तात्पर्य्य क्या है यह भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधु जानें परन्तु प्रत्युत्तर दीपिकामें जो पुराने भ्रमविध्वंसनमें लिखे हुए पाठके सम्बन्धमें बात कही हुई है वह अक्षरशः सत्य है। जहां तक प्रतीत होता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी सच्ची बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए ही नए भ्र० वि० में "किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता" यह पाठ यथास्थान न देकर व्युत्क्रमसे दिया गया है। पुराने भ्रमविध्वंसनमें छपे हुए पाठके देखनेसे पाठकोंको अपने आप ज्ञात हो सकता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी बात सत्य है या भ्र० वि० के संशोधक महाशय की।

(बोल १९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८३ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ की चौत्रीसवीं गाथाको लिख कर बतलाते हैं कि "इस गाथामें ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र कहा है। जब ब्राह्मण भी पापकारी क्षेत्र हैं तो दूसरे लोगोंकी तो बात ही क्या है। साधुसे इतर सभी जीव कुपात्र हैं उनको दान देनेसे धर्म पुण्य कैसे हो सकता है? जैसे कि उन्होंने लिखा है—

"अथ अठें ब्राह्मणांने पापकारी क्षेत्र कह्या तो बीजानो स्यूं कहिवो" (भ्र० पृ० ८३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह गाथा यह है:—

"कोहो य माणोय वहो य जेसिं मोसं अदत्तंच परिग्गहंच ।
ते माहणा जाइ विज्जा विहोणा ताइं तु खेत्ताइं सुपावगाइं"

(उत्तराध्ययन आ० १२ गाथा २४)

टीकानुसार इस गाथाका अर्थ किया जाता है।

जो ब्राह्मण, क्रोधी, मानी, मयावी और लोभी हैं, जो हिंसा झूठ चोरी और परिग्रहके सेवी हैं वे जाति और विद्यासे विहीन पापकारी क्षेत्र हैं। गुण और कर्मके अनुसार चारों वर्णोंकी सृष्टि हुई है। कहा भी है:—

"एक वर्ण मिदं सर्वं पूर्वमासी युधिष्ठिर। क्रिया कर्म विभागेन चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम्"

"ब्राह्मणो ब्रह्मचर्य्येण यथाशिल्पेन शिल्पिकः।
अन्यथा नाम मात्रं स्यादिन्द्र गोपक कीटवत्॥"

अर्थात् "हे युधिष्ठिर! पहले सभी लोग एक वर्णके थे पीछेसे कर्मानुसार चार वर्णोंकी सृष्टि हुई।

जैसे शिल्प कर्म करनेवाला शिल्पी हुआ उसी तरह ब्रह्मचर्य्य धारण करनेवाला पुरुष ब्राह्मण हुआ। जो ब्रह्मचर्य्य धारण नहीं करता वह "इन्द्र गोप" कीटकी तरह नाम मात्रका ब्राह्मण है" ऐसे नामधारी ब्राह्मणोंमें सत् शास्त्ररूपा विद्या नहीं होती। सभी शास्त्रोंमें अहिंसा और सत्य आदिका ही विधान पाया जाता है। कहा भी है:—

"अहिंसा सत्य मस्तेयं त्यागो मैथुन वर्जनम्
पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम्"

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, और मैथुन वर्जन, ये पांच सभी ब्रह्मचारियोंके लिए पवित्र हैं। इनका सेवन करना ही विद्या पढ़नेका फल है जो शास्त्र पढ़ कर भी इनका सेवन नहीं करके क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, और मैथुनादि कार्य्यमें रत है वह वास्तवमें विद्या विहीन है। कहा भी है—

"तद् ज्ञानमेव नभवति यस्मिन्नुदिते विभाति राग गणः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम्॥

अर्थात् जिस ज्ञानके उदय होनेपर भी राग गण प्रकाश करते हैं वह ज्ञान ही नहीं है क्योंकि सूर्य्यकी किरणोंके सामने ठहरनेके लिये अन्धकारकी शक्ति कहां है? जिस वस्तुसे प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती निश्चय नयके अनुसार वह कोई वस्तु ही नहीं है अतः जो ब्राह्मण विद्या पढ़ कर भी चोरी जारी हिंसा आदि कुकर्म करते हैं वे न तो वास्तविक ब्राह्मण है और न उनकी विद्या ही वास्तविक विद्या है किन्तु जाति और विद्या दोनोंसे वे हीन हैं उन ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र समझना चाहिये। यह उक्त गाथा का टीकानुसार भावार्थ है।

इस गाथामें क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, व्यभिचारी, हिंसक, और चोर ब्राह्मणों को पापकारी क्षेत्र कहा है जो उक्त दोष वर्जित ब्राह्मण हैं उनको नहीं अतः इस गाथा का नाम लेकर ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र बतलाना मूर्खोंका कार्य्य है। यदि ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र बतलाना शास्त्रकारको इष्ट होता तो इस गाथामें शास्त्रकार ब्राह्मण

के विशेषण क्रोध मान आदि क्यों देते ? किन्तु उक्त विशेषण न लगा कर सीधा ही ब्राह्मग मात्रको पापकारी क्षेत्र कह देते परन्तु शास्त्रकारने क्रोधी मानी हिंसक आदि ब्राह्मणोंको ही पापकारी क्षेत्र कहा है और मनुजीने भी क्रोधी मानी हिंसक ब्राह्मणोंको पापी नरक गामी और कुपात्र कहा है अतः ब्राह्मग मात्रको कुपात्र कहना उत्सूत्र भाषण समझना चाहिये ।

वास्तवमें चाहे ब्राह्मग हो या और कोई हो जो चोरी जारी हिंसा आदि बुरा कर्म करता है वह कुपात्र तथा पापकारी क्षेत्र है उसको चोरी जारी आदि असत्कर्म करनेके लिये दान देना कुपात्र दान और एकान्त पाप है परन्तु जो उक्त दोषोंसे रहित है उसको सत्कर्म करनेके लिये दान देना और हीन दीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है अतः उक्त गाथाका नाम लेकर अनुकम्पा दानका खण्डन करना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए ।

(बोल २० वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८४ पर उपासक दशाङ्ग सूत्रका मूल पाठ लिख कर साधुसे इतरको दान देने वाले श्रावकको पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन रूप पाप होना बतलाते हैं जैसे कि उन्होंने लिखा है " तिवारे कोई कहे इहां असं यति पोष व्यापार कह्यो छै तो तुमे अनुकम्पारे अर्थे असंयतिने पोष्यां पाप किम कहो छो तेहने उत्तर—ते असंयतिने पोषी पोषीने आजीविका करे ते असंयति पोष व्यापार छै अने दाम लियां विना असंयतिने पोषे ते व्यापार नथी कहिए पर पाप किम न कहिए जिम कोयला करी बेंचे तो अङ्गाल कर्म व्यापार अने दाम लियां बिना आगलाने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी पर पाप किम न कहिए (भ्र० पृ० ८५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पन्द्रहवें कर्मादानका नाम मूल पाठमें "असई जग पोषणया" यह लिखा है इस नामके अनुसार असती यानी व्यभिचारिणी स्त्रियोंको पोष कर उनसे भाड़ेपर व्यभिचार कराने रूप व्यापार करना पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ है साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करना अर्थ नहीं है अतः भ्रमविध्वंसनकारने जो पन्द्रहवें कर्मादानका "असंयति पोषणता" यह नाम रच कर साधुसे भिन्न जीवोंके पोषण करनेसे कर्मादानका पाप होना बतलाया है वह एकान्त मिथ्या है ।

भ्रमविध्वंसनकारने उपासक दशांग सूत्रका जो मूल पाठ, भ्र० वि० में उद्धृत किया है उसमें भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असई जण पोषणया" यही लिखा है और उस पाठके टब्बा अर्थमें भी साधुसे भिन्नको दान देनेसे उक्त कर्मादानका सेवन न कह कर वेश्या आदिके पोषण करने रूप व्यापारको ही कर्मादानका सेवन कहा है। देखिए इस पाठका टब्बा अर्थ भ्रमविध्वंसनकारका दिया हुआ यह है:—

"वेश्या आदिकने पोषणा आदिक व्यापार कर्म" इसमें साधुसे भिन्नको पोषग रूप व्यापार न कह कर वेश्या आदिके पोषग रूप व्यापारको कर्मादानका सेवन बतलाया है तथापि जगत्‌में भ्रम फैलानेके लिए जीतमलजीने अपने मनसे १५ वें कर्मादानका "असंयति पोषणता" यह नाम रक्खा है। उसपर भी पहले प्रश्न रूपमें दूसरेसे स्वीकार कराकर तब पीछे खुदने स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि:—

"तिवारे कोई इम कहे इहां असंयति पोष व्यापार कह्यो छे तो तुम्हे अनुकम्पारे अर्थे असंयतिने पोष्यां पाप किम कहो छो" इत्यादि। बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि पन्द्रहवें कर्मादानका जबकि असंयति पोषणता" यह नाम ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें भ्रमविध्वंसनकारसे कोई प्रश्न ही कैसे कर सकता है? परन्तु अपने मनसे एक ऐसा प्रश्न बना कर जीतमलजीने जगतमें यह भ्रम फैलानेकी चेष्टा की है कि अनुकम्पाका समर्थन करनेवाले भी १५ वें कर्मादानका नाम "असंयति पोषणता" मानते हैं। परन्तु जो लोग मूल पाठ न देख कर केवल ढालोंके आधारपर शास्त्रकी बात जानना चाहते हैं उन्हींपर यह कपट चल सकता है जो मूल पाठ देख कर पदार्थका निर्णय करना चाहते हैं वे इस धोखेमें नहीं आ सकते। पन्द्रहवें कर्मादानका असंयति पोषगता यह नाम ही नहीं है इस लिए हीन दीन दुःखी जीवोंपर दया लाकर दान देने वाले श्रावकोंपर १५ वें कर्मादानका आरोप करना एकान्त मिथ्या है।

आगे चल कर जीतमलजी लिखते हैं कि "आदिक शब्दमें तो सर्व असंयतिने रोजगाररे अर्थे राखे ते असंयति व्यापार कहिए" यहां बुद्धिमानोंको विचारना चाहिए कि जब पन्द्रहवें कर्मादानका नाम ही "असंयति पोषगता" है तब आदि शब्दसे असंयतियोंके ग्रहणकी क्या आवश्यकता है क्योंकि "असंयति पोषणता" इस नामसे ही सभी असंयतियोंका ग्रहण हो सकता है अतः निश्चय होता है कि जीतमलजीको भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असंयति पोषणता" यह स्वीकृत नहीं है इसीलिए वह आदि शब्दसे सभी असंयतियोंका ग्रहण होना बतलाते हैं। वह आदि शब्द भी न तो

मूल पाठमें है और न उसकी टीकामें ही है इसलिए आदि शब्दसे सभी असंयतियोंका ग्रहण बतलाना भी इनका मूर्ख जनताको धोखा देना है।

साधुके सिवाय दूसरेको पोषग करसेने यदि पन्द्रहवें कर्मादानका पाप लगे तो कोई भी व्यापारी श्रावक, निरतिचार अपने बारह व्रतका पालन नहीं कर सकता क्योंकि व्यापारी श्रावकको अपने व्यापारकी सिद्धिके लिए गाय, भैंस, ऊंट घोड़े नौकर आदि असंयति प्राणियोंके पोषणकी आवश्यकता होती है इनका पालन किये विना व्यापार सम्बन्धी कार्य्य नहीं चल सकता कदाचित् कोई इनके विना भी अपना काम चला लेवे तो भी उसे अपने माता पिता पुत्र पौत्र आदि परिवार वर्गका पालन करना ही पड़ता है और इनके पालन करनेसे भी तेरह पन्थियोंके मतमें अतिचार लग सकता है क्योंकि ये लोग भी असंयति हैं और व्यापारमें सहायता देते हैं इनका पोषण भी व्यापारार्थ कहा जा सकता है इसलिये अपने माता पिता पुत्र पौत्र आदिका पालन कर ने वाला श्रावक भी तेरह पन्थियोंके हिसाबसे कर्मादानके पापसे नहीं बच सकता है किन्तु व्यापारी श्रावक मात्र ही कर्मादानके पापसे युक्त हो जाते हैं परन्तु यह बिलकुल मिथ्या है व्यापारी श्रावक अपने बारह व्रतका निरतिचार भी पालन कर सकता है वह जो गाय भैंस घोड़े ऊंट नौकर चाकर आदिका व्यापारार्थ पालन करता है इससे उसके बारह व्रतमें कोई अतिचार नहीं आता है क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असंयति पोषगता" है ही नहीं। जो वेश्या आदिका पोषण करके उनसे भाड़ेपर व्यभिचार कराने रूप व्यापार करता है वह पुरुष पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करता है क्योंकि १५ वें कर्मादानका नाम "असतीजन पोषणता" है। अतः साधुसे भिन्न प्राणीके पोषण करनेसे कर्मादानका सेवन बतलाना मिथ्या है।

अपने आश्रित प्राणीको आहार न देनेसे श्रावकके प्रथम व्रतमें अतिचार आता है इसलिए अपने पहले व्रतको निरतिचार पालनार्थ श्रावकको अपने आश्रित प्राणीके लिये अवश्य आहार देना पड़ता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे इस कार्य्यसे श्रावकके ७ वें व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि साधुके सिवाय दूसरेको आहार देना वे कर्मादानका सेवन करना बतलाते हैं ऐसी दशामें बारह व्रतधारी श्रावक अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देकर अपने व्रतका अतिचार टाले या न देकर सातवें व्रतका अतिचार टाले? यदि वह देवे तो कर्मादानका सेवन हो जाय और न देवे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आवे इसलिए वह देकर और न देकर किसी भी हालतमें अपने व्रतका निरतिचार पालन नहीं कर सकता। अतः साधुके सिवाय दूसरेके पालन करनेसे १५ वें कर्मादानका पाप बतलाना जीतमलजीका अज्ञान है।

इसी तरह भीषणजीने साधुसे इतर प्राणीको पोषण करनेसे पन्द्रहवें कर्मादानका पाप लगना बता कर मर्य्यादा कायम करके परिहार करनेका उपदेश दिया है जैसे कि भीषणजीने लिखा है:—

" साधु बिना सघला पोषीजे पन्नरमूं असंयतिपोष कही जै। रोजगार ले त्यां ऊपर रहवै खाणूं पीणूं असंयतिने देवे। ए पन्द्रह कर्मादान विस्तार मर्य्यादा बांधि करे परिहार " परन्तु यह भीषणजीकी प्ररूपणा सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। भगवती शतक ५ में कर्मादानोंको सर्वथा छोड़ने योग्य कहा है आगार रख कर परिहार करना नहीं लिखा है वह पाठ यह है:—

"जे इमे समणोवासगा भवन्ति तेसिं नो कप्पंति इमाइं पण्णरस कम्मा दाणाइं सयं करेत्तएवा कारएत्तवा करंतं वा अण्णं समणुजाणेत्तएवा "

अर्थात् श्रमणोंपासकोंको इन कर्मादानोंका स्वयं सेवन करना या दूसरेसे कराना अथवा करते हुएको अच्छा जानना नहीं कल्पता। इसी तरह उपासक दशांग सूत्रके मूल पाठमें भी कर्मादानोंको सर्वथा त्यागने योग्य ही बतलाया है। वह पाठः—

" समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समाचरियव्वाइं "

अर्थात् श्रमणोपासकोंको पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिये और उनका आचरण न करना चाहिए।

यहां भगवती सूत्र और उपासक दशाङ्ग सूत्र दोनोंमें १५ कर्मादानोंको सर्वथा छोड़ने योग्य ही कहा है परन्तु आगार रख कर त्यागने योग्य नहीं कहा है। अतः आगार रख कर कर्मादानोंके त्यागका उपदेश देना शास्त्र विरुद्ध है। आगार रख कर कर्मादानोंको छोड़नेकी आज्ञा देना एक प्रकारसे कर्मादानोंके सेवन करनेकी अनुमति देना है इस प्रकार यदि आगार रख कर अतिचारोंका सेवन करना शास्त्र सम्मत माना जाय तो फिर मर्य्याद बांध कर पर स्त्री, चोरी, झूठ आदिका सेवन भी शास्त्र सम्मत मानना पड़ेगा अतः शास्त्रमें अतिचारोंके सम्बन्धमें कहीं भी आगार रखनेकी आज्ञा नहीं है किन्तु सर्वथा इनका त्याग करना ही शास्त्र सम्मत है परन्तु भीषणजीने आगार रक्खे विना काम चलता नहीं देख कर अतिचारोंमें आगारकी सृष्टि की है। यदि भीषण मतानुयायी, शास्त्रानुसार पन्द्रहवें कर्मादानका नाम असंयति पोषणता न मान कर असती

पोषणता मानें तो उन्हें कर्मादानोंमें आगार रखनेकी आवश्यकता ही न पड़े क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ व्यभिचारिणी स्त्रियोंको रख कर भाड़ेपर उनसे व्यभिचार कराने रूप व्यापार करनेका है। श्रावक लोग सर्वथा इस कार्य्यको छोड़ कर भी प्रकारान्तरसे अपना कार्य्य चला सकते हैं फिर आगार रख कर ऐसे निन्दित कामोंके करने की क्या आवश्यकता है ? अतः पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असंयति पोषणता" रख कर साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करनेसे कर्मादानका पाप बताना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल २१)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८६ पर उपासकदशाङ्ग सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है कि "ईहां मरवाने अर्थे गाढ़े बन्धन बांधे तो अतिचार कह्यो अने थोड़े बन्धन बांधे तो अतिचार नहीं पिण धर्म किम कहिए" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि "तिम मारवाने अर्थे भात पानीरो विच्छेद पाड्यां तो अतिचार अने त्रस जीवने भात पाणी थी पोषे ते अतिचार नहीं पिण धर्म किम कहिए"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

त्रस प्राणीका वध करनेके अभिप्रायसे वध, बन्धन करना या छविच्छेद अतिभार तथा भात पानी का विच्छेद करना भावसे अपने व्रतका त्याग करना है इसे शास्त्रकारों ने अनाचार कहा है अतिचार नहीं। अतिचार वहींतक होता है जब तक, व्रतकी अपेक्षा रख कर कार्य्य किया जाय, परन्तु व्रतकी अपेक्षा छोड़ कर अनुचित कार्य्य करनेसे समूल व्रत ही नष्ट होकर अनाचार हो जाता है। अतः जो पुरुष किसी प्राणीका प्राण वियोग करनेके लिए उसे मारता पीटता है या भात पानी बन्द करता है वह अपने व्रतको समूल नष्ट कर रहा है वह अतिचारी नहीं किन्तु अनाचारी है और उसका यह कार्य्य अनाचारमें शामिल है अतिचारमें नहीं इसलिए उपासक दशाङ्ग सूत्रके मूल पाठ में इस कार्य्यका कथन न होकर जो वध बन्धनादि क्रोध आदिके वश किये जाते हैं उन्हींका कथन है प्राण वियोगके आशयसे किये जानेवाले वध बन्धनादिका नहीं अतः भ्रमविध्वंसनकार जो प्राण वियोग करनेकी भावनासे त्रस जीवके वध बन्धन छवि-

च्छेद अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना कहते हैं वह एकान्त मिथ्या है।

उपासक दशाङ्ग सूत्रके मूल पाठमें किसी भी कारणसे वध वन्धन छविच्छेद अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना बतलाया है मारनेकी इच्छा से उक्त कार्य्योंके करनेसे नहीं क्योंकि वह अनाचार है। उस पाठका टव्वा अर्थ जो भ्रम विध्वंसनकारने भ्रमविध्वंसनमें दिया है उसमें यद्यपि मारनेकी इच्छासे उक्त कार्य्यों के करनेसे अतिचार होना कहा है तथापि वह टव्वा अर्थ मूल पाठसे विपरीत अर्थ बतलानेके कारण अप्रमाण है। देखिए वह मूल पाठ यह है:—

"तदाणं तरं चणं थूलग पाणातिपात वेरमणस्स समणो वासएणं पञ्च अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा— वधे, बहे, छविच्छेदे अतिभारे भत्तपाण वोच्छेत्ते"

(उपासक दशाङ्ग अ० १)

इस पाठमें किसी कारण विशेषका नाम न लेकर सामान्य रूपसे वध, वन्धन, छविच्छेद अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना बतलाया है इस लिए मारनेकी इच्छासे उक्त कार्य्योंके आचरणको अतिचारमें गिनना और क्रोधादि वश उक्त कार्य्योंके आचरणसे अतिचार न मानना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध है।

जो लोग मारनेके अभिप्रायसे नहीं किन्तु अपने गोदाममें शीघ्र माल पहुंचानेके लिये अपने ऊंट घोड़े और बैल आदिपर अतिभार डालते हैं वे भी शास्त्रानुसार अतिचारका सेवन करते हैं परन्तु भ्रमविध्वंसनकारके मतमें ये पुरुष अतिचारके सेवन करने वाले नहीं हो सकते क्योंकि ये अपने पशुपर मारनेकी भावनासे अतिभार नहीं डालते। इसी तरह कोई अपने पशुका वध वन्धन और छविच्छेद किसी अन्य कारणसे करता है तो वह भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे अतिचारका सेवन करने वाला नहीं हो सकता क्योंकि वह मारनेके भावसे उक्त कार्य्य नहीं करता परन्तु शास्त्र उसे अतिचार लगना बतलाता है अतः किसी भी कारणसे अपने पशुका वध, वन्धन, छविच्छेद अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना समझना चाहिये मारनेके भावसे उक्त कार्य्य करनेसे नहीं क्योंकि वह अनाचार है।

जो मनुष्य मारनेके अभिप्रायसे नहीं किन्तु असंयतिको भात पानी देनेसे पाप होना जान कर अपने पशुको भात पानी नहीं देता है उसे भी शास्त्रानुसार अतिचार

लगता है परन्तु जीतमलजीके हिसाबसे उसे अतिचार न होना चाहिए क्योंकि वह मारनेके अभिप्रायसे भात पानी नहीं बन्द करता है असंयतिको भात पानी देनेसे पाप होना जान कर बन्द करता है अतः उस मनुष्यका व्रत इस कार्य्यसे और अधिक निर्मल होना चाहिए परन्तु शास्त्र इसे अतिचार होना बतलाता है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने आश्रित प्राणीपर भात पानी आदिके द्वारा अनुकम्पा करना पुण्यका कार्य्य है एकान्त पापका नहीं।

भ्रमविध्वंसनकार जूखे जनताको भ्रममें डालनेके लिए जो यह कहते हैं कि "अपने आश्रित प्राणीको थोड़ा बन्धनसे बांधे या लकड़ी आदिसे हल्का प्रहार करे तो उसे अतिचार नहीं आता परन्तु पाप होता है उसी तरह अपने आश्रित प्राणीको भात पानीसे पोषण करना अतिचार नहीं है परन्तु पाप तो होता ही है" यह इनका कथन भी असंगत है अपने आश्रित प्राणीको थोड़ा भी न मारना और थोड़ा भी भार नहीं डालना जैसे पाप नहीं है उसी तरह उसका थोड़ाभी भातपानी नहीं बन्द करना पाप नहीं है इस प्रकार बातके स्पष्ट होनेपर भी साधारण जनताको चक्करमें डालनेके लिए जो भ्रमविध्वंसन करने पूर्वोक्त बात कही है वह एकान्त अयुक्त समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो जीवोंकी विराधना होती है उससे पुण्य कैसे हो सकता है? क्योंकि हिंसासे पुण्य नहीं होता पुण्य तो अहिंसासे होता है तो इसका उत्तर यह है कि जैसे श्रावक लोग नाना प्रकारके वाहनोंमें बैठ कर साधु दर्शनार्थ दूर दूरके स्थानोंमें जाते हैं और उनसे अनेक जीवोंकी विराधाना भी होती है तथापि उन्हें जो साधुके दर्शनका लाभ होता है वह बहुत ही उत्तम और पुण्यका कार्य्य है उसी तरह अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो उस प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) होती है वह बहुत ही प्रशस्त है यदि भात पानी न देवे तो उस स्थूल प्राणीकी प्राण हिंसा होनेसे श्रावकका स्थूल प्राणातिपात नामक व्रत ही कायम न रहे। भात पानी देते समय जो आरम्भजा हिंसा होती है उसका तो श्रावकको त्याग नहीं है अतएव अपने आश्रित प्राणीको भात पानी न देनेसे अतिचार होना कहा है। अतः अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल २२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८७ पर लिखते हैं " वली कोई इम कहे तुङ्गिया नगरीना श्रावकांरा उघारा वारणा कह्या छै ते भीखार्‌यांने देवाने अर्थे उघारा वारणा छै इम कहे तेहनो उत्तर—

उघारा वारणा कह्या छै ते तो साधुरी भावनारे अर्थे कह्या छै। ते किमजे और भीखारी तो किमाड खोलने पिण मांहे आवे छै अने साधु किमाड़ खोलने आहार लेवा न आवे ते मांटे श्रावकांरा उघारा वारणा कह्या छै " इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ में तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंका वृतान्त वर्णन करनेके लिए " उस्सिह फलिहा, अवंगुय दुवारा " यह पाठ आया है इसका अर्थ टीका कारने भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वारका खुला रहना वतलाया है वह टीका यह है:—

" उच्छ्रितोऽर्गला स्थाना दपनी योदूर्ध्वी कृतो न निरश्चीनः कपाट पश्चाद्भगा दपनीत इत्यर्थः परिघोऽर्गला येषांते उच्छ्रित परिघाः । अथवा उच्छ्रितः गृहद्वारादपगतः परिघो येषांते उच्छ्रित परिघाः औदार्य्या तिशयत्वेन भिक्षुकाणां प्रवेशार्थं मनर्गलित गृह द्वारा इत्यर्थः । " अवंगुय दुवारे " त्ति भिक्षुकाणां प्रवेशार्थं मौदार्य्या दस्थगित गृह द्वारा इत्यर्थः "

अर्थात् तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके दरवाजेकी अर्गलाएं कपाटोंमें नहीं लगाई जाकर वगलमें खड़ी रक्खी रहती थीं । अथवा तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके मकानका द्वार वन्द करनेके लिये अर्गलाएं होती ही नहीं थीं और उनके घरके कपाट वन्द नहीं किए जाते थे-कारण यह कि वे श्रावक वड़े उदार और दानशील थे वे भिक्षुकोंका निर्वाध प्रवेश होनेके लिए अपने घरोंका द्वार खुला रखते थे ।

यहां टीकाकारने मूल पाठका अभिप्राय वतलाते हुए भिक्षुकोंके प्रवेशार्थं तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंका द्वार खुला रहना बतलाया है अतः भिक्षुकोंके प्रवेशार्थं तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके द्वार खुले रहनेकी वात न मानना उक्त टीकासे विरुद्ध और निर्मूल समझना चाहिए ।

यद्यपि टीकाकारने तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके द्वार खुला रहनेका कारण वृद्ध व्याख्यानुसार सम्यक्त्वमें दृढ़ता और निर्भीकता भी वतलायी है तथापि उस वृद्ध व्याख्यानसे भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वार खुला रहनेका खण्डन नहीं होता क्योंकि वृद्ध

व्याख्या भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वार खुला रहनेका विरोध नहीं करती किन्तु द्वार खुला रहनेका कारण भिक्षुकोंका प्रवेशके सिवाय दूसरा भी वतलाती है इसी तरह सुयगडाङ्ग सूत्र श्रु० २ अध्ययन २ की दीपिकामें कपाट खुला रहनेका कारण सम्यक्त्वमें दृढ़ता और पर पाषण्डियोंसे न डरना कहे गये हैं उनसे भी भगवतीकी टीकामें कही हुई भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वार खुले रहनेकी वात खण्डित नहीं होती किन्तु भिक्षुकोंके प्रवेशके सिवाय और कारण भी वतलाए जाते हैं। इस प्रकार तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके द्वार खुले रहनेके तीन कारण टीकाकारोंने वतलाये हैं भिक्षुकोंका प्रवेश, सम्यक्त्वमें दृढ़ता, और पर-पाखण्डियोंसे न डरना, वास्तवमें ये तीन ही कारण यथार्थ हैं। जो मनुष्य कृपण होते हैं वे भिक्षुकोंका प्रवेश न होने देनेके लिये अपने घरका द्वार वन्द रखते हैं और जो डरते हैं वे भी भयके कारण अपने घरका द्वार नहीं खुला रखते परन्तु जो उदारताके कारण अपने घरमें भिक्षुकोंका प्रवेश होना चाहते हैं और जो किसीसे भय नहीं पाते वे अपने घरके द्वारको नहीं वन्द करते किन्तु खुला रखते हैं। तुङ्गिया नगरीके श्रावक सम्यक्त्वमें दृढ़ निर्भीक और वड़े उदार दानशील थे इसलिये वे अपने घरके द्वारको खुला रखते थे इस प्रकार तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके वृत्तान्तसे अनुकम्पादानका पूर्ण रूपसे समर्थन होनेपर भी उसे नहीं मानना आभिनिवेशिक मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये। किसी भी टीकामें साधुओंकी भवनासे द्वार खुला रखना नहीं कहा है तथापि अनुकम्पा दानको उठा देनेके लिये जो जीतमलजीने साधुओंकी भावनासे ही द्वार खुला रहना कहा है वह एकान्त मिथ्या और सभी टीकाओंसे विरुद्ध समझना चाहिये।

वास्तवमें भिक्षुकोंका प्रवेश होनेके लिए गृह द्वारके खुले रहनेकी वात जो भगवती सूत्रकी टीकामें लिखी है वह मूल पाठसे भी मिलती है इसलिए उसको न मानना मूल पाठको तिरस्कार करना है। जैसा पाठ तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके सम्वन्धमें भगवती सूत्रमें आया है उसी तरहका अम्वड संन्यासीके विषयमें उववाई सूत्रमें भी है उववाई सूत्रमें लिखा है कि—"नवरं उस्सिह फलिहे अवंगुय दुवारे चियत्त अन्तेउर पवेसी न उच्चरइ" अर्थात् तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंके सम्वन्धमें जो पाठ आया है वह अम्वड संन्यासीके विषयमें भी कहना चाहिये परन्तु "उस्सिफलिहे अवंगुय दारए चियत्त अन्ते उर पवेसी" ये तीन पाठ न कहने चाहिये। यह उक्त पाठका अर्थ है।

इसमें जो अम्वड सन्यासीके विषयमें तीन पाठ वर्जित किये गये हैं इसका कारण वतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि "औदार्य्यातिशया दतिशय दान दायित्वेन भिक्षु प्रवेशार्थं मनर्गलित गृह द्वारा इत्यर्थः। इदंच किलाम्वडस्य न सम्भवति

स्वयमेव तस्य भिक्षुकत्वात्। अतएव लिखितं पुस्तके यथा उस्सिह फलिहे त्यादि विशेषणत्रयं नोच्यते " अर्थात् तुङ्गिया नगरीके श्रावक अतिशय उदार होनेके कारण अपने मकानके द्वार खुला रखते थे परन्तु यह बात अम्बड सन्यासीमें सम्भव नहीं है क्योंकि अम्बड संन्यासी स्वयमेव भिक्षुक थे। अतएव अम्बड संन्यासीके विषयमें " उस्सिह फलिहा " इत्यादि तीन विशेषणोंको न लगाना मूल पाठमें कहा है यह उक्त टीकाका अर्थ है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वारका खुला रहना अर्थ ही "उस्सिह फलिहा अवंगुयं दुवारा " इस पाठका मूल सम्मत है अन्यथा अम्बड संन्यासीके विषयमें इन पाठोंके निषेध करनेकी क्या आवश्यकता थी क्योंकि अम्बड संन्यासी भी सम्यक्त्वमें दृढ़ और निर्भीक थे अतः भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ ही तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंका द्वार खुला रहना उक्त पाठोंका मूल सम्मत अर्थ प्रतीत होता है अतः भिक्षुकोंके प्रवेशार्थ द्वारके खुले रहनेका निषेध करना जीतमलजीका अज्ञान समझना चाहिए।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९३ पर लिखते हैं:—

"जे श्रावक तपस्या करे ते तो व्रत छै अने पारणो करे ते अव्रत माहि छै। आगार सेवे छै ते सेवन वालाने धर्म नहीं तो सेवा वन वालाने धर्म किम कहिए ए अव्रत एकान्त खोटी छै। अव्रत रेणा देवी सरीखी छै। (भ्र० पृ० ९२)

इनके कहनेका आशय यह है कि श्रावकका खाना पीना वस्त्र मकान आदि सब अव्रतमें है इसलिए श्रावकको अन्न पानी आदिकी सहायता देना उससे अव्रतका सेवन कराना है अव्रतका सेवन कराना एकान्त पाप है इसलिए श्रावकको अन्न पानी आदि की सहायता देना एकान्त पाप है जब कि श्रावकको भी अन्न पानी देना एकान्त पाप है तब फिर दूसरे हीन दीन दुःखीको दान देनेसे तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य ही एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

श्रावकका खाना पीना वस्त्र मकान आदिको अव्रतमें कायम करके उसको अन्न पानी आदिकी सहायता देनेसे एकान्त पाप और अव्रतका सेवन बताना अज्ञान है। जिसमें स्वल्प भी व्रत नहीं होता उसीको अव्रतकी क्रिया लगना शास्त्रमें कहा है श्रावक

तो देशसे व्रतधारी है फिर उसको अव्रतकी क्रिया कैसे लग सकती है ? जब कि श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगती तब श्रावकको अन्न पानी आदिकी सहायता देने से अव्रतका सेवन कराना कैसे हो सकता है ? अतः श्रावकको अव्रतकी क्रिया लगनेकी बात मिथ्या है । पन्नावणा सूत्रके २२ वें पदमें श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगनेका स्पष्ट उल्लेख है वह पाठ नीचे दिया जाता है:—

"कतिणं भन्ते ! किरिआओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पञ्च किरिआओ पण्णत्ताओ तञ्जहा—आरंभिया परिग्गहिया मायावत्तिआ अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया । आरम्भियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि पमत्तसंजयस्स, परिग्गहियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि संजयासंजयस्स, मायावत्तियाणं किरिया कस्स कज्जइ ? अण्णयरस्सवि पमत्त संजयस्स अपच्चक्खाण किरियाणं भन्ते ! कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि अपच्चक्खाणिस्स, मिच्छादंसण वत्तियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि मिच्छादंसणिस्स"

(पन्नावणा पद २२)

इस पाठकी टीका निम्न लिखित है:—

"कइणं भन्ते ! इत्यादि आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः उक्तञ्च "संरम्भो सङ्कप्पो परितावकरो भवे समारम्भो आरम्भो उद्दवतो सुद्धनयाणंतु सव्वेसिं"

आरम्भः प्रयोजनंकारणं यस्याः सा आरम्भिकी । परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज्जवस्तुस्वीकारः धर्मोपकरणमूर्च्छाच परिग्रह एव पारिग्रहिकी परिग्रहेण निर्वृत्तात्रा पारिग्रहिकी ।

"माया वत्तिया" इति माया, अनार्जव मुपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रहः माया प्रत्ययः कारणं यस्याः सा माया प्रत्यया "अपच्चक्खाण किरिया" इति अप्रत्याख्यानं मनागपि विरति परिणामाभावः तदेव क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया । "मिच्छादंसण वत्तिया" इति मिथ्यादर्शन प्रत्ययो हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शन प्रत्यया । एतासां क्रियाणां मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य तां निरूपयति "आरम्भियाणं भन्ते ! इत्यादि,

"अण्णयरस्सवि पमत्त संजयस्स " इति अत्रापि शब्दो भिन्न क्रमः प्रमत्त संयतस्याप्य न्यतरस्य एक तरस्य कस्यचित् प्रमादे सति काय दुष्प्रयोग भावतः पृथि व्यादेरुपमर्द संभवात्। अपि शब्दोऽन्येपा मधस्तन गुण स्थान वर्तिनां नियम प्रदर्शनार्थः। प्रमत्त संयतस्या प्यारंभिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देश विरति प्रभृतीनामिति एवं यथा योग मपि शब्द भावना कर्त्तव्या। पारिग्रहिकी संयतासंयतस्यापि देश विरतस्या पीत्यर्थः तस्यापि परिग्रह धारणात् माया प्रत्यया अप्रमत्त संयतस्यापि कथमितिचे दुच्यतेप्रवचनोड्डाह प्रच्छादनार्थं वल्लीकरणसमुद्देशा दिपु। अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतरस्याप्य प्रत्याख्यानिनः अन्यतरदपि न किञ्चिदित्यर्थः योन प्रत्याख्याति तस्येत्यर्थः मिथ्यादर्शनक्रिया, अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमक्षरमप्यरोचयमानस्येत्यर्थः मिथ्यादृष्टेर्भवति "

अर्थः—

पृथ्वी आदि कायके प्राणियोंको सन्ताप देनेका नाम "आरम्भ" है। कहा भी है प्राणियोंको सन्ताप देनेके लिए सङ्कल्प करनेका नाम 'सरम्भ' है और उनको परिताप देना "समारम्भ" कहलता है और प्राणियोंको उपद्रव पहुंचाना "आरम्भ" है उस आरंभ के लिये जो क्रिया की जाती है उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं।

(पारिग्रहिकी)

धर्मोपकरणसे भिन्न वस्तुको अङ्गीकार करना, और धर्मके उपकरणोंमें मूर्च्छा रखना परिग्रह कहलता है। उसीको पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं अथवा परिग्रहसे उत्पन्न हुई क्रियाको "पारिग्रहिकी क्रिया " कहते हैं।

(माया प्रत्याया)

माया नाम कुटिलताका है यहां माया शब्दको उपलक्षण मान कर उससे क्रोधादि भी लिए जाते हैं इसलिये जो क्रिया माया आदिसे की जाती है उसे माया प्रत्यया क्रिया कहते हैं।

(अप्रत्याख्यान क्रिया)

विरतिका परिणाम थोड़ा भी न होना "अप्रत्याख्यानं" कहलाता है उसीको 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कहते हैं।

(मिथ्यादर्शन प्रत्यया)

मिथ्यादर्शनके कारण जो क्रिया की जाती है उसे "मिथ्यादर्शन प्रत्यया" कहते हैं। इनमेंसे कौनसी क्रिया किसको लगती है यह बतलाया जाता है:—

(प्रश्न) हे भगवन्! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसी प्रमत्त संयत पुरुषको भी आरम्भिकी क्रिया लगती है प्रमत्त संयत पुरुष जब कभी प्रमादवश अपने शरीर आदिका दुष्प्रयोग करता है तब उससे पृथिवी आदि कायोंके जीवकी विराधना होनेसे उसको आरम्भिकी क्रिया लगती है यहां जो अपि शब्द आया है उससे यह बतलाय गया है कि आरम्भिकी क्रिया जब किसी किसी प्रमत्त संयतको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानोंमें तो कहना ही क्या है ? उनमें तो अवश्य ही आरम्भिकी क्रिया लगती है। इसी तरह इस पाठमें दूसरे अपि शब्दोंका भी यथा योग्य समन्वय करना चाहिये।

(प्रश्न) हे भगवन् ! पारिग्रहिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! देश विरत श्रावकको भी पारिग्रहिकी क्रिया लगती है। यहां भी पूर्ववत् अपि शब्दसे यह बतलाया गया है कि पारिग्रहिकी क्रिया जबकि देशविरत श्रावकको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है ? उनको तो अवश्य ही पारिग्रहिकी क्रिया लगती है।

(प्रश्न) हे भगवन ! माया प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! माया प्रत्यया क्रिया किसी किसी अप्रमत्त संयतको भी लगती है क्योंकि वे भी अपने प्रवचनकी बदनामीको मिटानेके लिए वली करण और समुद्देश आदिमें मायाकी क्रिया करते हैं। यहां भी अपि शब्दसे यह बतलाया गया है किजब सप्तम गुण स्थानवाले अप्रमत्त संयतको भी माया प्रत्यया क्रिया लगती है तब फिर उससे नीचेके गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है उन्हें तो अवश्य ही माया प्रत्यया क्रिया लगती है।

(प्रश्न) हे भगवन् अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो जरा भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।

(प्रश्न) हे भगवन ! मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोत्तम ! जो पुरुष सूत्रमें कही हुई बातोंमेंसे एक भी अक्षरपर अरुचि करता है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया लगती है। यह उक्त मूल पाठ और उसकी टीकाका अर्थ है।

यहां मूल पाठ और उसकी टीकामें कहा है कि "जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है" श्रावक प्रत्याख्यान करता है अतः उसे अव्रतकी क्रिया नहीं लग सकती इसलिए श्रावकके खाने पीने वस्त्र मकान

आदिको अव्रतमें ठहरा कर उसको दान देनेसे एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध है। यदि कोई कहे कि "श्रावकके अन्न, जल, वस्त्र मकान आदि अव्रतमें नहीं तो क्या व्रतमें है ? तो उससे कहना चाहिये कि श्रावकके अन्न वस्त्रादि न तो व्रतमें है और न अव्रतमें ही, किन्तु परिग्रहमें है। भगवान्ने व्रत और अव्रतको आत्माका परिणाम बतलाया है और तेरह पन्थके प्रवर्तक भीषणजीने भी व्रत और अव्रतको जीव तथा अरूपी कहा है अतः श्रावकके अन्न वस्त्रादि जो कि रूपी और प्रत्यक्ष अजीव पदार्थ हैं वे व्रत और अव्रतमें नहीं हो सकते भीषणजीने तेरह द्वारमें छट्ठा रूपी और अरूपी द्वारके अन्दर यह लिखा है "अव्रत आस्रवने अरूपी किण न्याय कही जै अत्याग भाव परिणाम जीवरा अरूपी कह्या छै" अतः श्रावकके अन्न वस्त्र आदिको अव्रतमें कायम करके श्रावकको अव्रत की क्रिया लगनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है।

श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगना पन्नावणा सूत्रके मूल पाठसे भी सिद्ध होता होता है वह पाठ नीचे लिखा जाता है:—

"जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स परिग्गहिया किं कज्जइ ? जस्स परिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ! गोयमा ? जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स परिग्गहिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ जस्स पुण परिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स माया वत्तिया किरिया कज्जइ ? पुच्छा गोयमा ! जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स माया वत्तिया किरिया नियमा कज्जइ जस्स पुण माया वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ। जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरम्भिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा ? गोयमा ! जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिय कज्जइ सियनो कज्जइं जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स आरम्भिया किरिया नियमा। एवं मिच्छादंसणवत्तिया एवि समं एवं परिग्गाहियावि तीहिं उवरिल्लाहिं समं संचारे-

त्ता । जस्स माया वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ । दोवि सिय कज्जन्ति सिय नो कज्जन्ति जस्स उवरिल्लाओ दो कज्जंति तस्स माया वत्तिया नियमा कज्जति । जस्स अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स मिच्छद्ंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ जस्स पुण मिच्छद्ंसण वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया नियमा कज्जइ"

(पन्नावणा सूत्र)

अर्थः—

(प्रश्न) हे भगवन् जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको पारिग्रहिकी क्रिया भी होती है ? और जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको आरम्भिकी क्रिया भी होती है ?

(उत्तर) हे गतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती, परन्तु जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है।

(जैसे कि प्रमत्त संयत पुरुषको काय आदिके दुष्प्रयोगसे आरम्भिकी क्रिया होती है पारिग्रहिकी नहीं होती क्योंकि वे परिग्रह रहित होते हैं इसलिये आरंभिकी क्रियाके साथ पारिग्रहिकी क्रियाकी भजना कही गयी है। छट्ठे गुण स्थानसे नीचेके गुण स्थानवालोंमें परिग्रह भी होता है और आरम्भ भी होता है इसलिए पारिग्रहिकी क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती।

(इसका तात्पर्य्य यह है कि आरंभिकी क्रिया छट्ठे गुण स्थानतकके जीवोंमें होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी होती है इस लिए आरम्भिकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाका नियम कहा गया है परन्तु मायाप्रत्यया क्रिया सप्तमादि गुणस्थानवालोंमें भी होती है वहां आरम्भिकी क्रिया नहीं होती इसलिए माया प्रत्यया क्रिया के साथ आरंभिकी क्रियाकी भजना कही है।)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रात्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानि की क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको आरंभिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है कि आरंभिकी क्रिया षष्ठ गुण स्थान पर्य्यन्त होती है परन्तु पञ्चम और षष्ठ गुण स्थानमें प्रत्याख्यान होनेसे अप्रत्यानिकी क्रिया नहीं होती इसलिये यहां आरंभिकीके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है । चतुर्थ गुण स्थान तकके जीवोंको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें आरंभिकी क्रियाका भी सद्भाव होता है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ आरंभिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरंभिकी क्रिया होनी है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरंभिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका अभिप्राय यह है कि आरंभिकी क्रिया चौथे पांचवें और छठे गुण स्थानमें भी होती है परन्तु वहां मिथ्या दशन प्रत्यया क्रिया नही होती क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः आरंभिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया मिथ्यादृष्टिको होती है और उसमें आरंभिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ आरंभिकी क्रियाका नियम कहा गया है) ।

आरंभिकी क्रियाके साथ शेष चार क्रियाओंकी भजना और नियमाका विचार कर दिया गया अब पारिग्रहिकी क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियमका विचार किया जाता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है ।

(इसका भाव यह है कि पारिग्रहिकी क्रिया पञ्चम गुणस्थान तकके जीवोंमें होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी मौजूद है अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाका नियम कहा है परन्तु माया प्रत्यया क्रिया छठे आदि गुण स्थानों में भी होती है वहां पारिग्रहिकी क्रिया नहीं होती क्योंकि षष्ठादि गुण स्थान वाले जीव परिग्रह रहित होते है इस लिये मायाप्रत्यया क्रियाके साथ पारिग्रहिकी क्रियाकी भजना कही है।)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको पारिग्रहिकी होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है कि पारिग्रहिकी क्रिया पञ्चम गुण स्थानमें भी होती है क्योंकि श्रावक भी परिग्रह धारी होते हैं परन्तु उनमें अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती कारण यह कि श्रावक प्रत्याख्यानी होते हैं अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही है। चतुर्थ गुण स्थान पर्य्यन्त अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और वहां परिग्रह भी मौजूद होता है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ परिग्रहकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है पारिग्रहिकी क्रिया चतुर्थ और पञ्चम गुण स्थानमें भी होती है परन्तु वहां मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि चतुर्थ और पञ्चम गुण स्थान वाले जीव, सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः पारिग्रहिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया की भजना कही गई है। मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया, मिथ्या दृष्टियोंमें होती है और उनमें परिग्रहकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया के साथ पारिग्रहिकी क्रियाकी नियमा कही गई है)

पारिग्रहिकी क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियमा कही गई, अब माया प्रत्यया क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियम कहे जाते हैं :—

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका तात्पर्य्य यह है—माया प्रत्यया क्रिया पञ्चमादि गुण स्थानोंमें भी होती है परन्तु वहां अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती क्योंकि पञ्चमादि गुण स्थानोंमें प्रत्याख्यानी पुरुष होते हैं इस लिये माया प्रत्यया क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है । चतुर्थ गुण स्थान पर्य्यन्तके जीवोंमें अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी मौजूद है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाकी नियमा कही गई है) ।

प्रश्न—हे भगवन् ! जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है क्या उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको माया प्रत्यया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है—माया प्रत्यया क्रिया चतुर्थादि गुण स्थान वालोंमें भी होती है परन्तु उनमें मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः माया प्रत्यया क्रियाके साथ मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया मिथ्या दृष्टियोंमें होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी होती है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाकी नियमा कही गई है ।)

(प्रश्न)

हे भगवन् ! जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर)

हे गोतम ! जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया अवश्य होती है। (इसका भाव यह है कि चतुर्थ गुण स्थान वाले जीवोंमें अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है परन्तु मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि हैं इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रियाकी भजना कही है। मिथ्या दृष्टि जीवोंमें मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है और उनमें अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाका नियम कहा गया है) यह उक्त मूल पाठका टीकानुसार भावार्थ है।

यहां पारिग्रहिकी क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भंजना कही गई है यह बात उसी हालतमें घट सकती है जब कि किसी जगह परिग्रह तो हो परन्तु अप्रत्याख्यान न हो, ऐसा स्थान, पञ्चम गुण स्थानको छोड़ कर दूसरा नहीं हो सकता क्योंकि षष्ठ आदि गुण स्थानोंमें परिग्रह नहीं होता और पञ्चमसे पूर्वके गुण स्थानोंमें परिग्रहके साथ अप्रत्याख्यान भी मौजूद है अतः एक पञ्चम गुण स्थान ही ऐसा है जहां परिग्रह तो होता है परन्तु अप्रत्याख्यान नहीं होता इसलिये उक्त मूल पाठमें परिग्रहके साथ अप्रत्याख्यानकी जो भजना कही है उसका पञ्चम गुण स्थान ही उदाहरण समझना चाहिये। यदि भ्रमविध्वंसनकारके सिद्धान्तानुसार श्रावकको भी अव्रतकी क्रिया लगना माना जाय तो फिर उक्त मूलपाठमें पारिग्रहकी क्रियाके साथ जो अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है उसका उदाहरण कौन हो सकता है ? तेरह पंथी इसका कोई भी उदाहरण नहीं दे सकते। जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता है उसीको अव्रतकी क्रिया लगना टीकाकारने भी कहा है। वह टीका यह है—

"अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः।
अन्यतरदपि नकिंचिदपीत्यर्थः यो न प्रत्याख्याति तस्यैत्यर्थः।"

अर्थात् "जो किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है" श्रावक तो देशसे प्रत्याख्यान करता है इस लिए उसको अव्रतकी क्रिया नहीं लग सकती तथापि श्रावकके खाने पीने वस्त्र मकान आदिको अव्रतमें ठहराकर उसको दान देनेसे जो जीतमलजीने एकान्त पाप और अव्रतका सेवन कराना बतलाया है वह शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

[बोल २४ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९२ के ऊपर सुयगडांग और उवाई सूत्रका मूल पाठ लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"अथ अठे श्रावकरा व्रत अव्रत जूदा जूदा कह्या मोटा जीव हणवारा मोटा झूठरा मोटो चोरी मिथुन परिग्रहरी उपरान्त मर्य्यादा कीधी ते तो व्रत कही अने पांच स्थावर हणवारो आगार छोटो झूठ छोटी चोरी मिथुन परिग्रहरी मर्य्यादा कीधी ते मांहिला सेवन सेवा वन रो आगार ते अव्रत कही" इत्यादि इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

सुय गडांग सूत्र और उवाई सूत्रका नाम लेकर श्रावकको अव्रतकी क्रिया बताना मिथ्या है। उक्त सूत्रमें कहा है कि—"श्रावक अठारह पापोंसे अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है।" जिस अंशसे नहीं हटा है वह उसका अव्रत है ऐसा नहीं लिखा है अतः उक्त सूत्रोंकी सहायतासे श्रावकको अव्रतकी क्रिया बताना अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि श्रावक जिस अंशसे हटा है वह जब कि उसके व्रतमें है तब जिससे वह नहीं हटा है वह अव्रतमें क्यों नहीं है ? तो उससे कहना चाहिये कि सुय गडांग सूत्र और उवाई सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको अठारह पापोंसे अंशतः हटना और अंशतः नहीं हटना कहा है इस लिये श्रावक मिथ्यादर्शन शल्यसे भी अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है। जिस अंशसे श्रावक नहीं हटा है उसके हिसाबसे श्रावकको मिथ्या दर्शनकी क्रिया क्यों नहीं लगती है ? यदि कहो कि श्रावक मिथ्यादर्शन शल्य रूप पाप से यद्यपि सर्वथा नहीं हटा है तथापि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे उसे मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती तो उसी तरह समझो कि १७ पापोंके जिस जिस अंशसे श्रावक नहीं हटा है उसके सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होनेसे श्रावकको अप्रत्याख्यानकी क्रिया नहीं लगती। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ में स्पष्ट लिखा है कि श्रावकको आरम्भिकी पारिग्रहिकी और माया प्रत्यया ये तीन ही क्रियायें लगती हैं अप्रत्याख्यानकी और मिथ्या-दर्शनकी क्रिया नहीं लगती। वह पाठ यह है :—

"तत्थणं जेते संजया संजया तेसिणं आदि आओ तीणि किरि आओ कज्जंति"

(भ० श० १ उ० २)

अर्थात् संयता संयत (श्रावक) को आदिकी तीन क्रियाएं लगती हैं शेष अप्रत्याख्यानकी और मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगतीं। अतः श्रावकको अव्रतकी क्रिया

लगनेकी प्ररूपणा इस पाठसे विरुद्ध समझनी चाहिये। फिर भी कोई कहे कि १७ पापों का जो अंश श्रावकको बाकी है उसके हिसाबसे श्रावकको अव्रतकी क्रिया भी होनी चाहिये" तो श्रावकमें मिथ्यात्वका जो अंश बाकी है उसके हिसाबसे मिथ्यात्वकी क्रिया भी उसे होनी चाहिये। यदि कहो कि मिथ्यात्वकी क्रिया श्रावकको वर्जित की गई है तो भगवतीके उक्त पाठमें अव्रतकी क्रिया भी श्रावकको स्पष्ट रूपसे वर्जित की गई है अतः श्रावकको अव्रतकी क्रिया मानना एकान्त मिथ्या है। श्रावकको अव्रतकी क्रिया सिद्ध करनेके लिये उवाइ सूत्र ओर सुय गडांग सुत्रका जो मूलपाठ जीतमलजीने लिखा है वह निम्न लिखित है :—

"एगचाओ पाणाइवाओ पडिविरया जाव जीवाए एगचाओ अपडि विरया एवं जाव परिग्गहाओ पडिविरया एगचाओ अपडि-विरया। एगचाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुणाओ परपरिवायाओ अरति रतिओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जाव जीवा ए एगचाओ अपडिविरया जाव जीवाए।"

(उवाई प्रश्न १२)

अर्थ—

श्रावक यावज्जीवन, प्राणातिपातसे लेकर परिग्रह पर्य्यन्त एक एकसे निवृत्त और एक एकसे निवृत्त नहीं है इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, आख्यान, पैशुन्य, परपरीवाद, अरति रति, माया मृषा, और मिथ्यादर्शन शल्यके एक एक अंशसे हटे हुए और एक एक अंशसे नहीं हटे हैं।

इस पाठमें जैसे १७ पापोंसे श्रावकको अंशतः नहीं निवृत्त होना कहा है उसी तरह अठारहवां पाप मिथ्यादर्शन शल्यसे भी अंशतः नहीं हटना कहा है इस लिये जैसे मिथ्यादर्शन शल्यसे अंशतः नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती उसी तरह १७ पापोंसे अंशतः नहीं हटने पर भी श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगती अतः उक्त मूलपाठकी साक्षी देकर श्रावकको अव्रतकी क्रिया लगना ठहरा कर उसको अन्न पानादिके द्वारा सहायता करनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

श्रावकको अव्रतकी क्रिया नहीं लगती यह मुझको ज्ञात हुआ परन्तु श्रावकको साता उत्पन्न करनेसे धर्म या पुण्य होता है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

श्रावकको साता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्यकी उत्पत्ति होना भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा १ के मूल पाठसे सिद्ध होता है वह पाठ अर्थके साथ लिखा जाता है :—

"सणं कुमारे देविन्दे देवराया बहुणं समणाणं बहुणं समणीणं बहुणं सावयाणं बहुणं सावियाणं हिय कामए सुह कामए पत्थकामए अनुकम्पिए निस्सेयसिए हिय सुह निस्सेयस कामए सेते ण ट्ठेणं गोयमा सणं कुमारे भवसिद्धिए णो अचरिमे"

(भगवती शतक ३ उ० १)

अर्थ :—

हे गोतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुतसे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करते हैं इस लिये वह भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम हैं।

इस पाठमें साधु साध्वीकी तरह श्रावक और श्राविकाओंका भी हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम होना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक और श्राविकाको साता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति होती है। श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख और पथ्यकी कामना मात्र करनेसे जब कि सनत्कुमार देवेन्द्रको इतना बड़ा उत्तम फल प्राप्त हुआ है तब फिर साक्षात् हित सुख और पथ्य करनेसे तो कहना ही क्या है। अतः जो लोग श्रावकको सुख साधक वस्तुका प्रदान करके धर्ममें सहायता देते हैं वे धर्मका कार्य करते हैं एकान्त पापका नहीं इस लिये श्रावकको सुखसाधक वस्तुका प्रदान करके उनको साता उत्पन्न करनेसे जो एकान्त पाप और अव्रतका सेवन कराना बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

उक्त मूल पाठमें आये हुए हित, सुख और पथ्य शब्दोंका अर्थ, टीकाकारने इस प्रकार किया है :—

"हितं सुख निबन्धनं वस्तु" "सुह कामए" त्ति सुखं शर्म"। "पत्थ कामए" त्ति पथ्यं दुःख त्राणं" कस्मादेव मित्यत आह "अनुकम्पिए"त्तिकृपावान्।

"अर्थात् सुख साधक वस्तुका नाम "हित" है। सुख पहुंचाना "सुख" है और दुःखसे त्राण (रक्षा) करना पथ्य कहलाता है। सनत्कुमार देवेन्द्र साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओं पर अनुकम्पा रखते हैं इस लिये वह उनके हित, सुख, और पथ्यकी कामना करते हैं। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

यदि कोई कहे कि उक्त मूल पाठमें श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुख और पथ्यकी कामना नहीं कही गई है किन्तु मोक्ष सम्बन्धी हित, सुख और पथ्य की कामना कही गई है इस लिये श्रावकको शारीरिक सुख देना कोई धर्म नहीं है तो उससे कहना चाहिये कि श्रावक और श्राविकाओंके समान ही यह पाठ साधु और साध्वियोंके लिये भी आया है इस लिये यदि श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुख और पथ्य करनेसे धर्म पुण्य नहीं है तो साधु और साध्वियोंके भी शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म पुण्य नहीं होना चाहिये। यदि साधु और साध्वीके शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म होना मानते हो तो फिर श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुख और पथ्यसे भी धर्म मानना ही होगा।

उवाई सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको धार्मिक, सुशील, सुव्रत, धर्मानुग और धर्म पूर्वक जीविका करने वाला कहा है। वह पाठ यह है :—

"अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्प परिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाइ धम्मप्पलोइया धम्मप्पलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणंचेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू" **(उवाई सूत्र)**

इस पाठमें कहा है कि—श्रावक अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुग, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्म प्रलोकी, धर्म प्ररंजन, धर्मसमुदाचार, सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानंद साधु तुल्य और धर्म पूर्वक जीविका करने वाले होते हैं। शास्त्र ऐसे ऐसे विशेषण लगा कर जिसकी प्रशंसा करता है उसी श्रावकको कुपात्र बताना और उसको दान देकर धर्म की सहायता पहुंचानेसे एकान्त पाप कहना कितना तीव्रतर मिथ्यात्वका कार्य्य है यह हर एक बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है।

सुय गडांग सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको धमपक्षमें माना है वह पाठ अर्थके साथ दिया जाता है—

"तत्थणं जासा सव्वओ विरया विरइ एस ठाणे आरंभ णो आरंभ ठाणे। एस ठाणे आरिए केवले पडिपुन्ने णेयाउए संसुद्धे

सलगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे निव्वाणमग्गे निज्जाणमग्गे सव्व दुःखप्पहीणमग्गे एगंत सम्मे साहू"

अर्थः—

पहले बताये हुए स्थानोंमें जो विरता विरत नामक स्थान है वह आरम्भ नो आरंभ कहलाता है। यह स्थान, आर्य्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, संशुद्ध, इन्द्रियसंयम, सिद्धि-मार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्य्याणमार्ग सर्वविध दुःखोंका विनाशकमार्ग, एकान्त सम्यग्भूत, और साधुभूत समझना चाहिये।

यहां विरता-विरत नामक स्थानको साधूभूत सम्यग्भूत इत्यादि कहकर धर्मपक्षमें स्थापन किया है फिर भी श्रावकको कुपात्र कायम करना और उसको अन्नादि दानसे एकान्त पाप कहना अज्ञानी और कुपात्रोंका कार्य समझना चाहिये यद्यपि कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य आदिक व्यापार करते समय श्रावकोंसे आरम्भजा हिंसा भी होती है तथापि श्रावकोंमें धर्मके बाहुल्य होनेसे वे धर्मपक्षमें ही गिने गये हैं टीकाकारने भी यही कहा है। वह टीका यह है:—

"एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद् धर्मा धर्मा भ्या मुपेतं तथापि धर्म भूयिष्ठत्वाद् धार्मिक-पक्ष एवावतरति तद्यथा बहुपु गुणेपु मध्यपाततो दोषोनात्मानं लभते कलंक इव चन्द्रिकायाः तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवोनोदकं कलुपयितुमलम्। एवम धर्मोऽपि धर्म मिति स्थितं धार्मिक पक्ष एवायम्"।

अर्थात् यह विरता-विरत नामक स्थान, मिश्र होनेसे यद्यपि धर्म और अधर्म दोनों हीसे युक्त है तथापि धर्मके बाहुल्य होनेसे यह धर्म पक्षमें ही ठहरता है। क्योंकि बहुत गुणोंके मध्यमें पड़ा हुआ स्वल्प दोष अपना प्रभाव नहीं दीखलाता। किन्तु चन्द्रमाकी किरणोंमें कलंककी तरह छिप जाता है। जैसे बहुत जलमें पड़ा हुआ मिट्टीका कण मिट्टीको गन्दा करनेके लिये समर्थ नहीं होता उसी तरह बहुत धर्मके मध्यमें पड़ा हुआ थोड़ासा अधर्म, धर्मकी कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकता।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय दर्शाते हुए श्रावकको धर्मपक्षमें ही मान कर उसके स्वल्प पापको अकिंचित्कर और अगणनीय बतलाया है अतः उक्त मूलपाठ और उसकी टीकासे श्रावक सुपात्र और धार्मिक सिद्ध होता है इसलिये श्रावककी सेवा शुश्रूषा करने, और दान सम्मानादिके द्वारा धर्ममें सहायता देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९३ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे दश शस्त्र कह्या तिणमें अव्रतने भाव शस्त्र कह्यो तो जो श्रावकने अव्रत सेवायां रूडा फल किम लागे। एतो अव्रत शस्त्र छै ते मांटे जेतला जेतला श्रावकरे त्याग छै ते तो व्रत छै अने जेतलो आगार छै ते सर्व अव्रत छै। आगार अव्रतसेव्यां सेवायां शस्त्र तीखो कियो कहिए पिणधर्म किम कहिये"।

(भ्र० पृ० ९३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

"दस विहे सत्थे पन्नत्ते तं जहा—सत्थ मग्गी विसं लोणं सिणे हो खार मंबिलं। दुप्पउत्तो मनोवाया काओ भावो य अविरई।"

अर्थः—

दश प्रकारके शस्त्र होते हैं वे ये हैं—अग्नि, विष, नमक, तैल घृतादि चिकने पदार्थ, खारी चीज, भस्म आदि, खटाई, अयत्न पूर्वक प्रयोग किये हुए मन, वचन, काया, और अप्रत्याख्यान, ये दश शस्त्र होते हैं। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें पहले कहे हुए छः द्रव्य शस्त्र और पीछले ४ भाव शस्त्र हैं। ये भाव शस्त्र जिसमें मौजूद हैं वह यदि कुपात्र माना जाय और उसको दान देना यदि शस्त्रको तीखा करना तथा एकान्त पाप समझा जाय तो छट्ठे गुण स्थानवाले प्रमादी साधुको भी कुपात्र मानना पड़ेगा और उसे दान देना प्रमाद रूप शस्त्रको तीखा करना और एकान्त पाप कहना होगा क्योंकि प्रमादी साधुमें प्रमादवश मन, वचन और काय-का दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है। यदि कहो कि प्रमादी साधुको प्रमादवृद्धि-के लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता तो उसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि श्रावकको दोष वृद्धिके लिए दान नहीं दिया जाता उसके गुणका पोषण करनेके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको धर्मवृद्ध्यर्थं दान देना एकान्त पाप अथवा शस्त्रको तीखा करना नहीं है। श्रावकको अव्रतकी क्रिया भी नहीं लगती है इसलिये उसको दान देना अव्रतका सेवन कराना भी नहीं है यह बात विस्तारके साथ पहले कही जा चुकी है। वास्तवमें जैसे प्रमादी साधुको उसके मन वचन कायाके

दुष्प्रयोगको न्यून करनेके लिये दान दिया जाता है उसकी वृद्धिके लिये नहीं उसी तरह श्रावकको भी उसके दोषोंकी निवृत्तिके लिये दान दिया जाता है उनकी वृद्धिके लिये नहीं अतः श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप कहनेवाले मिथ्यावादी हैं।

भ्रमविध्वंसनकार साधुके भोजनको धर्ममें और श्रावकके भोजनको पापमें कायम करके श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह अप्रामाणिक है। राज प्रश्नीय सूत्रमें भोजन विशेषसे पुण्य होना भी कहा है वह पाठ यह है:—

"सूरियाभेणं भन्ते! देवेणं सादिव्वा देविड्ढी सा दिव्वा देव-जुई से दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभि समण्णागए पुव्व भवे के आसी किंनाम एवा को वा गुत्तेणं कयरं सिवा गामंसिवा जाव संनिवेसंसिवा किंवा भोचा किंवा किचा किंवा समायरित्ता कस्सवा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्सवा अन्तिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोचा णिसम्म जण्णं सुरियाभेणं देवेणं सादिव्वा देव इड्ढी जावदेवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णा गए"। (राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थः—

हे भगवन्! इस सूर्य्याभ देवने ऐसी उत्तम दिव्य ऋद्धि, ऐसी उत्तम द्युति और इस प्रकारका दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया है? यह सूर्य्याभ देव पूर्वजन्ममें कौन था इसके नाम और गोत्र क्या थे यह किस ग्राममें या नगरमें निवास करता था इसने पूर्वजन्ममें कौनसा दान दिया था किस नीरस पदार्थका भोजन किया था तथा कौनसा उद्योग और कौनसी तपस्या की थी किस श्रमण या माहनसे इसने एक भी आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुना था जिससे इसको दिव्य ऋद्धिसे लेकर यावत् इस प्रकारका प्रभाव प्राप्त हुआ है।

इस पाठमें जैसे तथा रूपके श्रमण माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे तथा दान देने तपस्या करने आदिसे दिव्य ऋद्धिकी प्राप्ति कही गयी है उसी तरह भोजन करनेसे भी कही गयी है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके सिवाय दूसरेका खाना पीना एकान्त पापमें नहीं है। यदि शुभ आशयसे नीरस पदार्थका भोजन किया जाय तो उससे पुण्य भी उत्पन्न होता है अतः श्रावकके खानेपीने आदि कार्य्योंको एकान्त पापमें स्थापन करना इस पाठसे विरुद्ध और अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९४ पर भगवतीसूत्र शतक १ उद्देशा ८ का मूल पाठ लिखकर कहते हैं कि उक्त पाठमें श्रावकको देश प्रत्याख्यान करनेसे देवता होना कहा है आगारके सेवनसे देवता होना नहीं कहा इसलिये श्रावकका आगार एकांत पापमें है। जैसे कि उन्होंने लिखा है:—

"अथ अठे कह्यो जे श्रावक देश थकी निवृत्यो देश थकी न थी निवृत्यो देश पच्चक्खाण कीधो देश पच्चक्खाण की धो न थी। जे देशे करि निवृत्यो अने देश पच्चक्खाण कीधो तेणे करी देवता हुवे इहां पच्चक्खाणे करी देतवा थाय कह्यो ते किम जे पच्चक्खाण पालता कष्ट थी पुण्य बंधे तणे करो देवायुष बंधे कह्यो पिण अव्रत सेव्यां सेवायां देव गतिनो बंध न कह्यो"।

(भ्र० पृ० ९४) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ८ का मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है:—

"बाल पंडिएणं मणुसे किं नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ। सेकेणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! बाल पण्डिएणं मणुसे तहा रूवस्स समणस्स माहणस्स वा अन्तिए एगमपि आरियं धम्मियं सोचा णिसम्म देसं उवरमइ देसं नो उवरमइ देसं पच्चक्खाइ देसं नो पच्चक्खाइ सेतेण ट्ठेणं देसो वरइ देस पच्च क्खाणेणं नो नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ सेतेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ।"

(भगवती शतक १ उ० ८)

(प्रश्न) हे भगवन् ! बालपण्डित मनुष्य नरक तिर्य्यञ्च तथा मनुष्यकी आयु बांधकर नरक आदि योनियोंमें जाता है या देवताकी आयु बांधकर देवता होता है।

(उत्तर) हे गोतम ! बाल पण्डित मनुष्य नरकादिकी आयु बांधकर नरक आदि गतिमें नहीं जाता किन्तु देवताकी आयु बांधकर देव योनिमें जाता है।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! बाल पण्डित मनुष्य तथारूपके श्रमण और माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी एक भी सुवाक्यको सुन कर देशसे निवृत्त होता है और देशसे निवृत्त नहीं होता देशसे प्रत्याख्यान करता है और देशसे प्रत्याख्यान नहीं करता अतः देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे उसको नरकका आयु वन्ध नहीं होता किन्तु देवताका आयु-बांध कर वह देवता होता है। यह उक्त मूल पाठका अर्थ है।

इस पाठमें देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे नरकादि गतियोंका रुकना बतलाया गया है न कि उनसे देवताका आयुबंध होना भी। यदि विरति और प्रत्याख्यानसे आयु वन्ध होने लगे तो फिर मोक्ष कैसे हो सकता है ? अतएव पन्नावणा सूत्रके २२ वें पद की टीकामें विरतिसे वन्ध होनेका स्पष्ट निषेध किया है वह टीका यह है:—

"ननु विरतस्य कथं वन्धो नहि विरतिर्वन्ध हेतुर्भवति यदि विरतिरपि वन्ध हेतुः स्यात्तदा निर्मोक्षप्रसंगः उपायाभावात्। उच्यते—नहि विरतिर्वन्धहेतुः किन्तु विरतस्य ये कषायास्ते वन्ध कारणम्। तथाहि सामायक छेदोपस्थापन चारित्र विशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषायाः संज्वलन रूपा उदय प्राप्ताः सन्ति योगाश्च ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभ प्रकृतीनां तत्प्रत्ययो वन्धः"

अर्थः—

(प्रश्न) विरत पुरुषको वन्ध क्यों होता है ? विरति, वन्धका कारण नहीं है यदि विरतिसे भी वन्ध हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि विरतिके सिवाय दूसरा कोई मोक्षका कारण नहीं है।

(उत्तर) इसका समाधान यह है कि विरतिसे वन्ध नहीं होता किन्तु विरत पुरुषों का जो कषाय है वह वन्धका कारण है। सामायक, छेदोपस्थापन, और परिहारविशुद्धि आदि संयमोंमें भी संज्वलनात्मक कषाय और योग, उदयको प्राप्त रहते हैं इसलिये इन्हीं से विरत पुरुषोंका भी आयु आदिका वन्ध होता है।

यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

इस टीकामें विरतिसे वन्ध होनेका स्पष्ट निषेध किया है इसलिए भगवती शतक १ उद्देशा ८ के मूल पाठमें विरति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु वन्ध होना नहीं कहा है। विरति और प्रत्याख्यानसे नरक आदिका आयु वन्ध रुक जाता है और विरत पुरुषोंमें जो कषाय और योग होता है उससे देव आयुका वन्ध होता है। अतः विरति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु वन्ध बतलाना मिथ्या है।

देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे पुण्य वन्ध मान कर देवता होनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है कहीं भी मूल पाठ और टीकामें यह नहीं

कहा है कि "विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे देवता होता है" बल्कि पन्नावणा सूत्रकी टीकामें विरत पुरुषके संज्वलनात्मक कषाय और योगसे देवता होना बतलाया है अतः विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे कर्मोंकी निर्जरा होती है पुण्य बन्ध नहीं होता।

यदि विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टसे पुण्य बन्ध होने लगे तो फिर कर्मोंकी निर्जरा किससे होगी? अतः विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टके द्वारा पुण्य बन्ध मानकर उससे देवता होनेकी कल्पना करना मिथ्या है।

अब प्रश्न यह होता है कि देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता यदि नहीं होता तो श्रावक किस कर्मके प्रभावसे देवता होता है? तो इसका उत्तर यह है:—

श्रावकोंमें जो अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, और अल्प क्रोध, मान, माया, आदि आस्रव होते हैं उन्हींसे वे देवता होते हैं देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे नहीं क्योंकि बन्ध, आस्रवसे, होता है संवर और निर्जरासे नहीं। देश विरति और देश प्रत्याख्यान संवर हैं आस्रव नहीं हैं अतः उनसे बन्ध नहीं हो सकता इस लिये देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता होनेकी बात मिथ्या है।

व्रत प्रत्याख्यानसे और उनमें होनेवाले काय कष्टसे देवता नहीं होता इस विषयमें भगवतीसूत्र शतक २ उद्देशा ५ का मूल पाठ भी प्रमाण है। वह पाठ यह है:—

"संजमेणं भन्ते! किंफलइ? तवेणं भन्ते! किं फलइ? संजमेणं अज्जो! अणण्हय फले तवेणं वोदाणफले"

(भगवती शतक २ उ० ५)

अर्थः—

तुङ्गिया नगरीके श्रावकोंने भगवान् पार्श्वनाथजीके स्थविरोंसे पूछा कि हे भगवन्! संयम और तपस्याका क्या फल है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए पार्श्वनाथ भगवान्‌के स्थविरोंने कहा कि संयमका फल, नवीन कर्मोंका आगमन रुकना है और तपस्याका फल, पूर्वकृत कर्मोंका नाश है।

इस पाठमें श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌के स्थविरोंने व्रत और प्रत्याख्यानसे संवर और निर्जराकी उत्पत्ति बतलाई है पुण्य बन्ध होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यानसे पुण्य बन्ध मानना शास्त्र विरुद्ध है। इसके अनन्तर उक्त श्रावकोंने पार्श्वनाथ भगवान्‌के स्थविरोंसे पूछा कि हे भगवन्! संयम और तपस्यासे जबकि संवर और निर्जरा होती है तो संयमी और तपस्वी पुरुष देवता कैसे होते हैं? इस प्रश्नके चार उत्तर चार स्थविरोंने पृथक पृथक दिये थे। एकने कहा कि सराग अवस्थाकी तपस्यासे व्रतधारी

और तपस्वी पुरुष स्वर्ग जाते हैं। दूसरेने कहा कि सराग अवस्थाके संयमसे जीव स्वर्ग जाते हैं। तीसरेने कहा कि क्षय होनेस बचे हुए कर्मोंके द्वारा स्वर्ग जाते हैं। चौथेने कहा कि सांसारिक पदार्थोंमें आसक्त होनेसे देवता होते हैं। इन उत्तरोंमेंसे पहिलेके दो उत्तरों का अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने यह लिखा है :—

"ततश्च सराग कृतेन संयमेन तपसाच देवत्वावाप्तिः रागांशस्य कर्म बन्ध हेतुत्वात्" अर्थात् सराग संयम और सराग तपस्यामें जो रागांश विद्यमान है वही कर्म बन्धका हेतु है उसीसे सराग संयमी और सराग तपस्वी देवता होते हैं (संयम और तपस्यासे नहीं) तीसरे उत्तरमें क्षय होनेसे बचे हुए कर्मोंके कारण बन्ध होना कहा है तपस्या और संयमसे नहीं। चौथेमें, तपस्वी और संयमी पुरुषोंका अपने भाण्डोपकरणोंमें जो ममत्व भाव है उससे देव भवपाना बतलाया है तपस्या और संयमसे नहीं। इस प्रकार इन चारों उत्तरोंमेंसे किसीमें भी व्रत प्रत्याख्यानसे तथा व्रत प्रत्याख्यान पाल्ते समय जो काय कष्ट होता है उससे देवता होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यानसे तथा उनका पालन करनेमें होने वाले काय कष्टसे देवता होनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है। जबकि अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रहादिसे श्रावक, देवता होते हैं तब उनका शुभ आशयसे भोजन करना एकान्त पापमें कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये।

(बोल २८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १-२ पर लिखते हैं "अथ ईहां पिण कह्यो ते गृहस्थादिक नो देवो संसार भ्रमण हेतु जाणीने साधु त्याग्यो इमि कह्यो तो गृहस्थ में तो श्रावक पिण आयो तो ते श्रावकने दानरी साधु अनुमोदना किम करे तिणमें धर्म पुण्य किम कहिए"

(भ्र० पृ० १०२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी गाथा लिख कर इसका समाधान दिया जाता है। वह गाथा यह है:—

"जेणेह णिव्वहे भिक्खू भत्तपाणं तहा विहं
अणुप्पयाण मन्नेसिं तंविज्जं परिजाणिया"

(टीका)

" येन अन्नेन पानेनवा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्वशुद्धेनवा इह अस्मिन् लोके इदं संयम यात्रादिकं दुर्भिक्ष रोगातङ्कादिकं वा साधुः निर्वहेन्निर्वाह येद्वा तदन्नपानंवा तथाविधं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्धं कल्पं गृहणीयात् । तथैतेषामन्नादीनामनुप्रदान मन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् यदि वायेन केन चिदनुष्ठितेन इदं संयमं निर्वहेदसारतामापादयेत् तथाविधमशनं पान मन्यद्वा तथाविध मनुष्ठानं नकुर्य्याद् तथैतेपामशनादीनामनुप्रदानं गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेत् " ।

अर्थः—

संयति पुरुष, उत्सर्ग मार्गमें शुद्ध और कारणकी अपेक्षासे अशुद्ध जिस अन्न पानसे संयम और दुर्भिक्ष रोगातङ्कादिका निर्वाह करता हो वह अन्न पान द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे शुद्ध तथा कल्पानुसार ही ग्रहण करे और उसी तरहका अन्न पान वह दूसरे साधुको भी संयम निर्वाहार्थ प्रदान करे । अथवा जिसके अनुष्ठान से साधुका संयम नष्ट हो जाय उस तरहका अन्न पान या और भी कोई अन्य कार्य्य साधु न करे । जिस अन्न पानसे साधुका संयम भ्रष्ट हो जाय ऐसा अन्न पान, गृहस्थ, स्वयूथिक, या परतीर्थीको साधु न देवे किन्तु ज्ञपरिज्ञासे इसे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग कर देवे । यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इस गाथामें जिस अन्न पानके द्वारा साधुका संयम भ्रष्ट हो जाता है उसे स्वयं लेना और दूसरेको देना वर्जित किया है परन्तु "गृहस्थको दान देना संसार भ्रमणका हेतु जान कर साधु छोड़ देवे " यह नहीं कहा है इसलिए इस गाथाकी साक्षी देकर गृहस्थके दानको संसार भ्रमणका हेतु बताना मूर्खताका परिणाम है । इस गाथाको लिख कर इसके नीचे भ्रमविध्वंसनकारने जो टव्वा अर्थ लिखा है वह भी न तो मूल पाठके शब्दोंसे निकलता है और न टीकासे ही मिलता है इसलिये वह महा अशुद्ध और मिथ्या अर्थका बोधक है उसका आश्रय लेकर गृहस्थके दानको संसार भ्रमणका हेतु बताना मिथ्या है । इस गाथाके चतुर्थ चरणमें "तंविज्जं परिजाणिया " यह वाक्य आया है खींचातानीसे यदि कोई इस वाक्यका अर्थ करे कि पूर्वोक्त कार्य्यको संसार भ्रमणका हेतु जान कर साधु छोड़ देवे तो इस गाथाके पूर्व गाथामें भी यही वाक्य आया है इसलिये उसे वहां भी यही अर्थ करना होगा । वह गाथा यह है:—

"जस्सं कित्तिं सलोयंच जाय वंदण पूयणा
सव्व लोगंसि जे कामा तं विजूजं परिजाणिया"

अर्थात् यश, कीर्ति, श्लाघा, वंदन, पूजन और सांसारिक सकल कामनायें साधु को छोड़ देनी चाहिये।

इस गाथामें भी "तं विज्जं परिजाणिया" यह पाठ आया है इस लिये साधुके वंदन पूजन और सत्कार सम्मानको भी संसार भ्रमणका हेतु ही मानना पड़ेगा। यदि कोई कहे कि यह बात साधुको अपने लिये कही गई है इस लिये साधु यदि अपनी वंदना आदिकी इच्छा करे तो यह उसके संसार भ्रमणका हेतु है परन्तु यदि गृहस्थ साधु का वंदन पूजन करे तो यह कार्य्य बुरा नहीं है तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथाके अनुसार ही २३ वीं गाथा भी साधुके लिये ही कही गई है इस लिये साधु यदि गृहस्थको अनुचित दान देवे तो उसको २३ वीं गाथामें बुरा कहा है परन्तु यदि गृहस्थ गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो यह बुरा नहीं है। अतः सुय गडांग सूत्रकी २३ वीं गाथाका नाम लेकर गृहस्थको दिये जाने वाले गृहस्थोंके द्वारा अनुकम्पा दानको एकान्त पाप बताना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

[बोल २९ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०३ के ऊपर निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठोंको लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"अथ ईहां गृहस्थने अशनादिक दियां अने देतांने अनुमोद्यां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो अने श्रावक पिण गृहस्थ इज छै ते मांटे गृहस्थने दान साधुने अनुमोदनों नहीं धर्म हुवे तो अनुमोद्यां प्रायश्चित्त क्यूं कह्यो धर्मरी सदा ही साधु अनुमोदना करेछै।"

इसका क्या समाधान? (भ्र० पृ० १०३)

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठका आशय यह है कि साधु यदि किसी गृहस्थको उत्सर्ग मार्गमें अन्नादि देवे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। यदि गृहस्थ किसी गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त बताना इस पाठका आशय नहीं है क्योंकि इस पाठके निकट वर्ती पाठका इसी प्रकारका अर्थ है तदनुसार इस पाठका भी यही अर्थ होना उचित है। वह निकट वर्ती पाठ यह है :—

"जेभिक्खू अन्नउत्थियंवा गारत्थियंवा पज्जोसवेइ पज्जोसवं तंवा साइज्जइ"

अर्थात् जो साधु अन्य यूथिकको या, गृहस्थको-पर्य्युषण कराता है या कराते हुए को अच्छा समझता है उसको प्रायश्चित्त आता है। यह इस पाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि "गृहस्थ और अन्य तीर्थीको पर्य्युषण कराने वालेकी अनुमोदना करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आता है" इसका आशय यही है कि साधु किसी गृहस्थको या अन्य तीर्थीको पर्य्युषण करावे तो उसकी अनुमोदना करने वाले साधुको प्रायश्चित्त होता है परन्तु यदि गृहस्थ किसी गृहस्थको पर्युषण करावे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित बतलानेका आशय नहीं है उसी तरह बोल ७८ और ७९ के पाठ का भी यही अभिप्राय है कि गृहस्थको उत्सर्ग मार्गमें दान देने वाले साधुको अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होता है परन्तु गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थकी अनुमोदना करनेसे नहीं। यदि कोई यह बात न मान कर गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त बतावे तो फिर उसके हिसाबसे गृहस्थको या अन्य यूथिकको प्रतिक्रमण (पर्य्युषण) कराने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त होना चाहिये तथा जिस कार्य्यका साधु अनुमोदन नहीं करते ऐसे पर्य्युषण रूप कार्य्य करने और कराने वाले गृहस्थको एकान्त पाप होना चाहिये परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है पर्य्युषण करने वाले या कराने वाले गृहस्थ को तथा उसका अनुमोदन करने वाले साधुको एकान्त पाप नहीं होता उसी तरह गृहस्थ का अनुकम्पादान देने वाले गृहस्थको और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित नहीं होता। अतः गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको पाप बताना मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकारने निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८ और ७९ के मूल पाठका अर्थ पूर्वा पर सोचे विना ही गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना बताया है अतः उनके अविवेक पूर्ण और प्रकरण विरुद्ध अर्थके फंदेमें पड़कर अनुकम्पा दानको एकान्त पाप नहीं समझना चाहिये।

निशीथ सूत्रमें इस प्रकारके अनेकों पाठ मिलते हैं जिनका भ्रमविध्वंसनकारकी रीतिसे अर्थ करना महान अनर्थका कारण हो सकता है। जैसे कि निशीथ सूत्रमें यह भी पाठ आया है :—

"जेभिक्खू वासावासं पज्जोसवोसि गामाणु गामं दुइज्जइ दुइज्जंतं वा साइज्जइ"

(निशीथ सूत्र)

अर्थात् जो साधु, पर्य्युषणके पूर्व वर्षा ऋतुमें ग्रामानुग्राम विहार करता है या विहार करने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है। जो साधु पर्य्युषणके अनन्तर वर्षा ऋतु में ग्रामानुग्राम विहार करता है या विहार करने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है।

इस पाठमें वर्षा ऋतुमें ग्रामानुग्राम विहार करने वाले और विहार करने वालेका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है इस लिये जो साधु अपने गुरुका दर्शन करनेके लिये भी पावस ऋतुमें ग्रामानुग्राम विहार करता है उसको, और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको दोनों ही को प्रायश्चित्त आता है। भ्रमविध्वंसनकारके मतसे जो श्रावक वर्षा ऋतुमें साधुदर्शनार्थ विहार करते हैं और जो साधु उस श्रावकको अच्छा जानते हैं उन दोनोंको उक्त पाठके अनुसार प्रायश्चित्त आना चाहिये। क्योंकि जैसे गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना भ्रमविध्वंसनकार मानते हैं उसी तरह वर्षा ऋतुमें साधु दर्शनार्थ ग्रामानुग्राम विहार करने वाले श्रावकको अच्छा जाननेसे भी साधुको प्रायश्चित्त मानना पड़ेगा। क्योंकि दान और विहारके सम्बन्धमें आये हुए पाठोंमें कोई विशेषता नहीं है जिससे इनके अर्थोंमें विशेषता हो, अतः जैसे गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थ को अच्छा जाननेसे भ्रमविध्वंसनकार साधुको प्रायश्चित्त होना बतलाते हैं उसी तरह पावस ऋतुमें साधुदर्शनार्थ ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले श्रावकको अच्छा जाननेसे भी भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधुओंको प्रायश्चित्त होना चाहिये यदि कहो कि पावस ऋतुमें विहार करनेवाले साधुको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना उक्त पाठका आशय है। साधु दर्शनार्थ ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले श्रावकको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त कहनेका अभिप्राय नहीं है तो उसी तरह सरल बुद्धिसे समझो कि गृहस्थको दान देनेवाले साधुको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना निशीथके उस पाठका आशय है गृहस्थको दान देनेवाले गृहस्थको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना नहीं अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर श्रावकको धर्मपालनार्थ दान देनेसे एकान्त पाप कहना नितान्त मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकारने श्रावकको दिये जाने वाले दानमें एकान्त पाप सिद्ध करनेके लिये जो निशीथ सूत्रका मूल पाठ लिखा है उस पाठकी चूर्णीमें कारण पाकर साक्षात् साधुको भी गृहस्थ दानका विधान किया है वह चूर्णी मूल पाठके साथ लिखी जाती है :—

"जेभिक्खू अण्णउत्थिएणवा गारत्थिएणवा असणं वा ४ देयइ देयन्तं वा साइज्जइ जेभिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गरत्थिएण वा

वत्थंवा परिग्गहंवा कम्बलंवा पायपुच्छणं वा देयइ देयंतं वा साइज्जइ"

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

"दुल्लहे भत्त पाण डंडिय माहिणा साहारणदिन्नं तत्थ ते गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाएयवा अहते अनिच्छा साधु भणेज्जा अहंतेपन्ना ताते साहू विभज्जति साधुणा विभयंतेणं सव्वेसिं वहु समग्गमेव विभईव्वं एसुवदेसो" (निशीथ चूर्णी)

अर्थ :—

किसी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में ही भिक्षा लाकर देवे तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंसे ही करावे । यदि वे स्वयं विभाग न करके साधुसे ही विभाग करानेकी इच्छा प्रकट करें तो साधु बराबर बराबर बांट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है ।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि "कारण पड़ने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को शामिलमें मिली हुई भिक्षा बांट कर दे देते हैं" अतः साक्षात् साधु भी जब कारण पड़ने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान देवे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है ?

कारण पड़ने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचारांग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है :—

"सेभिक्खूवा २ सेजं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिण्डोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडि दुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाय एगंत मवक्कमेज्जा अवक्कमित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा ससेपरो अणावाय मसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा। सेयएवं वएज्जा आउसंतो समणा ! इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुंजह वाणं परिभाएह तंचे गइओ पडिग्गाहित्ता तुसीणिओ उवेहिज्जा । अवि आइं एयं मम मेव सिया माइट्ठाण' सेफासे नो एवं कारिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसन्तो ! समणा ! इमे भे असणे वा ४

सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुंजह वाणं जाव परिभाएहवाणं सेणं मेयं वयन्तं परो वएज्जा आउसन्तो समणा! तुमं चेवंणं परिभाएहि सेतत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं खद्धं डायं डायं ऊसढं ऊसढं रसियं रसियं मणुन्नं मणुन्नं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने वहु सममेव परिभाइज्जा। सेणं परिभाएमाणं परोवएज्जा आउसन्तो समणा! माणं तुमं परिभाएहि सव्वे वेगइया ठिआउ भुक्खामो से तत्थ भुजमाणे अप्पणा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए ४ वहु सममेव भुंजिज्जा पाइज्जा वा"

(आचारांग सूत्र)

अर्थः—

किसी ग्राम या नगरमें भिक्षाके लिये गये हुए साधु को यह मालूम हो जाय कि "इस गृहमें कोई दूसरा भिक्षुक भिक्षाके निमित्त गया हुआ है" तो साधु दाता और यांचकके असन्तोष तथा अन्तरायके भयसे उनके सम्मुख न खड़ा रहे, तथा उस गृहके द्वार पर भी न ठहरे वहांसे हट कर किसी एकान्त स्थानमें चला जाय और जहां मनुष्योंका गमनागमन न होता हो तथा दाता और याचककी दृष्टि न पड़ती हो वहां जाकर ठहरे। ऐसे स्थानमें ठहरे हुए साधुके पास आकर वह गृहस्थ यदि चतुर्विध आहार देकर कहे कि 'हे आयुष्मन् श्रमण! आज आप बहुतसे भिक्षुक भिक्षार्थी मेरे घर पर आ गये हैं परन्तु मैं किसी कार्य्य विशेषमें फंसा हुआ हूं अतः अलग अलग बांट कर आप लोगोंको भिक्षा देनेमें असमर्थ हूं यह चतुर्विध आहार आप सबको इकठ्ठा ही देता हूं आप लोग अपनी इच्छानुसार इसे एक साथ ही खा लेवें या बांट बांट कर खांय" तो साधु उत्सर्ग मार्गमें उस आहारको न लेवे परन्तु दुर्भिक्ष आदिके समय या मार्गकी थकावटकी हालतमें साधु उस भिक्षाको ले सकता है उसे लेकर साधु यदि यह सोचे कि "यह भिक्षा गृहस्थने मुझको ही दी है और यह है भी थोड़ी इस लिये इसे मैं अकेला ही खा जाऊं" तो वह कपटी है ऐसा कार्य्य साधुको कदापि न करना चाहिये अतः उस भिक्षाको लेकर साधु दूसरे भिक्षुकोंके पास जावे और उन्हें दिखला कर कहे कि हे श्रमणो! यह आहार आप सभी लोगोंके लिये गृहस्थने इकठ्ठा ही दिया है इस लिये आप इसे इकठ्ठा ही खा लेवें या बांट बांट कर खांय। यह सुन कर यदि कोई भिक्षुक यह कहे कि हे आयुष्मन श्रमण! आप ही इसे बांटकर हम सबको दे देवें तो उत्सर्ग मार्गमें साधु इस बातको स्वीकार न करे। यदि अपवाद मार्गमें साधुको बांटना पड़े तो वह लोभमें आकर सुन्दर, सुगन्ध, चिकने रूखे और मनोज्ञ आहार अपने हिस्सेमें अधिक न लेवे किन्तु सभी चीजोंका

समान विभाग करे । विभाग करते समय यह ध्यान रक्खे कि सभी हिस्से प्रायः समान ही हों। उस समय यदि कोई यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप इसे न बांटें हम सब इसे साथ ही खा लेंगे तो साधु परतीर्थियोंके साथ भोजन न करे, अपने यूथके पार्श्वस्थ और संभोगिक साधुके साथ आलोचना लेकर खावे । खाते समय उन आहारोंमें साधु मूर्च्छित न होवे और अच्छी अच्छी चीजें साथ खाने वालोंसे ज्यादा न खा जाय, समान ही खावे । यह इस पाठका टीकानुसार अर्थ है ।

यहां अपवाद मार्गमें दूसरे भिक्षुकोंके शामिलमें मिली हुई भिक्षाको बांट कर दे देना साधुके लिये कहा है इस लिये अपवाद मार्गमें साधु भी गृहस्थ और अन्य तीर्थी को देते हैं । जब कि साधु भी अपवाद मार्गमें अन्य तीर्थी और गृहस्थको देते हैं तब यदि कोई गृहस्थ किसी गृहस्थको दान देकर उसके धर्मकी रक्षा करे तो इसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है ? अतः निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठका नाम लेकर गृहस्थको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०३ के ऊपर लिखते हैं "इण निशीथने पनरमें उद्देशे एहवा पाठ कह्यो छै— "जेभिक्खू सच्चित्तं अम्बं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ" इहां कह्यो सचित्त आंबो भोगवे भोगवताने अनुमोदे तो प्रायश्चित्त आवे । जो साधु भोगवतो हुवे तेहने अनुमोदनो नहीं तो गृहस्थ आंबो भोगवे तेहने साधु किम अनुमोदे जो गृहस्थरा दानने साधु अनुमोदे तो तिणरे लेखे आंबो गृहस्थभोगवे तेहने पिण अनुमोदणो" (भ्र० पृ० १०३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आम्र फल वाले पाठके दृष्टान्तसे गृहस्थके दानको एकान्त पापमें स्थापन करना मिथ्या है । सचित्त आम्रके खानेमें प्रत्यक्ष जीव हिंसा होती है इस लिये साधु उसका अनुमोदन नहीं कर सकते चाहे गृहस्थ सचित्त आम्र खावे या साधु खावे साधु दोनों ही को बुरा जानते हैं परन्तु यह बात गृहस्थके दानमें नहीं घटती । गृहस्थ यदि किसी गृहस्थ पर अनुकम्पा करके अचित्त अन्न और अचित्त दधि आदि पदार्थ देवे तो उसमें कौनसी जीवहिंसा होती है जिससे साधु उस अनुकम्पाका अनुमोदन न करे। साधु हिंसाका अनुमोदन नहीं करते अनुकम्पाका अनुमोदन करते हैं अतः सचित्त आम्र फल वाले पाठका

दृष्टान्त देकर दीन हीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल २९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

गृहस्थको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधु भी उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको दान क्यों नहीं देता तथा निशीथ सूत्रमें गृहस्थको दान देने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना क्यों कहा गया है ?

इसका उत्तर दीजिये ?

(प्ररूपक)

गृहस्थ तथा अन्य तीर्थीके ऊपर अनुकम्पा लाकर दान देनेसे एकान्त पाप होना जान कर निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध नहीं किया है, किन्तु, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विशाल धर्मको छोड़ कर अनुकम्पा दान रूप एक साधारण पुण्यका लोभ करना साधुके लिये वर्जित किया गया है। अनुकम्पा दानका पुण्य लाभ तो गृहस्थावस्थामें भी किया जा सकता है परन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप धर्मका लाभ गृहस्थावस्थामें पूर्णतया नहीं हो सकता इसीलिये गृहस्थावस्थाको छोड़कर दीक्षा ग्रहण की जाती है। दीक्षा लेनेका उद्देश्य ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नति करना है उस मुख्य उद्देश्यको छोड़ कर अनुकम्पा दान आदि साधारण पुण्यके कार्य्यमें प्रवृत्त होना साधुके लिये अनुचित और उसकी अवनतिका कारण है। जैसे कोई रत्नका व्यापारी रत्नके व्यापारको छोड़ कर पैसेके व्यापारमें प्रवृत्त हो जाय तो उसके लिये यह उचित नहीं कहा जा सकता यद्यपि उसको पैसेके व्यापारमें केवल घाटा ही नहीं लाभ भी होता है तथापि रत्नके व्यापारमें होने वाले लाभकी अपेक्षासे वह लाभ बहुत ही निकृष्ट है उसी तरह जो साधु ज्ञान दर्शन और चारित्रका व्यापार छोड़ कर अनुकम्पा दान जैसा एक साधारण पुण्यके व्यापारमें प्रवृत्त होता है वह महान लाभको छोड़ कर एक साधारण लाभका कार्य्य करता है इसी लिये शास्त्रमें यह कार्य्य साधुको अनुचित कहा गया है, यह नहीं कि अनुकम्पा दानसे एकान्त पाप होना जान कर गृहस्थ दानका निषेध किया गया हो।

यदि कोई कहे कि—गृहस्थको दान देनेसे साधुके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिमें क्या बाधा होती है ? तो उसे कहना चाहिये कि साधुको अपने शरीरके निर्वाहसे अधिक भोजन लेना कल्पता नहीं है ऐसी दशामें यदि साधु अन्य तीर्थी और

गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो उसे अपने आहारसे अधिक भोजन लेनेकी आवश्यकता होगी और अपने आहारसे अधिक भोजन लेने पर साधुकी निरवद्य भिक्षा वृत्ति नहीं कायम रह सकती, तथा उसके चारित्रमें बाधा और गृहस्थोंके साथ परिचय भी बढ़ता है इसी कारणसे निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप जान कर नहीं। निशीथ सूत्रमें शिथिलाचारी साधुके अन्न, वस्त्र, कम्बल आदि लेनेसे साधु को प्रायश्चित्त होना कहा है वह पाठ यह है :—

"जे भिक्खू पासत्थस्स असणं पाणं खाइमं साइमं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थंवा पडिग्गहं वा कम्बलं वा पाय पुच्छणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ" **(निशीथ सूत्र)**

अर्थात् जो साधु शिथिलाचारी साधुके अन्न, पान, खाद्य स्वाद्य, वस्त्र परिग्रह, कम्बल और पाद प्रोञ्छन लेता है वा लेने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त होता है।

इस पाठमें शिथिलाचारी साधुके अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, परिग्रह, कम्बल और पाद प्रोञ्छन लेनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि साधु तो गृहस्थसे भी इन चीजोंको लेता है और गृहस्थ शिथिलाचारी साधुकी अपेक्षा बहुत ही न्यून है अतः जब गृहस्थसे इन चीजों को लेना साधुके लिये बुरा नहीं है तो फिर शिथिलाचारी साधुसे लेना क्यों दोषका कारण होता है? इसका उत्तर यही है कि शिथिलाचारी साधुसे लेने देनेका व्यवहार रखने पर साधुको संसर्ग दोषसे स्वयं भी शिथिलाचारी हो जानेकी आशंका है इस आशंकाके कारण ही निशीथके उक्त पाठमें शिथिलाचारी साधुसे अन्न वस्त्रादि लेने देनेका निषेध किया गया है शिथिलाचारी साधुसे लेनेमें एकान्त पाप जान कर नहीं उसी तरह ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी उन्नतिमें बाधा पड़ती देख कर निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप जान कर नहीं उत्तराध्यन सूत्र अध्ययन १ गाथा ३५ में चारों ओरसे घिरे हुए स्थानमें साधुको भोजन करनेका विधान किया गया है इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने यह लिखा है "तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा संपातिम सत्व संपात संभवात्। संकटे पार्श्वतः कट कुड्या दिना संकट द्वारे अटव्यां कुडङ्गादिषुवा अन्यथा दीनादियाचने दानादानयोः पुण्यबंध प्रद्वेषादि दर्शनात्" अर्थात् ऊपरसे घिरे हुए मकानमें साधुको भोजन करना चाहिये नहीं

तो उड़ने वाले जीव वहां आ सकते हैं। तथा दीवाल या चटाईके द्वारा चारों तर्फ से घिरे हुए मकानमें साधुको आहार करना चाहिये अन्यथा दीन दुःखीके मांगने पर देनेसे पुण्य बन्ध और नहीं देनेसे विद्वेष होता है।

यहां टीकाकारने हीन दीन दुःखी जीवको दान देनेसे पुण्य होना बतलाया है एकान्त पाप होना नहीं परन्तु ऐसे सामान्य पुण्यके कार्य्योंमें साधुको प्रवृत्त होना उचित नहीं है इसलिए उत्तराध्ययन सूत्रमें साधुको खुली जगहपर भोजन करना निषेध किया है। साधु हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान स्वयं नहीं देता इसलिये यदि कोई अनुकम्पा दानमें पाप ठहरावे तो भगवतीका निम्न लिखित पाठ दिखला कर उसका भ्रम दूर करना चाहिये। वह पाठ यह है—

"निग्गंथं चणं गाहावइ कुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केई दोहिं पिण्डेहिं उव निमन्तेज्जा। एगं आयुस्ते अप्पणा भुंजाहि एगं थेराणं दलयाहि सेय तं पिण्डं पडिग्गाहेज्जा थेरायसे अणुगवेसियव्वासिया जत्थेव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्थेवाणुप्पदायव्वे सिया नो चेवणं अणुवेसमाणे थेरे पासिज्जा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा नो अन्नेसिं दावए एगंते अणावाए अचित्ते बहुफासए थण्डिले पडिले हित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावे सिया"

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

अर्थः—

गृहस्थके घर पर भिक्षार्थ गए हुए साधुको कोई गृहस्थ दो पिण्ड (लड्डू) लाकर देवे और कहे कि "हे आयुष्मन् श्रमण! इनमेंसे एक पिण्ड तो आप स्वयं खा लेना और दूसरा स्थविरको देना" तो साधु उन दोनों पिण्डोंको लेकर स्थविरकी गवेषणा करे जहां स्थविरको देखे वहां जाकर वह पिण्ड उसे दे देवे। यदि ढूंढनेपर भी स्थविर न मिले तो वह पिण्ड साधु स्वयं न खावे और दूसरे किसी साधुको भी न देवे किन्तु एकान्त बहु प्रासुक स्थानपर पूञ्ज और पडिलेहन करके परठ देवे। यह इस पाठका अर्थ है।

इसमें कहा हैं कि "स्थविरको दानार्थ गृहस्थसे मिला हुआ पिण्ड, स्थविरके न मिलनेपर साधु किसी दूसरे साधुको न देवे" तुम्हारे हिसाबसे साधुको देनेमें भी पाप कहना चाहिये क्योंकि स्थविरको देनेके लिए मिला हुआ पिण्ड, किसी साधुको भी साधु नहीं देता। यदि कहो कि वह पिण्ड, साधुने स्थविरको देनेकी प्रतिज्ञासे लिया है इसलिए उसे वह दूसरे साधुको नहीं देता लेकिन साधुको देनेमें पाप नहीं है तो उसी

तरह साधुने अपना और अपने सांभोगिक साधुको खानेके लिये भिक्षा गृहस्थसे ली है दूसरे किसीको देनेके लिये नहीं इसलिये वह अपना भिक्षान्न किसी गृहस्थ या अन्य तीर्थीको नहीं देता परन्तु गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है अतः गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिए।

(बोल ३० वां समाप्त)

(प्रेरक)

साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यबन्ध होना यदि कहीं मूल पाठमें लिखा हो तो उसे बतलाइए ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देना पुण्यका कार्य्य है-यह दश वैकालिक सूत्रमें लिखा है वह गाथा यह है:—

"असणं पाणगंवापि खाइमं साइमं तहा
जं जाणिज्ज सुणिज्जावा पुणट्ठा पगडं इमं
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकप्पियं
दितियं पडियाइक्खे नमे कप्पइ तारिसं"

(दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उ० १ गाथा ४९-५०)

अर्थः—

भिक्षाचरीके निमित्त गया हुआ साधु, यदि यह जाने या सुने कि यह अशन पान खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ बनाया गया है तो उसे अपने लिये अकल्पनीय समझे। वह अन्न यदि कोई देने लगे तो साधु न लेवे और पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न मुझको नहीं कल्पता यह कह देवे।

इन गाथाओंमें साधुसे इतरको देनेके लिये बनाये हुए अन्नको "पुण्यार्थ" कहा गया है। यदि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इस पाठमें वह अन्न "पापार्थ प्रकृत" कहा जाता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम है। जिसके घरमें साधुसे इतरको देनेके लिये अन्न बनाया जाता है टीकाकारने उसे शिष्ट कहा है। वह टीका यह है "पुण्यार्थ प्रकृत परित्यागे शिष्ट कुलेषु वस्तु तो भिक्षाया अग्रहणमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाक प्रवृत्तेः"

टीकाकारने मूलके गूढ आशयको प्रकट करनेके लिये शङ्का करते हुए यह लिखा है कि "पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न यदि साधु नहीं लेता तो फिर वह शिष्ट लोगोंके

घरोंमें भिक्षा ले ही नहीं सकता क्योंकि शिष्ट लोगोंकी पुण्यार्थ ही पाकमें प्रवृत्ति होती है" इसका समाधान आगे दिया गया है लेकिन प्रकृतानुपयोगी होनेसे वह नहीं लिखा गया है। यहां टीकाकारने साधुसे इतरको दान देनेके लिये जिसके घरमें अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है एकान्त पापी नहीं कहा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है उसमें पुण्य भी होता है। अतः साधुसे इतर हीन दीन हीन दुःखी जीवपर दया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल ३१)

(प्रेरक)

श्रावकोंकी सेवा भक्ति और दान सम्मान करनेका विधान यदि कहीं मूल पाठमें किया हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ के मूल पाठमें श्रावकोंकी सेवा भक्ति करनेका स्पष्ट विधान किया है। वह पाठ अर्थके साथ लिखा जाता है।

"तहारूवेणं भन्ते! समणं वा माहनं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा? णाण फले सेणं भन्ते! णाणे किं फले विण्णाण फले सेणं भन्ते! विण्णाणे किंफले पच्चक्खाणफले सेणं भन्ते! पच्चक्खाणे किं फले सञ्जम फले सेणं भन्ते! सञ्जमे किं फले अणहूणय फले एवं अणहूणए तवफले, तवेवोदारण फले, वोदारणे अकिरिया फले सेणं भन्ते! अकिरिया किंफला सिद्धि पज्जवसाण फला पण्णत्ता गोयमा!"

(भग० श० २ उ० ५)

अर्थः—

(प्रश्न) हे भगवन्! तथा रूपके श्रमण (साधु) और माहन (श्रावक) की सेवा करनेका क्या फल है?

(उत्तर) हे गोतम! तथारूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेका शास्त्र श्रवण फल है। और शास्त्रके श्रवण करनेका पदार्थ ज्ञान फल है इसी तरह पदार्थ ज्ञानका

फल विज्ञान, विज्ञानका फल प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानका फल संयम, संयमका फल आस्रवोंका निरोध, आस्रव निरोधका फल तप, तपका फल कर्मोंका क्षय, कर्म क्षयका फल क्रियाका अभाव और क्रियाके अभावका फल मोक्षकी प्राप्ति है ।

यह इस पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें जैसे तथारूपके श्रमण की सेवा करनेका फल शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्षकी प्राप्ति तक कहा है उसी तरह माहन (श्रावक) की सेवाका फल भी कहा है अतः श्रावककी सेवा भी शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल देने वाली है यदि कोई कहे कि "इस पाठमें श्रमण और माहनकी सेवाका फल कहा गया है श्रावककी सेवा का फल नहीं कहा है" तो उसे कहना चाहिये कि "श्रमण" नाम साधुका और "माहन" नाम श्रावकका है इसलिये इस पाठमें साधु और श्रावक दोनोंकी सेवाका फल कहा है। इस पाठकी टीकामें टीकाकारने "माहन" शब्दका अर्थ श्रावक किया है वह टीका यह है—"श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः" अर्थात् "श्रमण" नाम साधुका और "माहन" नाम श्रावकका है अतः माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेमें कोई संशय नहीं है। इस टीकाके सिवाय दूसरे स्थलकी टीकाओंमें भी "माहन" शब्द का श्रावक अर्थ किया है। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ में मूल पाठ आया है कि "तहारूवस्स समणस्स माहणस्सवा अन्तिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा"

इस पाठमें आये हुए माहन शब्दका टीकाकारने श्रावक अर्थ ही किया है वह टीका यह है—

"माहने त्येव मादिशति स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्त त्वाद्यः स माहनः

अर्थात् जो स्वयं स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरेको न मारनेका उपदेश देता है वह "माहन" कहलाता है। वह पुरुष श्रावक है क्योंकि जो स्थूल प्राणातिपातसे निवृत्त है वही श्रावक है। उस श्रावककी सेवा करनेका फल शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष पर्य्यन्त कहा है इस लिए श्रावकको अन्नादि द्वारा सेवा करनेमें एकान्त पाप वतलाना उत्सूत्र वादियोंका कार्य्य है। कई जीवोंने श्रावकके धर्मोपदेशसे कल्याण का लाभ किया है। जितशत्रु राजाने सुबुद्धि नामक श्रावकके धर्मोपदेशसे सम्यक्त्व और वारह व्रतका का लाभ किया था, उस श्रावकको कुपात्र कहना और उसकी सेवा भक्तिको एकान्त पापमें ठहराना कितना अन्याय है यह सभी बुद्धिमान समझ सकते हैं।

बोल ३२ वां समाप्त

(प्ररूपक)

ठाणांग सूत्रके दशवें ठाणामें प्रवचनकी वत्सलतासे भविष्यमें कल्याण होना बतलाया है। टीकाकारने प्रवचन वत्सलताका अर्थ यह किया है—

"प्रकृष्टं प्रशस्तं प्रगतं वा वचनम् आगमः प्रवचनं द्वादशाङ्गं तदाधारोवा संघः तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचनवत्सलता तया"

अर्थात् सबसे उत्तम आगमको प्रवचन कहते हैं वह प्रवचन, द्वादशाङ्ग है अथवा उस द्वादशाङ्गके आधारभूत साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंको प्रवचन कहते हैं उसके विघ्न आदिको हटा कर हित संपादन करना "प्रवचन वत्सलता" है इससे जीव को भविष्यमें कल्याण प्राप्त होता है।

यहां साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंका इकट्ठा ही हित करना भावी कल्याणका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु साध्वी की तरह श्रावक और श्राविकाओंका हित करना भी भावी कल्याणका कारण है। इससे चतुर्विध संघकी रक्षा होती है जो कि शासन रक्षार्थ परमावश्यक है अतएव उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें अपने सहधर्मी भाईका आहार पानीके द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्व का आचार कहा गया है वह पाठ यह है :—

"निस्संकिय निक्कंखिय निवित्तगिच्छं अमूढदिट्ठीय। उव वूह थिरी करणं वच्छलप्पभावणेऽट्ठ ते"

(उत्तराध्यन अ० २८)

अर्थः—

(१) सर्वज्ञभाषित शास्त्रमें देशसे या सर्वसे शंका न करना (२) सर्वज्ञभाषित शास्त्रसे भिन्न शास्त्रकी इच्छा न करना। (३) साधुओंकी निन्दा और तपके फलमें सन्देह न करना (४) कुतीर्थी को धनवान देख कर उसके धर्मको श्रेष्ट और अपने धर्मको बुरा न मानना। (५) ज्ञान दर्शन सम्पन्न पुरुषकी प्रशंसा करना। (६) धर्माचरण करनेमें कष्ट पाते हुए पुरुष को धर्ममें स्थिर करना। (७) अपने सहधर्मी भाईको भात पानी आदिसे उचित सत्कार करना (८) अपने धर्मकी उन्नतिके लिये सदा चेष्टा करना। ये आठ समकितके आचार हैं।

इस उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथामें सहधर्मी भाईको भात पानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्वका आचार पालन करना कहा है इस लिये श्रावककी भात पानीके द्वारा सेवा करना एकान्त पाप नहीं किन्तु समकितका आचार पालन करना है इसे एकान्त पाप बताना मूर्खोंका कार्य्य है। कोई कहते हैं 'सहधर्मी' नाम साधुका है श्रावकका नहीं इस लिये साधुको भात पानी आदिके द्वारा उचित सत्कार करना ही 'सहधर्मि वत्सलता' है श्रावकका सत्कार करना नहीं जैसे कि जीतमलजीने लिखा है:—

"अने साधर्मी पिण साधु साध्वियांने इज कह्या छै। किणहीक देशे लोकरूढ़ भाषाए श्रावकांने साधर्मी कही बोलावियेछै ते रूढ़ भाषाए नाम छै" (भ्र० पृ० २६१) यह इनका कथन एकान्त मिथ्या है। 'सहधर्मी' शब्द समान धर्मवालोंका वाचक है इस लिये साधुका सहधर्मी साधु और श्रावकका सहधर्मी श्रावक है। तथा एक मान्यता रूप धर्मको लेकर साधु भी श्रावकका सहधर्मी है। व्यवहार सूत्रके दूसरे उद्देशेके भाष्यमें प्रवचनके द्वारा श्रावकका सहधर्मी साधु और श्रावक दोनों कहे गये हैं। वह भाष्य की गाथा यह है :—

"पवयण संघे गयरो लिङ्गे रयहरण मुइपत्ती"

(टीका)

'पवयण' त्ति प्रवचनतः सहधर्मिकः संघ मध्ये एकतरः श्रमणः श्रमणी श्रावकः श्राविका चेति। लिङ्गे तु लिङ्गितः साधर्मिकः रजोहरण मुह पोत्तिका युक्तः"

अर्थात् साधु साध्वी श्रावक और श्राविका इनमेंसे कोई भी प्रवचनके द्वारा साधर्मिक होता है। और रजोहरण तथा मुख वस्त्रिकासे युक्त लिङ्गके द्वारा साधर्मिक है। यहां भाष्य और उसकी टीकामें प्रवचनके द्वारा श्रावकको भी साधर्मिक कहा है तथा इसी भाष्यके १५ वीं गाथाकी टीकामें लिङ्ग और प्रवचनके द्वारा साधर्मिकोंकी एक चौभंगी कही गई है उसके दूसरे भंगमें श्रावक कहा गया है वह टीका यह है:—

"तथा प्रवचनतः साधर्मिको न पुनः लिङ्गे लिङ्गतः एष द्वितीयः केते एवं भूता इत्याह-दश भवंति सशिखाकाः अमुण्डितशिरस्काः श्रावका इति गम्यते। श्रावकाहि दर्शन व्रतादि प्रतिमा भेदेन एकादश विधाः भवंति तत्र दश सकेशाः एकादश प्रतिमा प्रतिपन्नस्तु लुंचित शिराः श्रमणभूतो भवति तत स्तद्व्यवच्छेदाय सशिखाक ग्रहणम् एते दश सशिखाकाः श्रावकाः प्रवचनतः साधर्मिका भवंति तेषां संघान्तर्भूतत्वात् नतु लिङ्गतो रजोहरणादि लिङ्ग रहितत्वात्"

अर्थ :—

जो प्रवचनके द्वारा साधर्मिक है और लिङ्गके द्वारा नहीं है वह दूसरा भंगका स्वामी है। वह कौन है ? यह बतलाया जाता है—

जिनका शिर मुण्डित नहीं है, जो शिखाधारी हैं वे दशप्रकारके श्रावक दूसरे भंग के स्वामी हैं। दर्शन, व्रतादि और प्रतिमाके भेदसे ११ प्रकारके श्रावक होते हैं। उनमें दश शिखाधारी और एग्यारहवां लुञ्चित शिर वाला साधुके सदृश होता है उसकी व्यावृत्तिके लिये दूसरे भंगमें शिखाधारी श्रावक कहा गया है। ये दश शिखाधारी श्रावक प्रवचनसे

साधर्मिक होते हैं। वे चतुर्विध संघमें माने जाते हैं इस लिये प्रवचनसे साधर्मिक हैं परन्तु लिङ्गसे नहीं क्योंकि रजो हरण और मुख वस्त्रिका उनके नहीं हैं। यह उक्त टीका का अर्थ है।

यहां टीकाकारने प्रवचनके द्वारा श्रावकको साधर्मिक कहा है इस लिये श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक है अतः उसकी वत्सलता करना प्रवचन वत्सलता रूप सम्यक्त्व का आचार पालन करना है एकान्त पाप नहीं इसलिये श्रावककी वत्सलता करनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध और एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ३३ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १में अपनेसे श्रेष्ठ सहधर्मी भाईको भोजन देना, पोषध धर्मकी पुष्टिमें माना है वह पाठ यह है :—

"तएणं अम्हे तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसादेमाणा विस्साएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो"

(भगवती शतक १२ उ० १)

अर्थः—

शंख श्रावकने कहा कि हे देवानु प्रिय ! आप, विपुल अशन पान खाद्य और स्वाद्य तैयार करावें हम लोग अशनादि चतुर्विध आहार खाकर पोषध करेंगे।

यहां अपने सहधर्मीभाईको भोजन कराना पोषध धर्मकी पुष्टिमें माना है इस लिये श्रावकको भोजनादि देकर धर्ममें उसकी श्रद्धा बढ़ाना एकान्त पाप नहीं किन्तु पोषध धर्मकी पुष्टि है।

यदि कोई कहे कि पोषधमें आहार त्याग करनेका विधान किया गया है फिर यहां आहार खाकर पोषध करना कैसे कहा गया ? तो इस आशंकाका समाधान देते हुए टीकाकार यह लिखते हैं :—

"इह किल पोषधं पर्व दिनानुष्ठानम् तच्च द्वेधा इष्टजनभोजनदानादिरूप माहार पोषधञ्च तत्र शंखः इष्ट जन भोजनदानादिरूपं पोषधं कर्तु कामः यदुक्तवांस्तद्दर्शयतेद मुक्तम्"

अर्थ :—

पर्वके दिन धर्मानुष्ठान करना पोषध कहलाता है वह दो प्रकारका है अपने इष्ट जनको भोजन देना और आहारका त्याग करना। इनमें इष्ट जनको भोजन देने रूप पोषधका अनुष्ठान करने के लिये जो शंखने कहा था उसे दिखलानेके लिये यह पाठ आया है।

यहां मूलपाठ और उसकी टीकामें इष्ट जनको भोजन देना पोषध धर्मकी पुष्टिमें कहा गया है इस लिये श्रावकको भोजनादि देकर पोषध धर्मकी पुष्टि करनेमें एकान्त पाप बतलाना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य्य है।

जीतमलजीने प्रश्नोत्तर सार्ध शतकके ५८ वें प्रश्नोत्तरमें लिखा है :— "भगवती शतक १२ उद्देशा पहले शंख पोषली कह्यो जीमिने पोसह करस्यां ते किम् इति प्रश्न ?

(उत्तर) भगवती शतक ७ उद्देशा २ बारह व्रतोंमें एग्यारहवां व्रतरोनाम "पोस हौववासे कह्यो ते मांटे जीमिने पांच आस्रवना त्याग ते धर्मनी पुष्टि मांटे पोसह कह्यो ते व्रत दशमो छै पिण ग्यारमो नहीं।"

यहां जीतमलजीने भगवती शतक १२ उद्देशा पहलेका अभिप्राय बतलाते हुए भोजन करके पांच आस्रवका त्याग करनेको धर्मकी पुष्टिमें कहा है इस लिये अपने सह-धर्मी भाईको पांच आस्रवका त्याग करानेके लिये भोजन देनेसे एकान्त पाप कहना इनका अपने कथनसे ही विरुद्ध भाषण समझना चाहिये।

(बोल ३४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कार भ्र० पृ० १०४ के ऊपर ११ वीं पडिमाधारी श्रावकको आहार देनेसे एकान्त पापकी स्थापना करते हुए लिखते हैं :—

"केतला एक एह वूं प्रश्न पूछे जे पडिमाधारी श्रावकने दियां कांई हुवै ? तेहनो उत्तर पडिमाधारी पिण देश व्रती छै तेहनें जेतला जेतला त्याग ते तो व्रत छै अने पारणे सूझता आहार नो आगार अव्रत छै ते अव्रत सेवेछै ते पडिमाधारी तेहने धर्म नहीं तो जे अव्रत सेवावण वालाने धर्म किम हुई। गृहस्थरा दानने साधु अनुमोदे तो प्रायश्चित्त आवे तो पडिमाधारी श्रावक पिण गृहस्थ छै तेहना दान अनुमोदनवालाने ही पाप हुवे तो देण वालाने धर्म किम हुवे"

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० १०४)

(प्ररूपक)

एग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करने वाला श्रावक, अठारह पापोंका सम्पूर्ण रूपसे त्याग किया हुआ, दशविध यति धर्मोंका अनुष्ठान करने वाला बिलकुल साधुके सदृश होता है। यह बड़ा ही पवित्रात्मा और सुपात्र है अतएव शास्त्रमें इसे श्रमणभूत यानी साधुके सदृश कहा है। इसका आचार विचार बिलकुल साधुके सदृश होता है अतः इसे भोजन देनेसे एकान्त पाप होनेकी बात मिथ्या है। ११ वीं प्रतिमाधारीको सूझता आहार देना, यदि एकान्त पापका कार्य्य है तो तीर्थंकर देवने इसे सूझता आहार लेनेका विधान क्यों किया है ? क्योंकि एकान्त पापमय कार्य्यका विधान तीर्थंकर नहीं करते उसका निषेध करते हैं अतः एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकका सूझता आहार लेना और उसे सूझता आहार देना दोनों ही धर्मके कार्य्य हैं एकान्त पापके नहीं।

कई आज्ञानी, यह भी कहते हैं कि "११ प्रतिमाओंका विधान, तीर्थंकरने नहीं किया है किन्तु ये प्रतिमायें श्रावकोंके कपोल कल्पित हैं" उन्हें मिथ्यावादी जानना चाहिये ये ११ प्रकारकी प्रतिमाएं तीर्थंकरसे विधान की गई हैं श्रावकोंके कपोल कल्पित नहीं हैं।

इस विषयमें दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रका मूलपाठ प्रमाण है वह पाठ यह है:—

"सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खाइं इह खलु थेरेहिं भगन्तेहिं एग्गारस उवासग पडिमाओ पण्णत्ताओ"

(दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, अ० ६)

अर्थ: —

सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामीसे कहते हैं कि हे आयुष्मन् ! इस जिन शास्त्रमें स्थविर भगवन्तोंने जिस प्रकार श्रावकोंकी एग्यारह प्रतिमायें बतलाई हैं उसी तरह तीर्थङ्कर भगवान्ने भी कही हैं यह मैंने सुना है।

इस पाठमें ११ प्रतिमाओंका श्री तीर्थङ्कर देवसे विधान किया जाना कहा है अतः इन्हें श्रावकोंके कपोल कल्पित बतलाना एकान्त मिथ्या है।

आनन्द श्रावकने कहा है कि "मैंने शास्त्रानुसार और कल्पानुसार इन प्रतिमाओं का आचार पालन किया है वह पाठ यह है:—

तएणं से आणंदे समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपजित्ताणं विहरइ। पढमं उवासग पडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहा मग्गं अहा तच्चं सम्मं काएण फासेइ पालेइ सोहइ तिरइ कित्तइ आराहेइ"

(उपासक दशांग अ० १)

(टीका)

"अहासुत्तं' त्ति सूत्रानति क्रमेण, यथाकल्पम् प्रतिमाचारानतिक्रमेग यथामार्ग क्षयोपशमभावानति क्रमेण यथा तत्त्वं दर्शन प्रतिमेति शब्दस्यान्वर्थानतिक्रमेण"

अर्थः—

इसके अनन्तर आनन्द श्रावक, उपासक प्रतिमाको स्वीकार करके विचरने लगा। उसने पहली उपासक प्रतिमाको सूत्रानुसार कल्पानुसार क्षयोपशमभावानुसार और दर्शन प्रतिमाके शब्दार्थके अनुसार ग्रहण किया। पश्चात् उपयोगके साथ बार बार प्रतिमाओंका परिशोधन करके उनकी अवधि पूरी होने पर वह थोड़ी देर तक ठहर जाता था। पारणेके दिन अपने अनुष्ठानका कीर्तन करता हुआ वह यह कहता था कि "इस प्रतिमामें अमुक कार्य्य किया जाता है इसका मैंने सूत्रानुसार और कल्पानुसार अनुष्ठान किया है" इस प्रकार आनन्दने तीर्थंकरकी आज्ञानुसार पहली प्रतिमाकी आराधना की शेष दश प्रतिमाओंका आराधन भी उसने इसी तरह किये थे।

इस मूलपाठमें, आनन्द श्रावकसे सूत्रानुसार प्रतिमाओंका आचार पालन किया जाना कहा है इससे इन प्रतिमाओंका आगमोक्त होना स्पष्ट सिद्ध होता है यदि ये प्रतिमायें श्रावकोंके कपोल कल्पित होतीं तो सूत्रानुसार इनका पालन किया जाना उक्त मूल पाठमें कैसे कहा जाता ? अतः ११ प्रतिमाओंको श्रावकोंके कपोल कल्पित बतला कर ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकको सूझता आहार देनेसे एकान्त पाप कहना उत्सूत्र वादियों का कार्य्य है।

[बोल ३५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकको दशविध-यति-धर्म पालन करने और साधुकी तरह भाण्डोपकरण रखनेकी कहां आज्ञा दी गई है यह बतलाइए ?

(प्ररूपक)

११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकको दशविध यति धर्मके अनुष्ठान करने और साधुकी तरह भाण्डोपकरण रखनेकी दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें आज्ञा दी गई है वह पाठ यह है :—

"अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमासव्वधम्म रुइयावि भवइ उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाते भवति। सेणं खुरमुण्डएवा लुत्तसिरएवा गहित्तायार भंडग नेपत्था जे इमे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे तं

सम्मं काएणं फासे माणे पाले माणे पुरतो जुग मायाए पेह माणे दट्ठूणं तसे पाणे उदट्ठु पायं रीएज्जा साहट्टु पायं रीएज्जा तिरिच्छेवा पायं कट्टु रीएज्जा सतिपरक्कमे संजयामेव पक्कमेज्जा णो उज्जुयं गच्छेज्जा"

(दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र अ० ६)

अर्थ:—

अब दूसरी एग्यारहवीं उपासक प्रतिमा कही जाती है इसमें प्रवेश किये हुए श्रावकको इस की पूर्व प्रतिमाओंके सभी धर्मों में रुचि रखनी चाहिये और इसके निमित्त बनाये हुए अन्न (उद्दिष्ट) को न लेना चाहिये। केशोंका लुञ्चन या क्षुर मुण्डन करा कर साधुओंके आचार पालनार्थ पात्र रजोहरण और मुख वस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरणोंको रखना चाहिये। धर्मोपकरणोंको रख कर साधुके समान वेष बना कर श्रमण निग्रन्थोंके सभी धर्मोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करना चाहिये। यदि मार्गमें त्रस प्राणी दृष्टिगोचर हों तो उनकी रक्षाके लिये अपने पैरके पूर्व भागको ऊंचा करके अग्रतलकी सहायतासे गमन करना चाहिये अथवा जहां त्रस प्राणी न हों वहां पैर रख कर जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मार्गके प्राणियोंकी रक्षाके लिये कभी पैरको संकुचित करके कभी एडीके ऊपर अपने सम्पूर्ण शरीरका भार देकर चलना चाहिये परन्तु जैसे तैसे चलना ठीक नहीं है। यह बात भी जहां दूसरा मार्ग न हो वहींके लिये समझनी चाहिये परन्तु जहां दूसरा मार्ग मौजूद है वहां प्राणिसंकुल मार्गसे जाना उचित नहीं है। यह उक्त मूलपाठका अर्थ है।

इस पाठमें ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकको दशविध यति धर्मोंका अनुष्ठान करने और उसके लिये साधुओंके समान भाण्डोपकरण रखनेकी स्पष्ट आज्ञा दी गयी है अतः ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावक दशविध यति धर्मोंका पूर्णरूपसे पालन करने वाला बड़ा ही पवित्रात्मा और सुपात्र है। इसे कुपात्र कह कर पारणेके दिन इसे सूझता आहार देनेसे एकान्त पाप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये। जो दशविध यति धर्मोंका पूर्णरूपसे पालन करता है वह अपात्र तथा कुपात्र नहीं हो सकता यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये।

(प्रेरक)

कई कहते हैं कि—इन एग्यारह प्रतिमाओंमें जितना जितना त्याग है वह सब तीर्थंकर और गणधरोंकी आज्ञामें है परन्तु उनमें जो आरम्भादि अंश शेष हैं वे तीर्थंकर और गणधरकी आज्ञामें नहीं हैं। सातवीं प्रतिमामें सचित्तका त्याग है परन्तु आरम्भका त्याग नहीं है अतः जैसे इसमें सचित्तका त्याग भगवान्की आज्ञामें है और आरम्भ करने का आगार भगवान्की आज्ञामें नहीं है उसी तरह एग्यारहवीं प्रतिमामें तपस्या करना,

और दशविध यति धर्मका अनुष्ठान करना आदि भगवान्की आज्ञामें है परन्तु साधुके समान वेष बनाना निर्दोष आहार लेना भाण्डोपकरण रखना इत्यादि कार्य्य वीतरागकी आज्ञामें नहीं है इन कार्य्योंको ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावक अपनी इच्छासे करता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीका साधुके समान वेष बनाना, भाण्डोपकरण रखना, और पारणेके दिन सूझता आहार लेना यह सब एकान्त पापमें है धर्म या पुण्य नहीं है। इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकके लिये दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें साधुके समान वेष बनाना, धार्मिक भाण्डोपकरण रखना और पारणेके दिन सूझता आहार लेना, ये सब विधान किये गये हैं उस विधानके अनुसार ही एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक साधुके समान वेष बनाता है, भाण्डोपकरण रखता है और पारणेके दिन सूझता आहार लेता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीके ये सब कार्य्य वीतरागकी आज्ञामें है अपनी इच्छासे नहीं हैं इसलिये इन कार्य्योंमें एकान्त पाप कहना मिथ्यावादियोंका कार्य्य है। सातवीं प्रतिमामें जो आरम्भका त्याग नहीं होता उसका दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखने आदिको आज्ञा बाहर कहना भी अज्ञान है क्योंकि सातवीं प्रतिमामें आरम्भ करने का विधान शास्त्रमें नहीं किया गया है इसलिये सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ करना अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं परन्तु ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखना, साधुके सदृश वेष बनाना और पारणेके दिन सूझता आहार लेना शास्त्रकी आज्ञानुसार है अपनी इच्छासे नहीं अतः यह सब आरम्भके समान एकान्त पापमें नहीं हैं। सातवीं प्रतिमामें "आरम्भे अपरिण्णाते भवति" यह पाठ आया है इसका अर्थ यह है कि "सातवीं प्रतिमाधारी आरम्भ नहीं छोड़ता किन्तु आरम्भ करता है" यह पाठ सातवीं प्रतिमाधारीको आरम्भ करनेका विधान नहीं करता किन्तु अनुवाद करता है। यदि विधान करता तो यहां यह कहा जाता कि "सातवीं प्रतिमामें श्रावकको आरम्भ करना चाहिये" अतः सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं और वह आरम्भ पहले हो से उस श्रावकमें मौजूद है परन्तु ११ वीं प्रतिमामें साधुके समान वेष बनाना धार्मिक भाण्डोपकरण लेना पारणेके दिन सूझता आहार लेना यह सब शास्त्रमें विधान किये गये हैं और उस विधानके अनुसार ही ११ वीं प्रतिमाधारी इन सब कार्योंको करता है और ये सब बातें श्रावकमें पहलेसे मौजूद भी नहीं हैं किन्तु ११ वीं प्रतिमामें ही शास्त्रकी आज्ञा होनेसे नवीन स्वीकार की जाती हैं अतः आरम्भ का दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकके साधु तुल्य वेष बनाने, भाण्डोपकरण

रखने, पारणेके दिन सूझता आहार लेने आदिको पापमें बतांना मिथ्यावादियों का कार्य्य है।

(बोल ३६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १०९ के ऊपर लिखते हैं "तिवारे कोई एक कहे जो पडिमाधारीने दियां धर्म न हुवे तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमें इम क्यूं कह्यो जे पडिमाधारी न्याती लारे घरे भिक्षाने अर्थे जाय तिहां पहिलां उतरी दाल अने पछे उतरया चावल तो कल्पे पडिमाधारीने दाल लेणी न कल्पे चावल लेना" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं—"इम कहे तेहनो उत्तर ए कल्पनाम आज्ञानो नहीं छै ए कल्पनाम तो आचारनो छै पडिमाधारीने जेहवो आचार कल्पतो हुन्तो ते बतायो पिण आज्ञा नहीं दी थी इम जो आज्ञा हुवे तो अम्बडने अधिकारे पिण एहवो कह्यो" इत्यादि लिख कर अम्बड संन्यासीके विषयमें आया हुआ पाठ लिख कर उसके दृष्टान्तसे ११ वीं प्रतिमाधारीके आचारको आज्ञा बाहर सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अम्बड संन्यासी तथा दूसरे परिव्राजकके अधिकारमें जो "कल्प" शब्द आया है वह परिव्राजकोंके शास्त्रका कल्प है वीतरागकी आज्ञाका कल्प नहीं है तथा वरुण नाग नत्तूयाके अधिकारमें जो यह कहा है कि "जो मुझे पहिले बाण मारेगा उसीको मैं भी बाण मारूंगा" यह कल्प भी तीर्थंकर की आज्ञाका नहीं किन्तु वरुण नागनत्तूया की इच्छाका कल्प है परन्तु प्रतिमाधारीके अधिकारमें जो कल्प शब्द आया है वह तीर्थङ्करका विधान किया हुआ कल्प है प्रतिमाधारियोंकी इच्छाका कल्प नहीं है क्योंकि दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें प्रतिमाधारीके कल्पका तीर्थङ्कर और गणधरोंसे विधान किया जाना लिखा है। वह पाठ यह है:—

"सुयंमे आउसं! तेणं भगवया एव मक्खाइं इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं एगारस्स उवासग पडिमाओ पन्नत्ताओ"

अर्थात् हे आयुष्मन्! स्थविर भगवन्तोंने जिस प्रकार श्रावकोंकी ११ प्रतिमायें कही हैं उसी तरह तीर्थंकरने भी कही हैं यह मैंने सुना है।

इस पाठमें ११ प्रकारकी प्रतिमाओंका आचार तीर्थङ्कर और गणधरोंसे कहा हुआ कहा है इसलिये ११ वीं प्रतिमाधारीका कल्प तीर्थंकर बोधित है अपनी इच्छाका कल्प

नहीं है अतः प्रतिमाधारीके कल्पको ऐच्छिक कायम करके वीतरागकी आज्ञासे उसे बाहर बताना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११५ के ऊपर भगवती शतक ७ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ इहां पिण सामायकमें श्रावकरी आत्मा अधिकरण कही छै। अधिकरण ते छः कायरो शस्त्र जाणवो ते मांडे सामायक पोषामें तेहनी काया शस्त्र छै। ते शस्त्र तीखां कियां धर्म नहीं। वली ठाणाङ्ग ठाणे दश अव्रतने भाव शस्त्र कह्यो छै ते सामायकमें पिण वस्त्र गेहणा पूंजनी आदिक उपकरण अने काया ए सर्व अव्रत छै तेहना यत्न कियां धर्म नहीं" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में जैसे श्रावककी आत्मा अधिकरण कही है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा १ में साधुकी आत्मा भी अधिकरणी कही गई है वह पाठ यह है:—

"जीवेणं भन्ते ! आहारग सरीरं निवत्तिएमाणे किं अधिकरणी अधिकरणं वा पुच्छा ? गोयमा ! अधिकरणीवि अधिकरणं वि। सेकेणट्ठेणं जाव अधिकरणंवि। गोयमा ! पमादं पडुच्च सेतेणट्ठेणं जाव अधिकरणंवि"

(भगवती शतक १६ उ० १)

अर्थः—

(प्रश्न) हे भगवन् ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, क्या अधिकरणी होता है या अधिकरण होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, प्रमादकी अपेक्षा से अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है।

इस मूलपाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको प्रमादकी अपेक्षासे अधिकरण, और अधिकरणी कहा है और इस पाठकी टीकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है:—

"इहाहारकशरीरं संयमवतामेव भवति तत्र चाविरतेरभावेऽपि प्रमादादधिक्-रणत्व मवसेयम्"

अर्थात् आहारक शरीर संयमधारीका ही होता है उस संयमधारीमें यद्यपि अविरति नहीं है तथापि प्रमादके कारण उसे अधिकरण समझना चाहिये। तथा ठाणाङ्ग सूत्रके दसवें ठाणेमें अकुशल मन वचन और कायको भाव शस्त्र कहा है और प्रमादकी हालतमें प्रमादी साधुके भी मन वचन और काय अकुशल होते हैं। तथा भगवती शतक १ उद्देशा १ में प्रमादी साधुको आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी कहा है वह पाठ यह है:—

"तत्थणं जेते पमत्त संजया ते सुहंजोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा णो तदुभयारंभा अणारंभा चे व असुभजोगं पडुच्च आया-रंभावि परारंभावि तदुभयारंभावि णो अणारंभा"

(भगवती शतक १ उद्देशा १)

अर्थः—

प्रमादी साधु, शुभयोगकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी नहीं है किन्तु अनारम्भी है परन्तु अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी है अना-रंभी नहीं है।

इस पाठमें प्रमादी साधुको अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी कहा है और पूर्वलिखित भगवतीके पाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको अधि-करण कहा है एवं ठाणाङ्ग सूत्रके दशम ठाणेमें दुष्प्रयुक्त मन वचन और कायको भाव शस्त्र कहा है अतः प्रमादी साधुको अन्नादि दान देना भी भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे शस्त्रको ही तीखा करना कहना चाहिये धर्म या पुण्य नहीं। यदि कहो कि "प्रमादी साधुको उसके प्रमादकी वृद्धिके लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देना शस्त्र को तीखा करना नहीं है" तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावकको उसके दोषोंकी वृद्धिके लिये आहारादि नहीं दिया जाता उसके व्रतकी पुष्टिके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको व्रत पुण्यार्थ दान देना भी एकान्त पाप या शस्त्रको तीखा करना नहीं है। इसे एकान्त पाप या शस्त्रको तीखा करना बतलाने वाले मिथ्यावादी हैं।

सामायक और पोषाके समय श्रावक, अपने धर्मका पालन करनेके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं उन उपकरणोंको एकान्त पापमें बताना पापियोंका कार्य्य है। विना पूंजे पौषधोपवास करनेसे श्रावकको अतिचार होना उपासक दशांग सूत्रके

मूलपाठमें कहा है अतः अपने अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये श्रावक पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं किसी दूसरे आरम्भादिक कार्य्यके लिये नहीं।

उपासक दशांग सूत्रका वह मूलपाठ यह है:—

"तयाणं तरं चणं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जा संथारे, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जा संथारे, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवण भूमि, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालना"

(उपासक दशांग सूत्र)

अर्थः—

श्रमणोपासकको पौषधोपवास व्रतके पांच अतिचार जानने चाहिये और उनका आचरण न करना चाहिये वे अतिचार ये हैं:—(१) शय्या संथाराका प्रतिलेखन न करना, या ठीक ठीक प्रतिलेखन न करना (२) शय्या संथाराको पूंजनी आदिसे न पूंजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूंजना। (३) उच्चार पासवण भूमिका प्रतिलेखन नहीं करना, अथवा अच्छी तरहसे प्रतिलेखन नहीं करना। (४) उच्चार पासवण भूमिको पूंजनी आदिसे न पूंजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूंजना। (५) पोषधोपवास व्रतका विधिवत् पालन नहीं करना।

ये पांच पौषधोपवास व्रतके अतिचार हैं इन अतिचारोंको वर्जित करना आवश्यक है अतः श्रावक, पौषधोपवासके समय पूंजनेके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं। यदि पौषधोपवासमें श्रावक पूंजनी न रक्खें तो शय्या संथारा और उच्चार पासवण भूमिका पूंजन नहीं हो सकता और उनका पूंजन हुए विना श्रावकके व्रतमें अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावक पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अतः श्रावकके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानियोंका कार्य है। ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावक, जो मुख वस्त्रिका, ओघा पात्रादि धर्मोपकरण रखते हैं वह भी अपने व्रतका पालन करनेके लिये रखते हैं किसी दूसरे स्वार्थसे नहीं अतः उनका ओघा पात्रादि धर्मोपकरण रखना धर्मका उपकारक और उनके व्रतका अङ्गभूत है उसे एकान्त पापमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रके मूलपाठमें एग्यारहवीं पडिमाधारी श्रावकको सभी धर्मोपकरणोंके रखनेका विधान किया है वह पाठ यह है:—

"लुंचसिरए गहित्तायार भंडगनेपत्था जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे तं धम्मं काएग फासे माणे पाले माणे" अर्थात् एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकको शिरका लोच

करके मुख वस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरण साधुके आचार पालनार्थ रखने चाहिये और साधुके तुल्य वेष बना कर श्रमण निग्रन्थोंके धर्मका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हुए विचरना चाहिये।

इस पाठमें ११ वीं प्रतिमाधारीको साधुके तुल्य आचार पालनार्थ धर्मोपकरण रखनेका विधान किया है और पौषधोपवासमें अतिचारको हटानेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी आवश्यकता होती है अतः श्रावकके धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना कितनी विशाल मूर्खता है यह बुद्धिमान जीव स्वयं समझ सकते हैं।

(बोल ३८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११५ के ऊपर लिखते हैं "ए पूजणी आदिक सामायकमें राखे ते अव्रतमें छै एतो सामायकमें शरीरनी रक्षा निमित्ते पूंजणी आदिक उपधि राखे छै ते पिण आपरी कचाई छै परंधर्म नहीं ते किम जे पूंजनी आदिक न राखे तो काया स्थिर राखणी पडे अने कायास्थिर राखनेरी शक्ति नहीं मच्छरादिक ना फर्स खमणी आवे नहीं ते मांटे पूंजनी आदिक राखे मच्छरादिक पुंजी खाज करे ए तो शरीरनी रक्षा निमित्ते पूंजे धर्म हेतु नहीं जो पूंजणी विना दया न पले तो अढाई द्वीप बारे असंख्याता तिर्य्यञ्च श्रावक छै सामायक व्रत पाले छै त्यांरे पूंजणी दीसे नहीं जे दयारे अर्थे पूंजणी राखणी कहे त्यांरे लेखे अढाई द्वीप बारे श्रावकांरे दया किम पले"

इसका क्या समाधान? (भ्र० पृ० ११५-११६)

(प्ररूपक)

पौषध व्रत करता हुआ श्रावक, अपने शरीरकी रक्षाके लिये नहीं किन्तु उपासक दशांग सूत्रके पूर्वोक्त मूल पाठानुसार पूंजन किये विना होने वाले अतिचारको दूर करने के लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखता है। अतः पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन कायम करके उन्हें अव्रतमें या एकान्त पापमें स्थापन करना मिथ्या है।

पूंजनी अपनी शरीर रक्षाका कोई प्रधान साधन नहीं है इसके विना भी शरीर रक्षा हो सकती है परन्तु इसके विना पूजन नहीं किया जा सकता और पूजन किये विना श्रावकके व्रतमें अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये पूजनी रखना श्रावकके लिये आवश्यक होता है। जो लोग पूजनीको शरीर रक्षाका साधन मान कर पौषध व्रत करते समय शरीर रक्षार्थ उसका ग्रहण किया जाना बतलाते हैं उनके मतमें पागल कुत्ता आदि से शरीर रक्षा करनेके लिये श्रावकको एक डंडा भी रखना चाहिये तथा दूसरे दूसरे

साधन भी रखने चाहिये अतः पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको अपनी शरीर रक्षाका साधन वतलाना मिथ्या है पूजनी आदि धर्मोपकरणोंके विना जीवोंकी दया नहीं पाली जा सकती है इस लिये जीव रक्षार्थ श्रावक पूंजनी रखते हैं। इस विषयमें जीतमलजीने अढाई द्वीपसे वाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावकोंका दृष्टान्त देकर पूंजनी रक्खे विना भी जीव दयाका पालन हो सकना कहा है, वह मिथ्या है। अढाई द्वीपसे वाहर रहनेवाले तिर्य्यञ्च श्रावक, मनुष्य श्रावककी तरह श्रावकोंके वारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हों यह वात असम्भव है क्योंकि मनुष्य श्रावकोंकी तरह शरीरसे वारह व्रतों का स्पर्श और पालन करनेकी उनमें योग्यता नहीं है और शास्त्रमें भी कहीं यह नहीं कहा है कि "तिर्य्यञ्च श्रावक मनुष्य श्रावककी तरह श्रावकोंके वारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं" अतः अढाई द्वीपसे वाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावक, कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे वारह व्रतधारी माने जाते हैं शरीरसे स्पर्श और पालन करने से नहीं अतएव ज्ञाता सूत्रमें नन्दन मनिहारका जीव, मेढक भवमें वारह व्रत धारी कहा गया है। यदि मनुष्य श्रावकोंकी तरह वारह व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे तिर्य्यञ्च श्रावक वारह व्रत धारी होते तो नन्दन मनिहार का जीव मेढक भवमें कदापि वारह व्रतधारी नहीं कहा जाता क्योंकि मेढक योनिके जीवमें मुनिको दान देने रूप वारहवें व्रतका शरीरसे स्पर्श करनेकी योग्यता नहीं है तथा मेढक योनिके जीवमें, आहार को सचित्त पदार्थ पर रखने और सचित्तसे ढकने पर जो अतिचार आता है उसके हटानेकी योग्यता भी नहीं है अतः तिर्य्यञ्च श्रावक कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे वारह व्रत धारी माने जाते हैं मनुष्य श्रावककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श करनेसे नहीं। अढाई द्वीपसे वाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावक, मनुष्य श्रावककी तरह पौषध व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हों इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा कहीं मूल पाठमें भी यह नहीं कहा है कि "अमुक तिर्य्यञ्च श्रावकने पौषध व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन किया था" अतः तिर्य्यञ्च श्रावकोंके पास पूंजनी आदि धर्मोपकरण नहीं होने पर भी कोई क्षति नहीं है लेकिन मनुष्य श्रावक तो सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करता है इस लिये उसके पास पौषध व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। उनके विना पौषध व्रतका अतिचार जो कि पूंजे विना होता है नहीं टल सकता अतः मनुष्य श्रावकोंके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको अपने शरीर रक्षाका साधन मान कर उन्हें अव्रतमें कायम करना अज्ञानियोंका कार्य्य है। पूंजनी आदि धर्मोपकरण व्रतके उपकारक और धर्मके अङ्ग हैं अतः इन्हें पापका साधन मानना मिथ्या है।

जो लोग श्रावकोंके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन बतलाते हैं उनसे कहना चाहिये कि प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी तुम उनके शरीर रक्षाका साधन क्यों नहीं मानते ? यदि वे प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोप-करणोंको भी उनके शरीर रक्षाका साधन मानें तो फिर उनके मतमें प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि उपकरण भी एकान्त पाप तथा अव्रतमें ही ठहरते हैं क्योंकि भगवतीजीके मूल पाठमें प्रमादी साधुको आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी कहा है तथा प्रमादी साधु की आत्मा अधिकरण कही गई है इस लिये प्रमादी साधुके ओघा पात्रादिक भी तुम्हारे मतसे एकान्त पापमें ही ठहरते हैं। यदि कहो कि प्रमादी साधु, ओघा पात्रादि उपकरण प्रमाद सेवन और अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं किन्तु जीव रक्षा आदि धर्मको पालन करनेके लिये रखते हैं अतः उनके धर्मोपकरण एकान्त पाप में नहीं हैं तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावक, पौषध व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये पूंजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अपने दोषोंकी वृद्धि तथा और किसी स्वार्थसे नहीं रखते अतः श्रावकके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पाप और अव्रतमें कायम करना अज्ञान है।

यह बात दूसरी है कि साधु यदि धर्मोपकरणों पर मूर्च्छा ममता रक्खे और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको परिग्रह तथा आरम्भ दोष लगता है तथा श्रावक धर्मोपकरणोंपर मूर्च्छा ममता रक्खे और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको भी परिग्रह और आरम्भ होता है परन्तु यत्न पूर्वक उपकरणोंका व्यवहार करने और उनमें ममता मूर्च्छा नहीं रखने पर वे उपकरण धर्मके सहायक हैं आरम्भ तथा परिग्रहके हेतु नहीं हैं अतः उन्हें पापमें बताना मिथ्या है।

(बोल ३९)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११७ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ उद्देशा १ के मूल पाठका उदाहरण देकर लिखते हैं "अथ इहां चार व्यापार कह्या मन, वचन, काया, उपकरण, ये चारूं व्यापार सन्निपञ्चेन्द्रिय रे कह्या ये चारूं भुंडा व्यापार पिण १६ दण्डक सन्नीपञ्चेन्द्रिय रे कह्या अने ए चारू भला व्यापार तो एक संयति मनुष्यने इज कह्या पिण और ने न कह्या तो जोवोनी साधुरा उपकरण तो भला व्यापार में घाल्या अने श्रावकरा पूंजनी आदि उपकरण भला व्यापारमें न घाल्या ते मांटे पूजनी आदिक श्रावक राखे ते सावद्य योग छै (भ्र० पृ० ११७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है :—

"चउव्विहे पणिहाणे मन पणिहाणे वय पणिहाणे काय पणिहाणे उवगरण पणिहाणे। एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। चउव्विहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते तंजहा मन सुप्पडिहाणे जाव उपकरण सुपणिहाणे एवं संजय मणुस्साणवि। चउव्विहे दुप्पणिहाणे पं० तं० मन दुप्पडिहाणे जाव उवगरण। एवं पञ्चेन्दियाणं जाव वेमाणियाणं"

(ठाणाङ्ग ठाणा ४ उद्देशा १)

(टीका)

"प्रणिधानं प्रयोगः तत्र मनसः प्रणिधानम् आर्तरौद्र धर्मादि रूपतया प्रयोगो मनः प्रणिधानम्। एवं वाक्काययोरपि उपकरणस्य लौकिक लोकोत्तररूपस्य वस्त्र पात्रादेः संयमा संयमो पकाराय प्रणिधानं प्रयोगः उपकरण प्रणिधानम्। एवमिति तथा सामान्यव स्तथा नैरयिकाणामिति। तथा चतुर्विंशति दण्डक पठितानां मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषा मपि वैमानिकान्ताना मेवेति। एकेन्द्रियादीनां मनः प्रभृतीनाम संभवेन प्रणिधाना संभवात्। प्रणिधान विशेषः सुप्रणिधानं दुष्प्रणिधानञ्चेति तत्सूत्राणि। शोभनं संयमार्थत्वा त्प्रणिधानं मनः प्रभृतीनां प्रयोजनं सुप्रणिधानमिति। इदञ्च सुप्रणिधानं चतुर्विंशति दण्डक निरूपणायां मनुष्याणां तत्रापि संयतानामेव भवति चारित्रपरिणतिरूपत्वात्सु प्रणिधानस्येत्याह "एवं संजए" इत्यादि, दुष्प्रणिधान सूत्रं सामान्य सूत्रवत् नवरं दुष्प्रणिधानम् असंयमार्थं मनः प्रभृतीनां प्रयोग इति".

अर्थः—

प्रयोग करनेका नाम "प्रणिधान" है। आर्त रौद्र और धर्म आदि ध्यान करना "मनः प्रणिधान" कहलाता है। इसी तरह वचन और शरीरके प्रयोगको क्रमशः वचन प्रणिधान और काय प्रणिधान कहते हैं। उपकरण नाम वस्त्र पात्र आदिका है वह दो तरहका होता है लौकिक और लोकोत्तर, उनका संयम और असंयमके लिये प्रयोग करना उपकरण प्रणिधान कहलाता है। ये चारों प्रणिधान नारकि पञ्चेन्द्रियसे लेकर यावत् वैमानिक देव तकके प्राणियोंमें होते हैं। एकेन्द्रिय आदि जीव जो मनोविकल हैं उनमें उक्त चातुर्विध व्यापार नहीं होते। प्रणिधान विशेष को सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान कहते हैं। मन, वचन काय और उपकरणका प्रयोग जो संयम पालनार्थ किया जाता है वह सुप्रणिधान है। यह सुप्रणिधान, चातुर्विंशति दण्डकके जीवोंमें केवल

संयमधारी जीवका ही होता है क्योंकि सुप्रणिधान चारित्रका परिणाम स्वरूप है। इसी तरह, असंयमके लिये जो मन वचन काय और उपकरणका प्रयोग किया जाता है वह दुष्प्रणिधान कहलाता है यह पञ्चेन्द्रियसे लेकर वैमानिक देव पर्य्यन्तके जीवोंको होता है। यह ऊपर लिखे मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है।

यहां मन, वचन, काय और उपकरणका सुप्रणिधान संयमधारी जीवोंका होना कहा है इस लिये देशसे संयम पालन करने वाले श्रावकोंका देश संयम पालनके लिये मन, वचन, काय और उपकरणोंका जो प्रयोग होता है वह भी सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणोंके सभी व्यापारोंको दुष्प्रणिधान बतलाना मिथ्या है। उक्त मूल पाठ और उसकी टीकामें जो संयत पुरुषोंका सुप्रणिधान होना कहा है वहां संयत पदसे देश संयत (श्रावक) और सर्व संयत (साधु) दोनोंका ही ग्रहण है केवल सर्व संयत का ही ग्रहण नहीं अतः श्रावक, अपने देश संयमका पालन करनेके लिये जो मनसे धर्मध्यान, वचनसे अरिहंत सिद्ध और साधुओंका गुणानुवाद, शरीरसे साधुओंका मान सन्मान, सेवा सुश्रूषा और उपकरणोंसे जीव रक्षा आदि शुभ व्यापार करता है यह सब व्यापार सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं।

जो लोग उक्त चारों ही सुप्रणिधान एक मात्र साधुओंका ही होना मान कर श्रावकोंके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानते हैं उनसे कहना चाहिये कि श्रावक जो मनसे धर्म ध्यान और वचनसे अरिहन्त सिद्ध और साधुओंका गुणानुवाद और कायसे साधुको दान सम्मान सेवा सुश्रूषा आदि व्यापार करता है उसे भी आप दुष्प्रणिधान ही क्यों नहीं मानते? यदि कहो कि ये सब व्यापार संयम पालनके लिये किये जाते हैं इस लिये ये दुष्प्रणिधान नहीं हैं तो उसी तरह संयम पालनके लिये जो श्रावक उपकरणका व्यापार करते हैं वह भी दुष्प्रणिधान नहीं किन्तु सुप्रणिधान ही है यदि उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहो तो उसके पूर्वोक्त मन, वचन और कायके व्यापारों को भी दुष्प्रणिधान ही कहना होगा परन्तु जैसे श्रावकका मन वचन और कायके पूर्वोक्त व्यापार दुष्प्रणिधान नहीं हैं उसी तरह संयम पालनार्थ उपकरणका व्यापार भी दुष्प्रणिधान नहीं हैं अतः ठाणाङ्ग सूत्रके इस पाठका नाम लेकर श्रावकके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंके व्यापारको एकान्त पापमें स्थापन करना सूत्रार्थ न जाननेका फल समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि 'श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो इस पाठमें मनुष्य संयतिओंके ही एक चतुर्विध सुप्रणिधान क्यों कहे

गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी कहने चाहिये ?" तो इसका उत्तर यह है कि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके पास धार्मिक उपकरण नहीं होते और धार्मिक उपकरणके न होनेसे उपकरण का सुप्रणिधान उनमें असम्भव है इस लिये तिर्य्यञ्च श्रावकोंके चतुर्विध सुप्रणिधान यहां नहीं कहे गये हैं। यद्यपि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी मन वचन और कायके व्यापार सुप्रधान होते हैं तथापि उपकरणके व्यापार न होनेसे तिर्य्यञ्च श्रावकोंका यहां कथन नहीं है। यह ठाणाङ्ग सूत्रका चौथा ठाणा है इस लिये जिसके चारों व्यापार यानी मन, वचन काय और उपकरणके व्यापार सुप्रणिधान होते हैं उन्हींका यहां कथन है।

उक्त चारों सुप्रणिधान मनुष्य श्रावक और साधुओंके ही होते हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके नहीं होते अतः इस पाठमें मनुष्य संयतियोंके ही चतुर्विध सुप्रणिधान कहे गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके नहीं। अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकके पूंजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है।

यदि कोई कहे कि "श्रावक असंयम पालनके लिये भी मन, वचन, काय और उपकरणोंका प्रयोग करते हैं फिर उनके ये व्यापार भी सुप्रणिधान क्यों नहीं मानते ?" तो इसका उत्तर यह है कि श्रावक संयम पालनके लिये जो मन वचन काय और उपकरणका व्यापार करते हैं उन्हीं व्यापारोंकी अपेक्षासे वे देश संयति माने जाते हैं असंयम सेवनके लिये जो उक्त चतुर्विध व्यापार करते हैं उनकी अपेक्षा से नहीं इस लिये उक्त चतुर्विध व्यापार जो संयम पालनार्थ होते हैं वे ही सुप्रणिधान हैं दूसरे व्यापार नहीं। असंयमके उपकारार्थ जो श्रावकके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षासे श्रावक असंयत माना जाता है और संयम पालनार्थ जो उसके चतुर्विध व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षासे वह संयत समझा जाता है अतएव शास्त्रमें श्रावकको "संयता संयत" कहा है। "संयता संयत" वही है जो देशसे संयम धारी है और जिसके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार देशसे संयमोपकारी हैं। अतः संयमका उपकारके लिये जो श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं वे सुप्रणिधान हैं और असंयम पालनार्थ जो उसके उक्त चतुर्विध व्यापार होते हैं वे दुष्प्रणिधान हैं परन्तु भ्रम विध्वंसन कार सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकके मन, वचन और कायके व्यापारको तो सुप्रणिधान और उसके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहते हैं यह इनका एकान्त व्यामोह है। सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकोंके उपकरणोंका व्यापार यदि दुष्प्रणिधान है तो उसके मन, वचन और कायके व्यापार कैसे सुप्रणिधान हो सकते हैं ? और मन वचन तथा कायके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो उसका उपकरणका व्यापार कैसे दुष्प्रणिधान हो सकता है ? अतः सामा-

यक और पोपामें वैठे हुए श्रावकके मन वचन ओर कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान वताना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

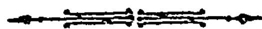
ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त मूल पाठमें मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार, संयति मनुष्योंके सुप्रणिधान कहे गये हैं वहां संयति पदसे जीतमलजीने केवल साधुओं का ही ग्रहण होना माना है देश संयति श्रावकोंका नहीं। ऐसी दशामें इनके मतानुसार सामायक और पोषामें वैठे हुए श्रावकोंके मन वचन और कायके व्यापार भी सुप्रणिधान नहीं कायम हो सकते क्योंकि मन वचन और कायके व्यापार भी उक्त पाठमें संयतियोंके ही सुप्रणिधान कहे गये हैं दूसरोंके नहीं। यदि उक्त मूल पाठमें "संयत" पदसे देश संयति श्रावकका भी ग्रहण मान कर उसके भी मन वचन और कायके व्यापार को सुप्रणिधान मानते हो तो फिर उसके उपकरणके व्यापारको भी सुप्रणिधान मानना ही पड़ेगा अतः ठाणाङ्गके उक्त मूल पाठ का नाम लेकर सामायक और पोषामें वैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उसके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ४० वां)

इति दानाधिकारः समाप्तः।



अथ अनुकम्पाधिकारः



बहुत लोग अहिंसा धर्मका रहस्य नहीं समझते। ऐसे अज्ञानी अनुकम्पाधिकार की व्याख्या भी अजीव तरहसे करते हैं। उनके मतसे जो मनुष्य जीवोंको मारता है वह हिंसा करता और एकान्त पापी होता है। जो नहीं मारता वह अहिंसा धर्मका पालन करता है वह धार्मिक है। लेकिन जो हिंसकको उपदेश देकर उसे हिंसा कर्म से रोकता है और प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह भी अधर्म करता है। जैसे भ्रमविध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२० पर लिखते हैं, "श्री तीर्थंकर देव पिण पोताना कर्म खपावा तथा अनेराने तारिवाने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यो छै पिण जीव वंचावा उपदेश देवे इम कह्यो नहीं" इत्यादि। अनुकम्पाकी ढालमें भीषगजीने इससे भी अधिक बढ़ कर कहा है "कईक अज्ञानी इम कहे छः कायारा काजे हो देवां धर्म उपदेश। एकन जीवने समझावियां मिट जावे हो घणां जीवांरा क्लेश। छः कायारे घरे शान्ति हुवे एहवा भापे हो अन्य तीर्थी धर्म। त्यांभेद न पायो जिन धर्मरो ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म। मत मार कहे उणरो रागीरे तीजे करणे हिंसा लागी रे"

"अर्थात् "कुछ लोग कहते हैं कि वे छः कायके जीवोंके घरमें शान्ति होनेके लिये धर्मका उपदेश देते हैं, क्योंकि एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है। लेकिन छः कायके जीवोंके घरोंमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना, अन्य तीर्थी लोगोंका धर्म बतलाता है जैन धर्म नहीं बतलाता इस लिये छः कायके जीवों के घरोंमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देने वाले जैन धर्मके रहस्यको नहीं जानते वे भूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है।

जो मनुष्य हिंसकके हाथसे मतमार कह कर जीवकी रक्षा करता है वह तीसरे करणसे हिंसाका पाप करता है।"

भीषगजीने और भी कहा है "मति मारणरो कह्यो नहीं तेतो सावज जाणी वायरे" लेकिन 'मतमार' ऐसा कहके प्राण रक्षा करना कभी सावद्य नहीं है। कोई भी जैन धर्मके तत्वको जानने वाला इसका अनुमोदन नहीं कर सकता। ऐसे ही अनर्गल उपदेश देकर लोगोंने जैन जगतमें भ्रम फैलाया है। जहां उपदेश द्वारा मरते प्राणीकी रक्षा करना एकान्त पाप है, वहां और किसी उपायसे वैसा करना तो और भी गर्ह्य होगा अर्थात् उसके तो एकान्त पाप होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है।

भ्रमविध्वंसनकारने अपने मतकी पुष्टिमें कुछ दृष्टान्त भी दे डाले हैं, जैसे "एक मनुष्य झूठ बोलता है और दूसरा झूठ नहीं बोलता और तीसरा सत्य बोलता है। इनमें जो झूठ बोलता है वह एकान्त पापी है और जो झूठ नहीं बोलता है वह एकांत धार्मिक है। तथा जो सत्य बोलता है उसके दो भेद हैं। एक सावद्य सत्य बोलता है और दूसरा निरवद्य सत्य बोलता है। इनमें जो सावद्य सत्य बोलता है वह एकान्त पाप करता है और जो निरवद्य सत्य बोलता है वह धर्म करता है। यह तो दृष्टान्त हुआ इसका दार्ष्टान्त जीतमलजी यह देते हैं —"एक मनुष्य हिंसा करता है और दूसरा हिंसा नहीं करता और तीसरा रक्षा करता है। इनमें जो हिंसा करता है वह एकान्त पापी है और जो हिंसा नहीं करता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो जीवरक्षा करता है उसके दो भेद हैं। एक हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये न मारनेका उपदेश करता है और दूसरा हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है। इनमें जो हिंसकको हिंसा का पाप छुड़ानेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह तो धार्मिक है और जो हिंसकके हाथसे मारे जानेवाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह एकान्त पाप करता है क्योंकि मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है" यह जीतमलजी का मत है। इस मतकी पुष्टिके लिये पूर्वोक्त दृष्टांतके सिवाय यह और भी दृष्टान्त देते हैं जैसे—चोरी करनेवालेको साधु धनीके मालकी रक्षाके लिये चोरी न करनेका उपदेश नहीं देते किन्तु चोरको चोरीके पापसे बचानेके लिए उपदेश देते हैं उसी तरह साधु, कसाईके हाथसे मारे जानेवाले बकरे की प्राणरक्षाके लिये न मारनेका उपदेश नहीं देते किन्तु कसाईको हिंसाके पापसे बचाने के लिये उपदेश देते हैं इत्यादि भ्रमोत्पादक बातें लिख कर जीतमलजीने जैन धर्मके प्राणभूत रक्षा धर्मका समूल नाश करनेकी चेष्टा की है परन्तु इनकी ये सब बातें निराधार और शास्त्रसे विरुद्ध हैं। कसाईके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षाके लिये उपदेश देना सावद्य सत्यकी तरह एकांत पाप नहीं है किन्तु यह धर्म कार्य्य है। मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका खास उद्देश्य है सच पूछिये तो प्राणियोंकी प्राणरक्षा के लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है। प्रश्न व्याकरण सूत्रके प्रथम संवर द्वारमें यह पाठ आया है "सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "संसारके सभी जीवोंकी रक्षारूप दयाके लिये भगवान् तीर्थङ्करसे प्रवचन (जैनागम) कहा गया है" यदि हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा करनेके लिये उपदेश देना, एकान्त पाप होता तो इस पाठमें संसारके सभी जीवोंकी रक्षा रूप दयाके लिये जैनागमका कथन होना क्यों कहा जाता? अतः जीवरक्षाके उद्देश्यसे उपदेश देनेको एकान्त पाप और इसे अन्य तीर्थी का धर्म बताना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि "प्रश्न व्याकरण सूत्रके ऊपर लिखे पाठमें 'रक्षण' पदका जीवों को न मारना अर्थ है बचाना अर्थ नहीं है" तो वह मिथ्यावादी है रक्षण पदका कोप, व्याकरण तथा व्यवहारसे बचाना अर्थ ही प्रसिद्ध है और जीतमलजीने भी यह स्वीकार किया है। जैसे भ्र० पृ० ११९ पर उन्होंने लिखा है "(१) एक तो जीव हणे (२) एक न हणे (३) एक जीव छुडावे ए तीनूं न्यारा न्यारा छे" यह लिख कर जीवको न मारना और जीवकी रक्षा करना इनको भिन्न भिन्न जीतमलजीने बतलाया है इसलिये जीव न मारने को रक्षा मानना और जीव छुड़ानेको रक्षा न मानना मिथ्या है।

हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवकी रक्षा करनेके लिये उपदेश देना सावद्य सत्यकी तरह एकान्त पाप नहीं है। सावद्य सत्यसे जीवको दुःख होता है जैसे काणको काण अन्धेको अन्धा कहना सत्य तो है परन्तु इससे काण और अन्ध मनुष्यके दिल में दुःख होता है इसलिये शास्त्रमें सावद्य सत्यको एकान्त पाप कहा है लेकिन हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश देनेसे न तो हिंसक को दुःख होता है और न मारे जाने वाले जीवको ही दुःख होता है वल्कि हिंसक जीव, हिंसाके पापसे बचता है और मारे जानेवालेका आर्त रौद्र ध्यान छुटता है फिर इसमें पाप किस बातका हुआ ? यह बुद्धिमान, दयालु मनुष्य स्वयं समझ सकते हैं।

प्रश्न व्याकरण सूत्रके पूर्वोक्त मूलपाठानुसार हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना बहुत ही प्रशस्त कार्य्य है इसे पाप बताना शास्त्र द्रोहियोंका कार्य्य है। सावद्य और निरवद्यके भेदसे सत्यका दो भेद होना, स्वयं शास्त्रकारने ही बतलाया है परन्तु रक्षाको सावद्य और निरवद्य कहीं नहीं कहा है अतः जो लोग रक्षाको सावद्य कहते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

जीव रक्षा रूप धर्मको एकान्त पाप सिद्ध करनेके लिये जीतमलजीने जो दूसरा दृष्टान्त दिया है कि "साधु चोरीके पापसे चोरको मुक्त करनेके लिये धर्मोपदेश देता है परन्तु धनीके धनकी रक्षा करनेके लिये नहीं देता उसी तरह हिंसकको हिंसाके पापसे मुक्त करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है परन्तु मरते जीवकी रक्षाके लिये नहीं देता" यह दृष्टान्त भी असंगत है क्योंकि प्रश्न व्याकरण सूत्रमें जीवरक्षा रूप दयाके लिये जैनागमका कथन होना बतला कर जीवरक्षा रूप धर्मको जैनागमका प्रधान उद्देश्य कहा है इसलिये साधु जीव रक्षाके लिये धर्मोपदेश करते हैं परन्तु धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं क्योंकि उक्त सूत्रमें परायेद्रव्यके हरणरूप पापसे निवृत्तिरूप दयाके लिये जैनागमका कथन होना बतलाया है धनीके धनकी रक्षारूप दयाके लिये नहीं इसलिये साधु, चोरको

चोरीके पापसे मुक्त करनेके लिये ही धर्मोपदेश देते हैं धनीके. धनकी रक्षाके लिये नहीं। प्रश्न व्याकरण सूत्रका वह पाठ यह है "पर दव्व हरण वेरमण दयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "पराये द्रव्यके हरण रूप पापसे निवृत्ति रूप धर्मकी रक्षाके लिये भगवान्‌ने प्रवचन कहा है।"

इस पाठमें पराये द्रव्यके हरण रूप पापसे निवृत्तिके लिये प्रवचनका कथन होना कहा है धनीके धन की रक्षा के लिये नहीं इसलिये साधु चोरको चोरीके पाप से बचानेके लिये ही धर्मोपदेश देता है धनीके धनकी रक्षाके लिये नहीं परन्तु जीवरक्षाके विषयमें यह नहीं कहा है कि "हिंसाकी निवृत्तिके लिये जैनागमका कथन हुआ है जीवरक्षाके लिये नहीं" बल्कि वहां तो यह साफ लिखा है कि "सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" अर्थात् "संसारके सभी प्राणियोंकी रक्षा रूप दया के लिये भगवान्‌से जैनागम कहा गया है।" इसलिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवकी रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना शास्त्रानुमोदित और बहुत ही प्रशस्त कार्य्य है इसे पाप कहने वाले एकान्त मिथ्यावादी और मिथ्यादृष्टि हैं। धनरक्षाके साथ जीवरक्षा की तुल्यता बताना भी अज्ञान मूलक है। धन अचित्त पदार्थ है उसकी अनुकम्पा नहीं होती परन्तु जीव चेतन है उसकी रक्षा करना धम है अतएव शास्त्रमें जगह जगह "प्राणानु कम्पयाए भूयानुकम्पयाए" इत्यादि पाठ आया है "धनानुकम्पयाए वित्तानु कम्पयाए" इत्यादि पाठ नहीं आया है। इसलिये धनरक्षाका दृष्टान्त देकर जीवरक्षाके लिए धर्मोपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये किसी साधु महात्मा ने धर्मोपदेश दिया हो ऐसा उदाहरण मूल सूत्र के साथ बतलाइए ?

(प्ररूपक)

राज प्रश्नीय सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है:—

"जइणं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स रण्णो धम्ममाईक्खेज्जा बहु गुणतरं खलु होज्जा, पएसिस्स रण्णो तेसिं च बहुणं दुप्पयचउप्पय मियपसुपक्खीसरीसवाणं। तंजइ देवाणुप्पिया ! पएसिस्स रण्णो

धम्म माइक्खेज्जा बहु गुणतर फलं होज्जा तेसिंच बहूणं समण माहन भिक्खुयाणं । तंजइणं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स बहुगुणतरं होज्जा सव्वस्सवि जणवयस्स”

(राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थ:—

हे देवानुप्रिय ! आप यदि प्रदेशी राजाको धर्म सुनावें तो बहुत गुण युक्त फल हो । वह किसे हो ?खुद राजा प्रदेशीको गुण हो और उनके हाथसे मारे जाने वाले बहुतसे द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृपोंको हो । हे देवानुप्रिय ! आप यदि राजा प्रदेशीको धर्म सुनावें तो बहुतसे श्रमण, माहन, और भिक्षुकोंको, तथा राजा प्रदेशी और उनके सम्पूर्ण राष्ट्रको बहुत गुणयुक्त फल हो ।

इस पाठमें राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे राजा प्रदेशी और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृप, दोनों ही को गुण होना कहा है । इसका भाव यह है कि राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे वह हिंसा करना छोड़ कर हिंसाके पापसे बच सकता है और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियोंकी प्राणरक्षा हो सकती है इसलिये राजा प्रदेशीको हिंसाके पापसे बचनेका गुण है और उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंको प्राणरक्षा रूप गुण है । इन दोनों ही लाभके लिए चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है केवल प्रदेशीको हिंसाके पापसे बचानेके लिए ही नहीं अत: हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिए भी साधु उपदेश देते हैं सिर्फ हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिए ही नहीं यह इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है ।

यदि कोई कहे कि “यह पाठ, चित्त प्रधानकी प्रार्थनाको बतलानेके लिए आया है इसलिए यद्यपि इस पाठमें चित्त प्रधानने द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोंकी प्राणरक्षाके लिए केशी स्वामीसे धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की है तथापि इससे साधुओंका मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि चित्त प्रधान, अज्ञानवश भी मरते जीवकी रक्षा करनेके लिये मुनिसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना कर सकता है” तो इसका उत्तर यह है कि चित्त प्रधान, कोई मामूली मनुष्य नहीं किन्तु बारह व्रतधारी श्रावक था वह जीवरक्षामें धर्म या अधर्म होना जानता था । दूसरी बात यह कि चित्त प्रधानने केशी स्वामीसे जीव रक्षाके लिए धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना की थी, यदि यह कार्य्य एकान्तपापका था तो केशी स्वामीने चित्त प्रधानको क्यों नहीं समझा दिया कि “हे देवानुप्रिय ! राजा प्रदेशीको तारनेके

लिये धर्मोपदेश देना तो ठीक है परन्तु उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षा के लिये धर्मोपदेश देना उचित नहीं है क्योंकि मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना एकान्त पाप है" अतः जीवरक्षामें धर्म होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे धर्मोपदेश करनेमें जो एकान्त पाप बतलाते हैं उन्हें मिथ्यावादी और उत्सूत्र प्ररूपणा करनेवाला समझना चाहिये ।

[बोल २ रा समाप्त]

(प्रेरक)

सुयगडांग सुत्र श्रु० १ अध्ययन ६ के मूलगाथामें "दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं" यह वाक्य आया है इसका कई एक यह अर्थ करते हैं कि "अपनी ओरसे किसी प्राणी को भय न देना अभयदान है परन्तु दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना अभयदान नहीं हैं" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

किसी प्राणीको अपनी ओरसे भय न देना, और दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करना, ये दोनों ही अभयदान हैं परन्तु अपनी ओरसे किसीको भय न देना ही नहीं अतः दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करनेको अभयदान न मानना अज्ञानियोंका कार्य्य है । इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने, दूसरेसे भय पाते हुएको भय से मुक्त करना अभयदान बतलाया है वह टीका यह है:—

स्वपरानुग्रहार्थ मर्थिनेदीयत इति दान मनेकधा तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभयदानं श्रेष्ठम् । तदुक्तम् "दीयते म्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा धन कोटिं न गृह्णाति सर्वो जीवितुमिच्छति"

गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीत्यतोऽभयदान प्राधान्य ख्यापनार्थं कथानक मिदम्—वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो राजा, सच कदाचित् चतुर्वधू समेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति तेन कदाचिच्चोरो रक्त करवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः । दृष्ट्वाच ताभिः पृष्टम् किमनेना कारीति । तासामेके न राजपुरुषेणा वेदितम्, यथा परद्रव्यापहारेण राजविरुद्ध मिति तत एकया राजा विज्ञप्तः यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयताम् यथाहमस्योपकरोमि किञ्चित् राज्ञापि प्रतिपन्नम् । ततस्तया स्नानादिपुरःसरमलंकारेणालंकृतो दीनार सहस्र व्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन्-विषयानेक महः प्रापितः । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीय महो दीनार शत सहस्र व्ययेन

लालितः तत स्तृतीयया तृतीय महो दीनार कोटि व्ययेन सत्कारितः। चतुर्थ्यातु राजानुमत्या मरणाद्रक्षितोऽभयप्रदानेन। ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्त्वया किञ्चिद्दत्तमिति। तदेवं तासां परस्परं बहूपकारविषये विवादे जाते राज्ञाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्टः "यथाकेन तव बहूपकृतम्" तेनाप्यभाणि यथा न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यज्ञायि अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मान मवैमीति अतः सर्वदानाना मभय प्रदानं श्रेष्ठ मिति स्थितम्।

अर्थः—

अपने या परायेके अनुग्रहके लिये याचक पुरुषको जो दिया जाता है वह दान कहलाता है। वह अनेक प्रकारका है उनमें सबसे श्रेष्ठ अभयदान है। अभयदान, जीने की इच्छा रखने वाले प्राणियोंके जीवनकी रक्षा करता है इसलिये वह सब दानोंमें श्रेष्ठ माना गया है। कहा भी है—मरते हुए प्राणीको एक तरफ कोटि कोटि धन, और दूसरे तरफ जीवन दिया जाय तो वह धन कोटिको न लेकर जीवनको ही लेता है क्योंकि जीवोंको सबसे ज्यादा जीवन प्रिय है अतः सब दानोंमें अभय दान ही श्रेष्ठ है। साधारण बुद्धिवालों को समझानेके लिये अभयदानकी प्रधानता दृष्टान्तके द्वारा बतलाई जाती है—

वसन्तपुर नगरमें अरिदमन नामक राजा रहता था। वह किसी समय अपनी चार रानियोंके साथ झरोखे पर बैठ कर क्रीडा करता था। उसने अपनी स्त्रियोंके साथ, राजमार्गसे ले जाया जाता हुआ कण्ठमें लाल कनेलके फूलकी माला लगाया हुआ लाल कपड़ा पहिना हुआ शरीरमें रक्त चन्दनका लेप किया हुआ और बाजा बजा कर बध करनेकी घोषणा किया जाता हुआ किसी चोरको देखा। उसे देख कर रानियोंने पूछा कि "इसने क्या अपराध किया है?" यह सुन कर किसी राजपुरुषने कहा कि "इसने चोरी करके राजाकी आज्ञा उल्लङ्घन की है" इसके अनन्तर एक रानीने राजासे कहा कि "आपने जो मुझे पहले वरदान देना स्वीकार किया था वह अभी दे देवें जिससे मैं इस चोरका कुछ उपकार कर सकूं" यह सुन कर राजाने वरदान देना स्वीकार कर लिया। रानीने राजासे यह वर मांगा कि "इस चोरको स्नान आदि करा कर भूषण आदि पहिना कर हजार मोहरके व्ययसे एक दिन तक शब्दादि पांच विषयोंका सुख दिया जाय।" पश्चात् दूसरी रानीने दूसरे दिन उस चोरको एक लाख मोहरके व्ययसे सुख देनेका वर मांगा। तीसरीने तीसरे दिन एक कोटि मोहरके व्ययसे उसे सुख देनेको कहा। परन्तु चौथी रानीने राजासे वर मांग कर उस चोरको अभयदान देकर मरनेसे बचा लिया। यह देख कर पहली तीन रानियां चौथी रानीकी हंसी उडाने लगीं वे कहने लगीं कि इस

ने तो इस विचारेको कुछ भी नहीं दिया है" इसके अनन्तर उन रानियोंमें अपने अपने उपकारके विषयमें कलह होना आरम्भ हुआ उस कलहकी शान्तिके लिये राजाने चोरको बुला कर पूछा कि "इन रानियोंमें सबसे अधिक तुम्हारा किसने उपकार किया है ?" चोर ने कहा कि—मरण रूपी महाभयसे मैं इतना डरा हुआ था कि स्नान आदिका सुख मुझको कुछ भी नहीं मालूम हुआ । जब मैं ने सुना कि मुझे अभयदान मिला है तब मुझ को नवीन जीवन प्राप्तिके समान महान् आनन्द प्राप्त हुआ । अतः सब दानोंमें अभयदान की श्रेष्ठता स्पष्ट सिद्ध होती है ।

यहां, मारे जाने वाले प्राणीको मरणसे बचा देना अभयदान कहा गया है और इस विषयको स्पष्ट समझानेके लिये चोरका दृष्टान्त दिया है । इस दृष्टान्तमें रानी ने अपनी ओरसे चोरको भय देनेका त्याग नहीं बल्कि शूली या फांसीके द्वारा होने वाले मरणरूपी महाभयसे उसे बचाया है और इस कार्य्यको यहां अभयदान कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीका भय दूर करना भी अभयदान है अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं अतः दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करने में जो एकान्त पाप बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

(बोल ३ रा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२१ पर सुयगडांग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे कह्यो पोताना कर्म खपावा तथा आर्य्यक्षेत्रना मनुष्यने तारिवा भगवान् धर्म कहे इम कह्यो पिण इम न कह्यो जे जीव बंचावाने अर्थे धर्म कहे, इण न्याय असंयति जीवांरो जीवणो वाञ्छ्या धर्म नहीं ।

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि भगवान् महावीर स्वामी आर्य्यक्षेत्रके मनुष्य को तारनेके लिए और अपने कर्मोंका क्षय करनेके लिये धर्मोपदेश करते थे परन्तु हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं अतः मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना साधुका कर्त्तव्य नहीं है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर इसका समाधान दिया जाता है । वे गाथायें ये हैं:—

"नो काम किच्चा नयबालकिच्चा राजाभियोगेण कुतो भयेणं। वियागरेज्जा पसिणं नवावि सकाम किच्चे इह आरियाणं।

गन्तावतत्था अदुवा अगंता वियागरेज्जा समिया सुपन्ने। अनारिया दंसणतो परीत्ता इति संकमाणो न उवेति तत्थ"

(सुय० श्रुत० ५ अ० ६ गाथा १७-१८)

अर्थः—

गोशालकके मतको खण्डन करनेके लिये आर्द्र मुनि कहते हैं कि—भगवान् महावीर स्वामी विना इच्छाके कोई कार्य्य नहीं करते। जो बिना विचारे काम करता है वह इच्छाके बिना भी कार्य्य करता है और वह अपने या दूसरेका जिससे अनिष्ट हो ऐसा भी कार्य्य कर डालता है परन्तु भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ सर्वदर्शी और परायेके हित करनेमें तत्पर रहते हैं जिससे अपना या दूसरेका उपकार नहीं होता ऐसा कार्य्य भगवान् नहीं करते। भगवान् अपनी प्रतिष्ठा के लिये अथवा किसी राजा महाराज आदिके दबावसे धर्मोपदेश नहीं देते क्योंकि उनकी प्रवृत्ति भयसे नहीं होती। यदि कोई कुछ पूछता है तो उसका उपकार होता देख कर भगवान् उत्तर देते हैं अन्यथा नहीं देते। बिना पूछे भी लाभ समझने पर भगवान् उपदेश देते हैं। अनुत्तर विमानवासी देवता और मनःपर्य्याय ज्ञानियोंके प्रश्नोंके उत्तर भगवान् मनसे ही देते हैं वाणीद्वारा नहीं क्योंकि उन्हें वाणीद्वारा उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है।

भगवान् महावीर स्वामी यद्यपि वीतराग हैं तथापि अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करने के लिये और उपकार योग्य आर्य्य क्षेत्रके मनुष्यों का उपकार के लिये आर्य्यक्षेत्र में उपदेश देते हैं। १७

भगवान् महावीर स्वामी दूसरोंके हित साधनमें प्रवृत्त रहते हैं इस लिये वह शिक्षा देने योग्य पुरुषके निकट जाकर भी उपदेश देते हैं, वह जिस प्रकार भव्य जीवोंका कल्याण देखते हैं उसी तरह कार्य्य करते हैं, वह नहीं जाकर भी उपदेश देते हैं। उपकार होता देख कर वह जाकर भी उपदेश देते हैं और उपकार न होता देख कर वहां रहते हुए भी उपदेश नहीं देते भगवान्को किसीसे भी राग द्वेष नहीं है, चक्रवर्ती राजा हो चाहे दरिद्र हो सबको वह एक दृष्टिसे देखते हैं। पूछने पर या न पूछने पर वह सबको समान रूपसे धर्मोपदेश देते हैं। भगवान् अनार्य्य देशमें धर्मोपदेश देनेके लिये इस कारण नहीं जाते कि वहांके निवासी दर्शन भ्रष्ट और ऐहिक सुखको ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर परलोकको अङ्गीकार नहीं करते। उन लोगोंकी भाषा और कर्म भी आर्य्य पुरुषोंसे विपरीत होते हैं इस लिये वहां उपकार होता नहीं देख कर भगवान् अनार्य्य देशमें नहीं जाते।

इन गाथाओंमें कहा है कि "भगवान् महावीर स्वामी आर्य्य क्षेत्रके मनुष्योंके उपकारके लिये और अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये उपदेश देते हैं" इससे

हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले जीवकी प्राण रक्षाके लिये भी भगवान्का धर्मोपदेश देना सिद्ध होता है क्योंकि जैसे हिंसकको हिंसाके पापसे बचाना उसका उपकार करना है उसी तरह हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी रक्षा करना भी उसका उपकार करना है। इन गाथाओंका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यह लिखा है—

"असावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय न यथा कथं चिद्तोऽसावग्लानः इह अस्मिन् संसारे आर्य्ये क्षेत्रे वा उपकार योग्ये आर्य्याणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्याकुर्वीयाद्साविति"

अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी अपने तीर्थंकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये इस संसारमें, अथवा उपकार योग्य इस आर्य्य क्षेत्रमें त्यागने योग्य सभी बुरे धर्मों से अलग रहने वाले आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये धर्मोपदेश देते हैं।

यहां टीकाकारने भी मूल गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये भगवान्का धर्मोपदेश करना बतलाया है इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये उपदेश देना भी धर्म सिद्ध होता है क्योंकि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना उसका सबसे प्रधान उपकार है। अतः भगवान् महावीर स्वामी आर्य्य क्षेत्रके प्राणियोंकी प्राण रक्षा रूप उपकारके लिये भी धर्मोपदेश करते थे यह बात इस गाथा और इसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होती है। तथापि इन गाथाओं का नाम लेकर यह कहना कि "भगवान् आर्य्य क्षेत्रके जीवोंकी प्राण रक्षा करनेके लिये उपदेश नहीं देते थे" एकान्त मिथ्या है।

सुय गडांग सूत्रकी इन गाथाओंके पहलेकी गाथामें मरते जीवकी प्राण रक्षा करने के लिये भगवान्का धर्मोपदेश देना स्पष्ट लिखा है इस लिये वह गाथा भी यहां लिखी जाती है।

"समिच्च लोगं तस थावराणं खेमंकरे समणे माहणेवा।
आइक्खं माणोवि सहस्समज्झे एगंतयं सारयति तहच्चे"

(सुय० सु० २ अ० ६ गाथा ४)

टीका—

"स्यादेतत् धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो भवत्युतनेति, भवतीत्याह "समिच्च लोग" मित्यादि सम्यग्यथावस्थितं लोकं षड्द्रव्यात्मकं मत्वा अवगम्य केवला लोकेन परिच्छिद्य त्रस्यन्तीति त्रसाः त्रस नाम कर्मोदया द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावराः पृथिव्यादयस्तेषां मुभयेषा मपि जन्तूनां क्षेमं

शान्तिः रक्षा तत्करण शीलः क्षेमंकरः । श्राम्यतीति श्रमणः द्वादश प्रकार तपोनिष्टप्तदेहः तथा माहन इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो ब्राह्मणोवा स एवं भूतो निर्ममो राग द्वेष रहितः प्राणिहिताद्यर्थं न पूजालाभ ख्यात्याद्यर्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि प्राग्वत् छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत एव उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्भाषागुणदोषविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाप्तेः अनुत्पन्न दिव्य ज्ञानस्यतु मौन व्रतिकत्वेनेति । तथा देवासुर नर तिर्य्यक् सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः पंकाधारपंकजवत्तद्दोषव्यासंगाभावान्ममत्व विरहा दाशंसादोष विकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति प्रख्यातिं नयति साधयतीति यावत् । ननुचैकाकिपरिकरावस्थयोरस्ति विशेषः प्रत्यक्षेणैवोपालभ्यमानत्वात्सत्यम्—अस्ति विशेषो वाह्यतो नत्वांतरतोऽपि, दर्शयति—तथा प्राग्वदर्चा लेश्या शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथार्चः यद्विवा अर्चा शरीरं तच्चप्राग्वद्यस्य सतथार्चः । तथाहि असावशोकाद्यष्ट प्रातिहार्य्योपेतोऽपि नोत्सेकं याति नापि शरीरं संस्कारायत्तं विदधाति सहि भगवान् आत्यन्तिक राग द्वेष प्रहाणादेकाक्यपि जन परिवृतोऽप्येकाकी न तस्य तयोरवस्थयोः कश्चि द्विशेषोऽस्ति । तथा चोक्तम् "राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि । अथनो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि" इत्यतो वाह्य मनंगमान्तरमेव कषायजयादिकं प्रधानं कारणं मिति स्थितम्"

अर्थ :—

भगवान् महावीर स्वामीके धर्मोपदेशसे प्राणियोंका कुछ उपकार होता था या नहीं ? कहते हैं कि होता था । भगवान् महावीर स्वामी, केवल ज्ञानसे षड्द्रव्यात्मक लोकको यथार्थ रूपसे जान कर द्वीन्द्रियादिक त्रस और पृथिवी आदि स्थावर प्राणियोंकी स्वभावसे ही रक्षा, शान्ति या क्षेम करते थे । तथा बारह प्रकारकी तपस्यासे अपने शरीरको तपाये हुए और माहन यानी प्राणियोंको अहिंसाका उपदेश करते हुए ममता रहित होकर प्राणियोंके हितके लिये धर्मोपदेश करते थे उन्हें अपनी पूजा प्रतिष्ठा मान बड़ाई आदिकी इच्छा न थी । भगवान् धर्मोपदेश करनेके समयमें भी पहलेके समान ही मौन व्रतिककी तरह वाक् संयत थे । तात्पर्य यह है कि छद्मस्थावस्थामें जैसे भगवान् मौन व्रतिक थे उसी तरह केवल ज्ञान होने पर धर्मोपदेश देते हुए भी मौन व्रतिकके समान ही थे क्योंकि दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने पर उन्हें भाषाके गुण और दोषके ज्ञान हो जानेसे बोलनेमें गुण ही था दोष नहीं था और जब तक वे केवल ज्ञानी नहीं हुए थे तबतक मौन रहनेमें ही गुण था । भगवान् महावीर स्वामी, यद्यपि हजारों देवता असुर मनुष्य और तिर्यञ्चोंके बीचमें रहते थे तथापि कीचड़में रहने वाले कमलकी तरह दोषसे

लिप्त नहीं होते थे। किन्तु ममता और सांसारिक लाभकी इच्छा तथा दोष रहित होकर वह सदा और सर्वत्र एकान्तका ही अनुभव करते थे। यदि कोई कहे कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिकोंके साथ रहनेकी अवस्थामें प्रत्यक्ष ही भेद दृष्टिगोचर होता था फिर भगवान् लोगोंके मध्यमें रहते हुए एकान्तका अनुभव कैसे करते थे ? तो इसका उत्तर यह है कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिके साथ रहनेकी अवस्थामें जो भेद दृष्टिगोचर होता था वह वाह्य भेद था आन्तरिक नहीं क्योंकि शिष्यादिकोंके साथ रहने पर भी भगवान्‌की पहलेके समान ही शुक्ल ध्यान रूपा लेश्याथी और वह अपने शरीरका पूर्ववत् ही संस्कार नहीं करते थे तथा अशोकादि आठ प्रतिहारियोंके साथ रहते हुए भी भगवान् गर्व रहित थे एवं राग द्वेषका सर्वथा अभाव हो गया था इस लिये मनुष्योंके साथ रहने पर भी भगवान् एकान्तका ही अनुभव करते थे। किसी आचार्य्यने कहा है कि यदि तुमने राग द्वेपको जीत लिया है तो वनमें जाकर क्या करोगे ? और यदि राग द्वेषको नहीं जीता है तो जंगलमें जाकर क्या करोगे। तात्पर्य्य यह है कि वाह्याचार कल्याणका कारण नहीं किन्तु आन्तरिक कषाय आदिका विजय ही मुक्ति साधक है। यह उक्त गाथा का टीकानुसार अर्थ है।

इस गाथामें लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षेम यानी रक्षा करने वाले थे। और टीकाकारने भी लिखा है कि "क्षेमं शान्तिः रक्षा तत्करण शीलः क्षेमंकरः" अर्थात् भगवान् सब प्राणियोंका क्षेम शान्ति, यानी रक्षा करते थे। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये भी धर्मोपदेश देते थे केवल हिंसकको हिंसाके पापसे छुड़ानेके लिये ही नहीं। यदि कोई कहे कि हिंसाके पाससे वचा देना ही जीवकी रक्षा या क्षेम है मरनेसे बचाना नहीं, तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथामें स्थावर जीवोंका भी क्षेम करने वाला भगवानको कहा है यदि वह मरते जीवकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश नहीं देते थे तो स्थावर जीवोंका क्षेम करने वाले वह क्यों कहे गये हैं ? क्योंकि स्थावर जीवोंमें उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं होती इस लिये हिंसाके पापसे बचाने के लिये उनको उपदेश देना नहीं घट सकता किन्तु उनकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश देना हीं घटता है अतः भगवान् मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये भी उपदेश देते थे यह इस गाथासे स्पष्ट सिद्ध होता है। कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि "हिंसकके हाथसे असंयति जीवको बचाना उसके असंयमका अनुमोदन करना है, और असंयमका अनुमोदन करना साधुको नहीं कल्पता इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए असंयति जीवकी प्राणरक्षा के लिये साधुको धर्मोपदेश नहीं देना चाहिये" उनसे कहना चाहिये कि साधु, असंयति

जीवकी प्राण रक्षा उसके असंयम सेवनका अनुमोदन करनेके लिये नहीं करता। साधु यह नहीं चाहता कि "यह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन करे, या असंयम सेवन करना अच्छा है। साधु असंयम सेवनको बुरा जानता है इस लिये वह असंयम सेवनके लिये असंयतिकी रक्षा नहीं करता किन्तु असंयतिको आर्त रौद्र ध्यान और मरण भयसे मुक्त करनेके लिये उसकी प्राणरक्षा करता है अतः असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे साधुको असंयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या है। यदि इस तरह असंयमका अनुमोदन लगे तो फिर हिंसककी हिंसा छुड़ानेके लिये अहिंसाका उपदेश भी न देना चाहिये। क्योंकि धर्मोपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो उसकी प्राण रक्षा होगी और वह जीवित रह कर असंयमका सेवन भी कर सकता है। फिर रक्षामें पाप कहने वाले, हिंसककी हिंसा छुड़ानेके लिये अहिंसाका उपदेश क्यों देते हैं ?

यदि कहो कि हम असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये हिंसकको अहिंसाका उपदेश नहीं देते किन्तु उसे हिंसाके पापसे मुक्त करनेके लिये देते हैं इसलिये हमें असंयतिकी प्राणरक्षा या असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह समझो कि हम भी असंयमका सेवन करानेके लिये असंयतिकी प्राणरक्षा नहीं करते किन्तु उसका आर्त रौद्र ध्यान मिटा कर मरण दुःखसे उसे मुक्त करनेके लिये करते हैं अतः हमें असंयम सेवन का अनुमोदन नहीं लग सकता। अतः हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें असंयम सेवनका नाम लेकर एकान्त पाप कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२१ पर लिखते हैं कि—

"जिम कोई कसाई पांच सौ पञ्चेन्द्रिय नित्य हणे छ। ते कसाईने कोई मारतो हुए तो तिणने साधु उपदेश देवे तो तिणने तारिवाने अर्थे पिण कसाईने जीवतो राखणे उपदेश न देवे, ए कसाई जीवतो रहे तो आच्छो इम कसाईनो जीवणो वांछ्नो नहीं। कोई पञ्चेन्द्रिय हणे केई एकेन्द्रियादिक हणे छै ते मांटे असंयति जीव ते हिंसक छै हिंसकनो जीवणों वाञ्छ्यां धर्म किम हुवे" इनके कहनेका आशय यह है कि कोई पञ्चेन्द्रिय जीव को मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीवको मारता है इस लिये साधुके सिवाय सभी जीव कसाईके समान हिंसक हैं उनकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म नहीं

किन्तु पाप है। जो कसाई प्रति दिन ५०० बकरा मारता है उसको कोई मारने लगे तो साधु उस मारनेवालेकी हिंसा छुडानेके लिये धर्मका उपदेश करता है कसाईकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश नहीं करता क्योंकि यदि कसाई बचेगा तो वह फिर ५०० बकरोंको रोज मारेगा उसी तरह दूसरे असंयति यदि बचें तो वे भी प्रतिदिन एकेन्द्रियादि जीवोंका विनाश करेंगे अतः साधु हिंसाका पाप छुडानेके लिये हिंसकको उपदेश करता है हिंसकके हाथसे असंयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधु किसी की भी हिंसा होना पसन्द नहीं करता वह सबकी रक्षा करना चाहता है वह जैसें कसाईकी हिंसा करनेवालेको धर्मोपदेश देकर कसाईकी प्राणरक्षा करना चाहता है उसी तरह कसाईको धर्मोपदेश देकर उससे प्रति दिन मारे जाने वाले बकरोंकी भी प्राणरक्षा ही चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह कसाई जीवित रह कर प्रतिदिन बकरोंकी हिंसा करे किन्तु यह कसाई तथा इससे मारे जाने वाले प्राणी, सभी आर्तरौद्र ध्यान और मरण भयसे बचें यही कामना साधु करता है और इसके साथ साथ हिंसाके पापसे हिंसकको भी मुक्त करना चाहता है इसी भावसे प्रेरित होकर साधु धर्मोपदेश देता है और धर्मोपदेश देकर मरनेवाले प्राणीको आर्त रौद्र ध्यानसे और मारने वालेको हिंसाके पापसे मुक्त करता है। वह मरने वाले प्राणीके आर्त रौद्र ध्यान तथा मरण महा भयकी निवृत्तिका ही कामुक है उसके असंयम सेवन आदि बुराइयोंका इच्छुक नहीं है अतः असंयति जीवकी प्राणरक्षाके निमित्त धर्मोपदेश देनेसे उस असंयतिसे सेवन किये जाने वाले असंयम आदि बुराइयोंका अनुमोदन साधुको नहीं लगता।

यदि असंयमकी इच्छा न रखने पर भी असंयतिको बचा देने मात्रसे साधु को असंयमका अनुमोदन लगे तो हिंसकको अहिंसाका उपदेश देनेसे भी असंयमका अनुमोदन लगना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुन कर हिंसक यदि असंयतिको न मारे तो वह असंयति जीवित रह कर असंयमका सेवन कर सकता है। इस प्रकार जिसने अहिंसाका उपदेशके द्वारा हिंसकसे असंयतिकी हिंसा रोक दी है वह उस असंयतिके असंयम सेवनका अनुमोदक क्यों नहीं होगा ? यदि उक्त अहिंसाका उपदेशक, हिंसाके छुडाने मात्रकी भावनासे उपदेश देता है हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा तथा उससे किए जाने वाले असंयम सेवनकी इच्छासे नहीं इस कारण उसे असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह जो प्राणियोंकी प्राणरक्षा और उनके आर्त रौद्र ध्यानको निवृत्त करने मात्रकी इच्छासे प्राणियोंकी प्राणरक्षा करता है

उनके असंयम सेवनकी इच्छासे नहीं, उसको भी असंयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता किन्तु मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा रूप महान् धर्मका लाभ होता है। अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे असंयम या हिंसाका समर्थन बतलाना निर्दय जीवोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं:—"अथ ईहां तो पाधरो कह्यो जे म्हारे कारण यां जीवांने हणे तो ए कारणज मोने परलोकमें कल्याणकारी भलो नहीं इम विचारी पाछा फिरया पिण जीवांने छुडाया चाल्यो नहीं" तथा पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि "त्यां जीवांरे जीवणरे अर्थे तो नेमिनाथजी पाछा फिरया नहीं। ए जो जीवांरी अनुकम्पा कही तेहनो न्याय इम छै जे माहरा व्याहरे वास्ते यां जीवांने हणे तो मोने ए कार्य्य करवो नहीं इम विचारी पाछा फिरया" इत्यादि।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंको टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है:—

"सोऊण तस्स वयणं वहुपाणि विनासनं
चिन्तेइ से महापन्ने सानुक्कोसो जिये हिउ। १८
जइ मज्झ कारणा एए हम्मन्ति सुवहु जिया
नमे एयंतु निस्सेसं पर लोगे भविस्सइ। १९
सो कुण्डलाण जुगलं सुत्तगं च महा जसो
आभरणानिच सव्वाणि सारहिस्स पणामइ" २०

(उत्तराध्यन अ० २२)

(टीका)

इत्थं सारथिनोक्ते यद्भगवान् विहित वांस्तदाह सुगम मेव नवरं तस्य सारथेः वहूनां प्रभूतानां प्राणानां प्राणिनां विनाशनं हननम् अभिधेयं यस्मिन् तद् वहुप्राणि विनाशनम्। सभगवान् सानुक्रोशः सकरुणः केषु "जीएहिउ" त्ति जीवेषु तुः पाद पूरणे मम कारणादिति मद्विवाह प्रयोजने भोजनार्थत्वादमीषामिति भावः। हम्मंति हन्यन्ते

वर्तमान सामीप्ये लट् ततो हनिष्यन्ते इत्यर्थः। पाठान्तरतः "हमिहंति" त्ति, सुस्पष्टम्। सुवहवः अति प्रभूताः "जिय" त्ति जीवाः एतदिति जीव हननं तुः एव कारार्थे नेत्यनेन योज्यते ततः नतु नैव निः श्रेयसं कल्याणं परलोके भविष्यति पाप हेतुत्वादस्येति भावः भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवमभिधान मन्यथा चरमशरीरत्वादतिशयज्ञानित्वाच्च भगवतः कुत एवं विध चिन्तावसरः। एवंच विदितभगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह "सो" इत्यादि सुत्तकञ्चे ति कटि सूत्र मर्पयतीति योगः किमेतदेवेत्याह आभरणानि सर्वाणि शेषाणीति गम्यते।"

अर्थः—

इस प्रकार सारथीके कहने पर भगवान् नेमिनाथजीने जो किया वह इन गाथाओं में कहा गया है। बहुतसे प्राणियोंका विनाशरूप अर्थ को बतलाने वाली सारथी की वाणी सुन कर बड़े बुद्धिमान नेमिनाथ जी, उन प्राणियों पर दयायुक्त हो कर सोचने लगे।

यदि ये, बहुतसे प्राणी मेरे कारण यानी मेरे विवाहमें आये हुए लोगोंके भोजनार्थ मारे जाएंगे तो यह कार्य्य परलोकमें कल्याणकारक नहीं होगा। (यद्यपि भगवान् नेमिनाथजी अतिशय ज्ञानवान और चरम शरीरी होनेके कारण उसी भवमें मोक्ष जाने वाले थे अतः उन्हें परलोककी चिन्ता करनेकी आवश्यकता न थी तथापि दूसरे भवोंमें परलोकसे डरनेका जो उनको अत्यन्त अभ्यास था उस अभ्यासके कारण उन्हें पूर्वोक्त चिन्ता हुई थी) भगवान् नेमिनाथजीका अभिप्राय समझ कर सारथीने जब उन प्राणियोंको बन्धनसे मुक्त कर दिया तब भगवान्ने प्रसन्न होकर कानोंके कुण्डल और कटिसूत्र तथा दूसरे सब आभूषण उतार कर सारथीको इनाम दे दिये। यह उक्त गाथाओं का टीकानुसार अर्थ है।

यहां मूलगाथामें कहा है कि "सानुक्कोसो जीएहिउ" अर्थात् उन प्राणियों पर भगवान् नेमिनाथजीको अनुक्रोश यानी दया उत्पन्न हुई। दया नाम दूसरेके दुःख को दूर करना यानी दुःखीकी रक्षा करना है कहा भी है "पर दुःख प्रहाणेच्छा दया" अर्थात् दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छाका नाम दया है। यदि मरते हुए प्राणीकी रक्षा करना एकान्त पाप होता तो भगवान् नेमिनाथजी को उन जीवों पर दया क्यों उत्पन्न होती अतः उक्त गाथाओंसे मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है।

जीतमलजीने जो यह लिखा है कि "म्हारे कारण यां जीवाने हणे तो एकारणज मोने परलोकमें कल्याणकारी भलो नहीं इम विचारि पाछा फिरया पिण जीवने छुडाया चाल्यो नहीं" यह मिथ्या है। भगवान् नेमिनाथजी जीवोंकी रक्षाके लिये और उनकी

मृत्युसे होने वाले पापसे बचनेके लिये पीछे लौटे थे केवल अपनी आत्मा को पाप से बचानेके लिये ही नहीं अतएव उक्त मूलगाथामें "सानुक्कोसोजिए हिउ" यह पाठ आया है। यह पाठ तभी सार्थक हो सकता है जब उन जीवोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् का लौट जाना माना जाय। जो लोग जीवों पर दया करके उनकी रक्षाके लिये भगवान्का लौट जाना नहीं मानते उनके मतमें उक्त पाठ निरर्थक ठहरता है क्योंकि पापके भयसे लौटना तो अपनी अनुकम्पा है उन जीवोंकी नहीं इसलिये जीतमलजीके हिसाब से उक्त गाथाका "सानुक्कोसोजिए हिउ" यह पाठ किसी प्रकार भी सार्थक नहीं हो सकता अतः उन जीवोंकी रक्षाके लिए भगवान् नहीं लौटे थे यह कहना मिथ्या है।

ऊपर लिखी हुई बीसवीं गाथामें लिखा है कि भगवान् नेमिनाथजीने अपने कानोंके कुण्डल, कटिसूत्र तथा शेष सभी आभूषण उतार कर सारथीको इनाम दे दिए। यहां इनाम देनेका कारण बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि "विदित भगवदाकूतेन

नोट—कोई कोई एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवकी हिंसाको एक समान मान कर उनमें अल्प और महान रूप भेदका खण्डन करते हैं और एकेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसामें अल्प और महानका भेद बतलाने वालोंको हिंसाका अनुमोदक कहते हैं इसी तरह एकेन्द्रियकी दयासे पञ्चेन्द्रियकी दयाको प्रधान कहने वालोंको हिंसाका समर्थक बतलाते हैं परन्तु यह उनका अज्ञान है क्योंकि इसी उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययनमें भगवान् नेमिनाथजीका विवाहके निमित्त जल स्नान करना लिखा है, जलके जीव, विवाह मण्डपमें बांधे हुए पशुओंसे असंख्य गुण अधिक थे फिर भगवान् नेमिनाथजी उन जलके जीवोंकी हिंसा देख कर स्नान करनेसे क्यों नहीं निवृत्त हो गये। इससे स्पष्ट सिद्ध होता हैं कि भगवान् नेमिनाथजीने जलके जीवोंकी अपेक्षा मण्डपमें बांधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको बहुत ज्यादा पाप और एकेन्द्रियकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियकी दया को बहुत ज्यादा उत्तम समझा था इस लिये वह जलस्नानसे तो निवृत्त न हुए परन्तु मण्डपमें बांधे हुए पशुओंके रक्षार्थ निवृत्त हो गये थे। यद्यपि भगवान् नेमिनाथजी तीन ज्ञानके धनी होनेके कारण अपना विवाह न होना जानते थे और उनके पूर्व तीर्थंकरोंने भी २२ वें तीर्थंकरको बाल ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा ग्रहण करना कहा था तथापि एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी दयाका महत्व बतानेके लिये भगवानने जल स्नानमें कोई आपत्ति नहीं की परन्तु विवाह मण्डपमें बांधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंको देख कर वहांसे हट गये थे।

संशोधक।

सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह" अर्थात् भगवान्‌का अभिप्राय समझ कर जब सारथीने उन जीवोंको मुक्त कर दिया तब भगवान्‌ने सारथी पर प्रसन्न होकर जो कार्य्य किया था वह बीसवींगाथामें कहा है। बीसवींगाथामें भगवान्‌का आशय समझ कर उन जीवोंको मुक्त करना, और इस कार्य्यसे प्रसन्न होकर भगवान्‌का सारथीको इनाम देना स्पष्ट कहा गया है। यदि जीवरक्षा करनेमें पाप होता तो भगवान् उन जीवोंकी रक्षा करनेके कारण सारथी पर प्रसन्न हो कर उसे इनाम क्यों देते? तथा उन जीवोंकी रक्षाके लिये भगवान् का भाव क्यों होता? अतः उक्त गाथाओंसे मरते जीव की रक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है। जो लोग जीवरक्षा को एकान्त पाप कहते हैं उन्हें उत्सूत्र वादी और निर्दय समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२७ के ऊपर ज्ञाता सूत्रके प्रथम अध्ययनका मूलपाठ लिख कर उसके अवतरणमें लिखते हैं कि "वली मेघकुमाररो जीव हाथीरे भवे सुसलारी अनुकम्पा करी परीत संसार कियो। अने केई कहे मण्डलामें घणा जीव बंच्या त्यां घणा प्राणी री अनुकम्पा ई करी परीत संसार कियो छै ते सूत्रार्थना अजाण छै एक सुसलारी अनुकम्पा दयाकरी परीत संसार कियो छै। (भ्र० पृ० १२७)

इसका क्या उत्तर।

(प्ररूपक)

हाथीने अकेले शशककी अनुकम्पासे परीत संसार किया है वहुत जीव, जो मण्डलमें वचे थे उनकी अनुकम्पासे संसार परीत नहीं किया यह कथन अविवेकका सब से वड़ा उदाहरण है। जब भ्रम विध्वंसन कार एक जीव शशककी अनुकम्पासे संसार परिमित होना स्वयं ही स्वीकार करते हैं तव अनेक जीवोंकी अनुकम्पा से डरनेकी क्या वात है। एक प्राणीकी अनुकम्पासे जव संसार परीत हो सकता है तो अनेक जीवोंकी अनुकम्पासे और भी अधिक धर्म ही होगा। यह एक ऐसी साधारण वात है कि जिसे वालक भी समझ सकता है। खैर! अब देखना यह है कि हाथीने अकेले शशककी अनुकम्पा की या वहुतसे जीवों की? यदि हाथीको शशककी ही अनुकम्पा करनी इष्ट थी दूसरोंकी नहीं तो वह अपना उठाया हुआ पैर शशकके ऊपर नहीं रख कर दूसरे प्राणी पर रख देता परन्तु उसने ऐसा नहीं करके अढाई दिन तक पैर ऊपर ही उठाये रक्खा इससे स्पष्ट है कि हाथी शशकके साथ और भी प्राणियोंकी रक्षा करना चाहता था।

इसी वातको सूत्रकारने "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि चार पद देकर स्पष्ट बतला दिया है।

कुछ लोग कहते हैं कि हाथीने बंचाने रूप अनुकम्पा नहीं की थी सिर्फ न मारने रूप अनुकम्पा की थी और इसीसे उसने संसार परीत किया था। पता नहीं कैसे उन लोगोंने यह वात जान ली कि हाथीका विचार जीवोंको वचानेका नहीं था। जाननेके दो ही मार्ग हैं—या तो हाथीने आकर स्वयं उनसे ऐसा कहा हो या उन्होंने ही मनः पर्य्यव ज्ञानसे जाना हो। इन दोनों उपायोंमेंसे एक भी संभव नहीं है ऐसी दशामें सूत्रके पाठका ही आश्रय लेना पड़ता है। सूत्रके पाठमें ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे यह जाना जा सके कि हाथीका विचार जीवरक्षा करनेका नहीं था वरन् स्पष्ट शब्दोंमें 'पाणाणुकम्पयाए' इत्यादि शब्द दिये हैं यदि उसने पापसे वचनेके लिये ही न मारने रूप अनुकम्पा की होती तो वह अनुकम्पा मुख्य रूपसे उसी (हाथी) की ही होती और भ्रमविध्वंसन कारने भी ऐसा नहीं लिखा कि हाथीने अपनी अनुकम्पासे संसार परीत किया किन्तु शशककी अनुकम्पासे वे संसार परीत होना मानते हैं और पाठमें "आया-णुकम्पयाए" या "प्राणाहिंसयाए" इत्यादि पाठ नहीं हैं अतः जो लोग पाप भयसे न मारने रूप अनुकम्पा से ही संसार परीत होना मानते हैं जीव रक्षा रूप अनुकम्पासे नहीं उनके मतसे 'पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि पाठ मिथ्या ठहरता है इस लिये यही मानना उचित है कि हाथीने प्राणियोंकी रक्षा रूप अनुकम्पासे संसार परीत किया क्योंकि "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि पाठसे वचाने रूप दया अर्थ ही निकलता है। जो शशक हाथीके पैर रखनेकी जगह आया था उसे बलवान प्राणी सता रहे थे हाथीने अपने पैरके ठहरनेका स्थान उसे दिया और स्वयं मारा भी नहीं इससे सिद्ध होता है कि जीवोंको स्वयं भी न मारे और यदि दूसरा मारता हो तो ऐसी सामग्री देवे कि उसके प्राणोंकी रक्षा हो जाय। अतः हाथीने एक शशककी अनुकम्पासे ही परीत संसार किया था दूसरेकी अनुकम्पासे नहीं यह कहने वाले मिथ्यावादी हैं।

भीषणजीने इस विषयमें लिखा है कि :—

कष्ट सह्यो तिण पापसो डरतो, मन दृढ सेंठि राखी तिण काया।'
बलता जीव दवानल देखि, सूंढ सूं ग्रही ग्रही बाहिरे न लाया।"

(पद्य भीषण जी का)

इनके कहनेका भाव यह है कि हाथीने पापसे डर कर मनको दृढ़ और शरीरको मजबूत रक्खा परन्तु दावानलमें जलते हुए जीवोंको सूंढ़से पकड़ कर बाहर नहीं लाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा रूप दया करना एकान्त पाप है" परन्तु यह वात

अविवेक पूर्ण है। हाथीके आनेके पहले ही उसका मण्डल जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि स्वयं हाथीको भी अपने उठाये हुए पैर को नीचे रखनेका स्थान नहीं मिला ऐसी दशामें वह हाथी दावानलमें जलते हुए जीवोंको लाकर कहां रखता और उनको लानेके लिये वह किस मार्गसे जाता क्योंकि वह स्थान जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि कहीं भी पैर रखनेकी जगह नहीं थी अतः भीषणजीका पूर्वोक्त कथन एकान्त मिथ्या समझना चाहिये। वास्तवमें हाथीने शशककी प्राणरक्षाके लिये अपना उठाया हुआ पैर नीचे नहीं रक्खा और दूसरे प्राणियोंकी प्राग रक्षाके लिये दूसरी जगह भी नहीं रक्खा अतः हाथीके उदाहरणसे जीव रक्षामें पाप बतलाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य्य है।

बोल ८ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३४ पर सुय गडांग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

अथ अठे कह्यो जीवांने मार तथा मत मार एहवूं पिग वचन न कहिणो इहां ए रहस्य—महणो महणो तो साधुने उपदेश छै ते तारिवाने अर्थे उपदेश देवे अने इहां वर्ज्यो द्वेप आणीने हणो इम पिण न कहिणो अनेत्यां जीवांरे राग आणीने मतहणो इम पिण न कहिणो मध्यस्थपणे रहिणो" (भ्र० पृ० १३४)

इनके कहनेका भाव यह है कि हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा के लिये 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग लाना है, किसी जीव पर राग करना साधुको उचित नहीं है अतः मरते जीवकी प्राण रक्षा करनेके लिये साधुको 'मत मार' यह उपदेश न देना चाहिये।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रम विध्वंसनकारने सुय गडांग सूत्रकी गाथाका मूल अर्थ बतलाते हुए जो यह लिखा है कि "अथ अठे कह्यो जीवांने मार तथा मत मार एहवूं पिण वचन न कहिणे' यह अर्थ ही मिथ्या है। भ्रम विध्वंसनकार इस गाथाका ठीक ठीक अर्थ नहीं समझ सके। इस गाथामें कहा है कि

"वज्झा पाणा न वज्झेति इति वायं न नीसरे"

इसका अर्थ करते हुए शीलांकाचार्य्य अपनी टीकामें लिखते हैं "वध्याश्चौर पारदारिकादयोऽवध्यावा तत्कर्मानुमति प्रसंगादित्येवं भूतां वाचं स्वानुष्ठान परायणः साधुःपर व्यापार निरपेक्षो न निसृजेत्" अर्थात् वध दण्ड देने योग्य चोर और पारदारिक प्राणीको साधु, वध दण्ड न देने योग्य निरपराधी न कहे क्योंकि अपराधीको निरपराधी कहनेसे साधुको उसके कार्यका अनुमोदन लगता है अतः अपने अनुष्ठानमें परायण और दूसरोंके व्यापारसे निरपेक्ष साधुको पूर्वोक्त बात न कहनी चाहिये। यह उक्त मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है। यहां मार और मत मार न कहनेका कोई प्रसंग नहीं है यहां तो वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनेका निषेध किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये मत मार कहनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

आगे चल कर इस गाथाका तात्पर्य्य बतलाते हुए भ्रमविध्वंसन कारने जो यह लिखा है कि 'द्वेष आणीने हणो इम पिण न कहिणो, अनेत्यांजीवांरे राग आणीने मत हणो इम पिण न कहिणो" यह भी अयुक्त है क्योंकि मूल गाथामें न तो राग शब्द है और न द्वेष शब्द, परन्तु भ्रम विध्वंसनकारने दया धर्म को पाप बतलानेके लिये अपने मनसे राग और द्वेष घुसेड़ दिये हैं। इस गाथामें भाषा सुमतिका उपदेश किया गया है राग द्वेषकी कोई चर्चा नहीं है अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें रागका नाम लेकर पाप बतलाना मूलगाथाका अभिप्राय न समझनेका परिणाम है।

अब शीलांका चार्य्य की टीका लिख कर इसका अर्थ बतलाया जाता है जिससे उक्त टीकाका नाम लेकर भ्र० वि० कारका फैलाया हुआ भ्रम दूर हो जाय। "तथाहि सिंह व्याघ्र मार्जारादीन् परसत्वव्यापादन परायणान् दृष्ट्वा साधुर्माध्यस्थ्य मवलंबयेत् तथाचोक्तम्—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्यानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमाना विनेयेषु"

अर्थात् जीवोंकी हिंसा करनेमें तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, मार्जार आदि प्राणियोंको देख कर साधु मध्यस्थ होकर रहे। कहा है कि सब जीवोंके साथ मैत्री और अधिक गुणवानोंमें प्रमोद, क्लेश पाते हुए जीवों पर करुणा और अविनेय प्राणियों पर मध्यस्थ भाव रखना चाहिये।

यहां टीकामें "सिंह व्याघ्र मार्जारादीन्" इस पदमें जो आदि शब्द आया है उस से पञ्चेन्द्रियघातक महारम्भी प्राणियोंका ग्रहण होता है साधुके सिवाय सभी जीवोंका नहीं इसलिए सिंह व्याघ्र और पञ्चेन्द्रिय जीवोंका विघातक प्राणियोंके विषयमें ही मौन रहना, या मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र सम्मत है क्लेश पाते हुए हीन दीन दुःखी जीवोंके

विषयमें नहीं उन पर करुणा करना साधुओंका कर्त्तव्य है । इसलिये जो मरते प्राणी पर दया नहीं करता और दया करके उसकी रक्षाका उपदेश नहीं देता वह अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि है उसे शास्त्रीय रहस्यका ज्ञान नहीं है । जो लोग इस टीकामें आये हुए आदि शब्दसे साधुके सिवाय सभी जीवोंका ग्रहण होना मान कर साधुके सिवाय सभी जीवों को हिंसक और सभीके विषयमें मध्यस्थ भाव रखनेका उपदेश देते हैं वे बिलकुल मूर्ख हैं । यदि साधुके सिवाय सभी हिंसक हैं और सभीके विषयमें मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र सम्मत है तो फिर मैत्री, प्रमोद, और कारुण्य किस पर रक्खे जाएंगे ? अतः इस टीका का नाम लेकर साधुके सिवाय सभी प्राणियोंको हिंसक और उपदेशके द्वारा उनकी प्राण-रक्षा करनेमें पाप बताना एकान्त मिथ्या है वास्तवमें पञ्चेन्द्रिय घात आदि महारम्भका कार्य्य करने वाले जो प्राणी समझानेसे भी नहीं समझ सकते हैं उन्हींके विषयमें मौन रहने का या मध्यस्थ भाव रखनेका यहां उपदेश किया है मरते प्राणी पर ,दया करके उपदेश देनेका निषेध नहीं किया है उन पर करुणा करनी ही चाहिये, जो नहीं करता और करुणा करनेमें पाप कहता है उसे निर्दय और प्राणियोंका द्रोही समझना चाहिये ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३५ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—"अथ इहां कह्यो गृहस्थ मांहो माहि लड़े छै आक्रोश आदि करे छै तो इम चिन्तवणो नहीं एहनो आक्रोशो हणो रोको उद्वेग दुःख उपजावो । तथा एहने मतहणो मत आक्रोशो मन रोको उद्वेग दुःख मत उपजावो इमि चिन्तवणो नहीं । एहनो ए परमार्थ जे राग आणी जीवणो वाञ्छी इम न चिन्तवणो ए वापडाने मतहणो उद्वेग दुःख न देवो । तो रागमें धर्मकिहांथी जीवणो वांञ्छ्या धर्म किम कहिए अने जे हणे तेहने पाप टालिवाने तारिवाने उपदेश देई हिंसा छोडावे ते तो धर्म छै" (भ्र० पृ० १३५।३६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है:—

"आयाण मेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावईवा जाव कम्मकरीवा अन्नमन्नं आक्कोसंतिवा

वयंतिवा रुंभंतिवा उद्दवंतिवा अहभिक्खू उच्चावयं मणं नियच्छेज्जा एए खलु अन्नमन्नं आक्कोसंतुवा मावा आक्कोसंतु जाव मावा उद्दविंतुवा"

(आचारांग श्रु० १ अ० २ उ० १)

अर्थः—

गृहस्थ जिस मकानमें रहते हैं उसमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है क्योंकि उस मकानमें रहते हुए साधुके समक्ष यदि उस गृहका स्वामी या, कर्मकरी आदि, परस्पर आक्रोश करते हों या एक दूसरेको दण्ड आदिसे मारते हों रोकते हों या उपद्रव करते हों यह देख कर साधु अपना मन ऊंचा नीचा करे, अर्थात् ये लोग परस्पर आक्रोश मत करें मत मारें मत रोकें, मत उपद्रव करें श ये लोग पूर्वोक्त कार्य्य करें तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इसलिये गृहस्थ के निवास स्थानमें साधुको नहीं रहना चाहिए। यह इस पाठका भावार्थ है।

इस पाठमें कहा है कि जिस मकानमें सपरिवार गृहस्थ रहता हो उसमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण है क्योंकि गृहस्थोंके घरोंमें कभी कभी पारिवारिक कलह भी होता है वह यदि साधुकी मौजूदगीमें हो और साधु उसे देख कर अपने मनको ऊंचा नीचा करे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है। यहां मत मारो मत रोको मत उपद्रव करो इस भावनाको ऊंचा मन कहा है और मारो रोको उपद्रव करो इस भावनाको नीचा मन कहा है। परिवार वालोंके घरमें रहने पर साधुकी ऐसी भावना होना सम्भव है इस-लिये शास्त्रमें परिवार वालोंके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है।

इस पाठसे यह मतलब नहीं निकलता कि कोई हिंसक किसी पञ्चेन्द्रिय जीवका घात करना चाहता हो तो उसे देख कर न मारनेकी भावना करनेसे साधुको कर्मबन्ध होता है या उसे पाप लगता है क्योंकि इस पाठमें पारिवारिक कलहका वर्णन है जो कि गृहस्थोंके घरोंमें कभी कभी हो जाया करता है वह कलह किसीकी हिंसाके लिये नहीं होता क्योंकि परिवारमें परस्पर बड़ा भारी स्नेह होता है अतः वह कलह एक प्रकारका प्रणय कलह है उसका असर गृहस्थके साथ रहनेसे साधु पर भी पड़ सकता है उसकी निवृत्तिके लिये गृहस्थके मकानमें साधुका रहना वर्जित किया है हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षाके भयसे नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर हिंसकके हाथ से मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये उपदेश देनेमें पाप कहना अज्ञान का परिणाम है।

जो लोग इस पाठका तात्पर्य्य यह बतलाते हैं कि "किसी मरते प्राणीकी प्राण-रक्षा करनेकी भावना करना अनुचित है" उनसे कहना चाहिये कि आप लोग गृहस्थके

निवासभूत गृहमें क्यों नहीं रहते ? क्योंकि आपके हिसाबसे मरते प्राणी की प्राणरक्षा करनेकी भावना न करता हुआ साधु यदि गृहस्थके निवासभूत गृहमें भी रहे तो उसे कर्मबन्ध नहीं हो सकता है तथा दूसरी जगह रहता हुआ भी यदि मरते प्राणीकी प्राण-रक्षा की भावना करे तो उसे कर्मबन्ध होगा। ऐसी दशामें गृहस्थके निवासभूत मकानमें ही साधुका रहना इस पाठमें क्यों वर्जित किया गया है ? सिर्फ मरते प्राणीकी प्राणरक्षा की भावना करना वर्जित कर देते परन्तु शास्त्रकारने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेकी भावनाको वर्जित नहीं करके गृहस्थके निवासभूत मकानमें साधुका रहना वर्जित किया है अतः मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश आदिमें पाप कहना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३७ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे इम कह्यो जे अग्नि लगाव तथा मत लगाव बुझाव इम पिण साधुने चिन्तवणो नहीं। तो लाय मत लगाव इहां स्यूं आरम्भ छै ते मांटे इसो चिन्तवणो नहीं। इहां ए रहस्य –जे अग्निथी कीडियां आदि घणां जीव मरस्ये त्यां जीवांरे जीवणो वाञ्छीने इम न चिन्तवणो जे अग्नि मत लगाव। अने अग्निरो आरम्भ तेहनो पाप टालिवा तेहने तारिवा अग्निसे आरम्भ करवारा त्याग करा यां धर्म छै पिण जीवणो वांच्छ्या धर्म नहीं" (भ्र० पृ० १३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है:—

"आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइहिं सद्धिं वसमाणस्स इह खलुगाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जावा पज्जालिज्जावा विज्झावेज्जवा, अहभिक्खू उच्चावचं मणं नियच्छज्जा एते खलु अगणिकायं उज्जालेंतुवा मावाउज्जालेंतुवा पज्जालेंतुवा मावा-पज्जालेंतु विज्जवेंतुवा मावाविज्जवेंतुवा"

(आचारांग श्रु० २ अ० २ उ० १)

अर्थः—

गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है। गृहस्थ अपने कार्य्यके लिये आग जलावे या बुझावे उस समय यदि साधुका मन ऊंचा नीचा हो अर्थात् यह गृहस्थ आग न जलावे या जलावे बुझावे या न बुझावे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इसलिये गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुको नहीं रहना चाहिये । यह इस पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें अग्नि जलानेसे मरने वाले कीड़े आदिकी रक्षाके लिये साधुको अग्नि नहीं जलानेकी भावना नहीं करनी चाहिये यह नहीं कहा है इसलिये अग्नि जलानेसे मरने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये अग्नि नहीं जलानेकी भावनाको कर्मबन्धका कारण बताना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान है ।

भ्रमविध्वंसनकारको जीवरक्षा न करना ही इस पाठका रहस्य सूझा है परन्तु इस का कारण क्या आपना स्वार्थ नहीं हो सकता है ? जैसे कि साधुको शीतकी पीड़ा हो रही हो तो उसके मनमें ऐसी भावना होना सम्भव है कि यह गृहस्थ आग जलावे तो अच्छा हो, एवं गर्मी लगने पर यह भावना होना भी सम्भव है कि यह गृहस्थ आग न जलावे तो अच्छा हो। इस प्रकार अपने स्वार्थके लिये साधुके मनमें आग जलाने और न जलानेकी भावना हो सकती है। ऐसी भावना गृहस्थके निवास स्थानमें रहने वाले साधुके मनमें सम्भव होना देख कर शास्त्रकारने गृहस्थके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है जीव बचानेके लिये उक्त भावनाका होना कर्मबन्धका कारण जान कर नहीं क्योंकि जीव बचाना और जीव बचानेके लिये जगतको उपदेश देना तो साधुका प्रधान कर्त्तव्य है सच पूछिये तो जैनागमका निर्माण ही जीवरक्षाके लिये हुआ है अतएव प्रश्न व्याकरण सूत्रमें "सव्व जग जीव रक्खण दयठ्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" यह पाठ आया है। अतः जीवरक्षामें पाप कहना और जीवरक्षा के लिये आग नहीं जलानेकी भावना को कर्मबन्ध का कारण बतलाना शास्त्र का रहस्य नहीं समझने का फल है ।

भ्रमविध्वंसनकारने जो इस पाठकी व्याख्या की है, उससे तो यहांका सारा शास्त्रीय सिद्धान्त ही विपरीत हो जाता है। भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि "आगमें जल कर मरने वाले जीवोंकी रक्षाके भावसे साधु यदि आग नहीं जलानेकी भावना करे तो यह कर्मबन्धका कारण है" इनके हिसावसे साधु यदि आगसे जल कर मरने वाले जीवों की रक्षाकी भावनासे नहीं वरन् अपने स्वार्थसे आग न जलाने की भावना करे और गृहस्थके निवासभूत गृहमें रहे तो दोष न होना चाहिये। बल्कि इनके हिसाब से तो साधुको गृहस्थके निवासभूत मकानमें ही रहना चाहिये क्योंकि वहां रहनेसे जब जब

गृहस्थ आग जलाना या बुझाना चाहेगा तब तब साधु उसे समझा बुझा कर आग जलाने या बुझानेका निषेध कर सकता है इस प्रकार गृहस्थके तरनेमें और ज्यादा सुविधा ही होगी परन्तु शास्त्रकार गृहस्थके मकानमें साधुका रहना वर्जित करते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने स्वार्थके लिये ही साधुको पूर्वोक्त भावना करना बुरा है जीव रक्षा करना बुरा नहीं है अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :— "अथ अठे पिण कह्यो जीव णो मरणो आपणो वाञ्छणो नहीं तो पारको क्यांने वाञ्छसी" इत्यादि लिख कर हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसन कारने भ्र० वि० पृ० ३५४ में लिखा है कि "अथ अठे कह्यो साध्वी पानीमें डूबतीने साधु बाहिरे काढे तो आज्ञा उल्लंघे नहीं" इनके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि साधु जब कि अपना या दूसरेका जीवन ही नहीं चाहता तब वह पानीमें डूबती हुई साध्वीको क्यों निकालता है ? तथा अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु क्यों आहार करता है ? उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्ययनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु को आहार करनेका विधान किया गया है वह गाथा यह है :—

"वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए
तह पाण वत्तियाए छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए"

अर्थात् (१) क्षुधा और पिपासासे उत्पन्न हुई वेदनाकी निवृत्तिके लिये (२) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य गुरु आदिकी सेवा नहीं कर सकता अतः गुरु आदिकी सेवा करनेके लिये (३) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य विधिवत् ईर्य्या समितिका पालन नहीं कर सकता अतः ईर्य्या समितिका पालन करनेके लिये (४) क्षुधातुर होकर यदि सचित्त वस्तुका आहार कर लेवे तो संयम ही नहीं कायम रह सकता अतः संयमकी रक्षाके लिये (५) अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये (६) धर्मकी चिन्ताके लिये, साधुको आहार पानीका अन्वेषण करना चाहिये।

यहां स्पष्ट लिखा है कि अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये साधुको आहार पानीका अन्वेषण करना चाहिये और टीका कारने भी लिखा है कि "पाणवत्तिया ए'त्ति प्राण प्रत्ययं जीवत निमित्तम् अविधिनाह्यात्मनोऽपि प्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात् ।"

अर्थात् अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये साधुको आहारका अन्वेषण करना चाहिये क्योंकि शास्त्रीय विधिसे विपरीत अपने प्राणोंको छोड़ना भी हिंसा करना है। यह उक्त टीकाका अर्थ है । यहां टीकामें साधुको अपने जीवनकी रक्षाके लिये आहार करना बतलाया है और मूल पाठमें भी यही बात कही है इस लिये साधु अपने जीवनकी रक्षा नहीं करते यह कहना मिथ्या है। जब कि साधु अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं तब वह दूसरे प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देवें तो इसमें पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये । उत्तराध्ययन सूत्रकी ऊपर लिखी हुई गाथामें जैसे अपने प्राणकी रक्षाके लिये साधुको आहार करनेका विधान किया गया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ९ में पृथिवी काय आदिकी रक्षाके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है । वह पाठ यह है :—

"फासु एसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नाइक्कमइ आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढविकायं अवकंखइ जाव तसकायं अवकंखइ"

(भ० श० १ उ० ९)

अर्थ :—

जो साधु प्रासुक और एषणिक आहार लेता है वह अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता और अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता हुआ साधु पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायकी प्राण रक्षा करना चाहता है ।

यहां पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायके प्राणियोंकी प्राणरक्षा करनेके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षा करना भी साधुका कर्त्तव्य है। अतः ठाणाङ्ग सूत्रका नाम लेकर अपनी तथा दूसरेकी प्राण रक्षा साधु नहीं चाहते यह कहने वाले अज्ञानी हैं ।

ठाणाङ्ग सूत्रके दशवें ठाणामें साधुको प्राप्त जीवनकी इच्छा करना वर्जित नहीं की है चिर काल तक जीते रहनेकी इच्छा वर्जित की गई है। वहां साधुको "जीवनाशंसा"का निषेध किया है "आशंसा" नाम है नहीं पायी हुई चीजके पानेका है । अभिधान राजेंद्र कोशमें लिखा है "अप्राप्त प्रापणमाशंसा" अर्थात् नहीं पायी हुई चीजको पाना आशंसा

है। इस प्रकार जो जीवन प्राप्त नहीं है उसके पानेकी इच्छा करना यानी चिर काल तक जीनेकी इच्छा करना "जीवनाशंसा" कहलाती है वही साधुके लिये वर्जित की गई है यथा प्राप्त जीवनकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन और पूर्वोक्त भगवतीके मूल पाठसे ठाणाङ्ग सूत्रका स्पष्ट ही विरोध होगा अतः ठाणाङ्ग सूत्रके मूल पाठ का नाम लेकर साधु अपने और दूसरेका जीवन नहीं चाहता यह कहना अज्ञान तथा एकान्त मिथ्या है।

कोई कोई कहते हैं कि "असंयतिकी प्राण रक्षा करनेसे असंयमका अनुमोदन लगता है" उनसे कहना चाहिये कि जो काम जिसको अच्छा नहीं लगता उसका अनुमोदन उसको नहीं लग सकता। साधु असंयतिको असंयम सेवनके लिये उपदेश नहीं देता और उसके असंयम सेवनको वह अच्छा भी नहीं समझता बल्कि वह असंयतिको असंयम सेवनका त्याग करनेके लिये उपदेश देता है फिर असंयतिकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देनेसे साधुको उसके असंयमका अनुमोदन कैसे लग सकता है ? यदि असंयति के बच जाने मात्रसे साधुको असंयमका अनुमोदन लग जाय तो फिर कसाईको तारने के लिये भी अहिंसाका उपदेश न देना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुनकर कसाई यदि असंयतिको न मारे तो वह बच सकता है और बच कर वह असंयमका सेवन कर सकता है। फिर कसाईको तारनेके लिये अहिंसाका उपदेश देने वालेको असंयमका अनुमोदन क्यों नहीं लगता? यदि कहो कि कसाईको तारनेके लिये उपदेश देनेपर यद्यपि असंयति बच जाता है और बच कर वह असंयमका सेवन भी कर सकता है तथापि साधुको असंयमका अनुमोदन नहीं लगता क्योंकि उसने असंयम सेवन करानेके लिये कसाईको अहिंसाका उपदेश नहीं दिया है तो इसी तरह यह भी समझो कि मरते प्राणी की प्राण रक्षा करनेके लिये जो उपदेश देता है वह उस प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुड़ाना चाहता है और कसाईको भी पापसे बचाना चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह प्राणी असंयमका सेवन करे तो अच्छा हो इस लिये मरते हुए असंयति प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुड़ानेके लिये उसकी प्राण रक्षा करनेसे असंयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या वादियोंका कार्य्य है।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर सुय० सू० अ० १० गाथा २४ एवं सूय० श्रुत० १ अ० १३ गाथा २६ वीं को लिख कर बतलाते हैं कि इन गाथा-

ओंमें साधुको अपने जीने और मरनेकी इच्छा करना वर्जित की गई है अतः दूसरोंके मरने और जीनेकी इच्छा भी न करनी चाहिये। इस प्रकार साधु जब कि दूसरे प्राणीके जीवनकी ही इच्छा नहीं रखता तब फिर वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश कैसे दे सकता है ? अतः मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुय गडांग सूत्रकी दो गाथाओंका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये धर्मोपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है। उन गाथाओं में भी ठाणाङ्ग ठाणा दशमें कहे हुये "जीविताशंसा संप्रयोग" मरणाशंसा संप्रयोग" की तरह साधुको चिर काल तक जीवित रहने और शीघ्र मर जानेकी इच्छा ही वर्जित की गई है यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन सूत्रकी पूर्व लिखित गाथाके साथ सूय० की गाथाओंका भी विरोध पड़ेगा क्योंकि उत्तराध्ययनकी पूर्व लिखित गाथामें, साधुको अपने जीवन रक्षार्थ आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है और भगवतीजीके पूर्व लिखित पाठमें पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायकी रक्षाके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है ऐसी दशामें सूय गडांग सूत्रकी गाथाओंमें साधुको अपने जीवन और मरणकी इच्छा करना नहीं वर्जित की जा सकती है ? क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र और भगवतीके उक्त पाठोंसे विरोध पड़ता है अतः सुय गडांग सूत्रकी गाथाओंका यही भाव है कि साधु चिर काल तक जीवित रहने और शीघ्र मर जानेकी इच्छा न करे यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छाका निषेध नहीं किया है। अतएव सुय गडांग सूत्र की उक्त गाथाओंकी टीकामें टीका कारने लिखा है कि—

"जीवित मसंयम जीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावर जंगम जन्तुदण्डेन नाभिकांक्षी स्यात्"

अर्थात् साधु, स्थावर जंगम जन्तुओंको दण्ड देकर असंयमके साथ जीवित रहने, या चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा न करे।

यहां प्राणियोंकी हिंसा करके तथा चिर काल तक जीते रहनेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गई है परन्तु प्राणियोंकी रक्षा करके और यथा प्राप्त जीवित रहनेकी इच्छा वर्जित नहीं की है। इस लिये साधु जीवोंकी रक्षाके साथ यथा प्राप्त जीवनकी इच्छा करते हैं और इसी इच्छासे प्रेरित होकर वे मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश

भी देते हैंमारने वाले और मरने वाले दोनों ही से वे जीव रक्षा करनेका उपदेश देते हैं। यह साधुका परम कर्त्तव्य है कि वह जीव रक्षा करनेका आदेश जगह जगह पहुंचा दें और सभी जीवोंको हिंसकको छुरीसे बचा दें। पहले कहा जा चुका है कि जीव रक्षाके लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है। अतः जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें जो एकान्त पापकी स्थापना करते हैं वह एक प्रकारका हिंसक और मिथ्या दृष्टि हैं।

सुय गडांग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें "नो जीविअंनो मरणावकंखी" इस वाक्यमें "नो अवकंखी" ये पद आये हैं इनको देख कर कई भ्रम जालमें पड़कर कहने लगते हैं कि "यहां तो जोवनकी इच्छा करना साफ साफ वर्जित की गई है फिर साधु किसी मरते प्राणीकी रक्षा क्यों कर सकता है? उन भ्रांत पुरुषोंसे कहना चाहिये कि जैसे सुयगडांग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें "नो अवकंखइ" यह पाठ आया है उसी तरह भगवती शतक १ उद्देशा ९ में "पुढवी कायं अवकंखइ जाव तसकायं अवकंखइ" इस पाठमें "अवकंखइ" यह पाठ आया है इसका अर्थ, पृथिवो कायसे लेकर यावत् त्रस कायके जीवोंको जीवनरक्षा की इच्छा करना है इसके विरुद्ध सुयगडांग सूत्रमें जीवन रक्षा की इच्छा करना कैसे वर्जित की जा सकती है? अतः सुयगडांग सूत्रके उक्त पाठका यही आशय है कि साधु चिरकाल तक जीते रहनेकी इच्छा नहीं करे यथाप्राप्त जीवन रक्षाकी इच्छा करनेका निषेध नहीं है अतः सुयगडांग सूत्रका नाम लेकर जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप कहना एकान्त मिथ्या है।

[बोल १३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ १४०। १४१। १४२ के ऊपर सुयगडांग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ गाथा १० तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ गाथा १५ एवं उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ५ गाथा ३ तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० १ गाथा ३ और उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० २ उ० २ गाथा १६ का नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करनेमें पाप बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारकी लिखी हुई सुयगडांग सूत्रकी गाथाओंमें छः कायके जीवोंकी हिंसा करके साधुको जीवित रहनेकी इच्छाका निषेध किया गया है परन्तु छः कायके

जीवोंकी रक्षाके साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं वर्जित की है अतः उक्त गाथाओं का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना मूर्खता है ।

सुयगडांग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ के दशवीं गाथामें लिखा है कि "जीवियं पीट्ठओकिच्चा" इसका भाव यह है कि "साधु असंयम (हिंसा) सहित जीवनको पीछे रख देवे" इससे प्राणियोंकी रक्षाके साथ जीवित रहना स्पष्ट सिद्ध होता है ।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ के गाथा १५ में भी असंयम यानी हिंसा के साथ जीना ही निषेध किया गया है रक्षाके साथ जीनेका निषेध नहीं किया है वहां जो "नाव कंखंति जीवियं" यह वाक्य आया है उसका यही आशय है कि "साधु असंयम (हिंसा) के साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते" इससे जीवरक्षाके साथ जीवन की इच्छा करनेका निषेध नहीं सिद्ध होता । एवं सुयगडांग सूत्र श्रुत० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ में अपने जीवनके निमित्त दूसरे प्राणियोंको भय देने, और हिंसादि पापोंके आचरण करनेसे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करने से नरक होना नहीं कहा है देखिये वह गाथा यह है:—

"जेकेइ वाले इह जीवियट्ठी पावाइं कम्माइं करेंतिरुद्दा । ते घोररूवे तिमिसन्धयारे तीव्वाभितावे नरए पतन्ति"

(सूय० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३)

अर्थः—

अर्थात् जो अज्ञानी पुरुष, अपने जीवनके लिये दूसरे प्राणियोंको भय देता है और हिंसादि घोर कर्म करता है वह तीव्र तापयुक्त अन्धकार परिपूर्ण घोर नरकमें पड़ता है ।

यहां प्राणियोंको भय देने, और उनकी हिंसा करनेसे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करनेसे नरक जाना नहीं कहा है अतः इस गाथाका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिये उपदेश देनेमें पाप बतलाना एकान्त मिथ्या है ।

इसी तरह सुय० श्रु० १ अ० १० गाथा तीसरीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बताना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है:—

"सुयक्खाय धम्मे वितिगिच्छतिन्ने
लाढे चरे आय तुले पयासु
आयंन कुज्जा इह जीविअट्ठी
चयं न कुज्जा सुतवस्सिभिक्खू"

(सूय० श्रु० १ अ० १० गाथा ३)

अर्थः—

अर्थात् वीतराग भाषित धर्मका आचरण करने वाला संशयरहित, ज्ञान दर्शन सम्पन्न उत्तम तपस्वी साधु प्रासुक आहारसे अपना जीवन निर्वाह करे और संयमके पालनमें सदा दत्त-चित्त रहे, तथा सब प्राणियों को आत्म तुल्य देखता हुआ आस्रव का सेवन नहीं करे एवं असंयम जीवन (हिंसा के साथ जीवन) और परिग्रह रूप संचय की इच्छा नहीं करे। यह इस गाथा-का अर्थ है।

इस गाथामें कहा है कि "साधु अपने समान सब प्राणियोंको देखे" अतः अपने समान सब प्राणियोंको देखना जब साधुका कर्त्तव्य है तो जिस प्रकार साधु अपनी रक्षा करनेमें पाप नहीं समझता उसी प्रकार उसे किसी भी प्राणीकी रक्षा करनेमें पाप नहीं समझना चाहिये। इस प्रकार इस गाथासे जीवरक्षा करना साधुका कर्त्तव्य सिद्ध होता है परन्तु जीतमलजीने इसी गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतानेकी चेष्टा की है बुद्धिमानोंको विचार कर देखना चाहिये कि इस गाथासे जीवरक्षा करनेमें धर्म सिद्ध होता है या पाप?

एक साधारण बुद्धिवाला भी इस गाथाको देख कर जीव रक्षा करनेमें धर्म ही कहेगा पाप नहीं कह सकता। तथा इस गाथामें भी पूर्व गाथाओं की तरह असंयम ((हिंसा) के साथ जीवित रहना ही वर्जित किया है रक्षाके साथ जीवित रहने का निषेध नहीं है अतः इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षा करने में पाप कहना मिथ्या है।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ वीं का नाम लेकर मरते जीवकी प्राण-रक्षा करनेमें पाप बतलाना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है:—

"नो अभिकंखेज्ज जीवियं नावि य पूयण पत्थएसिया। अज्जत्थ मुवेंति भेरवा सुन्नोगारगयस्स भिक्खुणो"

(सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६)

अर्थः—

अर्थात् शून्य गृहमें निवास करते हुए साधुके निकट यदि भैरवादि कृत उपद्रव हो तो उस से डर कर भागना नहीं चाहिये किंतु अपने जीवनकी परवाह न करके उस उपद्रवका सहन करना चाहिये वह सहन अपनी मान पूजा बड़ाईके लिए नहीं किंतु स्वाभाविक होना चाहिए। यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

इस गाथामें अभिग्रहधारी साधुके लिये भैरवादि कृत उपद्रव सहन करनेका उप-देश किया गया है, किसी हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका

निषेध नहीं किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना मूर्खता है ।

(बोल १४ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा सातवींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे पिण कह्यो अन्न पानी आदि देई संयम जीवितव्य वधारणो पिण और मतलब नहीं ते किम ऊग जीवितव्यरी वाञ्छा नहीं एक संयमरी वांछा । आहार करतां पिण संयम छै आहार करणरी पिण अव्रत नहीं तीर्थंकर री आज्ञा छै अने श्रावक नो तो आहार अव्रतमें छै तीर्थंकरनी आज्ञा बाहिरे छै । श्रावकने तो जेतलो जेतलो पच्चक्खाण छै ते धर्म छै ते मांटे असंयम जीवन मरणरी वांछा करे ते तो अव्रतमें छै (भ्र० पृ० १४३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह गाथा यह है:—

"चरे पयाइं परिसङ्कमाणो जंकिंचि पासं इह मन्नमाणो ।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी,,

(उत्तरा० अ० ४ गाथा ७)

अर्थ:—

किसी त्रस प्राणीकी विराधना न हो जाय इसलिये साधु अपने पैरको शङ्काके साथ पृथ्वी पर रख कर चले । गृहस्थ लोग यदि थोड़ी भी प्रशंसा करें तो उसे पासके समान कर्मबन्धका कारण समझे । ज्ञान दर्शन और चारित्रके विशेष लाभार्थ अन्न पानादिसे अपने जीवन की रक्षा करे । जब ज्ञान दर्शन और चारित्रकी प्राप्ति हो जाय और अपना शरीर भी रोगादिसे ग्रस्त या वृद्ध हो जाय, तथा साधुको ज्ञात हो कि इस शरीरसे अब ज्ञान दर्शन और चारित्रका उपार्जन नहीं हो सकता, तब वह शास्त्रीय विधानसे अपने शरीरका त्याग कर देवे । यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें कहा है कि साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र आदि गुणका उपार्जन करनेके लिये अन्न पानादिके द्वारा अपने जीवनकी रक्षा करे । इससे मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश आदि देना भी साधुका कर्त्तव्य सिद्ध होता है क्योंकि प्रश्न व्याक-

रणादि सूत्रोंमें जीवोंकी रक्षा करना गुण कहा गया है और गुणका उपार्जन करनेके लिये इस गाथामें साधुको जीवनरक्षा करना कहा है इसलिये जो साधु उपदेश आदिके द्वारा मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करता है वह गुणका उपार्जन करता है पापका उपार्जन नहीं करता अतः इस गाथाका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये उपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है ।

इस गाथाकी समालोचनामें भ्रमविध्वंसनकारने साधुके भोजनको स्वतः व्रतमें बतलाया है यह भी इनकी भारी भूल है यदि भोजन करना स्वतः व्रतमें है तो जैसे अधिकसे अधिक उपवास करना उत्तम है उसी तरह अधिकसे अधिक भोजन करना भी साधुके लिये गुण होना चाहिये । जो साधु अधिकसे अधिक और बार बार भोजन करे वह जीतमलजीके हिसाबसे बहुत ही उत्तम समझा जाना चाहिये । जैसे अधिकसे अधिक उपवास करने वाला साधु उत्कृष्ट व्रतधारी समझा जाता है उसी तरह अधिक से अधिक भोजन करनेवाला साधु जीतमजीलके मतमें उच्चश्रेणिका व्रतधारी समझा जाना चाहिए । परन्तु शास्त्र ऐसा नहीं कहता शास्त्र तो साधुको कारणवश आहार करनेका आदेश देता है और और अकारणसे तथा बार बार अधिक आहार करनेवाले साधुको पाप श्रमण कहता है इसलिए साधुका भोजन करना उपवासादिकी तरह साक्षात् व्रतमें नहीं है उसे स्वतः व्रतमें गिनना अज्ञानका परिणाम है । साधुका कारणवश आहार करना उसके व्रतका उपकारक है इसलिए वह अव्रतमें नहीं है और उपवासादिकी तरह वह साक्षात् व्रत स्वरूप भी नहीं है अतः साधुके भोजनको उपवासादिकी तरह साक्षात् व्रत स्वरूप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य है ।

जैसे साधुका आहार करना उसके व्रतका उपकारक होनेसे अव्रतमें नहीं है उसी तरह बारह व्रतधारी श्रावक का भोजन भी उसके व्रतका उपकारक होनेसे अव्रतमें नही है । श्रावकको अव्रतकी क्रिया लगती भी नहीं है यह विस्तारके साथ पहले कहा जा चुका है अतः साधुके आहारको उपवासादिकी तरह साक्षात् व्रतमें, और श्रावकके आहारको अव्रतमें मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये ।

इसी तरह मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भी मिथ्या है हिंसा करके जीवित रहनेकी की इच्छा करना असंयम जीवनकी इच्छा करना, या उसका अनुमोदन करना है रक्षाके साथ जीवित रहनेकी इच्छा करना असंयम जीवनकी इच्छा नहीं है अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भ्रमविध्वंसनकारका एकान्त मिथ्या है ।

(बोल वां १५ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंससन कार भ्र० वि० पृष्ठ १४४ पर सूयगडांग सूत्रकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ अठे पिण संयम जीवितव्य दोहिलो कह्यो पिण और जीवितव्य दोहिलो न कह्यो" भ्रम पृ० १४४)

इनका आशय यह है कि हिंसकके हाथसे मारे जाने जानेवाले असंयति जीवकी रक्षा करना असंयम जीवनकी इच्छा करना है इसलिये साधुको मरते प्राणीकी रक्षाके लिये उपदेश नहीं देना चाहिये। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सूयगडांग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा निम्नलिखित है—

"संवुज्झह, किंन वुज्झह संवोहो खलुपेच्च दुल्लहा,

नोहूवण मंति राइयो नो सुलभं पुनरावि जीवियं"

(सू० श्रु०१ २ गाथा १)

अर्थ :—

हे प्राणियों ! तुम सम्यग् ज्ञान आदिकी प्राप्ति करो, तुम इसकी प्राप्ति क्यों नहीं करते यदि इस भवमें नहीं किया तो परलोकमें करना दुर्लभ होगा। जो रात बीत जाती है वह फिर लौट कर नहीं आती। संसारमें संयम प्रधान जीवन दुर्लभ है अथवा जिस जीवनकी आयु टूट गई है वह फिर नहीं जुट सकती। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें संयम प्रधान जीवनको दुर्लभ कहा है। जो जीवन हिंसासे निवृत्त होकर रक्षाके साथ साथ व्यतीत होता है वही संयम जीवन है इसलिये जो साधु मरते प्राणीकी रक्षा करता है उसका जीवन संयम जीवन है असंयम जीवन नहीं है। रक्षा करनेसे संयमकी निर्मलता होती है इसलिए संयमी पुरुष जीव रक्षा करते हैं इसमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है। ऊपर लिखी हुई गाथामें ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे जीवरक्षामें पाप होनेका समर्थन किया जा सके तथापि जीतमलजीने झूठाही इस गाथाका नाम लेकर रक्षा करनेमें पाप सिद्ध करनेकी चेष्टा की है अतः बुद्धिमानोंको इनके कथनका विश्वास न करना चाहिये।

(बोल १६ वां)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४५ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्यन ९ की १२।१३ और १४ की गाथाओंको लिखकर उनकी समालोचना

करते हुए लिखते हैं—" अथ अठे इम कह्यो मिथिला नगरी बलती देख नमिराज ऋषि साह्मो न जोयो वली कह्यो म्हारो वाह्लो दुवाह्लो एकही नहीं, रागद्वेप अकरवा मांटे तो साधु मिनकियादिकरे लारे पड़ने उंदुरादिक जीवाने बंचावे ते शुद्ध के अशुद्ध असंतिरा शरीरनी जाब्ता करे ते धर्म के अधर्म" (भ्र० पृ० १४५)

(प्ररूपक)

नमिराज ऋषिका दाखला देकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञान है। नामिराज ऋषि प्रत्येकबुद्ध साधु थे प्रत्येक बुद्ध साधुओंका आचार स्थविर कल्प वालोंसे कितनेही अंशोंमें भिन्न होता है। वे किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षा नहीं करते शिष्य भी नहीं करते और अहार पानी लाकर किसी साधुका व्यावच भी नहीं करते वे संघके अन्दर न रहकर अकेला रहते हैं जीतमलजीनेभी पडि माधारी साधुके विषयमें यह यह लिखा है:—"जे पडिमा धारी किणहोने संथारो पिण पच खावे नहीं कोईने दीक्षा देवे नहीं श्रावकरा व्रत आदरावे नहीं उपदेश देवे नहीं। पडिमाधारी धर्मोपदेशकादिक कोईने देवे नहीं एतो एकान्त आपरोइज उद्धार करवाने उठ्या छै। तो पोते किणही जीवने हणे नहीं एतो आपरी अनुकम्पा करे पिण परनी न करे। जिम ठाणाङ्ग चौथे ठाणे उद्देशा ४ कह्यो "आयाणु कम्पए नाम मेगे नो परानु कम्पए" आत्मानीज कनुकम्पा करे पिण परनी न करे ते जिन कल्पी आदिक। इहां पिण जिन कल्पिक आदि कह्यो ते आदिक शब्दमें तो पडिमाधारी पिण आया ते आपरीज अनुकम्पा करे पिण परनी न करे तो जीवने नहणे ते आरीज अनुकम्पा छै" यह लिखकर जीतमलजीने पडिमाधारी साधुको अपने पर अनुकम्पा करनेवाला और दूसरे पर नहीं करनेवाला बतलाया है और इसमें प्रमाण देनेके लिये ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा चौथेका मूल पाठ लिखा है। उस मूलपाठमें जिन कल्पी आदिक शब्द नहीं है परन्तु उसकी टीकामें लिखा है कि अपने पर अनुकम्पा करनेवाले और दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करनेवाले तीन प्रकारके जीव होते हैं (१) प्रत्येक बुद्ध साधु, (२) जिन कल्पी (३) और परोपकार बुद्धि रहित निर्दय। इस टीकाके अनुसार प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनुकम्पा नहीं करते यह बात सर्वमान्य है और जीतमलजीको भी स्वीकृत है ऐसी दशामें प्रत्येक बुद्ध साधु नमिराज ऋषिका उदाहरण देकर स्थविर कल्पीको जीव रक्षा करनेमें पाप बतलाना कितना महान् अज्ञान है यह बुद्धिमानोंको देखना चाहिए। प्रत्येक बुद्ध अपनी ही अनुकम्पा करते हैं दूसरेकी नहीं और स्थविर कल्पी अपनी तथादूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करते हैं फिर प्रत्येक बुद्धके उदाहरणसे स्थविर कल्पीको जीवरक्षा करनेमें पाप कैसे कहा जा सकता है ?। प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा है और स्थविर

कल्पीका कल्प दूसरा है अतः इन दोनोंके कार्य्य एक समान नहीं हो सकते। जो नमिराजके उदाहरणसे जीव रक्षा करनेमें पाप कहते हैं उनसे कहना चाहिए कि प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नहीं करते धर्मोपदेश नहीं देते आहार व पानी लाकर किसी साधुका व्यावच नहीं करते इसलिए तुम्हारे हिसावसे स्थविर कल्पी साधुको भी ये कार्य्य नहीं करने चाहिए और जो स्थविर कल्पी इन कार्य्योंको करे उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि कहो कि प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा और स्थविर कल्पीका दूसरा है इसलिये इन कार्य्योंसे प्रत्येक बुद्धको ही दोष आता है स्थविर कल्पीको नहीं आता तो उसी तरह जीवरक्षाके विषयमें भी तुझको मानना चाहिए अर्थात् जीवरक्षा करनेमें स्थविर कल्पीको धर्म होता है और उसका यह कल्प है परन्तु प्रत्येक बुद्धका यह कल्प नहीं है। अतः प्रत्येक बुद्ध साधुका उदाहरण देकर स्थविरकल्पी साधुको जीव-रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रने नमिराज ऋषिसे यह नहीं पूछा था कि मरते जीवकी रक्षा करना धर्म है या पाप है? यदि वह ऐसा पूछते और इसके उत्तरमें नमि-राज ऋषि जीव रक्षा करना पाप बतलाते तो अवश्य जीवरक्षा करनेमें पाप माना जाता परन्तु वहां तो इन्द्रने माया करके नमिराज ऋषिकी संसारिक पदार्थोंमें आसक्ति न होनेकी परीक्षा की है और नमिराज ऋषिने यह स्पष्ट कह दिया है कि "मिहिलाए डज्झमाणीए नमे डज्झइ किंचणं" अर्थात् मिथिलाके जलजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता। ऐसा उत्तर देकर नमिराज ऋषिने संसासारिक पदार्थोंसे अपना ममत्व हट जाना बतलाया है परन्तु मरते जीवको रक्षा करनेमें पाप नहीं कहा है क्योंकि इन्द्रका यह प्रश्न ही नहीं था अतः नमिराज ऋषिके उदाहरणसे जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख-कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—"अथ अठे पिण कह्यो देवता मनुष्य तिर्य्यञ्च माहोमाही कलह करे तो हार जीत वाञ्छणी नही तो कायाथी हार जीत किम करावणी असंयति ना शरीरनी साता करेते तो सावद्य छै" (भ्र० पृष्ठ १४६) इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहना एकान्त मिथ्या है। यह बात इस गाथासे किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध होती, देखिये वह गाथा यह है:—

"देवाणं मणुयाणञ्च तिरियाणंच वुग्गहे
अमुयाणं जयो होउ मावा होउत्तिणोवए,,

(दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५०)

अर्थः—

देवता, मनुष्य और तिर्य्यञ्चोंके परस्पर युद्ध होने पर अमुककी जीत हो और अमुककी जीत न हो यह साधुको नहीं कहना चाहिये।

यहां देवता मनुष्य और तिर्य्यञ्चोंके युद्ध होने पर किसी एक पक्षकी हार या जीत कहनेका निषेध किया गया है क्योंकि साधुको मध्यस्थ भाव रखना ही शास्त्र सम्मत है किसी एक पक्षका श्रेय और दूसरे पक्षका अहित चाहना उचित नहीं है इस लिये दो दलोंमें युद्ध होने पर एक दलकी जीत और दूसरे दलको हार होनेकी बात कहना साधुको उचित नहीं है। ऐसे समयमें, जब कि दोनों दल वाले लड़ रहे हों साधु समझा बुझा कर युद्ध बन्द करादे और युद्धमें मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा करे तो उसका इस गाथामें निषेध नहीं है एक दलके पक्षपात करनेका और दूसरे पर द्वेष करने का यहां निषेध है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान का परिणाम है।

इसी गाथाका नाम लेकर जीतमलजी कहते हैं कि "बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है, तथा बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना है" परन्तु यह इनका अज्ञान है। बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहेकी रक्षा करना चूहेकी अनुकम्पा करना है अनुकम्पा करना पाप नहीं किंतु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्लीको यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो दयालु पुरुष, कुत्ते से उस बिल्लीकी भी रक्षा करता है यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता ?

इसके सिवाय बिल्लीसे चूहेकी रक्षा करना बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना नही है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्धमें होता है परन्तु चूहेके साथ बिल्लीका

कोई युद्ध नहीं होता क्योंकि जहां दोनों ही विजयकी इच्छासे दोनों पर आक्रमण करें वही युद्ध है चूहा तो बिल्लीसे डर कर भयभीत होकर आप ही भागा फिरता है वह युद्ध करनेके लिये बिल्लीके सम्मुख नहीं जाता इसलिये वह युद्ध नहीं है किन्तु बलवान् हिंसक प्राणीके द्वारा वहां दुर्बल और कायर प्राणीकी हिंसा हो रही है उसे युद्ध कायम करके चूहे की प्राणरक्षा करनेसे चूहेकी जीत और बिल्लीकी हार बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

बोल १८ वां समाप्त

(प्रेरक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ को लिख कर उसकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसनकार पृष्ठ १४६ पर लिखते हैं:—

"अथ अठे कह्यो—वायरो, वर्षा, शीत, तावडो, राजविरोध रहित सुभिक्षपणो, उपद्रव रहित पणो, ए सात बोल हुवो इम साधुने कहिणो नहीं तो करणो किम उंदुरादिकने मिनकियादिकथी छुड़ायने उपद्रव पणो रहित करे ते सूत्र विरुद्ध कार्य्य छै (भ्र० पृ० १४६ । १४७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ में साधुको अपनी पीड़ाकी निवृत्तिके लिये उक्त सात बातोंकी प्रार्थना करना वर्जित किया गया है क्योंकि आर्तध्यान करना साधुको उचित नहीं है और यह आर्तध्यान है परन्तु असंयति जीवकी प्राणरक्षा होनेके भयसे उक्त सात बातोंकी प्रार्थनाका निषेध यहां नहीं किया गया है। देखिये वह गाथा और उसकी टीका ये है:—

"वाओ विट्ठिं च सीउण्हं खेमं धायं सिवंतिवा। कयाणुहुज्ज एयाणि मावाहोऊत्ति णोवए"

(दशवैकालिक अ० ७ गाथा ५१)

इसकी दीपिका टीका:—

"पुनः किञ्च धर्मादिनाऽभिभूतोयतिरेवंनोवदेदधिकरणादिदोषप्रसंगात् । वातादिषु सत्सु सत्त्व पीडा प्राप्तेः । तद्वचनतस्तथाऽभवनेऽप्यार्तध्यान भावादित्येवं नो वदेत् । तत्कि—वातो मलय मारुतादिः वृष्टंवा वर्षणं शीतोष्णं प्रतीतं क्षेमं राज

विज्वर शून्यं पुनः प्रातं सुभिक्षं शिवमितिवा उपसर्ग रहितं कदानु भवेयुरेतानि वाता-दीनि मावा भवेयुरिति"।

अर्थः—

घाम (गर्मी) आदिसे पीड़ित होकर साधु इन बातोंको न कहे क्योंकि इसमें अधिकरणादि दोष होता है। वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है। यद्यपि साधुके कहने से वायु आदि नहीं चलते तथापि साधुको आर्तध्यान करना उचित नहीं है इसलिये वह इन बातों को नहीं कहे वे बातें ये हैं:—(१) मलय मारुत आदि (२) वर्षा (३) शीत (४) उष्ण (५) राज-रोग दूर होना (६) सुभिक्ष होना (७) उपसर्ग रहित होना। इन सात बातोंके होने या नहीं होनेकी बात साधुको नहीं कहनी चाहिये। यह उक्त गाथाका दीपिकानुसार अर्थ है।

इसमें अपनी पीडाकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना करनेका निषेध किया है परन्तु असंयति प्राणियोंकी रक्षाको पाप मान कर उसकी निवृत्तिके लिये नहीं इस लिये इस गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना मिथ्या है। इस गाथाकी टीकामें लिखा है:—

"एतानि वातादीनि मावा भवेयुरिति घर्माद्यभिभूतो नो वदेद् अधिकरणादि दोष-प्रसंगात्। वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडा प्राप्तेः। तद्वचनत स्तथाऽभवनेऽप्यार्त ध्यान भावा-दिति सूत्रार्थः।

अर्थात् वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीड़ा होती है इसलिये घाम (गर्मी) आदिसे पीड़ित होकर साधु वायु आदि सात बातोंके होने वा न होनेकी प्रार्थना नहीं करे क्योंकि इसमें अधिकरण आदि दोषोंका प्रसङ्ग होता है। यद्यपि साधुके कहनेसे ये सात बातें नहीं हो जातीं तथापि आर्तध्यान करना साधुको उचित नहीं है इसलिये वह इन सात बातोंको न कहे।

यहां गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यही कहा है कि "अपनी पीड़ाकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये परन्तु प्राणियोंकी रक्षाको पाप जान कर उसकी निवृत्तिके लिये इन सात बातों की प्रार्थना का निषेध नहीं किया है। टीकाकारने यह भी लिखा है कि "वायु आदिके चलने पर प्राणि-योंको पीड़ा होती है" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको पीड़ा न हो इसलिये घाम आदिसे स्वयं पीड़ा पाते हुए भी साधु वायु आदि सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करते। यहां जीवोंकी रक्षा नहीं वर्जित की गयी है प्रत्युत जीवों की पीड़ा वर्जित की गयी है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षामें पाप सिद्ध करना अज्ञान का परि-णाम है।

वस्तुतः इस गाथामें वर्जित की हुई सात बातें सम्पूर्ण रूपसे जिन कल्पीके लिये, और अपनी कल्प मर्य्यादानुसार कई बातें स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये । ये सात ही बातें स्थविर कल्पीके लिये वर्जित नहीं हैं क्योंकि स्थविर कल्पी साधु रोगी साधुको रोग निवृत्त्यर्थ औषध आदि भी देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको जल से बाहर निकाल कर उसका उपसर्ग भी दूर करते हैं तथा उपदेश देकर जनताके उपद्रव और उपसर्गको निवृत्त करते हैं साक्षात् भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावर प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश दिया करते थे। सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४ में लिखा है क "समिच्च लोगं तसथावराणं खेमंकरे समणे माहणेवा" अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी, त्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश देते थे। यदि दशवैकालिक सूत्र की उक्त गाथानुसार साधुको क्षेम की प्रार्थना करना बुरा होता तो भगवान् त्रस और स्थावरका क्षेम करनेके लिये उपदेश क्यों देते ? अतः दशवैकालिक सूत्रकी उक्तगाथामें जो सात बातें वर्जित कीहैं वे सम्पूणरूपसे जिन कल्पीके लिये और कई बातें स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये । अतएव इस गाथामें उपसर्ग दूर करने और रोग निवृत्ति करनेकी प्रार्थना वर्जित होने पर भी स्थविर कल्पी साधु रोगी साधु की रोग निवृत्तिके लिये औषध आदि देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको निकाल कर उसका उपसर्ग दूर करते हैं। अतः उक्त गाथामें कही हुई सात ही बातोंको स्थविर कल्पीके लिए भी बतलाना मिथ्या है।

इस गाथामें आये हुए "क्षेम" शब्दका टीकाकारने "राज विज्वर शून्यम्" ऐसा अर्थ किया है यानी राज रोगका अभाव होना "क्षेम" है परन्तु जीतमलजीने "राजविज्वर शून्यम्" का अर्थ नहीं समझा है अतएव उन्होंने लिखा है कि "राजादिकना कलह रहित हुवे ते क्षेम" यह अर्थ मिथ्या है अतः किसी प्राणीको उपद्रव रहित करनेमें पाप बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । स्वयं भ्रमविध्वंसनकारने भी दूसरी जगह पर उपसर्ग निवारण करना साधुका कर्त्तव्य बतलाया है। उन्होने भ्र० वि० पृ० १४९ पर लिखा है कि "धर्मनी चोयणा करीने परने उपदेशे जिम अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग कर्त्तांने वारे" इस लेखमें जीतमलजीने उपसर्ग निवारण करना साफ साफ साधुका कर्त्तव्य माना है तथापि दुराग्रहमें पड़ कर अपने कथनसे ही विरुद्ध यहां उन्होंने उपसर्ग निवारण करनेको दोष बतलाया है इस प्रकार अपने कथनसे ही विरुद्ध बोलने वालेकी बातमें आकर सच्चे धर्मका तिरस्कार करना बुद्धिमान् पुरुषोंका कार्य्य नहीं है।

(बोल १९ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ की चौभङ्गी लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे पिण कह्यो—जे साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न करे तो जे परजीव ऊपर पग न देवे ते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमा छै ते किम् एहने मार्यां मोने इज पाप लागसी इम जाणी नहणे ते भणी पोतानी अनुकम्पा कही छै। अने आपने पाप लगायने आगलानी अनुकम्पा करे ते सावद्य छै" (भ्र० वि० पृ० १४८)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके चौथे ठाणेकी चैभौङ्गीमें मरते जीवकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका परम कर्त्तव्य वतलाया है परन्तु अपनी पोल छिपानेके लिए भ्र० वि० कारने इसका साफ साफ भावार्थ नहीं लिखा है। ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ यह है :—

"चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तं जहा—
आयानु कम्पए नाम मेगे णो परानु कम्पए"।

इसकी टीका—

आत्मानुकम्पकः आत्म हित प्रवृत्तः प्रत्येक वुद्धो जिन कल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृणः। परानु कम्पकः निष्ठितार्थतया तीर्थंकरः अत्मानपेक्षोवा दयैकरसो मेताय्र्यंवत्। उभयानुकम्पकः स्थविरकल्पिकः। उभयाननुकम्पकः पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।"

अर्थात्—चार प्रकारके पुरुष होते हैं। (१) अपनी ही अनुकम्पा करते हैं परन्तु दूसरेकी नहीं करते, ऐसे तीन पुरुष होते हैं—प्रत्येक वुद्ध, जिन कल्पी और दूसरे की अपेक्षा नहीं करनेवाला निर्दय पुरुष। ये तीनों अपने ही हितमें तत्पर रहते हैं दूसरेका हित नहीं करते। (२) जो दूसरेकी अनुकम्पा करता है अपनी अनुकम्पा नहीं करता वह दूसरा भङ्गका स्वामी है, ऐसा पुरुष या तो तीर्थंकर होते हैं अथवा अपनी परवाह नहीं रखनेवाला मेतार्य्यकी तरह परम दयालु पुरुष होता है। (३) जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है वह तीसरा भङ्गका स्वामी है। ऐसा पुरुष स्थविर कल्पी साधु होता है। स्थविर कल्पी साधु अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है। (४) जो अपनी भी अनुकम्पा नहीं करता और दूसरे की भी नहीं करता वह पुरुष

चौथा भङ्गका स्वामी है। ऐसा पुरुष काल शौकरिकादिकी तरह अतिशय पापी होता है। यह उक्त चौभङ्गीका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें कहा है कि स्थविर कल्पी साधु उभयानुकम्पी है वह अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है अतः मरते प्राणीकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका धार्मिक कर्त्तव्य सिद्ध होता है। जो स्थविर कल्पी साधु कहलाकर दूसरे जीवकी रक्षा नहीं करता वह उक्त पाठानुसार अपने कर्त्तव्यसे पतित होता है। जिन कल्पी और प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनुकम्पा नहीं करते किन्तु अपने हितमें ही प्रवृत्त रहते हैं इसलिए वे प्रथम भङ्गके स्वामी कहे गए हैं उनकी तरह जो दूसरे जीवकी अनुकम्पा नहीं करता है वह पुरुष यदि जिनकल्पी और प्रत्येक बुद्ध नहीं है तो उसे प्रथम भङ्गका तीसरा स्वामी निर्दय समझना चाहिए।

भ्र० वि० कारने भ्र० वि० पृष्ठ १४७ पर इस चौभङ्गीके पहला भङ्गका अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"जे पोताना हितने विषै प्रवर्तें ते प्रत्येक बुद्ध अथवा जिन कल्पिक अथवा परोपकार बुद्धि रहित निर्दय पारका हितने विषे न प्रवर्तें"। इनके अपने लेखसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जो जिन कल्पिक और प्रत्येक बुद्धसे भिन्न पुरुष, दूसरे प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) नहीं करता वह दयाहीन पुरुष है, साधु नहीं है। उस निर्दय को साधु समझना भ्रम है।

इस पाठकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसन कारने सभी प्रकारके कल्पवाले साधुओंको इस चौभङ्गीके प्रथम भङ्गमें ही रक्खा है उन्होंने लिखा है कि "अथअठे पिण कह्यो साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न करे तो जे पर जीव ऊपर पग न देवेते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमाछे" यह मिथ्या है। स्थविर कल्पी साधु दूसरेकी भी अनुकम्पा करते हैं। स्वयं भ्र० वि० कारने भी लिखा है—"तीजे बेहूनें हित वाञ्छे ते स्थविर कल्पी" इनके इस लेखसे भी स्थविर कल्पीका दूसरेकी अनुकम्पा करना सिद्ध होती है।

अब प्रश्न यह है कि दूसरे जीवपर पैर नहीं रखना तो निश्चय नयसे अपनी ही अनुकम्पा है दूसरेकी नहीं है फिर स्थविर कल्पी दूसरेकी क्या अनुकम्पा करता है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि स्थविर कल्पी दूसरे मरते हुए जीवकी जो प्राण रक्षा करता है यह दूसरेकी अनुकम्पा है और स्वयं किसी जीवको वह नहीं मारता यह निश्चय नयसे उसकी अपनी अनुकम्पा है अतः उक्त पाठका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका फल समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि स्थविर कल्पी साधु दूसरेको धर्मोपदेश देते हैं यह तो उनकी दूसरेपर अनुकम्पा करना है और वह स्वयं किसी जीवको नहीं मारते यह निश्चय नयके अनुसार अपनी अनुकम्पा है परन्तु मरते जीवकी रक्षा करना दूसरेकी अनुकम्पा नहीं है तो यह मिथ्या है। तीर्थंकर भी धर्मोपदेश देते हैं और वह स्वयं किसी जीवको मारते भी नहीं हैं फिर तो वह भी तीसरे भङ्गका स्वामी उभयानुकम्पक ही ठहरेंगे दूसरे भङ्गका स्वामी परानुकम्पक मात्र नहीं इसलिए दूसरे जीवकी रक्षा करना ही यहां परानुकम्पा कही गई है इस प्रकार जो जीव अपनी रक्षाके ऊपर ध्यान न देकर दूसरे जीवकी ही रक्षा करता है वह दूसरे भङ्गका स्वामी है। ऐसे पुरुष तीर्थंकर और मेतार्य्य ऋषिकी तरह परम दयालु पुरुष होते हैं। जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है वह तीसरा भङ्गका स्वामो स्थविर कल्पी है। जो अपनी और दूसरेकी किसी की भी रक्षा नहीं करता वह चतुर्थ भङ्गका स्वामी काल शौकारिकादिकी तरह पापात्मा पुरुष है। जो केवल अपनी ही रक्षा करता है, दूसरेकी नहीं करता वह प्रथम भङ्गका स्वामी है। इस प्रकार इस चतुर्भंगीसे मरते जीवकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधु का कर्त्तव्य सिद्ध होता है। जो किसी प्राणीकी स्वयं भी रक्षा नहीं करता और दूसरे को भी रक्षा करनेमें पापका उपदेश देता है वह इस पाठसे परोपकार बुद्धि रहित निर्दय सिद्ध होता है। मेघकुमारके जीवने हाथीके भवमें अपनी रक्षाका ख्याल नहीं रख कर दूसरेकी रक्षाकी थी और धर्मरुचि अनगारने भी अपनी रक्षाकी परवाह नहीं करके दूसरे की रक्षा करना ही अपना कर्त्तव्य समझा था इसलिए वे लोग इस चतुर्भङ्गीके दूसरे भङ्ग के स्वामी थे अतः इस चतुर्भंगीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ पर उत्तराध्यन सूत्रकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे पिण कह्यो-समुद्र पाली चोरने मरतो देखि वैराग्य आणी चारित्र लीधो पिण गर्थ देई छुड़ायो नहीं" (भ्र० पृ० १४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

समुद्रपालीका उदाहरण देकर जीव रक्षामें पाप बताना अज्ञान है। राजा, चोर का विक्रय नहीं करता था और उसने द्रव्य लेकर चोरको छोड़नेकी घोषणा नहीं कराई

थी फिर समुद्रपाली द्रव्य देकर उस चोरको कैसे छुड़ा सकता था।" वध दण्डके योग्य अपराधी प्राणीको द्रव्य लेकर न्यायकारी राजा छोड़ता भी नहीं है यह जगत्में प्रसिद्ध है कि बध दण्डके लिए आज्ञा पाया- हुआ अपराधी, द्रव्य देकर भी नहीं छुड़ाया जा सकता ऐसी दशामें समुद्रपाली किसी प्रकार भी उस चोरको नहीं छुड़ा सकता था अतः समुद्रपालीका उदाहरण देकर हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप कहना नितान्त मिथ्या समझना चाहिए।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ पर लिखते हैं "परिग्रह तो पाच मों पाप कह्यो छे। जो परिग्रह देई छुड़ायां धर्म हुवे तो बाकी चार आस्रव सेवायने जीव छुड़ायां पिण धर्म कहिणो पिण इण धर्म निपजे नहीं" इनके आचार्यने इस विषयमें यह लिखा है :—

"दोय वेश्या कसाई वाडे गई। करता देखी हो जीवांरा संहार। दोनों जणियां मतो करी। मरता राख्या हो जीव दोय हजार।

एक गहणो देई आपणो। तिण छोडायो हो जीव एक हजार। दूजी छुड़ाया इण विधे एक दोयसे हो चौथे आस्रव सेवाय।

(अनुकम्पाकी ढाल ७)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी हिंसकको द्रव्य देकर जीव छुड़ाना, या उससे व्यभिचार कराकर जीव छुड़ाना दोनों ही एक समान एकान्त पापके कार्य्य हैं अतः हिंसकको द्रव्य देकर उसके हाथसे मारे जाते हुए जीवकी रक्षा करना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जीव रक्षा आदि परोपकारके कार्य्यमें अपने द्रव्यको लगाना, अपने धनमें लोभ और तृष्णाके न्यून करनेका फल है। अपने धनमें जिसकी तृष्णा और लोभ न्यून होता है वही पुरुष परोपकारार्थ अपने द्रव्यका व्यय करता है परन्तु जिसकी तृष्णा और लोभ तीव्र होते हैं वह नहीं कर सकता। जीव रक्षा आदि परोपकारके लिए अपने धनका व्यय करनेवाला पुरुष अपने लोभ और मोहको न्यून करता है तथा इसके साथ वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा भी करता है अतः यह पुरुष धार्मिक है एकान्त पापी नहीं है। परिग्रहसे अपनी ममता उतरना और जीव रक्षा करना ये दोनों ही बातें महान् धर्मके कारण हैं अतः इन दोनोंको एकान्त पाप बतांना जीतमलजी और भीषणजीका अज्ञान है।

द्रव्य देकर जीव छुड़ानेको एकान्त पाप सिद्ध करनेके लिए, व्यभिचार कराकर जीव छुड़ानेवाली वेश्याका दृष्टान्त देना भी भीषणजीका अज्ञान है। परोपकारार्थ अपने धनका खर्च करना, धनसे अपनी मोह तृष्णा और ममताको घटाना है और व्यभिचार सेवन करना, अपना मोह और तृष्णाको बढ़ाना है इसलिए ये दोनों बातें प्रकाश और अन्धकारकी तरह परस्पर एक दूसरेसे बिलकुल विपरीत हैं इन्हें एक समान मान कर परोपकारार्थ धन देनेवाले और व्यभिचार कराकर जीव रक्षा करनेवाले इन दोनोंको एक समान पापी बताना भीषणजीका अज्ञान है।

इस विषयको साफ करनेके लिए भीषणजीके दिये हुए दृष्टान्तके समान ही एक दृष्टान्त दिया जाता है।

मान लीजिए कि भीषणजीके पाटानुपाटपर बैठे हुए पूज्यजीका दर्शन करनेके के लिए दो गरीब स्त्रियां दूर देशसे आईं, उनसे पूज्यजीने पूछा कि "तुम लोगोंने इतने दूर स्थान पर आनेके लिये द्रव्य आदि किस प्रकार प्राप्त किये हैं।" यह सुन कर एकने उत्तर दिया कि "मैंने अपने जेवरों को बेंच कर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया है" दूसरीने कहा कि "मैं ने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है और उस द्रव्यसे आप के पास आई हूं।" वहां कोई मध्यस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक बैठा हुआ था उसने पूज्यजीसे पूछा कि "इन दोनों स्त्रियोंमेंसे कौनसी धार्मिक और कौन पापिनी है?" इसके उत्तरमें भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी पूज्यजी यह तो नहीं कह सकते कि "ये दोनों स्त्रियां एक समान ही धार्मिक हैं" किन्तु लाचार होकर उन्हें कहना ही पड़ेगा कि "जिसने जेवर बेंच कर दर्शनका लाभ किया है वह स्त्री धार्मिक है और जिसने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह धर्मको लज्जित करने वाली दुराचारिणी है साधुके दर्शनसे उत्पन्न होने वाला धर्म उसे नहीं हो सकता। ऐसी दुष्टा स्त्रियोंका साधु दर्शन का नाम लेना दम्भ है।"

यह सुन कर प्रश्नकर्ताने कहा कि "एकने तो पांचवें आस्रवका सेवन किया है और दूसरीने चौथे आस्रवका सेवन किया है फिर इन दोनोंको आप एक समान ही क्यों नहीं मानते? जिसने पांचवें आस्रवका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ किया है उसे धार्मिक और चौथे आस्रवका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ उठाने वालीको आप पापिनी क्यों कहते हैं?"

इसके उत्तरमें उनके पूज्यजीको यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु दर्शनार्थ अपना जेवर बेंचा है उसने श्रृङ्गार और द्रव्यसे अपना ममत्व हटाया है और गहना बेंचनेसे उसके चारित्रमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हुई है। अतः वह धार्मिक है। परन्तु

जिसने व्यभिचार करके द्रव्य संग्रह किया है उसने अपने मोह ममताको बढाया है तथा अपने चारित्रको नष्ट किया है इसलिये वह विषयानुरागिणी है धर्मानुरागिणी नहीं है। यह सुन कर उक्त श्रावकने कहा कि "जिस प्रकार आपके दर्शनार्थ आई हुई इन दोनों स्त्रियोंमेंसे गहना बेंच कर साधु दर्शनका लाभ उठाने वालीको धार्मिक और व्यभिचार करा कर दर्शनका लाभ करने वालीको आप पापिनी कहते हैं, उसी तरह अपना जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्रीको धार्मिक और व्यभिचार करा कर जीवरक्षा करने वालीको आप पापिनी क्यों नहीं कहते ? जिसने अपना जेवर देकर जीवरक्षा की है उसने अपने जेवरसे प्रेम उतार कर किसी सन्त महात्माके सत्सङ्गसे दयामें चित्त लगाया है और बुरे कार्य्यसे निवृत्त हो कर जीवरक्षा जैसे उत्तम कार्य्य का सेवन किया है अतः वह धार्मिक स्त्री है। और जिसने जीवरक्षाके बहानेसे व्यभिचारका सेवन किया है वह साधु दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्रीके समान ही दुरात्मा है। परन्तु आप लोग साधु दर्शनार्थ आई हुई उक्त दोनों स्त्रियोंमें तो झट भेद बतला देते हैं और जीव रक्षाके विषयमें उक्त दोनों स्त्रियोंको एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका कारण क्या है ? यह तो आपका एक दुराग्रह है।

जब कि साधु दर्शनार्थ अपने जेवरसे प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक हो सकती है तो जीवरक्षार्थ अपने जेवरका प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक क्यों नहीं हो सकती ? अतः द्रव्य दान देकर जीव रक्षा करने वाली स्त्रीको पापिनी कहना पापियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४९ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १३ बोल २७ का नाम लेकर लिखते हैं:—

"अथ अठे गृहस्थ तथा अन्य तीर्थीने मार्ग भूलाने दुःखी अत्यन्त देखि मार्ग बतायां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो ते मांटे असंयतिरी सुख साता वाञ्छया धर्म नहीं"
(भ्र० पृ० १४९)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है:—

"जे भिक्खू अन्नउत्थियाणंवा गारत्थियाणं णट्ठाणं मुढाणं विप्परियासियाणं मग्गंवा पवेदेइ संधिं पवेदेइ संधिउवा मग्गं पवेदेइ पवेदंतंवा साइज्जइ"

(निशीथ सूत्र उ० १३। बोल २७)

अर्थ :—

जो साधु, मार्ग भ्रष्ट या दिङ्मूढ़ तथा विपरीत मार्गसे जाते हुए गृहस्थ या अन्य यूथिक को मार्ग, या मार्गकी संधि बतलाता है अथवा संधिसे मार्ग या मार्गसे संधि बतलाता है तथा बतलाते हुए को जो अच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है। यह इस पाठ का मूलार्थ है।

यहां यह प्रश्न होता है कि अन्य यूथिक और गृहस्थको मार्ग या उसकी संधि साधु द्वारा नहीं बतलानेका क्या कारण है? तो इसका उत्तर देते हुए चूर्णीकार इस पाठ की चूर्णीमें बतलाते हैं कि—

मुनिसे बताये हुए मार्गसे जाते हुए गृहस्थ या अन्य यूथिकको कदाचित् कोई चोर लूट ले, सिंहादि जङ्गली जानवर उन्हें दुःख दे, और उस उपसर्गसे कदाचित् उन का प्राण छूट जाय, अथवा वे ही कदाचित् मृगादि पशुओं का हनन करें, इस लिये दयावान् मुनि अन्य यूथिक और गृहस्थको मार्ग नहीं बतलाते। वह चूर्णी यह है:—

"तेण पहेण गच्छंताणं सावयोवद्दवं सरीरोवहि तेणोवद्दवं पावेंति जंवा ते गच्छंता अन्नेसिं उवद्दवं करेंति।"

अर्थात् साधुके बताये हुए मार्गसे जाते हुए अन्य यूथिक और गृहस्थको कदाचित् जङ्गली जानवरोंसे उपद्रव हो अथवा चोरोंसे वे लुट लिये जायं या वे ही किसी जीव पर उपद्रव कर बैठें अतः साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को मार्ग नहीं बतलाते। यह ऊपर लिखी हुई चूर्णीका अर्थ है।

यहां चूर्णीकारने स्पष्ट लिखा है कि अन्य यूथिक और गृहस्थ पर होने वाले या उनके द्वारा दूसरे पर किये जाने वाले उपद्रवकी संभावनासे साधु मार्ग नहीं बतलाते परन्तु जीवरक्षाको या दुःखसे बचानेको बुरा जान कर नहीं अतः निशीथ सूत्रके इस पाठका नाम लेकर जीवरक्षामें पाप कहना अज्ञान मूलक है।

इसी पाठका नाम लेकर भीषणजीने अनुकम्पाको सावद्य बतलाया है। अनुकम्पा की ढालमें उन्होंने लिखा है:—

"गृहस्थ भूलो ऊजड़ वनमें। अटवीने वले ऊजड जावे। अनुकम्पा आणी साधु मार्ग बतावे। तो चार महीना रो चारित्र जावे। आ अणुकम्पा सावज्ज जाणो"

यह भीषणजीकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है शास्त्रमें कहीं भी अनुकम्पा को सावद्य नहीं कहा है और इस पाठकी चूर्णीमें भी रास्ता नहीं बतानेका कारण अनुकम्पा का सावद्य होना नहीं लिखा है प्रत्युत भावी उपद्रवकी आशङ्कासे रास्ता बतानेका निषेध करके अनुकम्पाका समर्थन किया है अतः असंयतिकी प्राणरक्षाको पाप और अनुकम्पा को सावद्य बताना इनका अज्ञान है।

यदि इनसे पूछा जाय कि कोई मनुष्यका झुण्ड आपके पूज्यजीके दर्शनार्थ ग्रामान्तरको जाना चाहे और वह आपसे मार्ग पूछे तो आप बतला सकते हैं या नहीं ? यदि कहें कि हम नहीं बतला सकते तो पूछना चाहिये कि क्या आपके पूज्यजीका दर्शन सावद्य है ? नहीं तो आप दर्शनार्थ जाने वालेको मार्ग क्यों नहीं बतलाते हैं ? यदि वह कहें कि "पूज्यजीका दर्शन तो सावद्य नहीं है परन्तु रास्ता बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिये हम रास्ता नहीं बतलाते" तो सिद्ध हुआ कि जैसे आपके पूज्यजीका दर्शन सावद्य नहीं है तथापि रास्ता बताना कल्पमें न होनेसे आप रास्ता नहीं बताते उसी तरह किसी प्राणीका दुःख दूर करना, अथवा अनुकम्पा करना सावद्य नहीं है परन्तु रास्ता बताना साधुका कल्प न होनेसे साधु रास्ता नहीं बतलाते। यदि वह कहें कि पूज्यजीके दर्शनार्थ जाने वालेको निरवद्य भाषासे रास्ता बतानेमें कोई दोष नहीं है तो उसी तरह प्राणियों के कष्ट निवरणार्थ निरवद्य भाषासे रास्ता बता देनेमें भी दोष नहीं मानना चाहिये।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसकसनकार भ्रम० पृ० १४९ पर ठाणांग सूत्र ठांणा ३ का मूल पाठ लिखकर उसकी समाचोलना करते हुए लिखते हैं:—"अथ अठे पिण कह्यो हिंसादिक अकार्य्य करता देखि धर्म उपदेश देई समझावणो तथा अनवोल्यो रहे तथा उठि एकान्त जावणो कह्यो पिण जवरीसू छुड़ावनो न कह्यो तो रजोहरणथी मिनकीने डरायने उंदुराने खंचावे त्यांने आत्मरक्षक किम कहिए"

(भ्र० वि० पृ० १४९) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देशा ४ के पाठका नाम लेकर जीवरक्षाका निषेध करना मिथ्या है उस पाठमें मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका निषेध नहीं है। देखिये वह पाठ और उसकी टीका ये हैं:—

"तओ आयरक्खा पन्नत्ता तंजहा—धम्मियाए पडिचोयणाए भवइ तुसिणीए वासिया उवित्तावा आया एगंत मवक्कमेज्जा"

(ठणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४)

टीका

"आत्मानं रागद्वेषा दे रकृत्या द्भव कूपा द्वारक्षन्तीति आत्मरक्षाः। "धम्मियाए पडिचोयणा" ए त्ति धार्मिकोपदेशेन नेदं भवादृशा मुचित मित्यादिना प्रेरयिता उपदेष्टा भवति अनुकूलेतरोपसर्ग कारिणः। ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्तते ततोऽकृत्या सेवा न भवती त्यात्मा रक्षितो भवति। तुष्णीकोवा वार्चयम उपेक्षकः स्यादिति प्रेरणाया अविपये उपेक्षणा सामर्थ्येच ततः स्थानादुत्थाय आत्मना एकान्तं विजनम् अन्यं भूमिभाग मवक्रामेद् गच्छेत्"।

अर्थः—

जो पुरुष रागद्वेषसे, अनुचित आचरणसे, तथा भवकूपसे अपनी आत्माकी रक्षा करता है वह आत्मरक्षक कहलाता है। उस आत्मरक्षक पुरुषके पास आकर यदि कोई अनुकूल उपसर्ग करे तो धर्मोपदेश देकर समझाना चाहिये। कहना चाहिये कि—"आप जैसे पुरुषको यह आचरण करने योग्य नहीं है" इस उपदेशको सुनकर यदि वह उपसर्ग करनेवाला उपसर्ग करना बन्द कर दे तो साधुसे अकार्य्यकी सेवा नहीं होतो किन्तु साधुकी आत्मा अकृत्य आचरणसे बंच जाती है। अथवा चुप रहकर साधु उस उपसर्गका सहन करलेवे तो इस प्रकार भी अनुचित आचरणसे उसकी आत्मा रक्षित होती है। यदि उपसर्ग करनेवाला धर्मोपदेश देने योग्य न हो और साधुसे उपसर्ग भी न सहा जा सके तो वहांसे हटकर किसी एकान्त स्थानमें साधुको चला जाना चाहिये। इसप्रकार अनुचित आचरणसे साधुको अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिये।

(यह उक्त मूलपाठका टीकानुसार अर्थ है)

यहां अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करनेवालेके प्रति रागद्वेष और अकृत्य आचरणसे बंचनेके लिये आत्म रक्षक पुरुषको तीन उपाय बताये हैं (१) धर्मोपदेश देना (२) उपसर्गको सह लेना (३) वहांसे हटकर एकान्तमें चला जाना। इसमें हिंसक द्वारा मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करने, या उसके लिये धर्मोपदेश देनेका निषेध नहीं किया है अतः इस पाठका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप बतलाना एकान्त मिथ्या है।

इस पाठकी समालोचनामें जीतमलजीने लिखा है कि "पिण जबरी सूं छुडावणो न कह्यो" इस लेखसे प्रतीत होता है कि जीतमलजी जबरजस्तीसे जीव

बंचानेमें पाप कहते हैं उपदेश देकर जीव बंचानेमें पाप नहीं कहते परन्तु यह बात भी मिथ्या है। यह उपदेश देकर भी जीवरक्षा करनेमें पापही कहते हैं। इनका मन्तव्य, इनके लेख और भीषणजीकी ढाल लिखकर विस्तारके साथ बतलाया जा चूका है इसलिए इनका यह लिखना कि "पिण जवरीसूं छोडावणो न कह्यो" जनताको धोखा देना है।

आगे चलकर जीतमलजीने लिखा है कि "रजोहरणथी मिनकीने डरायने ऊंदुराने बंचावे त्यांने आत्मरक्षक किम कहिए" इनकी यह बात भी असंगत है जो दयालु मनुष्य ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी प्राणरक्षा करता है वह कौनसा अनुचित कार्य्य करता है जिससे वह आत्मरक्षक नहीं कहा जाय? यदि कहो कि "किसी प्राणीको भय देना उचित नहीं है और वह बिल्लीको भय देकर चूहेकी रक्षा करता है इसलिये बिल्लीको भय देनेके कारण वह आत्मरक्षक नहीं है" तो जो साधु, मारनेकेलिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह आत्मरक्षक कैसे कहला सकता है? क्योंकि वह भी कुत्ते, गाय भैंसको ओघासे डराता है? इसलिये उसे भी आत्मरक्षक नहीं कहना चाहिए। यदि कहो कि जो साधु मारनेके लिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह कुछ भी अनुचित कार्य नहीं करता अतः वह आत्मरक्षक ही है तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दयालु पुरुष ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करता है वह भी अनुचित कार्य्य नहीं करता प्रत्युत बिल्लीको हिंसाके पापसे बचांता है और चूहेकी प्राणरक्षा करता है इसलिये वह अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है किसीकी भी हानिं नहीं करता इसलिये वह धार्मिक ही है पापी नहीं है अतः भ्रमविध्वंसनकारकी पूर्वोक्त बात भी मिथ्या है।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा ११ बोल १७० का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे पर जीवने बिहाव्यां बिहावताने अनुमोद्यां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो तो मिनकीने डरायने उंदुराने पोषणो किहांथी अने असंयतिना शरीरनी रक्षा किम करणी" (भ्र० पृ० १५१) इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रके मूलपाठमें किसी प्राणीको भय देनेसे साधुको चौमासी प्रायश्चित्त होना कहा है इसलिए ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करना पाप है तो काटनेके लिए आते हुए कुत्तेको और मारनेके लिए आती हुई गाय भैंसको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करनेमें भी पाप ही होना चाहिए। परन्तु भ्रम विध्वंसन कारके मतानुयायी साधु कुत्ते, गाय, भैंस आदि प्राणियोंको ओघासे डराकर अपनी रक्षा कर लेते हैं और इससे निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उल्लंघन भी नहीं मानते परन्तु ज्योंही बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेका प्रश्न आता है त्योंही झटपट निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उल्लंघन होने का कोलाहल मचाने लगते हैं यह इनका दूसरे जीवोंपर द्वेष करनेके सिवाय और कुछ नहीं है। जब कि ओघासे गाय भैंस और कुत्तेको डराकर अपनी रक्षा करनेमें निशीथ की आज्ञा उल्लंघन नहीं होती तब ओघासे बिल्लीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेमें निशीथ सूत्रकी आज्ञा उल्लंघन कैसे हो सकती है ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिए।

वास्तवमें, किसी जीवको संतानेके अभिप्रायसे भय देना पाप है और इसी पाप के लिए निशीथ सूत्रके मूलपाठमें प्रायश्चित्त कहा गया है। किसी जीवको पापसे बचाने, तथा आत्मरक्षा और पर रक्षा करनेके लिए नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना पाप नहीं है और उसके लिए निशीथ सूत्रमें प्रायश्चित्त भी नहीं कहा गया है क्योंकि किसी ना समझ प्राणीको भय दिखाकर जो पाप करनेसे हटाता है या आत्मरक्षा तथा पर रक्षा करता है उसका अभिप्राय उस नासमझ प्राणीको संतानेका नहीं किन्तु उसे पाप करनेसे हटानेका होता है इसलिए यह पाप नहीं कहा जा सकता यह तो उस प्राणी का कल्याण करना है फिर इसमें प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? यह हरएक बुद्धिमान समझ सकता है। अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

(बोल २४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १३ बोल १४ का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे गृहस्थनी रक्षा निमित्ते मंत्रादिक कियां अनुमोद्यां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो। तो जे उंदुरादिकनी रक्षा साधु किम करे। अने जो रक्षा कियां धर्म हुवे तो डाकिनी शाकिनी भूतादिक काढ़ना सर्पादिकना जहर उतारना औषधादिक करी

असंयतिने वंचवणा। अने जो एतला बोल न करणा तो असंयतिना शरीरनी रक्षा पिण नकरणी (भ्र० प० १५२) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सुत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है :—

"जे भिक्ख अण्णउत्थियंवा गारत्थियवा भुइकम्मं करेइ करतंवा साइज्जइ ।'

(निशीथ उ० १३ बोल १४)

अर्थ—

जो साधु गृहस्थ या अन्य यूथिकको भूति कर्म करता है अथवा भूति कम करनेवालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त होता है।

इस पाठमें साधुको भूति कर्म करनेका निषेध किया है किसी मरते प्राणोको अपनी कल्प मर्य्यादानुसार रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है किन्तु भ्रमविध्वंसनकारको चाहे जिस पाठमें जीवरक्षा करने का निषेध ही निषेध सूझ पड़ता हे निशीथ सूत्रमें यह भी पाठ आया है कि:—

"जेभिक्खू विज्जा पिण्डं भुंजइ भुंजंतंवा साइज्जई"
"जेभिक्खू मंत पिण्डं भुंजइ भुंजंतंवा साइज्जई"
"जेभिक्खू जोग पिण्डं भुंजइ भुंजंतंवा साइज्जई"

(निशीथ सूत्र)

अर्थः—

जो साधु विद्या वृत्ति से आहार पानी लेता है जो मन्त्र और योग वृत्ति से आहार पानी लेता है या लेने वाले साधु को अच्छा समझता है उसे प्रायश्चित्त होता है। यह इस पाठका मूलार्थ है।

इस पाठमें जैसे विद्या मंत्र और योग वृत्तिसे साधुको आहार पानी लेना वर्जित किया है अपनी कल्पमर्य्यादानुसार आहार लेना वर्जित नहीं किया है उसी तरह निशीथके पूर्वोक्त पाठमें भूति कर्म करनेका निषेध किया है अपनी कल्प मर्य्यादानुसार जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है यदि जीव रक्षा करनेसे प्रायश्चित्त बतलाना होता तो वह भूति कर्म करनेका नाम क्यों लेते ? क्योंकि केवल भूति कार्यसे ही रक्षा नहीं होती रक्षा करनेके अनेकों उपाय होते हैं इसलिए सामान्य रूपसे यही लिख देते कि—

"जे भिक्खू अन्न उत्थियंवा गारत्थियं वा रक्खइ रक्खंतं वा साइज्जइ"

ऐसा लिखनेपर जीवरक्षाका निषेध सरल रीतिसे हो जाता परन्तु ऐसा नहीं लिख कर शास्त्रकारने भूति कर्म करनेका निषेध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शास्त्रकारको भूतिकर्म करनेमें प्रायश्चित बतलाना है जीवरक्षा करनेमें नहीं।

जैसे किसी मनुष्यको प्रतिबोध देना पापका कार्य्य नहीं है तथापि यदि कोई साधु किसीको भूति कर्मके द्वारा प्रतिबोध देवे तो उसे अवश्य ही निशीथ सूत्रके इस पाठके अनुसार प्रायश्चित्त होगा परन्तु वह प्रायश्चित्त प्रतिबोध देनेका नहीं किन्तु भूति कर्म करनेका है उसी तरह जो भूतिकर्मके द्वारा किसीकी रक्षा करता है उसको भूति कर्म करनेका प्रायश्चित्त आता है जीवरक्षा करनेका नहीं क्योंकि जीवरक्षा करना दीक्षा देनेके समानही धर्म है पाप नहीं है।

इसी तरह डाकिनी, शाकिनी, और भूत आदि निकालना तथा सर्प आदिका जहर उतारना, और, औषध आदि बांटना साधुका कल्प नहीं है अतः इन कार्योंको साधु नहीं करते परन्तु मरते प्राणीकी अपने कल्पानुसार रक्षा करते हैं क्योंकि मरते प्राणीकी रक्षा करना प्रतिबोध देनेके समान ही एकान्त धर्मका कार्य है पाप नहीं है इसलिये विविध कुतर्कोंकी सहायतासे मरते प्राणीको प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना निर्दय जीवोंका काय्र्य समझना चाहिये।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १५२ से लेकर १५६ तक उपासक दशांग सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे पिण कह्यो चुलणी प्रिय श्रावकरा मुंहडा आगे देवता तीन पुत्रांना शूला किया पिण त्यांने बंचाया नहीं माताने बंचावा उठ्यो ते पोषा व्रत भांग्यो कह्यो ते उंदुरादिकने साधु किम बंचावे (भ्र० द० १५९ इसका क्या समाधान ?).

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारको सिद्धान्त है कि "हिंसकको हिंसाके पापसे बंचानेके लिये उपदेश देना चाहिये किन्तु मरते जीवकी रक्षाके लिए नहीं" अतः इनके मतानुसार यहां यह प्रश्न होता है कि "चुलणी प्रिय श्रावकने उसके सामने हिंसा करते हुए हिंसक पुरुषको हिंसाके पापसे बंचानेके लिए धर्मोपदेश क्यों नहीं दिया ?"

क्योंकि हिंसक प्राणीको हिंसा नहीं करनेके लिये उपदेश देना तो भ्रमविध्वंसनकारके मतमें भी धर्म ही है।

यदि कहो कि हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष बिलकुल असमर्थ और अयोग्य था इसे उपदेश देना निष्फल जानकर चुलनी पिताने उपदेश नहीं दिया था तो इसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि जीवरक्षाके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष असमर्थ और अयोग्य था इसे जीवरक्षाके लिए उपदेश देना निष्फल जानकर चुलनी पिताने उपदेश नहीं दिया। अतः चुलनी पिता का उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बताना केवल अज्ञान समझना चाहिये।

इसीतरह माताकी रक्षाके लिये प्रवृत्त होनेसे चुलनी पिताके व्रतनियमका भंग बताना भी अज्ञान है क्योंकि हिंसक पुरुषपर क्रोध करके उसे मारनेके दौड़नेसे चुलनी पिताके व्रत नियम नष्ट हुए थे माताकी रक्षाके भाव आनेसे नहीं इसलिये वहांका मूलपाठ और टीका देते हैं—

"तएणं सा भद्दा सत्थवाही चुलणी पियं समणोवासयं एवं वयासी नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ निणेइ २ त्ता तव अग्गओ घाएइ। एसणं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ एसणं तुमे विदरिसणे दिट्ठे तंणं तुमं इयाणिं भग्गवए भग्ग नियमे भग्ग पोसहे विहरसि"

(टीका)

"भग्गवए" त्ति भग्नव्रतः स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्नत्वात्, तद्विनाशार्थं कोपेनोद्धावनात्। सापराधस्यापि व्रतविषयीकृतत्वात्। भग्ननियमः कोपोदये उत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्। भग्नपोषधः अव्यापारपौषधस्य भग्नत्वात्।"

(मूलार्थ)

इसके अनन्तर वह भद्रा सार्थवाहिनीने कहा कि हे चुलनी पिता! तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र से लेकर यावत् कनिष्ठ पुत्रको घरसे बाहर लाकर तुम्हारे सामने किसीने भी नहीं मारा है। यह तुम्हारे पर किसीने उपसर्ग किया है तुमने जो देखा है वह मिथ्या दृश्य था। इस समय तुम्हारे व्रत नियम और पौषध नष्ट हो रहे हैं। यह बात ऊपर लिखे मूलपाठका अर्थ है।

इस मूल पाठमें भद्रा सार्थवाहिनीने चुलनी पिताके व्रत नियम और पौषध भंग होनेकी जो बात कही है उसका कारण बतलाते हुए टीकाकारने यह कहा है—

(टीकार्थ)

चुलणी प्रिय श्रावकका स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भावसे नष्ट हो गया क्योंकि वह क्रोध करके हिंसकको मारनेके लिये दौड़ा था। व्रतमें अपराधी प्राणी को भी मारनेका त्याग होता है। उत्तर गुण—क्रोध नहीं करने का जो अभिग्रह था वह क्रोध करनेसे नष्ट हो गया और अप्रयत्न पूर्वक दौड़नेसे उसका अव्यापार पोषध नष्ट हो गया" यह टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने व्रत नियम और पोषध भंगका कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि "हिंसक पर क्रोध करके मारणार्थ दौड़नेसे चुलणी प्रियके व्रत नियम और पोषध नष्ट हुए थे" मातृरक्षाका भाव आनेसे व्रत नियम और पोषध भङ्ग होना नहीं कहा है अतः चुलणी प्रियके हृदयमें मातृरक्षाके भाव आनेसे और मातृ रक्षार्थ प्रवृत्त होने से उसके व्रत नियम और पोषध का भङ्ग बताना कपूतों का कार्य्य समझना चाहिये।

इसी तरह भीषणजीने मूढ मतियोंको बहकानेके लिये माताकी अनुकम्पा करनेसे चुलणी प्रियका व्रत भङ्ग होना कहा है। उन्होंने लिखा है:—

"इम सुणने चुलणी पिया चल गयो, माने राखण रो करे उपाय रे। ओतो पुरुष अनार्य्य कहे जिसो, झाल राखूं ज्यों न करे घातरे। ओतो भद्रा बंचावण ऊठियो, इणरे थामो आयो हाथरे। अनुकम्पा आणी जननी तणी तो भांग्या व्रतरे नेमरे। देखो मोह अनुकम्पा एहवी, तिणमें धर्म कहीजे केमरे"

(अनुकम्पा विचार ढाल ७ कडी ३५)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षार्थ अनुकम्पा करना मोह अनुकम्पा है चुलणी प्रियने माताकी रक्षाके लिये अनुकम्पा की थी इसीसे उसका व्रत भङ्ग हुआ क्योंकि वह मोह अनुकम्पा थी। इनकी यह प्ररुपणा शास्त्र विरुद्ध है। टीकाके प्रमाणसे भी पहले बतला दिया गया है कि क्रोधित होकर हिंसकके मारणार्थ दौड़नेसे चुलणी प्रियका व्रत नष्ट हुआ था माताकी अनुकम्पासे नहीं क्योंकि व्रत पौषध के समय श्रावकको हिंसाका त्याग होता है अनुकम्पाका त्याग नहीं होता अतः हिंसाके भाव आनेसे ही व्रत भङ्ग हो सकता है अनुकम्पाके भाव आनेसे नहीं। भीषणजी ने सामायक और पोषधके समय अग्नि सर्पादिका भय होने पर जयणाके साथ निकल जाने की आज्ञा दी है। जैसे कि उन्होंने लिखा है:—

"लाय सर्पादिकरा भयथकी, जयणासूं निसर जायजी। राख्या ते द्रव्य ले जावता सामाइरो भंगनथायजी। पोषाने सामायक व्रतना सरीखा छै पच्चक्खाणजी। पोषाने सामायक व्रतने यहां पोषामें सरीखा छै आगारजी"

(श्रावक धर्म विचार नवम व्रतकी ढाल)

इस ढालमें भीषणजीने यह आज्ञा दी है कि "अग्नि सर्पादिका भय होने पर श्रावक यदि जयणाके साथ निकल जाय तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता।"

यदि सामायक और पौषधके समय अनुकम्पा करना बुरा है तो अग्नि सर्पादिका भय होने पर श्रावक जयणाके साथ कैसे निकल सकता है? क्योंकि यह भी तो अपने ऊपर अनुकम्पा ही करना है। यदि कहो कि अपने पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग नहीं होता किन्तु दूसरे पर अनुकम्पा करनेसे होता है इसलिये सामायक और पौषधमें अपनी अनुकम्पाके लिये जयणाके साथ निकल जानेमें कोई दोष नहीं है तो फिर सुरादेवका व्रत भङ्ग क्यों हुआ था क्योंकि उसने किसी दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करके अपने पर अनुकम्पा की थी। देखिये वह पाठ यह है:—

"तएणं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी— एवं खलु देवाणुप्पिए! केवि पुरिसे तहेव कहइ जहा चुलणीपिया। धन्नाविभणइ—जाव कणीयसं नो खलु देवाणुप्पिया! तुब्भंकेऽवि पुरिसे सरीर गंसि जमग समगं सोलस रोगायंके परिपक्खिवइ। तएणं केवि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ सेसं जहा चुलणोपियस्स तहा भणइ"

(उपासक दशांग अ० ४)

अर्थः—

इसके अनन्तर उस सुरादेव श्रमणोपासकने धन्या नामक अपनी भार्यासे अपना सारा वृत्तान्त चूर्णी प्रिय श्रावकके समान ही कह सुनाया। यह सुन कर धन्याने कहा कि हे देवानुप्रिय! किसीने भी तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्रसे लेकर यावत् कनिष्ठ पुत्रको नहीं मारा है और कोई भी तुम्हारे शरीरमें एक ही साथ सोलह रोग नहीं डाल रहा था किन्तु यह किसीने तुम्हारे पर उपसग किया है। शेष बातें चूर्णीप्रियकी माताके समान धन्याने अपने पतिसे कहीं। अर्थात् "तुम्हारा व्रत नियम और पौषध इस समय भङ्ग हो गये" यह, धन्याने अपने पतिसे कहा।

यहां मूलपाठमें चूर्णी प्रिय श्रावकके समान ही सुरादेव श्रावकका व्रत नियम और पौषध भङ्ग होना कहा गया है अतः भीषण मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि "सुरादेवका व्रत नियम और पौषध क्यों भङ्ग हुए?। सुरादेवने अपनी अनुकम्पा की थी दूसरे की नहीं की थी, और अपनी अनुकम्पासे व्रत नियम और पौषध का भङ्ग होना भीषणजीने भी नहीं माना है फिर सुरादेवके व्रत नियम और पौषध भङ्ग होनेका

क्या कारण है ? । यदि कहो कि सुरादेवके व्रत नियम और पौषध अपनी अनुकम्पाके कारण नहीं नष्ट हुए किन्तु अपराधीको मारणार्थ क्रोधित हो कर दौड़नेसे नष्ट हुए तो फिर यही बात चूर्णीप्रिय श्रावकके विषयमें भी तुमको मानना चाहिये। चूर्णीप्रिय और सुरादेवके सम्बन्धमें आये हुए पाठोंमें विलकुल समानता है केवल भेद इतना ही है कि चुर्णीप्रियने अपनी माता पर अनुकम्पा की थी और सुरादेवने अपने ऊपर की थी। यदि माताके ऊपर अनुकम्पा करनेसे चुर्णीप्रियका व्रत भङ्ग होना मानते हो तो फिर सुरादेवका अपने पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग मानना पड़ेगा और जैसे चूर्णी प्रियकी मातृ अनुकम्पाको सावद्य कहते हो उसी तरह सुरादेवकी अपनी अनुकंपाकोभी सावद्य कहना होगा ऐसी दशामें भीषगजीने उक्त ढालमें सामायक और पौषधमें अपने पर अनुकम्पा करके अग्नि सर्पादिके भयसे वचनेके लिये जयणाके साथ जो निकल जानेकी आज्ञा दी है वह विलकुल मिथ्या सिद्ध होगी अतः अपनी अनुकम्पाको भीषण मतानुयायी सावद्य नहीं कह सकते अतः जैसे सुरादेवकी अपनी अनुकम्पा सावद्य नहीं थी और उससे व्रत नियम तथा पौषध नष्ट नहीं हुए थे उसी तरह चूर्णीप्रिय की भी माता के ऊपर अनुकम्पा सावद्य नहीं थी और उससे उसके व्रत नियम भंग नहीं हुए थे इसलिये चूर्णीप्रियका उदाहरण देकर अनुकम्पाको सावद्य वतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १५९ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे कह्यो जे पाणी नावामें आवे घणा मनुष्य डूवता देखे पिण साधुने मन वचन करी वतावणो नहीं जो असंयतिरो जीवणो वाञ्छ्या धर्म हुवे तो नावामें पाणी आवतो देखि साधु क्यों न वतावे। केतला एक कहे जे लाय लाग्यां ते घररा केवाड उगाडना तथा गाडा हेठे बालक आवे तो साधुने उठाय लेणो इमि कहे तेहनो उत्तर—जे लाय लाग्यां ढाढा वाहिरे काढना तो नावामें पानी आवे ते क्यूं न वतावणो" (भ्र० पृ० १५९)

इसका क्या समाधान

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकार दूसरे प्राणीकी रक्षा करना पाप मानते हैं परन्तु अपनी रक्षा करना पाप नहीं मानते। अपनी रक्षा करना तो वे साधुका कर्त्तव्य मानते हैं ऐसी दशा

में दूसरेकी रक्षाके लिये न सही, अपनी रक्षाके लिये साधु नावमें आता हुआ पानी क्यों नहीं बतला देता ? क्योंकि नावमें पानी आने पर दूसरे लोगोंके समान साधु स्वयं भी तो डूब सकता है फिर वह अपनी रक्षाके लिये पानी क्यों नहीं बताता ? यदि कहो कि अपनी रक्षा करना साधुका कर्त्तव्य तो है परन्तु पानी बतलानेकी जिन आज्ञा नहीं है यह साधुका कल्प नहीं है इसलिये साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता तो उसी तरह यह भी समझो कि दूसरे जीवकी रक्षा करना साधुका कर्त्तव्य है परन्तु पानी बतलाना उसका कल्प नहीं है इसलिये साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता।

भीषणजी ने लिखा है कि "आप डूबे अनेरा प्राणी अनुकम्पा किणरी नहीं आणी"

अर्थात् नावमें बैठा हुआ साधु आप भी डूबे और दूसरे प्राणी भी डूब जांय परन्तु साधु किसी पर अनुकम्पा न करे। ऐसा माननेसे भीषणजीके सम्प्रदाय वाले साधु ठाणांग सूत्रकी पूर्वोक्त चतुर्भंगीके चौथे भंगमें शामिल होते हैं क्योंकि उस चतुर्भंगी के चौथे भंग वाले जीव न अपनी अनुकम्पा करते हैं और न परकी, जैसे काल शौरिक आदि, किन्तु यह बात शास्त्र तथा इनके अपने सिद्धांतसे भी विरुद्ध है। जीतमलजीने लिखा है कि:—

"अथ अठे पिण कह्यो जे साधु पोतानो अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न करे" (भ्र० पृ० १४७)

यह लिख कर जीतमलजीने अपनी अनुकम्पा करना साधुका कर्त्तव्य बतलाया है तथा इनके मतानुयायी साधु गाय भैंस कुत्ता आदिसे अपनी रक्षा करते हैं और अपने शरीर की रक्षाके लिये आहार पानी का अन्वेषण करते हैं इस लिये पूर्वोक्त ढालमें भीषणजीने जो यह लिखा है कि "आप डूबे अनेरा प्राणी अनुकम्पा किणरी नहीं आणी" यह इनके अपने सिद्धांत और आचारसे भी विपरीत है परन्तु पर जीव की प्राण रक्षा का खण्डन के आवेश में आकर भीषण जी ने अपनी रक्षा का भी निषेध कर दिया है अतः आचारांगके मूलपाठसे जीवरक्षाका निषेध करना जीतमलजी और भीषण जी का अज्ञान समझना चाहिये।

वास्तवमें ठाणांग सूत्र ठाणा ४ में कही हुई चौभंगीके अनुसार स्थविर कल्पी साधु अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करते हैं परन्तु नावमें आता हुआ पानी गृहस्थ को बताना उनका कल्प नहीं है इसलिये वे नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाते। इसी जगह आचारांग सूत्रमें साधुको तैर कर नदी पार करना कहा है। यदि भीषणजी की

उक्तिके अनुसार अपनी रक्षा करना साधुका कर्तव्य नहीं होता तो इस पाठमें नदी तैर कर साधुको अपनी रक्षा करना कैसे बतलाया जाता ? वह पाठ यह है:—

"सेभिक्खूवा उदगंसि पवमाणे नो हत्थेणं हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाइज्जा से अणासायणाए अणासायमाणे तओ सं० उदगंसि पविज्जा ।

सेभिक्खूवा उदगंसि पवमाणे नो उम्मुग्ग निमुग्गियं करिज्जा मामेयं उदगं कन्नेसुवा अच्छीसुवा नक्कंसिवा मुहंसिवा परियावज्जिज्जा तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा । सेभिक्खूवा उदगंसि पवमाणे दुव्वलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विगिंचिज्जवा विसोहिज्जवा नो चेवणं साइजिज्जा । अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए तओ संजयामेव उदउल्लेणवा ससिणिद्धेणवा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा"

(आचारांग श्रु० २ अ० ३६)

अर्थः—

साधु या साध्वी जलसे तैरकर पार करते समय हाथसे हाथका, पैरसे पैरका और शरीरसे शरीरका स्पर्श न करें । किन्तु अपने अङ्गोंका परस्पर स्पर्श न होने देकर जयणाके साथ जलको पार करें । तैरते समय जलमें डूब्बी न लगावें और अपने आंख, कान, नासिका और मुखमें जल न पैठने दे । जलमें तैरते तैरते यदि साधुके अंग दुर्बल हो जायँ तो वह अपने उपकरणोंको तुरन्त उसी जगह छोड़ देवे उनमें थोड़ी भी मूर्च्छा न लावे । यदि भाण्डोपकरणोंको लेकर साधु पार जानेमें समर्थ हो तब उन्हें छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार जलसे पार हो कर जबतक शरीर से जलके विन्दु गिरें और शरीर भींगा रहे तबतक साधु जलके किनारे पर ही खड़ा रहे, यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

यहां जलसे तैरकर साधुको पार जाना कहा है जलमें डूबकर मरना नहीं कहा है इसलिए इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु अपनी रक्षा करना पाप नहीं समझते ?

जब अपनी रक्षा साधु करता है और उससे उसे पाप नहीं होता तो दूसरेकी रक्षा करनेसे उसे पाप कैसे हो सकता है ? अतः भीषणजीने साधुको जलमें डूब मरनेकी जो बात लिखी है वह एकान्त मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि "नदी पार करते समय साधुसे जलके जीवोंकी विराधना तो होती ही है फिर वह नावमें आता हुआ पानी बतलाकर अपनी और दूसरेकी रक्षा क्यों नहीं

करता ?। तो इसका उत्तर यही है कि साधु शास्त्रीय विधानानुसार ही अपनी और दूसरे की रक्षा करता है विधानका उल्लंघन करके नहीं करता। नावमें आता हुआ पानी बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिए वह नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता। जैसे कि गृहस्थके हाथकी रेखा भी यदि कच्चे पानीसे भींगी हुई हो तो साधु उसके हाथसे आहार नहीं लेता क्योंकि उसका यह कल्प नहीं है और वही साधु अपवाद मार्गमें नदी भी पार करता है। नदी पार करना उसके कल्पके विरुद्ध नहीं है क्योंकि इसके लिये तीर्थंकरकी आज्ञा है परन्तु नावमें आता हुआ पानी बतलाना आज्ञामें नहीं है इसलिए साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता परन्तु अपनी और दूसरेकी कल्पानुसार रक्षा करनेमें साधु पाप नहीं समझता अतः आचारांग सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १२ बोल १-२ का मूल पाठ लिखकर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"अथ इहां "कोलुण पडियाए" कहितां अनुकम्पा निमित्ते त्रस जीवने बांधे बांधताने अनुमोदे भलो जाणे तो चौमासी दण्ड कह्यो अने बांध्या जीवने छोड़े छोड़ताने अनुमोदे भलो जाणे तो पिण चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो बांधे छोड़े तिणने सरीखो प्रायश्चित्त कह्यो छे। (भ्र० पृ० १६१ इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है।

"जे भिक्खू कोलुण पडिआए अण्णयरिं तसपाणिजायं तण पासएणवा मुञ्जपासएणवा कट्ठपासएणवा चम्म पासएणवा वंधइ वंधतंवा साइज्जइ। जेभिक्खू वंधोल्लयं मुयइ मुयंतंवा साइज्जइ।'

जो साधु अनुकम्पाके निमित्त किसी त्रस प्राणीको तृण पाससे, मुञ्जके पाससे, काष्ठपाससे या चर्म पाससे बांधता है या बांधनेवालेको अच्छा जानता है तथा जो साधु बंधे हुए त्रस प्राणीको छोड़ता है या छोड़ते हुएको अच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है। यह इस पाठका अर्थ है।

यहां त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नेसे साधुको प्रायश्चित्त कहा है उनपर अनुकम्पा करनेसे नही क्योंकि अनुकम्पा करनेकी तीर्थङ्करकी आज्ञा है। जैसे साधुको आहार पानी लेनेसे प्रायश्चित्त नहीं होता क्योंकि आहार पानी लेनेकी भगवानकी आज्ञा है परन्तु यदि विद्या वृत्तिसे, या मंत्र वृत्तिसे साधु आहार पानी लेवे तो उसका प्रायश्चित्त साधुको होता है। वह प्रायश्चित्त आहार पानी लेनेका नहीं किन्तु विद्या वृत्ति और मंत्र वृत्ति करनेका है उसी तरह निशीथके इस पाठमें जो त्रस प्राणीको अनुकम्पाके निमित्त वांधने छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है वह त्रस प्राणीपर अनुकम्पा करनेका प्रायश्चित्त नहीं किन्तु उनको बांधने और छोड़नेका प्रायश्चित्त है। त्रस प्राणीपर कनुकम्पा करना, उनमें शान्ति स्थापित करना, तथा किसी जीवकी प्राणरक्षा करना पाप नहीं है फिर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है?

इस पाठके भाष्य और चूर्णीमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि "त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नेसे अनर्थकी सम्भावना रहती है इसलिये इस पाठमें त्रस प्राणीको बांधने और छोड़नेमें प्रायश्चित कहा है कनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा" वह भाष्य और चूर्णी लिखी जाहै।

"अच्चावेटन मरणं तराय फड्डंत आत्त पर हिंसा सिंग,खुर पेल्लणंवा उड्डाहो भद्दपंता वा" (भाष्य)

"अईव आवेटिय परिताविज्जइ मरइवा अन्तरायंचभवइ। वद्धंचतड फ्फडंतं अप्पाणं परंवाहिंसइ एसा संजम विाहरणा, तंवा वज्झंतं सिंगेण खुरेणवा काएणवा साहुं पेल्लेज्जा एवंच साहुस्स आय विराहणा तंच दट्ठुं जणो उड्डाहं करेज्जा अहो दुदिट्ठ धम्मा पर तत्ति वाहिणो एवं पवयणोवघाओ भद्दयंत दोषा वा भवे। भद्दो भणइ अहो इमे साहवो अम्हे परोवक्खाणघरे वावारं करेंति पंतो पुणभणेज्जा दुदिट्ठ धम्म चाडु कारिणो कीसवा अम्हं वच्छे वंधंति मुयंतिवा दिवा वा राओवा निच्छुभेज्जा वोच्छेचांवा करेज्ज एए वंधणे दोसा" (चूर्णी)

अर्थः—

रस्सी आदिसे बांधे हुए पशु अत्यन्त आंटा खाकर दुःख पाते हैं। एवं वन्धन से पीड़ित होकर तडफडाते हुए अपनी या दूसरेकी हिंसा भी कर देते हैं। इस प्रकार पशु बांधनेसे साधुके संयमकी विराधना होती है। पशु बांधते समय पशु, यदि सींग या खुरसे साधुको मार देवे तो साधुकी अपनी विराधना होती है।

यदि ये बांते न हों तो भी गृहस्थके पशुओंको बांधते और छोड़ते हुए साधुको देखकर लोग साधुकी निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि इन साधुओंका धर्म अच्छा नहीं है

ये लोग गृहस्थकी नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचनकी निन्दा होती है। उस साधु पर श्रेष्ठजन और साधारणजन दोनोंही दोष लगाते हैं श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि ये साधु मेरे घरके कामकाज करते हैं और साधारण पुरुष कहते हैं ये साधु गृहस्थोंकी खुशामद करते हैं। इनका धर्म अच्छा नहीं है ये मेरे वछड़ोंको वांधते हैं और छोड़ते हैं। इन निन्दा आदि कारणोंसे साधुको गाय आदि प्राणियोंका बंधन और मोचन न करना चाहिये। यह ऊपर लिखे हुए भाष्यकी चूर्णीके पाठका अर्थ है।

उक्त भाष्य और चूर्णीमें गाय आदि पशुओंके वांधनेसे अनर्थ होना वतलाकर प्रायश्चित्त कहा है परन्तु गाय पर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त होना नहीं कहा है इसलिए निशीथ सूत्रके इस पाठका नाम लेकर गाय आदि प्राणियोंपर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त वताना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

अव प्रश्न यह होता है कि त्रस प्राणीको वांधनेसे तो अनर्थ होनेकी संभावना है इसलिए निशीथके उक्त पाठमें उन्हें वांधनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु वंधे हुए पशुको वंधनसे मुक्त करनेमें कौनसा अनर्थ होता है जिससे वंधे हुए पशुको छोड़नेसे भी प्रायश्चित्त कहा है" तो इसका उत्तर भी इसी भाष्य और चूर्णीमें दिया है, वह निम्नलिखित भाष्य और चूर्णीका पाठ है—

"छः काय अगड विसमे हिय णट्ठ पलाय खयइ पीएवा। जोग क्खेम वहन्ती णेवं दोसाय जे वुत्ता"

(भाष्य)

तन्न गाय मुक्क मडंतं छः काय विराहणं करेज्ज। अगडे विसमेवा पडिज्ज, तेणेहिंवा हीरेज्जा नट्ठं अटवीए रुलंतं अत्थेज्ज मुक्कंवा पलाइयं पुणो वंधितुं न सक्कइ। दुगादि सडफ्फडहिंवा खज्जइ। मुक्कंवा माऊए थणात खीरं पीएज्ज। जइवि एवमादि दोषा न होज्ज तहवि गिहिणो विसत्था अत्थेज्ज अम्हं घरे साहवो सुतत्थ जोय क्खेम वावारं वहंति मणंति एवं मणेणं चिन्तित्ता अणुत्त सत्ता अप्पणो कम्मं करेंति। अहवदोषभया मुक्कं पुणो वंधंति तत्थणं वन्धने जे दोसा वुत्ता ते भवंति। जम्हा एए दोसा तम्हाण वंधंति णमुयंति" (चूर्णी)

(अर्थ)

वन्धनसे छुटे हुए वछड़े दौड़कर छः कायके जीवोंकी विराधना करते हैं तथा खाई या गड्ढे आदिमें गिर जाते भी हैं उन्हें चोर चुरा सकता है या जंगलमें भूलकर इधर उधर भटकते फिरते हैं। भागते फिरते हुए वछड़ोंको फिर वांधनेमें कठिनाई भी होती है। तथा नाहर आदि जीवोंसे यदि वे मार दिए जायें अथवा वे अपनी माता

का दूध पी जावें तो उनका धनी नाराज हो, इत्यादि अनेकों दोष वछड़े आदिको वंधनसे छोड़नेपर सम्भव होते हैं। यदि ये दोष न हों तो भी इस कार्यमें साधुकी प्रवृत्ति होनेपर गृहस्थके मनमें यह विश्वास हो जाता है कि मेरे घरकी सम्हाल रखने वाले साधु वहां मौजूद हैं मुझे गृह कार्य्यकी कुछ भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह सोच कर गृहस्थ गृह कार्य्यकी चिन्ता छोड़ कर दूसरे कामोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ऐसी दशामें साधु यदि गृहस्थके पशुओंको बांधे तो उसे बांधनेके दोष लगते हैं अतः साधु गृहस्थके पशुओंको बांधते और छोड़ते नहीं हैं।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णीके पाठोंका अर्थ है।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि "वछडे आदिको वंधनसे मुक्त करने पर अनेक प्रकारके उपद्रवोंकी संभावना है इसलिये साधु गृहस्थके वछडे आदिको नहीं छोड़ते" यदि छोडं तो इन्हीं उपद्रवोंके कारण ही साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा है अतः इस पाठका नाम लेकर त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करने का निपेध करना भाष्य और चूर्णीसे विरुद्ध है।

गाय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करना महान् धर्मका कार्य्य है परन्तु उनके बांधने और छोडनेमें अनर्थकी सम्भावना है इसीलिये उन्हें बांधने और छोड़नेसे साधुको प्रायश्चित्त कहा है। जहां बांधे और छोड़े विना गाय आदि प्राणियों की रक्षा नहीं हो सकती हो वहां इसी जगह निशीथसूत्रके भाष्य और चूर्णीमें बांधने और छोड़नेका विधान किया है —

"कारणे पुण वन्धमुयणं करेज्जा।
वितिय पदमणपज्झे वन्धे अविकोवितेव अप्पज्झे
विसम गडअ गणिआउ वणकूफगादीसु जाणमवो"

(भाष्य)

अणपज्झो वंधइ अविकोविओवा सेहो अहवा विकोविओवा सेहो। अथवा विकोविओ अप्पज्झो इमेहिं कारणेहिं वंधंति विसमा अगडि अगणिऊसु मरिज्जिहि। इति दुगादिसणफएणवा माखज्जिहित्ति एवं जाणाणावि वंधइ मुयइ"

अर्थात् जहां पशुकी आगमें जल कर गड्ढेमें गिर कर या जङ्गली जानवरोंसे मारा जाकर मर जानेकी आशङ्का हो वहां साधु उन्हें बांधते और छोड़ते भी हैं। परन्तु वन्धन गाढ न होना चाहिये।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णीका अर्थ है।

यहां बांधे और छोड़े विना त्रस प्राणीकी रक्षा न होनेकी दशामें साधु को उन्हें बांधने और छोड़नेका भी विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निशीथ सूत्रके उक्त मूलपाठमें जहां बांधने और छोड़नेसे अनर्थकी सम्भावना है वहीं त्रस प्राणी को बांधने और छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है परन्तु त्रसप्राणीकी रक्षा या अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा है। इसलिये निशीथ सूत्रके मूलपाठ का नाम लेकर त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करने और उन की रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

यदि जीतमलजीके मतानुयायी साधु कहें कि "अपवाद मार्ग में गाय आदि को बांधने और छोड़ने का विधान भाष्य में किया है मूल पाठ में नहीं" तो उनसे कहना चाहिये कि—

आप लोग अपने जलके पात्रमें पड़ कर शीतसे मूर्च्छित मक्खी को कपड़े में बांध कर क्यों रखते हैं? और मूर्च्छा मिट जाने पर उसे क्यों छोड़ते हैं? क्योंकि मक्खी भी तो त्रस प्राणी ही है। तथा पागल होनेकी हालतमें साधुको क्यों बांधते हैं? क्यों, कि साधु भी त्रस प्राणीसे इतर नहीं है अतः निशीथ सूत्रकी चूर्णी और भाष्यमें जो बात कही है उसका आप लोग भी मक्खी आदि तथा साधुओं पर व्यवहार करते हैं परन्तु गाय आदिके विषयमें इसे पाप कहने लगते हैं यह आप लोगोंका अज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है।

निशीथ सूत्रकी इस चूर्णीको जीतमलजीने भी प्रमाण माना है उन्होंने लिखा है कि "कोलुण पडियाए" रो अर्थ चूर्णी में अनुकम्पा करुणाइज किया छै" (भ्र० पृ० ११६)

वही चूर्णी कारण पड़ने पर पशुके बन्धन और मोचनका भी विधान करती है इस लिये इस चूर्णी की आधी बात को मानना और आधी नहीं मानना दुराग्रह के सिवाय और कुछ नहीं है।

(बोल २८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६८ पर लिखते हैं:—

"अथ अठे कह्यो सुलसानी अनुकम्पाने अर्थे देवकी पासे सुलसाना मुआ बालक मेल्या देवकी ना पुत्र सुलसा पासे मेल्या एपिग अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा आज्ञा मांहे के आज्ञा बाहिरे सावद्य के निरवद्य छे। एतो कार्य्य प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे सावद्य छै ते कार्य्यनी देवता ना मनमें उपनी जे ए दुःखिनी छै तो एहने कार्य्य करी दुःख मेंटू। ए परिणाम रूप अनुकम्पा पिण सावद्य छे (भ्र० पृ० १६८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हरिण गमेसी देवताने अनुकम्पा करके छः बालकोंके प्राण बचाये थे इस अनुकम्पाको सावद्य कहना अज्ञान है। वे छः ही लड़के चरम शरीरी थे और वे दीक्षा लेकर मोक्ष गये। यदि हरिण गमेशी उनकी रक्षा नहीं करता तो वे किस तरह बंचते और दीक्षा धारण करके किस प्रकार मोक्ष पाते ? इसलिये हरिण गमेशीने जो बालकों पर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाये थे और सुलसाकी दुःख निवृत्ति की थी उसे सावद्य बताना सर्वथा मिथ्या है।

उन बालकोंकी रक्षा करनेके लिये जो देवताने आने जानेकी क्रिया की थी उस क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य बताना भी अज्ञान है। आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पाका परिणाम दूसरा है अतः आने जानेके कारण अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। तीर्थंकरों की वन्दना करनेके लिये देवता लोग आते जाते हैं परन्तु आने जानेसे तीर्थंकर की वन्दना सावद्य नहीं होती क्योंकि आने जानेकी क्रिया पृथक् है और वन्दना पृथक् है उसी तरह आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिये आने जानेकी क्रियाके सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं है। यदि कोई आने जानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पाको सावद्य माने तो उसे आने जानेके सावद्य होनेसे तीर्थंकर की वन्दनाको भी सावद्य कहना चाहिये। परन्तु आने जानेसे यदि तीर्थंकरकी वन्दना सावद्य नहीं होती तो उसी तरह आने जानेसे अनुकम्पा भी सावद्य नहीं हो सकती। हरिण गमेशी की अनुकम्पा का यह फल हुआ कि वे छः ही लड़के कंस के भयसे बच गये। अतः हरिण गमेशीकी अनुकम्पाको सावद्य कहना अज्ञान का परिणाम है।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६८ पर अन्तगड सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ ईहां कृष्णजी डोकरानी अनुकम्पा करी हस्तिस्कंध बैठा ईंट उपाडी तिणरे घरे मूंकी ए अनुकम्पा आज्ञामें के आज्ञा बाहिरे सावद्य छै के निरवद्य छै" (भ्र० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

श्रीकृष्णजी नेमिनाथजीकी वन्दनाके निमित्त जा रहे थे रास्तामें उन्होंने जरासे जीर्ण अति दुःखी और कांपते हुए एक वृद्धको देखा उसे देख कर कृष्णजीके हृदयमें अनुकम्पा उत्पन्न हुई और उन्होंने अपने हाथोंसे ईंट उठा कर वृद्धके घर पर रक्खा था। यह श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पा स्वार्थरहित थी इसे सावद्य सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारकी ओरसे यह कुहेतु लगाया जाता है कि "ईंट उठा कर रखने की साधु आज्ञा नहीं देते इसलिये श्रीकृष्णजीकी वृद्ध पर अनुकम्पा सावद्य थी" परन्तु यह बिलकुल अयुक्त है ईंट उठानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती क्योंकि ईंट उठानेकी क्रिया भिन्न है और अनुकम्पा भिन्न है, दोनों एक नहीं हैं इसलिये ईंट उठानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। श्रीकृष्णजी को नेमिनाथजीका दर्शन करनेके लिये जब इच्छा उत्पन्न हुई तब उन्होंने चतुरंगिणी सेना सजायी थी। उस सेना सजाने रूप कार्य्यकी साधु आज्ञा नही देते परन्तु तीर्थंकर के वन्दनको तो अच्छा जानते हैं। वह तीर्थंकरका वन्दन जैसे सेना सजाने रूप कार्य्यके सावद्य होने पर भी सावद्य नहीं समझा जाता क्योंकि सेना सजाना दूसरा कार्य्य है और वन्दन करना उससे भिन्न है उसी तरह ईंट उठा कर रखने की आज्ञा साधु नहीं देते परन्तु अनुकम्पा करनेको आज्ञा देते हैं अतः ईंट उठानेकी क्रिया का नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य बताना मिथ्या है। यदि ईंट उठानेकी क्रियाके कराण अनुकम्पा सावद्य हो तो फिर सेना सजा कर आने जानेकी क्रियाके कारण नेमिनाथजी का वन्दन भी सावद्य होना चाहिये परन्तु जैसे सेना साज कर आने जानेसे वन्दन सावद्य नहीं होता उसी तरह ईंट उठानेसे अनुकम्पा भी सावद्य नहीं होती।

उत्तराध्ययन सूत्रके २९ वें अध्ययनमें वन्दनका फल उच्च गोत्र बांधना कहा है और भगवती सूत्रमें अनुकम्पाका फल सात वेदनीय कर्मका बन्ध बतलाया है इसलिये ये दोनों ही कार्य्य अच्छे हैं अनुकम्पा करना सावद्य नहीं है अतः वृद्ध पर श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पाको सावद्य बताना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल ३०)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६९ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ गाथा ८ वींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे हरिकेशी मुनिनी अनुकम्पा करी यक्षे विप्रांने ताड्या ऊंधापाड्या ए अनुकम्पा सावद्य छै के निरवद्य छै आज्ञामें छै के आज्ञा बाहिरे छै एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै" (भ्र० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्यनन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह गाथा यह है:—

"जक्खो तहिं तिंदुग रुक्खवासो,
अणु कम्पओ तस्स महा मुनिस्स।
पच्छाइयत्ता नियगं सरीरं
इमाइ वयणाइ मुदाहरित्था।"

(उ० अ० १२ गाथा ८)

अर्थः—

तिंदुक वृक्षपर निवास करनेवाला उस महा मुनिका अनुकम्पक यानी उनमें भक्तिभाव रखनेवाला यक्ष अपने शरीरको छिपाकर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसीका नाम लेकर जीतमलजी और भीषणजी अनुकम्पाको सावद्य कहते । उनका कहना है कि यक्षने जो ब्राह्मण कुमारोंका ताड़न किया था यह उसकी हरिकेशी मुनिपर अनुकम्पा हुई" परन्तु यह बात मिथ्या है यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणों को सदुपदेश दिया था जब वे ब्राह्मण उसे मारने लगे तो उसने भी मारनेके बदलेमें मारा था परन्तु अनुकम्पाके कारण नहीं मारा। मुनिपर अनुकम्पा करके सदुपदेश देनेका शास्त्रमें कथन है मारनेका नहीं वह गाथा यह है :—

"समणो अहं संजउ वंभयारी,
विरओ धण पयण परि ग्गहाओ।
पर प्पवित्तस्सउ भिक्ख काले,
अन्नस अट्ठा इह आगओ मि" ॥

वियरिज्जइ, खज्जइ, भुज्जइय, अन्नं पभुयं भवयाणमेयं
जाणाहिमे जायण जीवणुत्ति, सेसावसेसं लहओ तवस्सी"।

(उत्तराध्ययन अ० १२ गाथा ९।१०)

अर्थ :—

मैं श्रमण हूं और संयत यानी सर्व सावद्य योगोंसे हटा हुआ हूं। मैं ब्रह्मचारी और धन, पचन, पाचन, तथा परिग्रहसे रहित हूं, आपके यहां भिक्षार्थ भिक्षाके समयमें आया हूं गृहस्थ अपने भोजनार्थ जो अन्न बनाते हैं उसी अन्नको भिक्षाके लिए मैं आया हूं आपके इस यज्ञ स्थान में प्रचुर अन्न दीन अनाथ और दरिद्रोंको दिया जाता है और खाया जाता है तथा खिलाया जाता है यह सब अन्न आप लोगोंका ही है। मैं भिक्षाजीवी तपस्वी हूं इसलिए आपके यहां जो बंचासे भी बंचा हुआ अन्न हो वह मुझे मिलना चाहिए।

यहां यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंसे नम्रतापूर्वक मुनिको भिक्षा देनेका उपदेश दिया है यह उपदेश देना बुरा नहीं किन्तु धर्म है। जैसे कोई पुरुष क्षुधातुर साधुको भिक्षा देनेके लिए लोगोंको उपदेश देवे तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता। उसी तरह मुनिको भिक्षा देनेके लिए यक्षका ब्राह्मणोंको उपदेश देना बुरा नहीं है।

जब यक्षके उपदेशसे ब्राह्मण लोग न समझे बल्कि और अधिक उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े तब यक्षने भी क्रोध करके ब्राह्मणोंको मारा था। यह मारना रूप कार्य्य ब्राह्मणोंपर क्रोध करके यक्षने किया था मुनिपर अनुकम्पा करके नहीं क्योंकि जहां मारने पीटनेकी बात आई है वहां मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंको मारा था अतः यक्षका यह कार्य्य क्रोधके कारण हुआ था अनुकम्पाके कारण नहीं अनुकम्पा करके उसने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था मारा नहीं था। इसलिए इस मारने रूप कार्य्यके सावद्य होनेपर भी इसके पहले जो यक्षने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था वह सावद्य नहीं हो सकता।

जैसे कोई साधु भक्त श्रावक, साधुपर अनुकम्पा करके लोगोंको भिक्षा देनेका उपदेश देवे परन्तु उसके उपदेशसे लोग भिक्षा तो न दें उलटे उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़ें, यह देखकर साधु भक्त वह श्रावक भी यदि लोगोंको मारे पीटे तो उसके इस कार्य्यसे उसका पहला कार्य्य यानी साधुको भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता उसी तरह यक्षने जो ब्राह्मणोंको मारा था इससे उसका पहला कार्य्य यानी मुनि पर अनुकम्पा करके भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता। अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाका नाम लेकर हरिकेशी मुनिपर यक्षकी अनुकम्पा को सावद्य कहना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७० पर ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ ईहां धारणी राणी गर्भनी अनुकम्पा करी मन मंगता आहार जीम्या ए अनुकम्पा सावद्य छै के निरवद्य छै एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छे" (भ्र० पृ० १७०) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसन कारने जनताको भ्रममें डालनेके लिए ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ अपूर्ण लिखा है इसलिए उसका पूरा पाठ और अर्थ लिखकर इसका समाधान किया जाता है।

वह पाठ यह है—

"तएणं सा धारणी देवी तंसि अकालदोहलंसि विणियंसि सम्माणियदोहला तस्स गब्भस्स अणुकम्पणट्ठाए जयं चिट्ठइ जयं आसइ जयं सुवइ आहारं पियणं आहारेमाणी नोइतित्तं नाइ कडुअं नाइ कसायं नाइ अंबिलं णाइ महुरं जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थं तं देसेय कालेय आहारं आहारेमाणी णाइचिन्तं णाइ सोगं णाइदेण्णं णाइ मोहं णाइ भयं णाइ परितासं ववगयचिन्तासोगमोह भयपरित्तासा भोयणछायणगन्धमल्लालंकारेहिंतं गब्भं सुहं सुहेन वहति"

(ज्ञाता अ० १)

अर्थः—

इसके अनन्तर वह धारिणी रानी अकाल दोहदको पूर्ण करके गर्भकी अनुकम्पाके लिये जयणाके साथ खड़ी होती थी। जयणाके साथ बैठती थी। जयणाके साथ सोती थी। मेधा और आयुको बढ़ाने वाला इन्द्रियोंके अनुकूल नीरोग और देशकालके अनुसार न अति तिक्त न अति कटु न अति कषाय न अति आम्ल (खट्टा) न अति मधुर किन्तु उस गर्भके हितकारक, परिमित, तथा पथ्य आहार खाती थी और अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह अति भय तथा अति परित्रास नहीं करती थी। चिन्ता, शोक, मोह, भय और परित्रास से रहित हो कर भोजन, आच्छादान, गन्धमाल्य और अलङ्कारों से युक्त होकर सुखपूर्वक उस गर्भको वहन करती थी। यह ज्ञाता सूत्रके उक्तपाठका अर्थ है।

इसी पाठका नाम लेकर जीतमलजी कहते हैं कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनवाञ्छित आहार खाया था परन्तु इस पाठमें मनवांछित आहार खाना नहीं

बल्कि मनवांछित आहार छोड़ना लिखा है तथा गर्भके हितकारक आहार खाना लिखा है इसलिये "धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनवांछित आहार खाया था" यह जीतमलजीकी प्ररूपणा इस मूलपाठसे प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

इस पाठमें गर्भ पर अनुकम्पा करके धारणीसे अजयणाका त्याग किया जाना लिखा है तथा चिन्ता शोक मोह और भयको छोड़ देना लिखा है अतः तेरह पन्थियोंसे पूछना चाहिये कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके जो अजयणाका त्याग किया था तथा चिन्ता शोक मोह और भय आदि छोड़ दिये थे यह अच्छा किया था या बुरा किया था ? यदि अच्छा किया था तो धारिणीकी गर्भ पर अनुकम्पा बुरी कैसे हुई ?

इस पाठमें स्पष्ट लिखा है कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मोह छोड़ दिया था तथापि जीतमलजी धारिणीकी गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा बतलाते हैं यह इनका महान् अज्ञान है जिस अनुकम्पाके होनेसे मोह छोड़ दिया जाता है वह अनुकम्पा खुद ही मोह अनुकम्पा हो यह किस प्रकार हो सकता है ?

इस पाठमें कहा है कि "धारिणी रानी गर्भ पर अनुकम्पा करके गर्भका हितकारक आहार खाती थी" इस आहार खानेका नाम लेकर गर्भकी अनुकम्पा को सावद्य कहना भी अज्ञान है क्योंकि गर्भका आहार गर्भवतीके आहारके आधीन है यदि गर्भवती आहार न करे तो उसके गर्भका भी आहार बन्द हो जाता है और आहार बन्द होनेसे वह गर्भ मर सकता है ऐसी दशामें आहार नहीं करनेवाली गर्भवतीको गर्भ हिंसा का पाप लग सकता है उस गर्भ हिंसाकी निवृत्ति और गर्भरक्षाके लिये धारिणीका भोजन करना भी एकान्त पापमें नहीं है

गर्भवती श्राविका यदि भोजन न करे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि अपने अश्रित प्राणीको भूखा मारना पहले व्रतका अतिचार है परन्तु निर्दय जीव इतना भी नहीं सोचते वे गर्भवतीको उपवास करनेका उपदेश देते हैं और गर्भ पर दया न करनेको धर्म मानते हैं वे प्रत्यक्ष ही शास्त्रविरुद्ध कार्य्य करा कर गर्भ हिंसाके समर्थक बनते हैं। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ में साक्षात् तीर्थंकरने कहा है कि "माताके आहारसे गर्भको आहार मिलता है" अतः जो गर्भवतीका आहार छुडाते हैं वे गर्भस्थ बालकको भूखा मारते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य कदापि गर्भको दुःख नहीं देते उस पर अनुकम्पा रखते हैं।

यह बात केवल गर्भके लिये ही नहीं किन्तु अपने आश्रित द्विपद चतुष्पद आदि प्राणियोंको भी सम्यग्दृष्टि भूखा नहीं रखते। उनपर अनुकम्पा करते हैं नहीं तो उनके पहले

व्रतमें अतिचार आता है अतः धारिणी रानीकी गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा और सावद्य अनुकम्पा बताना अज्ञानियोंका कार्य्य है ।

(बोल ३२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७१ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां अभयकुमारनी अनुकम्पा करी देवता मेह वरसायो, ए पिण अनुकम्पा कही ते सावद्य छै के निरवद्य छै एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै" (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अभयकुमारने तीन दिन तक उपवास किया था और ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्वक तीन दिन तक बैठा रहा। उसका कष्ट देख कर देवताके हृदयमें अनुकम्पा उत्पन्न हुई तथा अभयकुमारका जीवके साथ उस देवताके पूर्वजन्ममें जो स्नेह, प्रीति, और बहुमान थे उनका स्मरण करके उसके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हुआ था। मूलपाठमें यही बात कही है अनुकम्पा लाकर पानी वरसाना नहीं कहा है परन्तु जीतमलजी अनुकम्पा लाकर पानी वरसानेकी बात कहते हैं इनकी यह बात मिथ्या है मूलपाठमें पानी वरसानेका कारण अनुकम्पा नहीं किन्तु प्रीति कही गयी है। यह मूल पाठ लिख कर स्पष्ट किया जाता है:—

"अभयकुमार मणुकम्पमाणे देवे पुव्वभव जणिय नेहपीई वहुमान जाय सोगे"

(टीका)

हा ! तस्य अष्टमोपवास रूपं कष्टं विद्यते इति विकल्पयन्"

अर्थात् मेरे मित्रको अष्टमोपवास जनित कष्ट हो रहा है यह सोचते हुए उस देवताके हृदयमें पूर्वजन्मकी प्रीति स्नेह बहुमान (गुणानुराग) के स्मरण होनेसे मित्र विरह रूप खेद उत्पन्न हुआ।

यहां अनुकम्पा करके पानी वरसाना नहीं लिखा है आगे चल कर मूलपाठमें पानी वरसानेकी बात आई है वहां प्रीतिके कारण पानी वरसाना कहा है अनुकम्पा के कारण नहीं वह पाठ यह है—

"अभयं कुमारं एवं वयासी एवं खलुदेवाणुप्पिया ! मए तव प्पियट्ठयाए सगज्जिया सफुसिया सविज्जुया दिव्वा पाउससिरी विउव्विया"

(ज्ञाता अ० १)

अर्थः—

अर्थात् देवताने अभयकुमारसे कहा कि—

हे देवानुप्रिय ! मैंने तुम्हारे प्रेमके लिये गर्जन विद्युत और जलविन्दु पातके साथ दिव्य वर्षाऋतुकी शोभा उत्पन्न की है।

यहां अभयकुमारकी **प्रीतिके लिये** मेह वरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं अतः अनुकम्पासे मेह वरसानेकी वात मूलपाठसे विरुद्ध है।

जैसे गुणोंमें प्रेम रखने वाले देवता तप और संयमसे युक्त मुनि पर अनुकम्पा करके उत्तर वैक्रिय शरीर बना कर उनके दर्शनार्थ हर्षके साथ आते हैं और उन देवताओं के गुणानुराग और मुनि पर अनुकम्पा तथा साधु दर्शनको शास्त्रकार वैक्रिय शरीर वनाने और आने जानेकी क्रिया करनेसे बुरा नहीं किन्तु उत्तम वतलाते हैं क्योंकि गुणानुराग, अनुकम्पा और साधु दर्शन भिन्न हैं और उत्तर वैक्रिय शरीर वनाना तथा आना आदि भिन्न हैं उसी तरह आने जाने आदिकी क्रियायें भिन्न हैं और अनुकम्पा भिन्न है इस लिये आने जाने आदि क्रिया के सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं होती अतः अभय कुमार पर देवता की अनुकम्पा को सावद्य कहना अज्ञान का परिणाम है।

(बोल ३३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन १७१ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन ९ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां रयणा देवीरी अनुकम्पा करी जिन ऋषि साहमो जोयो एपिण अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा मोह कर्मरा उदयथी के मोह कर्मरा क्षयोपशम थी ए अनुकम्पा सावद्य छै के निरवद्य छै आज्ञामें छै के आज्ञा बाहिरे छै विवेक विलोचने करी विचारी जोयजो" (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिन ऋषिने रयणा देवी पर अनुकम्पा करके उसे देखा था यह भ्रमविध्वंसनकारकी बात बिलकुल झूठी और मूलपाठसे विरुद्ध है। वहां मूल पाठमें अनुकम्पाका नाम नहीं है वहां यह पाठ आया है—

"समुप्पन्न कलुणभावं" इस पाठमें जो "कलुग" शब्द आया है वह अनुकम्पा अर्थमें नहीं है क्योंकि रयणा देवी पर जिन ऋषिकी अनुकम्पा उत्पन्न होने का

कोई कारण न था किन्तु प्रियाके वियोगसे जो करुण नामक एक रस उत्पन्न होता है उसकी वहां सामग्री पूर्णरूपसे मौजूद थी इसलिये रयणा देवीके प्रति जिन ऋषिका करुण रस ही उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं अतः उक्त पाठमें आया हुआ "कलुण" शब्द करुणरसका ही बोधक है अनुकम्पाका नहीं।

ज्ञाता सूत्रके मूल पाठमें साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके विचित्र हाव भाव और कटाक्ष तथा सुरत सुखको स्मरण करके तथा उसके मनोहर शब्द और भूषणोंकी मधुर ध्वनि सुन कर जिन ऋषिके हृदयमें करुण भाव उत्पन्न हुआ था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिन ऋषिका रयणा देवीके ऊपर करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं क्योंकि अपनी प्रियाके हाव भाव कटाक्ष और सुरत सुखके स्मरण करनेसे और उसके मनोहर वाक्य तथा भूषणोंकी ध्वनि सुननेसे करुण रस ही उत्पन्न होता है अनुकम्पा नहीं उत्पन्न होती है। वह ज्ञाता सूत्रका पाठ यह है :—

"ततेणं से जिण रक्खिए चलमणे तेणेव भूसणरवेणं कण्णसुह मनोहरेणं तेहिं य सप्पणय सरल महुर भासिएहिं संजायविउलराए रयण देवीस्स देवयाए तीसे सुन्दर थण जहण वयण कर चरण नयन लावण्ण रूप जोवण सिरींचदिव्वं सरभस उवगूहियाइं जातिं विव्वोय विलसिताणिय विहसिय सकडक्खदिट्ठी निस्ससिय मलिय उवललिय ठियगमण पणयखिज्जिय पासादियाणिय सरमाणे राग मोहियमइ अवसे कम्मवसगए अवयक्खति मग्गतो सविलियं। ततेणं जिणरक्खियं समुप्पन्नकलुण भावं मच्चुगलत्थल्लणोल्लियमइं अवयक्खंतं तहेव जक्खेय सेलए जाणिऊण सणियं सणियं उव्विहति नियग पिट्ठाहिं विगयसत्थं। ततेणं सा रयण दीव देवता निस्संसा कलुणं जिण रक्खियं सकलुसा सेलग पिट्ठाहिं उवयंतं दास! मओसोत्ति जम्पमाणो अप्पत्तं सागर सलिलं गेण्हिय वाहाहिं आरसंतं उड्ढं उव्विहति अंवर तले ओवयमाणंच मंडलग्गेणं पडिच्छित्ता नीलुप्पणधवल अयसिप्पगासेण असिवरेण खडाखडिं करेति"

(ज्ञाता अ० ९)

अर्थ :—

इसके अनन्तर उस जिन रक्षितका मन रयणा देवीके ऊपर चलायमान हो गया। रयणा देवीके कर्ण मनोहर भूषण शब्द, और प्रेम सहित सरल मृदु भाषणसे जिन रक्षितका राग (मोह) रयणा देवी पर पहलेसे भी ज्यादा बढ़ कर द्विगुण हो गया। रयणा देवीके सुन्दर स्तन, जघन, मुख, कर चरण और नयनोंके लावण्यको तथा उसके शरीरकी सुन्दरता दिव्य यौवनकी शोभा हर्षके साथ आलिङ्गन करना स्त्री चेष्टा विलास मधुर हास्य सकटाक्ष दर्शन निःश्वास सुखद अंग स्पर्श रति कूजित अंक तथा आसनादि पर बैठना हंसवत् गमन प्रणय क्रोध और प्रसन्नताको स्मरण करके वह जिन रक्षित रयणा देवी पर मोहित हो गया वह अपने वशमें नहीं रह सका। वह जिन रक्षित अवश और कर्म वशीभूत होकर पीछेसे आती हुई रयणा देवीको लज्जाके साथ देखने लगा।

इसके अनन्तर प्रियाके वियोगसे जिसको करुण रस उत्पन्न हो गया था और मृत्युसे जिसका गला पकड़ लिया गया था जो यमपुरी जानेके लिये तत्पर हो गया था जो रयणा देवीको प्रेम सहित देख रहा था ऐसे जिन रक्षितको उस शैलक यक्षने धीरे धीरे अपने पृष्ठसे नीचे गिरा दिया।

इसके अनन्तर मनुष्योंका घात करने वाली द्वेषसे पूर्ण हृदय वाली उस रयणा देवीने शैलक यक्षके पृष्ठसे गिरते हुए करुणारससे युक्त उस जिन रक्षितको अरे दास ! मरा ऐसा कहती हुई समुद्रमें पहुंचानेके पहले ही अपनी भुजाओंसे ऊपर आकाशमें फेंक दिया पश्चात् अपने तीक्ष्ण शूलके ऊपर उसे रोप कर तीक्ष्ण तलवारसे खण्ड खण्ड कर डाला।

यह ज्ञाता सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है।

यहां साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके भूषणोंके मनोहर शब्द और उसके कर्णमधुर वाक्योंको सुनकर जिन रक्षितका राग रयणा देवीके ऊपर पहलेसे भी अधिक हो गया तथा रयणा देवीके शरीरकी सुन्दरता और स्तन जघन मुख आदि अंगोंको देख कर जिन रक्षित उसके ऊपर मोहित हो गया। मोहित होकर जिन रक्षित रयणा देवीकी ओर देखने लगा। यहां रयणा देवी पर मोहित होकर जिन रक्षितका उसकी ओर देखना कहा है अनुकम्पाके कारण देखना नहीं कहा है। अतः जिन रक्षितका रयणा देवीके ऊपर मोह उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं उत्पन्न हुई थी इस पाठमें जो "समुप्पन्न कलुण-भावं" यह जिन रक्षितका विशेषण आया है इसका अर्थ भी रयणा देवीके ऊपर प्रिय वियोगसे उत्पन्न होने वाला करुण रसका उत्पन्न होना ही है अनुकम्पा होना नहीं। अनुयोग द्वार सूत्रमें प्रियके वियोगसे करुण रसकी उत्पत्ति बताई है वह पाठ यहां लिखा जाता है—

"नव कव्व रसा पण्णत्ता तंजहा—

"वीरो सिंगारो अब्भुओ रोद्दो होइ बोद्धव्वो ।
वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसंतो अ"

(अनुयोग द्वार सूत्र)

अर्थ :—

नौ प्रकारके काव्यके रस होते हैं वे ये हैं—(१) वीर (२) शृंगार (३) अद्भुत (४) रौद्र (५) व्रीडनक (६) वीभत्स (७) हास्य (८) करुण (९) प्रशान्त ।

यहां करुण नामक एक रस बताया गया है उसकी उत्पत्तिका कारण भी इसी जगह मूलपाठमें कहा है । वह पाठ यह है :—

"पिय विप्पयोग बंध वह वाहि विणिवाय सम्भमुप्पण्णो । सोइय विलविय अपम्हाण रुण्णलिंगो रसो करुणो" करुणो रसो जहा—
"पज्झाय किलामिअयं वाहागयपप्पुअच्छियं बहुसो । तस्सवियोगे पुत्तिय दुव्वलयंते मुहं जायं"

(अनु० गाथा १६।१७)

अर्थ :—

प्रियके साथ वियोग होनेसे तथा बन्धन, वध, व्याधि, पुत्रादि मरण और पर राष्ट्रके भय होनेसे करुण रस उत्पन्न होता है । चिन्ता करना विलाप करना उदास होना रोगी होना इसके लक्षण हैं । इसके उदाहरणकी गाथाका यह अर्थ है—

प्रिय वियोगसे दुःखित बालासे कोई वृद्धा स्त्री कहती है कि हे पुत्रि ! अपने प्रियकी अत्यन्त चिन्ता करनेसे तुम्हारा मुख खिन्न हो गया है और अविरल अश्रुधारासे तुम्हारी आखें सदा भरी रहती हैं ।

यहां प्रियके वियोगसे करुण रसकी उत्पत्ति बता कर प्रियके वियोगसे अत्यन्त दुःखित बालाका उदाहरण दिया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रयणा देवीके वियोग से जिन ऋषिके हृदय में करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी । अतः रयणा देवीके ऊपर जिन ऋषिके करुण रसको अनुकंम्पा कायम करके अनुकम्पाको सावद्य बताना अज्ञानियोंका कार्य्य है ।

बोल ३४ वां

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १७५ के ऊपर राज प्रश्नीय सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"अथ अठे सूर्य्याभरी नाटक रूपभक्ति कही तेहनी भगवान आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न कीधी। अने सूर्य्याभ वन्दना रूप सेवा भक्ति की थी तिहां एहवो पाठ छै। "अब्भणुण्णाण मेयं सुरियाभा" एवन्दनारूप भक्तिरी म्हारी आज्ञा छै इम आज्ञा दीधी अने नाटक रूपभक्ति सावद्य छै ते मांटे आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न की थी जिम सावद्य निरवद्य भक्ति छै तिम अनुकम्पा पिण सावद्य निरवद्य छै। कोई कहे सावद्य अनुकम्पा किहां कही छै तेहणो कहिणो सावद्य भक्ति किहां कही छै"

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० १७५)

(प्ररूपक)

राज प्रश्नीय सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है—

"तएणं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ तुट्ठ चित्त माणं दिए परम सोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति एवं वयासी तुब्भेणं भन्ते! सव्वंजाणह सव्वं पासह सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह सव्वे भावे जाणह सव्वे भावे पासह जाणंतिणं देवाणुप्पिया! मम पुव्विंवा पच्छावा ममेयरूवं दिव्वंदेविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभागं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं चेति तं इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोतमातियोणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं वत्तीसति वद्धं नट्टविहिं उवदंसित्तए। तएणं समणे भगवं महावीरे सूर्य्याभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं नो आढाति नोपारिजाणाइ तुसिणिए संचिट्ठइ"

(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ :—

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीसे इस प्रकार कहा हुआ सूर्य्याभ देवता हृष्ट तुष्ट और आनन्दित चित्त होकर भगवान्‌की वन्दना नमस्कार करके कहने लगा कि हे भगवन्! आप सब कुछ जानते और देखते हैं। आप सब कालको सब भावोंको जानते और देखते हैं। तथा इस प्रकार की दिव्य देव ऋद्धि देव द्युति और दिव्य देव प्रभाव मुझको सर्वदा प्राप्त है यह भी आप जानते हैं इस लिये आपकी भक्ति पूर्वक मैं गौतमादि निग्रन्थोंको दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देव द्युति, दिव्य देव प्रभाव और वत्तीस प्रकारकी नाटक विधि दिखलाना चाहता हूं। यह सुन कर भगवान् महा-

वीर स्वामीने सूर्य्याभके कथनका आदर नहीं किया। अनुमोदन भी नहीं किया किन्तु मौन धारण कर लिया। यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है।

इस पाठमें सूर्य्याभने भक्तिपूर्वक नाटक दिखानेकी बात कही है भक्ति को ही नाटक नहीं कहा है यदि नाटक ही भक्ति होता तो इस पाटमें "भति पुव्वगं" की जगह "भत्ति रूपं" ऐसा नाटकका विशेषण आता परन्तु वह नहीं होकर जो यहां "भत्ति पुव्वगं" यह पाठ आया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटक दूसरी चीज है और भगवान्की भक्ति दूसरी है, ये दोनों एक नहीं हैं। वीतरागमें परमानुराग रखना वीतरागकी भक्ति है और वेष भाषा और भूषाके द्वारा किसी उत्तम पुरुषका अनुकरण करना नाटक है। ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं। नाटकके आरम्भमें विघ्न निवारणके लिये नट लोग भगवानकी भक्ति करते हैं यदि नाटक ही स्वयं भक्ति स्वरूप होता तो नाटकके पूर्वमें भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता थी। रागादिवासनाके उदयसे नाटक किया और देखा जाता है परन्तु वीतरागकी भक्ति, रागके क्षयोपशम आदि होनेसे की जाती है इसलिये भगवद्भक्ति और नाटक दोनों एक पदार्थ नहीं हैं। भगवान्ने भक्ति करनेकी आज्ञा दी थी परन्तु नाटककी आज्ञा नहीं दी इसलिये भक्ति और नाटक भिन्न भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं। अतः नाटकको ही भक्ति कायम करके उसे सावद्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करना अज्ञान है।

इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि नाटक स्वाध्याय का विघातक है और भगवान् महावीर स्वामी वीतराग थे इसलिये भगवानने नाटक करनेकी आज्ञा नहीं दी। यदि नाटक ही भक्ति होता तो टीकाकार स्पष्ट लिख देते कि नाटकरूप भक्ति सावद्य है इसलिये भगवान्ने उसकी आज्ञा नहीं दी थी। देखिये वह टीका यह है—

"ततः श्रमणो भगवान् सुर्य्याभेग एवमुक्तः सन् सूर्य्याभस्य देवस्यैन मनंतरोदितमर्थं नाद्रियते नतदर्थकरणायादरपरोभवत्ति नापि परिजानाति, अनुमन्यते स्वतो वीतरागत्वात् गोतमादीनांच नाट्य विधेः स्वाध्यायादि विघात कारित्वात्। केवलं तुष्णीकोऽवतिष्ठते"।

अर्थात् सूर्य्याभदेवके इस प्रकार कहने पर भगवान् महावीर स्वामीने उसके कथनका आदर नहीं किया और उसका अनुमोदन भी नहीं किया। भगवान् स्वयं वीतराग थे और नाटक गोतमादि मुनियोंके स्वाध्यायका विघातक था। अतः भगवान् इस विषयमें मौन रहे।

यहां टीकाकारने नाटककी आज्ञा न देनेका कारण भगवान्का वीतराग होना, और नाटकका गोतमादिके स्वाध्यायका विघातक होना बतलाया है परन्तु वीतराग की

भक्तिका सावद्य होना कारण नहीं बतलाया है अतः नाटकको भक्ति मान कर उसकी आज्ञा न देनेसे वीतरागकी भक्तिको सावद्य कायम् करना अज्ञानका परिणाम है। यदि नाटक भक्तिस्वरूप होता तो मूलपाठमें "भक्ति पूव्वगं" यह पाठ न होकर "भत्ति रूवं" यह पाठ आता और टीकाकार नाटककी आज्ञा न देनेका कारण भक्तिका सावद्य होना बतलाते परन्तु टीकाकारने भक्तिको सावद्य नहीं कहा है और मूलपाठमें नाटकको भक्ति-रूप नहीं कहा है अतः राजप्रश्नीय सूत्रके उक्त मूलपाठके आधार पर वीतरागकी भक्तिको सावद्य कहना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल ३५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ के ३२ वीं गाथाको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि —

"अथ अठे हरिकेशी कह्यो ए छात्राने हण्या ते यक्षे व्यावच्च की धी छै पर म्हारो दोष तीन ही कालमें न थी इहां व्यावच कही ते सावद्य छै आज्ञा वाहिरे छै अने हरिकेशी मुनिने अशनादिक दान रूप जे व्यावच ते निरवद्य छै तिम अनुकम्पा पिण सावद्य निरवद्य छै" (भ्र० पृ० १७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यक्षने ब्राह्मण कुमारोंको जो मारा था उसे मुनिका व्यावच कहना मिथ्या है क्योंकि व्यावच दूसरी वस्तु है और मारना दूसरा है। मारना ही व्यावच नहीं है अतएव गाथामें कहा है कि—

"इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति"

अर्थात् ऋषिका व्यावच करनेके लिये यक्ष, ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करने लगे।

यहां व्यावचके लिये मारना कहा है परन्तु मारनेको ही व्यावच नहीं कहा है इस लिये मारनेको ही व्यावच बतलाना मिथ्या है। जैसे भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये जहां देवताओंने वैक्रिय समुद्घात किया है वहां "वन्दन वत्तियाए" यह पाठ आया है उसी तरह यहां भी "वेयावडियट्ठयाए" यह पाठ आया है अतः जैसे भगवान् का वन्दन करनेके लिये देवताओंसे किया हुआ वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये यक्षोंसे किया हुआ ब्राह्मण कुमारोंका ताड़न भी व्यावच स्वरूप नहीं किंतु उससे भिन्न है।

तथापि यदि कोई हठ करके "वेयावडियट्ठयाए" यह पाठ देख कर मारनेको ही व्यावच कहे तो फिर उसे वन्दनके निमित्त किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घातको भी वन्दन स्वरूप ही मानना पड़ेगा और भगवान्‌का वन्दन भी वैक्रिय समुद्घात स्वरूप होने से सावद्य कहना पड़ेगा। परन्तु वैक्रिय समुद्घातको यदि वन्दन स्वरूप नहीं मान कर उसे वन्दनसे भिन्न मानते हो तो उसी तरह व्यावचको भी मारनेसे भिन्न ही मानना पड़ेगा एक नहीं मान सकते।

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथामें भी मुनिने ब्राह्मणोंसे यही कहा है कि "यक्ष मेरा व्यावच करते हैं" परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा था उसे ही मुनिने अपना व्यावच नहीं कहा था। देखिये, उत्तराध्ययनकी गाथा यह है:—

"पुव्विंच इण्हिंच अनागयंच मनप्पदोसो नमे अत्थिकोई।
जक्खाहु वेयावडियं करेंति तम्हाहु ए ए निहया कुमारा"
(उत्तरा० अ० १२ गाथा ३२)

अर्थात् आप लोगोंके प्रति मेरे मनमें न कभी द्वेष था और न है और न होगा। यक्ष मेरा व्यावच करते हैं इसलिये ये लड़के मारे गये हैं। यह उक्त गाथा अर्थ है।

यहां मुनिने यही कहा है कि यक्ष मेरा व्यावच करते हैं परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा है यह मेरा व्यावच है ऐसा नहीं कहा, इसलिये मारनेको ही व्यावच मानना, अज्ञान है।

यद्यपि यक्षोंने मुनिका व्यावच करनेके लिये ही ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था तथापि जैसे तीर्थङ्करकी वन्दनाके लिये देवताओंसे किया हुआ वैक्रिय समुद्घात वन्दनसे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये किया हुआ ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है। आज कल भी श्रावक लोग मुनियोंका दर्शन करनेके लिये रेल-गाड़ी घोड़ा गाड़ी मोटर गाड़ी आदि विविध वाहनोंमें बैठ कर दूर दूरसे मुनियोंके पास आते हैं। उनका आना मुनियोंका वन्दनके लिये ही होता है परन्तु जैसे आने जाने रूप क्रियासे मुनिका वन्दन भिन्न है उसी तरह हरि केशी मुनिका व्यावचके लिये यक्षोंके द्वारा ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है अतः मुनिके वन्दनके समान ही मुनिका व्यावच भी निरवद्य है सावद्य नहीं है।

यदि कोई कहे कि "मुनिका वन्दन तो अपने लिये किया जाता है परन्तु व्यावच अपने लिये नहीं मुनिके लिये किया जाता है इस लिये व्यावच और वन्दन दोनों समान नहीं हैं" तो उसे कहना चाहिये कि व्यावच भी वन्दनके समान अपने लिये ही किया जाता है और उस व्यावचसे जो निर्जरा होती है वह भी व्यावच करनेवाले को ही

होती है अतएव बारह प्रकारकी निर्जराओंमें व्यावच को भी गिनाया है। मुनि तो व्यावच का एक साधन मात्र हैं अतः मुनिका व्यावच भी मुनि वन्दनके समान ही निरवद्य है और वह अपने लिये ही किया जाता है। जैसे वन्दनके लिये की जाने वाली जाने आनेकी क्रिया वन्दनसे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये की जाने वाली क्रिया भी व्यावचसे भिन्न है अतः यक्षोंने हरिकेशी मुनिका व्यावच करनेके लिये जो ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था उसे मुनि का व्यावच स्वरूप कायम करके सावद्य बताना और उस के दृष्टान्त से अनुकम्पा को भी सावद्य कहना अज्ञानियों का कार्य्य समझना चाहिये।

(बोल ३६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७७ के ऊपर लिखते हैं—

"वली केतला एक कहे—गोशालाने भगवान् बंचायो ते अनुकम्पा कही छै ते मांटे धर्म छे"

तेहनो उत्तर—जो ए अनुकम्पामें धर्म छै तो अनुकम्पा घणे ठीकाने कही छै"

इत्यादि लिख कर बूट्ठे पर कृष्णजीकी और सुलसापर हरिण गमेशी आदि की अनुकम्पाका दृष्टान्त देकर गोशालक पर भगवान्‌की अनुकम्पाको सावद्य बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये थे इस अनुकम्पाको सावद्य कहना अनुकम्पाके साथ द्रोह करने वालोंका कार्य्य है। प्रश्न-व्याकरण सूत्रके मूलपाठका प्रमाण दे कर यह बतलाया जा चुका है कि मरते जीव पर दया करके उसकी प्राणरक्षा करना जैनागमका प्रधान उद्देश्य है अतः गोशालकपर अनुकम्पा करके भगवान्‌ने उसके प्राण बचाये थे। इस कार्य्यको सावद्य कहना अज्ञानका परिणाम है।

यदि कोई कहे कि गोशालकको बचानेके लिये भगवान्‌को शीतललेश्या प्रकट करनी पड़ी थी और शीतललेश्या प्रकट करनेसे जीवोंकी विराधना होती है इसलिये भगवान्‌की यह अनुकम्पा निरवद्य नहीं कही जा सकती किन्तु यह सावद्य है" तो उसे कहना चाहिये कि शीतल लेश्यासे जीवोंकी विराधना नहीं प्रत्युत उससे जीवरक्षा होती है इस लिये शीतल लेश्याका नाम लेकर भी गोशालक पर भगवान्‌की अनुकम्पा को

सावद्य कहना अज्ञान है। शीतललेश्यासे जीवकी विराधना नहीं होती यह बात विस्तार के साथ लब्धि प्रकरणमें चल कर बतलाई जावेगी।

कृष्णजीने बूढ़े पर जो अनुकम्पा की थी वह भी सावद्य नहीं है। यद्यपि अनुकम्पाके लिये कृष्णजीने बूढ़ेकी ईंट उपाडी थी परन्तु ईंट उपाडनेकी क्रिया न्यारी और अनुकम्पा न्यारी चीज है इस लिये ईंट उपाडने रूप कार्य्यके सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। यह बात विस्तारके साथ पहले बतला दी गई है अतः कृष्णजी आदिकी अनुकम्पाके उदाहरणसे गोशालक पर भगवान्‌की अनुकम्पाको सावद्य बताना अज्ञान मूलक ही है।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १७८ पर लिखते हैं :—

"एकार्य्यनी मनमें अपनी हियो कम्पायमान हुवो ते मांटे ए अनुकम्पा पिण सावद्य छै। इहां अनुकम्पा अने कार्य्य संलग्न छै। जे कृष्णजी ईंट उपाडी ते अनुकम्पाने अर्थे "अनुकम्पणट्ठयाए" एहवूं पाठ कह्यो छै। ते अनुकम्पाने अर्थे ईंट उपाडी मूकी तें मांटे एकार्य्यथी अनुकम्पा संलग्न छै एकार्य्य रूप अनुकम्पा सावद्य छै। इम हरिण गमेशी तथा धारिणी अनुकम्पा की धी तिहां पिण "अनुकम्पट्ठयाए" पाठ कह्यो ते मांटे ते अनुकम्पा पिण सावद्य छै। जिम भगवती शतक ७ उद्देशा २ कह्यो "जीवो दव्वट्ठयाए सासए भावट्ठयाए असासए" जीव द्रव्यार्थे सासतो भावार्थे असासतो कह्यो ते द्रव्य भाव जीव थी न्यारा नहीं तिम कृष्ण आदि जे सावद्य कार्य्य किया ते तो अनुकम्पा अर्थे किया ते मांटे ए कार्य्य थी अनुकम्पा पिण न्यारी न गिणवी" (भ्र० पृ० १७८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुकम्पाके निमित्त जो कार्य्य किया जाता है वह यदि अनुकम्पासे भिन्न नहीं है तो फिर भगवान महावीर स्वामी और साधुओंका दर्शनके लिये जो कार्य्य किया जाता है वह भी भगवान महावीर स्वामी और साधुओंके दर्शनसे भिन्न न होना चाहिये। ऐसी दशामें अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यके वजहसे जैसे अनुकम्पाको भ्रम विध्वंसनकार सावद्य कहते हैं उसी तरह दर्शनके लिये किये जाने वाले कार्य्यकी वजहसे दर्शनको भी सावद्य कहना चाहिये। जैसे कृष्णजीकी अनुकम्पाके विषयमें "अनुकम्पणट्ठाए" यह पाठ आया है उसी तरह भगवान् महावीर स्वामीके दर्शनार्थ कौणिक राजा

ने जहां चतुरंगिणी सेना सजाई है और पुरीका संस्कार कराया है वहां भी "निज्जा-इस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवन्दइए" यह पाठ आया है। इस पाठमें कौणिक राजा ने भगवान महावीर स्वामीकी वन्दनाके लिये सेना सजाने और पुरीका संस्कार करानेकी आज्ञा दी है। यदि अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे अनुकम्पा संलग्न है तो फिर वन्दनाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे वन्दनाको भी संलग्न मानना चाहिये और जैसे अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे संलग्न होकर अनुकम्पा सावद्य होती है उसी तरह वन्दनाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्योंसे संलग्न होकर वंदना भी सावद्य हो जानी चाहिये। परन्तु यदि वन्दनाके निमित्त किये जाने वाले, सेना सजाने और पुरीका संस्कार कराने रूप कार्य्यसे वन्दनाको संलग्न नहीं मानते और वन्दनाको सावद्य नहीं कहते तो उसी तरह अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यसे अनुकम्पाको भी संलग्न नहीं मानना चाहिये और अनुकम्पाको भी सावद्य नहीं कहना चाहिये।

वास्तवमें जैसे भगवानकी वन्दनाके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है और भगवानकी वन्दना दूसरी है उसी तरह अनुकम्पाके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है और अनुकम्पा दूसरी है अतः जैसे तीर्थंकरकी वन्दनाके लिये किये जाने वाले कार्य्यके आज्ञा वाहर होने पर भी तीर्थंकरकी वन्दना आज्ञा वाहर नहीं है उसी तरह अनु-कम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यके आज्ञा वाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा वाहर और सावद्य नहीं है।

भगवान महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये कौणिक राजाने चतुरंगिणी सेना सजाई थी और पुरीका संस्कार कराया था। वह पाठ यह है :—

"तएणं कुणिए राया भिंभसार पुत्ते वलवाउअं आमंतेइ आमं-तेत्ता एवंवयासी—खिप्पामेव देवाणुप्पिया। अभिसेक्कं हत्थि रयणं परिकप्पेहि, हय, गयरह पवर जोह कप्पियंच चाउरंगिणीं सेण्णं सन्नाहेहि। सुभद्दा पमुहाणय देवीणं वाहिरियाउ उवट्ठाण सालाए पडिएक्क एडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह। चम्पं नयरीं सब्भिंतर वाहरियं असित्त सित्त सुइ समट्ठ रथंतरावण वीहियं मंचाइं मंच कलियं नाना विह राग उच्छिय झय पडागाइं पडामंडियं लाउल्लोइयमहियं गोसीस सरस रत्तचंदन जाव गंधवहिभूयं करेह

कारवेह कारेत्ता कारवेत्ता एमाणत्तियं पच्चपिण्णाहि, निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए"

(उवाई सूत्र)

अथः—

इसके अनन्त बिम्बसारका पुत्र कौणिक राजाने अपने सेनापतिको बुला कर कहा कि हे देवानुप्रिय! मेरे प्रधान हस्ति रत्नको शीघ्र तैयार करो और हाथी, घोड़े, रथ तथा प्रधान योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना सजाओ। सुभद्रा आदि रानियोंके जानेके लिये प्रत्येकके निमित्त अलग अलग रथ जोता कर खड़ा करो। झाड़ू बुहाड़ू सेचन लेपन आदिसे चम्पा नगरीके बाजार सड़क गली आदिका संस्कार कराओ। सेनाको यात्रा देखनेके लिये आने वाले दर्शक लोगोंके निमित्त मंच आदि बंधवा दो। कृष्णागुरु धूप आदिसे पुरीको सुगन्धित करो। मेरी इस आज्ञाका शीघ्र पालन करा कर सूचना दो मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये जाऊंगा। इस पाठका यह अर्थ है।

इस पाठमें कहा है कि "बिम्बसार पुत्र राजा कौणिकने भगवान महावीर स्वामी का वन्दन करनेके लिये चतुरंगिणी सेना सजाई और पुरीका संस्कार कराया था" जब कौणिकके मनमें भगवान महावीर स्वामीके वन्दनका भाव उत्पन्न हुआ तब उसने सेना सजायी और पुरीका संस्कार कराया। सेना सजाना और पुरीका संस्कार कराना आज्ञा बाहर है तथापि इन कार्य्योंसे भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन सावद्य नहीं होता क्योंकि ये कार्य्य दूसरे हैं और वंदन दूसरा है उसी तरह अनुकम्पाके भाव आने पर जो कार्य्य किया जाता है वह कार्य्य दूसरा है और अनुकम्पा दूसरी है इस लिये अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर या सावद्य नहीं होती।

सूर्य्याभदेवने भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये जाते समय सुघोष नामक घण्टा बजाकर देवोंको सूचित किया था। वह पाठ यह है:—

"सूरियाभे देवे गच्छइणं भो सूरियाभेदेवे जम्बूदीवं २ भारह वासं आमलकप्पं नगरीं अम्बसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं अभिवन्दए। तं तुब्भेऽविणं देवाणुप्पिया! सव्विड्ढिए अकाल परिहीणाचेव सूरियाभस्स अंतियं पाउब्भह"

(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थः—

सूर्य्याभ देवने भगवान् महावीर स्वामीकी वन्दना करनेके लिये जाते समय सुघोष नामक घण्टा बजा कर अपने विमान वासी देवताओंको सूचित किया कि हे देवानुप्रियों! सूर्य्याभ देवता जम्बू द्वीपके भारतवर्ष में भगवान् महावीर स्वामीको वन्दना करनेके लिये आम्रकल्पा नगरीके आम्रशाल नामक उद्यानमें जा रहा है अतः आप लोग भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धियोंसे युक्त होकर शीघ्र ही सूर्य्याभ देवके समीप आ जावें।

इस पाठमें कहा है कि "सूर्य्याभदेवने भगवान् महावीर स्वामीकी वन्दनाके लिये जाते समय सुघोष नामक घण्टेको बजा कर देवताओंको सूचना दी थी"। जब सूर्य्याभ देवके हृदयमें भगवान महावीर स्वामीको वन्दन करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब उसने घण्टा बजाकर देवोंको सूचना दी थी। घण्टा बजानेके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते इस लिये घण्टा बजाना आज्ञा बाहर है। जो लोग अनुकम्पाके भाव आनेसे जो कार्य्य किया जाता है उसकी वजहसे अनुकम्पाको सावद्य कहते हैं उनके मतमें भगवानकी वन्दना भी सावद्य कहनी चाहिये क्योंकि वन्दनाके भाव आनेसे ही सूर्य्याभदेवने सुघोष नामक घण्टा बजाया था। यदि घण्टा बजाना दूसरा है और वन्दना करना दूसरा है इस लिए घण्टा बजाना आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दना आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा दूसरी है और उसके लिये जो कार्य्य किया जाता है वह दूसरा है इस लिये अनुकम्पाके लिये किये जाने वाले कार्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावद्य नहीं है।

सूर्य्याभकी आज्ञा पाकर देवता लोग जब भगवानका दर्शन करनेके लिये सूर्य्याभ के समीप आये हैं उस समयका वर्णन करनेके लिये यह पाठ आया है :—

"एयमट्ठं सोचा णिसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियया अप्पेगइया वन्दन वत्तियाए अप्पेगइया पूयण वत्तियाए अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए अप्पेगइया असुयाइं सुणिस्सामो सुयाइं अट्ठाइं हेउइं पासिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो अप्पेगइया सूरियाभस्स वयण मणुवत्तमाणा अप्पेगइया अन्न मन्न मणुवत्तमाणा अप्पेगइया जिण-भत्तिरागेणं अप्पेगइया धम्मोत्ति अप्पेगइया जियमेयंत्ति कट्टु सव-ड्ढिए जाव अकाल परिहीणाचेव सुरियाभस्स अन्तियं पाउब्भवति"

(राज प्रश्नीय सूत्रम्)

अर्थः—

यह सुन कर हृष्ट तुष्ट हृदय वाले देवतागण, कोई भगवानकी वन्दना करनेके लिये, कोई उनकी पूजा करनेके लिये, कोई सत्कार सम्मान करनेके लिये, कोई कौतूहलके लिये, कोई नहीं सुनी हुई बातको सुननेके लिये और सुने हुए संदिग्ध अर्थको पूछनेके लिये, कोई सूर्य्याभकी आज्ञा पालन करनेके लिये, कोई अपने मित्रकी आज्ञा पालनके लिये, कोई भगवद्भक्तिके अनुरागसे, कोई धर्म समझ कर, सम्पूर्ण ऋद्धियोंसे युक्त होकर सूर्य्याभके निकट उपस्थित हुए।

इस पाठमें कहा है कि "देवता लोग भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन नमस्कार सत्कार सम्मान और सेवा शुश्रूषा करनेके लिये सूर्य्याभके निकट सब ऋद्धियोंसे युक्त होकर आए"। देवताओंके हृदयमें जब भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब वे सूर्य्याभके पास आये थे अतः भ्रमविध्वंसनकार के हिसाबसे भगवान्‌का वन्दन नमस्कार भी सावद्य ही ठहरेगा क्योंकि साधु किसीको कहीं जाने आनेकी आज्ञा नहीं देते। परन्तु यदि आने जानेकी क्रिया दूसरी है और वन्दन नमस्कार दूसरा है इसलिये आने जानेकी क्रियाके आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दन नमस्कार आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा भी दूसरी है और उसके लिये किया जाने वाला कार्य्य दूसरा है। उस कार्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावद्य नहीं है। अतः अनुकम्पाके लिये की जाने वाली क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

जिस कार्य्यके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप है यह भ्रमविध्वंसनकारकी प्ररूपणा भी मिथ्या है क्योंकि मुनि लोग किसीको साधुका दर्शन करनेके लिये जानेकी भी आज्ञा नहीं देते तथापि साधु का दर्शन करने के लिये जाना एकान्त पाप नहीं है।

भगवती सूत्र और राजप्रश्नीय सूत्रमें यह पाठ आया है—"तहारूवाणं अरिहंताणं भगवंताणं नाम गोयस्सवि सवणयाए महाफलं किमङ्ग पुण अभिगमण वन्दन नमंसण परिपुच्छण पज्जुवासणआए"

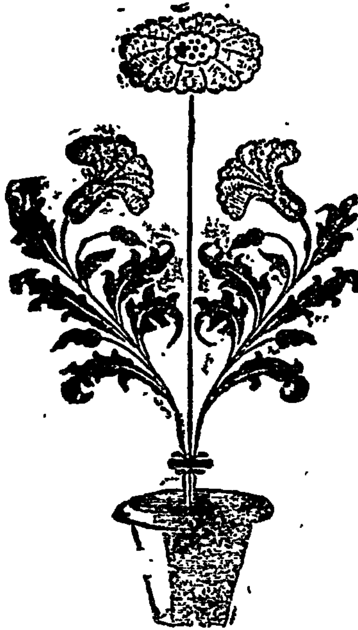
अर्थात् तथारूपके अरिहंत और भगवंतोंके नाम गोत्रके श्रवण करनेसे भी महान् फल होता है फिर उनके सम्मुख जाने, वन्दन नमस्कार करने, कुशल प्रश्न करने और सेवा शुश्रूषा करनेसे तो कहना ही क्या है अर्थात् उससे तो अवश्य ही महान् फल होता है।

इस पाठमें अरिहंत भगवन्तोंके सम्मुख जानेका महान् फल बतलाया है परन्तु साधु किसीको अरिहंतोंके संमुख जानेकी आज्ञा नहीं देते तथापि शास्त्रकार अरिहंतोंके

सम्मुख जानेसे महान् फल होना बतलाते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस कार्य्य के लिये साधु आज्ञा नहीं देते वह सब कार्य्य एकान्त पाप ही हो यह कोई नियम नहीं है अतः आज्ञा बाहर के कार्य्यों को एकान्त पाप कहना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

(बोल ३८)

इति अनुकम्पाधिकारः ।



अथ लब्ध्यधिकारः ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमें शीतल लेश्याको प्रकट करके गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसमें भगवान्को जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं लगी थीं क्योंकि पन्नावणा पद ३६ में तेजः समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रिया लगना बतलाया है। शीतल लेश्या भी तेजो लेश्या ही है इसलिये उसमें भी तेजः समुद्घात होता है अतः शीतल लेश्याको प्रकट करके भगवान्ने जो गोशालक की प्राणरक्षा की थी उसमें उनको जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियायें लगीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तेजः समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाओंका लगना शास्त्र में कहा है परन्तु तेजः समुद्घात उष्ण तेजोलेश्याके प्रकट करनेमें ही होता है शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें नहीं होता।

भगवती शतक १५ उद्देशा १ में उष्ण तेजोलेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात होना बतलाया है परन्तु शीतल लेश्या के प्रकट करने में नहीं कहा है वह पाठ यह है:—

"तएणं से गोशाले मंखलि पुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ पासइत्ता ममं अंतिआओ सणियं पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी—किं भवं मुणी मुणीए उदाहु जुया सेज्जा संतरए ? तएणं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स एवमट्ठं नो आढाइ नो परिजाणइ तुसिणीए संचिट्ठइ। तएणं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चंपि एवं वयासी— किं भवं मुणी मुणीए जावसेज्जायरए। तएणं से वेसियायणे बाल-

तवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे असुरुत्ते जाव मिस मिसे माणे आयावण भूमिओ पच्चोसक्कइ पच्चोसक्कइत्ता तेया समुग्घाएणं समोहणइ समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चो सक्कइ पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयं णिसिरइ तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स अणुकम्पणट्ठयाए वेसियायणस्स वालतवस्सिस्स सा उसिण तेयलेस्सा तेय पडिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निस्सरामि । जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स साउसिण तेय लेस्सा पडिहया"

(भगवती शतक १५ उद्देशा १)

अर्थः—

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बालतपस्वीको देखा । देख कर धीरे धीरे मेरे पाससे हट कर उसके पास गया वहां जाकर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बाल तपस्वीसे कहा कि "तुम कोई मुनि हो या जूं आदिको शय्या हो ?" यह सुन कर वैश्यायन बालतपस्वीने गोशालककी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया किन्तु मौन धारण करके रहा । पश्चात् गोशालक मंखलिपुत्रने दो तीन बार यही बात कही । यह देख कर क्रोधके मारे मिस मिस करता हुआ वैश्यायन बाल तपस्वीने आतापन भूमिसे पीछे हट कर तेजका समुद्घात किया । तेजका समुद्घात करके सात आठ पैर पीछे हट कर गोशालक मंखलिपुत्रका वध करनेके लिये अपने शरीर सम्बन्धी तेजको गोशालकके ऊपर फेंका । हे गोतम ! उस समय गोशालक मंखलिपुत्रकी अनुकम्पाके लिये उस पर आती हुई तेजोलेश्याके निवारणार्थ मैंने शीतललेश्या छोडी । मेरी शीतललेश्या से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजो लेश्या प्रतिहत हो गई । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमें उष्ण तेजो लेश्याके वर्णनमें तेजके समुद्घात होनेका कथन है परन्तु शीतललेश्याके प्रकट करनेमें तेजके समुद्घात होनेका जिक्र नहीं है इसलिये शीतल लेश्यामें तेजके समुद्घात होनेकी बात अप्रामाणिक है । जब कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात नहीं होता तब फिर उसमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रियाएं कैसे लग सकती हैं ? अतः शीतल तेजो लेश्याके प्रकट करनेमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रिया लगनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या समझनी चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

"तेजः समुद्घात" शब्दका प्रमाणके साथ अर्थ बतलाइये जिससे यह ज्ञात हो जाय कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात क्यों नहीं होता ?"

(प्ररूपक)

प्राचीन आचार्य्योंने तेजः समुद्घात शब्दका यह अर्थ किया है—

"तेजो निसर्ग लब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादिः सप्ताष्टौपदानि अवष्वष्क्य विष्कंभ वाहल्याभ्यां शरीरमान मायामतस्तु संख्येय योजन प्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद्वहिः प्रक्षिप्य क्रोध विषयी कृतं मनुष्यादिं निर्दहति तत्रच प्रभूतांस्तैजसशरीरनामपुद्गलान् शातयति"

(प्रवचन सारोद्धार २३१ द्वार)

अर्थः—

तेजो लब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात आठ पैर पीछे हट कर अपने शरीरके समान स्थूल और विस्तृत तथा संख्यात योजन पर्य्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्डको बाहर निकाल कर क्रोध विषयीभूत मनुष्य आदिको जला देता है इसमें बहुतसे तैजस शरीर नाम वाले पुद्गलोंका शातन होता है इसलिये इसे तेजः समुद्घात कहते हैं। यह प्रवचन सारोद्धारके ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है।

इसमें, क्रोधित हो कर तेजोलब्धि धारी साधु किसीको जलानेके लिये जो उष्ण तेजोलेश्याका प्रक्षेप करता है उसीमें तेजका समुद्घात होना कहा है परन्तु किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये जो शीतल लेश्या छोड़ी जाती है उसमें तेजका समुद्घात होना नहीं कहा है अतः भगवान् महावीर स्वामीने गोशालककी प्राणरक्षा करनेके लिये जो शीतल लेश्या छोडी थी उसमें तेजके समुद्घातका नाम लेकर जघन्य तीन और उत्कृष्ट पांच क्रिया लगनेकी प्ररूपणा करना मिथ्या है।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

उष्णलेश्या के प्रकट करनेमें जिन क्रियाओं का लगना बतलाया है उनके नाम और अर्थ बतलाइये।

(प्ररूपक)

वे क्रियाएं पांच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकरणिकी (प्राद्वेषिकी), (४) पारितापनिकी (५) प्राणातिपातिकी। ये पांच ही क्रियायें हिंसाके साथ सम्बन्ध होनेसे

लगती हैं रक्षा करने वालेको नहीं लगतीं। इनका अर्थ ठाणाङ्ग सूत्रका मूल पाठ देकर बताया जाता है।

"काइया किरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—अनुवरयकायकिरियाचेव दुप्पउत्त कायकिरियाचेव। आहिकरणिया किरिया दुविहापन्नत्ता तंजहा—संजोयणाधिकरणिया चेव निवत्तनाधिकरणिया चेव। पाउसिया किरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—जीव पाउसिया चेव अजीव पाउसिया चेव। पारियावणियाकिरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा सहत्थ पारियावणियाचेव परहत्थपारियावणियाचेव। पाणाइवाय किरिया दुविहा पन्नत्तो तंजहा—सहत्थ पाणाइवाय किरियाचेव परहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव।"

(ठाणाङ्ग ठाणा २)

अर्थः—

जो क्रिया शरीरसे की जाती है वह कायिकी क्रिया है वह दो तरहकी होती है अनुपरत काय क्रिया और दुष्प्रयुक्त काय क्रिया।

जो क्रिया सावद्य कर्मोंसे नहीं हटे हुए मिथ्या दृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुषके शरीरसे उत्पन्न होकर कर्मबन्धका कारण होती है वह 'अनुपरत-काय क्रिया' कहलाती है। प्रमत्त संयत पुरुष, अपने शरीरसे इन्द्रियोंकी इष्टानिष्ट वस्तुकी प्राप्ति और परिहारके लिये जो स्वल्प संवेग और निर्वेद होनेसे क्रिया करता है वह क्रिया 'दुष्प्रयुक्त काय क्रिया' कहलाती है। अथवा मोक्ष मार्गके प्रति दुर्व्यवस्थित प्रमत्त संयत पुरुष, अशुभ मानसिक संकल्पके साथ जो शरीरसे क्रिया करता है वह 'दुष्प्रयुक्त काय क्रिया' है 'आधिकरणिकी क्रिया' दो तरहकी है (१) 'संयोगजनाधिकरणिकी (२) निर्वर्त्तनाधिकरणिकी" तलवारमें उसके मूंठ जोड़नेकी क्रियाको 'संयोजनाधिकरणिकी' कहते हैं। तलवार तथा उसके मूठको बनानेकी क्रियाको "निर्वत्त नाधिकरणिकी क्रिया" कहते हैं।

जो क्रिया किसी पर द्वेष करके की जाती है उसे 'प्राद्वेषिकी' कहते हैं। यह भी दो तरहकी होती है। (१) जीव प्राद्वेषिकी और (२) अजीव प्राद्वेषिकी। किसी जीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है वह 'जीव प्राद्वेषिकी' है और जो अजीव पर द्वेष करके की जाती है वह 'अजीव प्राद्वेषिकी' है।

किसीको ताडन आदिके द्वारा परिताप देनेको 'पारितापनिकी' क्रिया कहते हैं। यह दो तरहकी है 'स्वहस्त पारितापनिकी' और 'परहस्त पारितापनिकी' अपने हस्तसे किसीको ताप देना

स्वहस्त पारितापनिकी' क्रिया है और दूसरेके हस्तसे परिताप दिलाना "परहस्त पारितापनिकी" क्रिया है।

किसी जीवका घात करना "प्राणातिपातिकी' क्रिया है। यह भी द्विविध होती है। (१) स्वहस्त प्राणातिपातिकी और (२) परहस्तप्राणातिपातिकी'। अपने हाथसे प्राणियोंका घात करना 'स्वहस्त प्राणातिपातिकी' है और दूसरेके हाथसे प्राणीका घात कराना 'परहस्तप्राणातिपातिकी' क्रिया है।

यह ठाणाङ्गके उक्त मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें कायिकी आदि पांच क्रियाओंका जो स्वरूप बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी प्राणीकी रक्षा करनेके लिये जो शीतल लेश्या प्रकट की जाती है उसमें ये क्रियाएं नहीं लगतीं किन्तु उष्ण लेश्याका प्रयोग करके किसी जीवकी हिंसा करनेमें लगती हैं। किसी जीवको घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है यह क्रिया किसी जीव की रक्षा करनेमें कैसे लग सकती है? क्योंकि जीवोंकी रक्षा करना उनका घात करना नहीं है। किसी जीवको ताडन आदि करनेसे "पारितापनिकी" क्रिया लगती है परन्तु जो किसीका ताडन आदि नहीं करता है वल्कि उसकी रक्षा करता है उस रक्षक पुरुषको पारिता पनिकी क्रिया किस प्रकार लग सकती है? क्योंकि रक्षा करना परिताप देना नहीं है।

किसी जीवपर द्वेप करनेसे प्राद्वेषिकी क्रियाका लगना वतलाया है अतः जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसको प्राद्वेषिकी क्रिया कैसे लग सकती है? क्योंकि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना उस पर द्वेप करना नहीं है। तलवार आदि घातक पदार्थोंके बनाने और उनमें मूंठ आदि जोड़नेसे 'आधिकरणिकी क्रियाका लगना कहा है। जो पुरुष किसी मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह तलवार आदि घातक पदार्थोंका निर्माण, या उनमें मूंठ आदि नहीं जोड़ रहा है फिर उसको 'आधिकरणिकी क्रिया' कैसे लग सकती है? मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना शरीरका दुष्प्रयोग नहीं किन्तु सुप्रयोग करना है अतः जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसे कायिकी क्रिया भी नहीं लग सकती। इस लिये भगवान महावीर स्वामीने शीतल लेश्या प्रकट करके जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी उसमें भगवानको क्रिया लगनेकी बात मिथ्या है। स्वयं भ्रम विध्वंसनकारने भी पृष्ठ १८१ पर लिखा है:—

"अथ अठे वैक्रिय समुद्घात करी पुद्गल काढे ते पुद्गला सूं जेतला क्षेत्रमें प्राण-भूत जीव सत्वनी घात हुवे ते जाव शब्दमें ओल खाओ छै। ते पुद्गला थी विराधना हुवे तिणसूं उत्कृष्ट पांच क्रिया कही इम वैक्रिय लब्धिफोड्यां पांच क्रिया कही। हिवे तेजू

लेश्या फोडे ते पाठ लिखिए छै" इसके आगे लिखते हैं कि "अथ इहां वैक्रिय समुद्घात करितां पांच क्रिया कही विमहिज ते जू समुद्घात करिता पांच क्रिया जाणवी"

यह लिख कर जीतमलजीने जीव विराधना होनेसे उत्कृष्ट पांच क्रिया लगना स्वीकार किया है परन्तु गोशालककी प्राण रक्षा करनेके लिये जो भगवान्ने शीतल लेश्या प्रकट की थी उसमें कौन सी जीव विराधना हुई जिससे भगवान्को पांच क्रिया लगेगी ? यह बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये । शीतल लेश्यासे किसी भी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि जीवोंको सुख शान्ति होती है फिर शीतल लेश्यामें उक्त पांच क्रियाओंके लगनेकी बात बिलकुल मिथ्या है ।

पन्नावणा पद ३२ में तेजके समुद्घात होनेसे पांच क्रियाओंका लगना कहा है परन्तु उष्ण तेजो लेश्याके प्रयोगमें ही तेजका समुद्घात होता है शीतल लेश्याके प्रयोगमें नहीं अतः शीतल लेश्याके प्रयोगमें तेजके समुद्घातका नाम लेकर उसमें उत्कृष्ट पांच क्रियाओंके लगनेकी स्थापना करना मिथ्या है ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

शीतल लेश्या किसे कहते हैं यह सप्रमाण बतलाइये ।

(प्ररूपक)

"अगण्य कारुण्यवशादनुग्राह्यं प्राति तेजो लेश्या प्रशमन प्रत्यल शीतल तेजो विशेष विमोचन सामर्थ्यो ।"

(प्रवचन सारोद्धार)

अतिशय दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुषके प्रति तेजो लेश्याको शान्त करनेमें समर्थ शीतल तेजो विशेषके छोड़नेकी शक्तिका नाम 'तेजो लेश्या' है । यह शीतल लेश्याका स्वरूप प्रवचन सारोद्धारमें बतलाया है । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहां उष्ण तेजो लेश्या जलानेका काम करती है वहां शीतल लेश्या शान्तिका कार्य्य करती है । उष्ण तेजो लेश्या जीव हिंसाके लिये चलाई जाती है और शीतल लेश्या जीव रक्षाके लिये चलाई जाती है । जैसे धूप और छाया, परस्पर एक दूसरेसे विरुद्ध गुण वाले हैं उसी तरह ये दोनों लेश्यायें परस्पर विरुद्ध गुण वाली हैं । अतः उष्ण तेजो लेश्याके छोड़नेसे जीवोंकी विराधना होती है और जीव विराधना होनेसे उष्ण तेजो लेश्यामें उत्कृष्ट पांच क्रिया लगती हैं परन्तु शीतल तेजो लेश्यासे किसी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि उससे जीवकी रक्षा होती है इसलिये जीव विराधनासे उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त क्रियाएं

शीतल लेश्यामें नहीं लगतीं। अतः शीतल लेश्याके द्वारा भगवान्ने गोशालककी प्राण रक्षा की थी उसमें भगवानको उत्कृष्ट पांच क्रिया लगनेकी बात मिथ्या समझनी चाहिये।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ११८ पर लिखते हैं—

"अने जो लब्धि फोडी गोशालाने बंचायां धर्म हुए तो केवल ज्ञान उपना पछे गोशाला दोय साधां वाल्या त्यांने क्यूं न बचायो। जो गोशालाने बंचाया धर्म छै तो दोय साधांने बंचाया घणा धर्म हुवे। तिवारे कोई कहे भगवान केवली था सो दोय साधांरे आयुषो आयो जाण्यो तिणसूं न बंचाया इमकहे तेहनो उत्तर जो भगवान केवल ज्ञानी आयुषो आयो जाण्यो तिणसूं न बंचाया तो और गोतमादिक छद्मस्थ साधु लब्धि धारी घणाइं हुन्ता त्यांने आयुषो आयारी खबर नहीं त्यां साधांने लब्धि फोडीने क्यूं न बंचाया। (भ्र० पृ० १८९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

केवल ज्ञान होने पर भगवान महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बंचाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप बताना मन्द बुद्धिका कार्य्य है। मूल पाठ तथा टीकामें कहीं भी नहीं कहा है कि भगवान महावीर स्वामीने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप जान कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बंचाया था बल्कि टीकाकारने यह साफ साफ लिख दिया है कि गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्यम्भावी था इस लिये भगवानने उनकी रक्षा नहीं की। वह टीका यह है—

"अवश्यम्भावि भावत्वा द्वेत्यवसेयम्"

अर्थात् गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार था इस लिये भगवान उनकी रक्षा नहीं कर सके। यदि रक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार यह स्पष्ट लिख देते कि जीवरक्षामें पाप होना देख कर भगवानने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की परन्तु टीकाकारने ऐसा नहीं कह कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका कारण अवश्य होनहार बतलाया है अतः गोशालक की प्राणरक्षा करने से भगवान्को पाप लगनेकी प्ररूपणा मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकार मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहते हैं परन्तु किसी साधुको विहार करानेमें पाप नहीं कहते ऐसी दशामें भगवान् महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको वहांसे विहार क्यों नहीं करा दिया ? क्योंकि केवल ज्ञानी होनेके कारण उन को यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक, सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जलावेगा। ऐसी खबर रहने पर भी भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वाभूतिको जो वहांसे अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान्को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका गोशालककी क्रोधाग्निसे जल कर मरना अवश्य भावी भाव है। इसीसे भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करनेमें पाप होना जानकर नहीं।

शास्त्रमें कहा है कि तीर्थंकरों में ऐसा अतिशय होता है जिस से उनके निवास स्थानसे १५ योजन तक किसी प्रकारका उपद्रव नही होता। सभी प्राणी परस्पर वैर भावको छोड़ कर मित्र मित्रकी तरह रहते हैं। ऐसा विलक्षण भगवान्का अतिशय होते हुए भी गोशालकने भगवान् महावीर स्वामीके सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया यह होनहारका ही प्रभाव था। अन्यथा भगवान्के अतिशयसे ही यह बात नहीं हो सकती थी। जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे ?। गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा के लिये कुछ प्रयत्न नहीं किया था मरते जीवकी रक्षामें पाप होना जानकर नहीं। अतः सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना उक्त टीका तथा प्रश्न व्याकरणादि सूत्रों से विरुद्ध समझना चाहिये।

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि "केवल ज्ञानी होनेके कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका आयुपूर्ण होना जानते थे तथापि गोतमादि छद्मस्थ मुनियोंको इस बातका ज्ञान न था। यदि रक्षा करनेमें धर्म था तो उन लोगोंने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीवरक्षा करनेमें धर्म नहीं है" परन्तु भ्रमविध्वंसनकारकी यह बात भी अज्ञानसे खाली नहीं है क्योंकि चौदह पूर्व धारी साधु छद्मस्थ होते हुए भी उपयोग लगाकर आयुपूर्ण होना जान सकते हैं। धर्मघोप मुनिने छद्मस्थ हो कर भी उपयोग लगा कर धर्मरुचि मुनिका सम्पूर्ण वृत्तांत जान लिया था और उनकी आत्माको सर्वार्थ सिद्धमें देखा था अतः गोतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानमूलक ही है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १८९ पर भगवती सूत्रकी टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ टीकामें पिण इम कह्यो ते गोशालानो रक्षण भगवन्ते कियो ते सराग पणे करी अने सुनक्षत्र सर्वानुभूतिनो रक्षण न करस्ये ते वीतराग पणे करी एतो गोशालाने बंचायो ते सराग पणो कह्यो पिण धर्म न कह्यो ए सराग पणाना अशुद्ध कार्य्यमें धर्म किम कहिए" (भ्र० पृ० १८९।१९०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सरागपनेके कार्य्यमें धर्म नही होता यह भ्रमविध्वंसनकारका कथन अज्ञान से परिपूर्ण है। अपने धर्म, धर्माचार्य्य और दया आदि उत्तम गुणोंमें राग रखना भी सरागताका ही कार्य्य है परन्तु इससे पाप होना शास्त्रमें नहीं कहा है बल्कि शास्त्रमें इसकी प्रशंसा की है। शास्त्रमें ये वाक्य मिलते हैं—

"धम्मायरियापेमाणुरायरत्ता" "अट्ठिमिञ्जा पेमाणुरायरत्ता" "तीव्वधम्मानुरागरत्ता" इनके क्रमशः अर्थ ये हैं:—

अपने धर्माचार्य्यमें प्रेमानुरागसे रक्त। हड्डी और मज्जाओंमें प्रेम और अनुराग से रंगे हुए। धर्मके तीव्र अनुरागसे रंगे हुए।

ये बातें शास्त्रमें प्रशंसाके लिये कही गई हैं परन्तु धर्माचार्य्यमें प्रेमानुराग रखना, अपने धर्ममें तीव्र अनुराग रखना और हड्डी तथा मज्जाओंमें आचार्य्यके प्रति प्रेमानुरागसे रक्त होना सरागताके ही कार्य्य हैं इसलिये भ्रमविध्वंसनकार के हिसावसे इन कार्य्योंमें भी पाप ही होना चाहिये क्योंकि ये सरागताके ही कार्य्य हैं। शास्त्रकार ने तो इन कार्य्योंको पाप नहीं किन्तु धर्म जान कर इनकी प्रशंसा की है अतः सरागताके सभी कार्य्योंमें पाप बताना अज्ञानका परिणाम है।

वास्तवमें हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदिमें राग रखना बुरा है पाप है परन्तु धम, धर्माचार्य्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम और जीव दया आदिमें राग रखना धर्म है पाप नहीं है।

भिक्खूयश रसायन नामक ग्रन्थमें जीतमलजीने लिखा है कि—"रूडे चित्त भेल्या रहा, वरषट् संत वदीत हो। जाव जीव लगि जाणियो, परम माहो माही प्रीति हो।"

इस पद्यमें जीतमलजी कहते हैं कि छः साधुओंका जन्म भर भीषणजीमें परम प्रेम था। क्या यह सरागताका कार्य्य नहीं है ? यदि है तो जीतमलजी और उनके अनुयायी इसे पाप क्यों नहीं मानते ? यदि अपने धर्माचार्य्य और धर्ममें राग रखना सरागताका कार्य्य होने पर भी पाप नहीं है तो फिर जीवदयामें राग रखना पापका कार्य्य कैसे हो सकता है ?। अतः सरागताके सभी कार्य्योंको पाप बतला कर भगवान् महावीर स्वामीने दयाके प्रेमसे जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी उसमें पाप बताना नितान्त मिथ्या समझना चाहिये।

भगवती सूत्रकी जिस टीकाको लिख कर जीतमलजीने भ्रम फैलाया है उसे लिख कर उसका अर्थ किया जाता है जिससे जनताका भ्रम दूर हो जाय।

"इहच यद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद्भगवतः। यच्च सुनक्षत्र सर्वानुभूति मुनिपुंगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वा दवश्यं भावि भाव त्वाद्वेत्यवसेयम्" (भग० टीका)

अर्थः—

यहां भगवान्ने जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसका कारण यह है कि सराग संयमी होनेके कारण भगवान् बड़े भारी दयाके प्रेमी थे। सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा जो नहीं करेंगे इसका कारण वीतराग होनेसे लब्धिका प्रयोग न करना, और गोशालकके द्वारा उनके मरणका अवश्य होनहार होना समझना चाहिये। यह उक्त टीकाका अक्षरार्थ है।

इसी टीकाका नाम लेकर जीतमलजी जीवरक्षामें पाप बतलाते हैं परन्तु इस टीका में जीवरक्षा करनेसे पाप होना नहीं कहा है। यहां लिखा है कि—"भगवान्ने दयामें परमानुराग होनेके कारण गोशालकी रक्षा की थी"। दयामें अनुराग रखना धर्म है पाप नहीं है इसलिये गोशालकी प्राणरक्षा करनेसे भगवान्को धर्म हुआ पाप नहीं हुआ।

सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करनेका कारण भी टीकाकारने जीवरक्षा करनेमें पाप होना नहीं कहा है किन्तु उस समय वीतराग होनेके कारण भगवान्के लब्धिका प्रयोग नहीं करना, और अवश्य होनहार कारण बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीवरक्षामें पाप जानकर भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षाका प्रयत्न नहीं छोड़ा था किंतु वीतराग होने के कारण वह लब्धि का प्रयोग नहीं करते थे। यद्यपि लब्धिका प्रयोग किये बिना भी वहांसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को विहार आदि कराकर भगवान् उनकी रक्षा कर सकते थे तथापि यह बात अवश्य होने वाली थी इसलिये भगवान्ने उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न नहीं किया। अतएव टीकाकार

ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करने का सिद्धांतभूत कारण बतलाते हुए "अवश्यंभाविभावत्वात्" यह लिखा है। यदि जीवरक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार ऐसा क्यों लिखते वह साफ साफ लिख देते कि जीवरक्षा करनेमें पाप था इसलिये भगवान ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की। परन्तु टीकाकारने यह नहीं लिख कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार बतलाया है, इससे यही बात सिद्ध होती है कि गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरण अवश्य होनहार जान कर भगवान ने उन की रक्षा नहीं की थी। अतः उक्त भगवती की टीका का नाम लेकर मरते जीव की रक्षा करने में पाप बताना अज्ञानमूलक है।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्रेरक)

कोई कोई कहते हैं कि जैसे पानीके द्वारा आग बुझानेसे हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल लेश्याके द्वारा तेजो लेश्याको बुझानेमें भी आरम्भ दोष होता है इस लिये शीतल लेश्याके द्वारा भगवानने जो तेजो लेश्याको शान्त करके गोशालककी प्राण रक्षा की थी इसमें उनको आरम्भ दोष लगा था।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शीतल लेश्याके द्वारा तेजो लेश्याके शान्त करनेमें आरम्भ, दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल है। भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठमें उष्ण तेजो लेश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है। वह पाठ यह है—

"कयरेणं भन्ते! अचित्तावि पोग्गला उ भासन्ति जाव पभासंति? कालो दाई! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठासमाणी दूरंगता दूरं निवत्तइ देसंगता देसं निवत्तइ जहिं जहिं चणं सा निवत्तइ तहिं तहिं चणं ते अचित्तावि पोग्गला उ भासंति जाव पभासंति।

(भगवती शतक ७ उ० १०)

अर्थ :—

(प्रश्न) हे भगवन्! कौनसे अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं?

(उत्तर) हे कालोदायिन् ! क्रोधित हुए अनगारसे फेंकी हुई तेजो लेश्या, दूर तक फेंकी हुई दूर और निकटमें फेंकी हुई निकटमें जाकर पड़ती है। जहां जहां वह तेजो लेश्या पड़ती है वहां वहां उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं।

यहां भगवतीके मूल पाठमें तेजो लेश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है इस लिये अग्निके सचित्त पुद्गलोंका दृष्टान्त देकर शीतल लेश्याके द्वारा इन अचित्त पुद्गलोंको शान्त करनेमें आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १७८ के ऊपर भगवती शतक २० उ० ९ की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ टीकामें इम कह्यो एलब्धिफोडेते प्रमादनो सेववो ते आलोयां विना चारित्रनी आराधना न थी ते मांटे विराधक कह्यो। इहां पिण लब्धिफोड्यां रो प्रायश्चित्त कह्यो। इहां पिण लब्धि फोड्यां धर्म न कह्यो। ठाम ठाम लब्धि फोडनी सूत्रमें वर्जी छै तो भगवन्त छट्ठे गुण ठाणे थका तेजू लब्धि फोडीने गोशालाने वंचायो तिणमें धर्म किम कहिये। (भ्र० पृ० १८७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामें जंघाचरण और विद्याचरण लब्धिके विषयमें विचार किया गया है दूसरी लब्धिके विषयमें नहीं। वहां जंघाचरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन कहा है शीतल लेश्याका प्रयोग करना प्रमादका सेवन नहीं कहा है। तथापि यदि कोई दुराग्रह वश सभी लब्धियोंका प्रयोग करना प्रमादका ही सेवन करना बतलावे तो उसे कहना चाहिये कि—शास्त्रमें ज्ञान लब्धि, दर्शन लब्धि, चरित्र लब्धि, क्षीर, मधु, सर्पिरास्रव लब्धि भी कही गई हैं इनका प्रयोग करना भी तुम प्रमादका सेवन क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि इनका प्रयोग करना प्रमादका सेवन करना नहीं है किन्तु गुण है तो उसी तरह शीतल लेश्याका प्रयोग करना भी गुण ही है प्रमादका सेवन करना नहीं है। भगवती सूत्रकी उक्त टीकामें जंघाचरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना ही प्रमादका सेवन करना कहा है शीतल लेश्या लब्धि, ज्ञान, दर्शन, चारित्र लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन नहीं कहा है अतः

इस टीकाका नाम लेकर शीतल लेश्याका प्रयोग करनेमें प्रमाद सेवन बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल ८ वां)

वास्तवमें भीषणजी और जीतमलजीका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है। लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपायसे भी जीव रक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमें पाप ही कहते हैं। किसी मरते प्राणी पर दया लाकर उसकी रक्षा करनेको ये लोग मोह अनुकम्पा, सावद्य अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते हैं। भगवान महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गोशालककी प्राण रक्षा करते तो भी इनके मतानुसार भगवानको एकान्त पाप ही होता। भीषणजीने लिखा है कि जीवरक्षा करनेके अभिप्रायसे उपदेश देना जैन धमका सिद्धान्त नहीं है यह अन्य तीर्थियोंका सिद्धान्त है' जैसे कि—"केई एक अज्ञानी इमि कहे, छः कायारा काजे हो देवां धर्म उपदेश। एकन जीवने समझावियां, मिट जावे हो घणा जीवांरा क्लेश। छः कायरे घरे शान्ति हुवे, एहवा भाषे हो अन्य तीर्थी धर्म। त्यां भेद नपायो जिन धर्मरो, तेतो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म। (शि० हि० शि० ढाल ५)

अर्थात् कई अज्ञानी कहते हैं कि छः कायके जीवोंके घरमें शान्ति होनेके लिये वे धर्मका उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि "एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है' परन्तु छः कायके घरोंमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है। यह अन्य तीर्थी धर्मका सिद्धान्त है अतः वे भूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है।

इस ढालमें साफ साफ भीषणजीने मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है और भ्र० पृ० १२० पर जीतमलजीने लिखा है—

"श्री तीर्थंकर देव पोताना कम खपावा तथा अनेराने तारिवांने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यु पिण जीव बंचावा उपदेश देवे इम कह्यो नहीं"

यह लिख कर जीतमलजीने जीव रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध ठहराया है ऐसी दशामें इन लोगोंका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है जब कि उपदेश द्वारा भी जीव रक्षा करना इनके मतमें पाप है तब फिर दूसरे उपायोंसे तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य ही एकान्त पाप है। शीतल लेश्याके प्रयोग करनेमें जो इन्होंने उत्कृष्ट पांच क्रियाका लगना बतलाया है वह केवल मूढ़ लोगोंको बहकाने मात्रके लिये है।

शीतल लेश्याके प्रयोग करनेमें उत्कृष्ट पांच क्रिया नहीं लगती है यह इस प्रकरणमें विस्तारके साथ बताया जा चुका है अतः शीतल लेश्याका प्रयोग करके मरते जीवकी रक्षा करनेमें पांच क्रिया लगनेका दोष बतलाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

(इति लब्ध्यधिकारः)



(अथ प्रायश्चित्ताद्यधिकारः)

---*---

(प्रेरक)

मरते जीवकी रक्षा करनेका समर्थन करने वाले मुनियोंका कहना है कि भगवान महावीर स्वामीको यदि गोशालककी रक्षा करनेमें पाप लगा होता तो उस पापकी निवृत्ति के लिये भगवान प्रायश्चित्त भी करते परन्तु इसके लिये भगवानका प्रायश्चित्त करना शास्त्रमें नहीं कहा है अत: शीतल लेश्याको प्रकट करके गोशालककी रक्षा करनेसे भगवान पर पापका आरोप करना मिथ्या है। इस कथनका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी लिखते हैं—

"अथ ईहां सीहो अनगार ध्यान ध्यावतां मनमें मानसिक दुःख अत्यन्त उपनो मालुया कच्छमे जाई मोटे मोटे शब्दे रोयो वांग पाडी एहवो कह्यो पिण तेहनो प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इज होसी तिम भगवन्त लब्धि फोडी गोशालाने बंचायो तेहनी प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इज होसी" (भ्र० पृ० १९६)

इसी तरह भ्रम० पृ० २०८ तक अति मुक्त अनगार रहनेमि, धर्म घोषका शिष्य सुमंगल अनगार, और सेलक इन लोगोंका उदाहरण देकर जीतमलजीने कहा है कि उक्त साधुओंने जैसे प्रायश्चित्तके योग्य कार्य्य किये थे परन्तु शास्त्रमें इनका प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है उसी तरह भगवान महावीर स्वामीका भी प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है परन्तु जैसे उक्त साधुओंने प्रायश्चित्त किया ही होगा उसी तरह भगवानने भी प्रायश्चित्त किया होगा।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शास्त्रके विधिवादमें जिस कार्य्यके करनेसे पाप होना कहा है उन्हींके अनुष्ठानसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्त भी कहा गया है परन्तु जिस कार्य्यके करनेसे शास्त्रकार पाप नहीं बतलाते और प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं करते उस कार्य्यमें पाप कहना और उसके लिये प्रायश्चित्तकी कल्पना करना अज्ञानका परिणाम है। शीतल लेश्याके प्रयोग करनेसे शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है और इसके लिये कहीं प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं है ऐसी दशामें शीतल लेश्याका प्रयोग करनेसे भगवानको पाप होने और उस पापकी निवृत्तिके लिये उनके प्रायश्चित्त करनेकी कल्पना करना निमूल

समझना चाहिए। शीतललेश्याको प्रकट करके गोशालाकी प्राणरक्षा करनेसे भगवानको पाप हुआ ही नहीं धर्म हुआ फिर वह प्रायश्चित्त क्यों करते ? जिस जिसने शास्त्रानुसार प्रायश्चित्तका कार्य्य किया था उसके प्रायश्चित्त करनेका वर्णन यदि शास्त्रमें नहीं है तो उसकी कल्पना की जा सकती है परन्तु जिसने प्रायश्चितके योग्य कार्य्य ही नहीं किया था उसके प्रायश्चित्त करने की कल्पना तो बिलकुल निराधार और उन्मत्त प्रलापकी तरह सर्वथा अनादरणीय है।

जीतमलजीने भ्रम० पृ० २०८ के अनन्तर जो नियंठाका विचार किया है उसके हिसाबसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषके अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि कषाय कुशील निग्रंथ मूल गुण और उत्तर गुणका अप्रतिसेवी होता है और छद्मस्थ तीर्थंकर दीक्षा लेनेके बाद कषाय कुशील ही होते हैं अतः भगवान् महावीर स्वामीको दोष का प्रतिसेवी बतलाना मिथ्या है।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१४ पर लिखते हैं—

"एकषाय कुशील नियंठाने अपडिसेवी कह्यो ते अप्रमत्त तुल्य अपडिसेवी जणाय छै। कषाय कुशीलमें गुण ठाणा ५ छै छट्ठाथी दशमां ताई तिहां सातमें आठमें नवमें दशमें गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल चारित्र छै। ते अपडिसेवी छै। अने छट्ठे गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामनो धणी शुभयोग में प्रवर्ते छै ते अपडिसेवी छै"

इत्यादि लिख कर भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणाम का धनी नहीं मान कर उनको दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकार अपने इस लेखमें षष्ठ गुण स्थान वाले निर्मल परिणामके धनी को दोषका अप्रतिसेवी बतलाते हैं इसलिये इनके इस लेखसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषके अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि आचारांग सूत्रके मूल पाठमें छद्मस्थावस्थामें भी भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामका धनी कहा है। वह आचारांगका पाठ यह है:—

"तएणं समणे भगवं महावीरं वोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंभचेर वासेणं खंतिए मुत्तिए सम्मीइए गुत्तिए तुट्ठीए ठाणं कम्मेणं सुचरिय फलनिव्वाण मुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावे माणे विहरइ। एवं विहरमाणस्स जेकेइ उवसग्गा समुपज्जंति दिव्वावा माणुसावा तिरिच्छियावा ते सव्वे उवसग्गे समुपन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अदीण माणसे तिविह मणवयण कायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहि आसेइ तओणं समणस्स भगवो महावीरस्स एणं विहारेणं विहर माणस्स बारस वासा विक्कंता तेरस सम्मस्सय वासस्स परियाये वट्टमाणस्स"

(आचारांग श्रु० २ चूलिका ३ भावनाध्ययन)

अर्थ :—

इसके अनन्तर अपने शरीरकी ममता छोड़े हुए भगवान् महावीर स्वामी अनुत्तर आलय (मकान) से, अनुत्तर विहार से, अनुत्तर संयम से, अनुत्तर ग्रहण से, अनुत्तर संवर से, अनुत्तर तपसे, अनुत्तर ब्रह्मचर्य्य से, अनुत्तर क्षांति से, अनुत्तर त्याग से, अनुत्तर समिति से; अनुत्तर गुप्ति से; अनुत्तर तुष्टि से, अनुत्तर स्थिति से, अनुत्तर गमन से, सम्यक् आचरण से, मोक्षफलकी प्राप्ति कराने वाले मुक्ति मार्गसे अपनी आत्माको पवित्र करते हुए विचरते थे। इस प्रकार विचरते हुए भगवान्को जो कोई दिव्य मानुष और तिर्य्यंच सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न होता था उसे अनाकुल (नहीं घबड़ाते हुए) और अदीन मानस होकर सह लेते थे। इस प्रकार विचरते हुए भगवान्को बारह वर्ष व्यतीत हुए पश्चात् तेरहवें वर्षके पर्य्यायमें विद्यमान होने पर भगवानको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है।

इस पाठमें भगवान् महावीर स्वामीके संयम, ब्रह्मचर्य्य, तप, क्षांति आदि गुण अनुत्तर यानी सबसे उत्कृष्ट कहे गए हैं इससे सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर स्वामी उच्च श्रेणीके कषाय कुशील निर्ग्रन्थ थे वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे अन्यथा इस पाठमें उनके तप ब्रह्मचर्य्य और संयम आदि अनुत्तर कैसे कहे जाते ?। अतः भगवान् महावीर स्वामी षष्ठ गुण स्थान में अत्यन्त विशिष्ट, निर्मल परिणाम के धनी होने के कारण दोष के अप्रतिसेवी थे प्रतिसेवी नहीं थे। तथापि गोशालककी रक्षा करनेके कारण

जीतमलजी जो भगवान्‌को दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं यह इनका जीवरक्षाके साथ द्रोह रखनेका फल समझना चाहिये।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामें कभी भी दोषका प्रतिसेवन नहीं किया था इस विषयमें कोई शास्त्रका प्रमाण बतलाइए ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रमें स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एकवार भी प्रमाद नहीं किया था। वह गाथा यह है:—

"णचाणं से महावीरे णोविय पावगं सयमकासी
अन्नेहिंवा कारित्था करंतंवि नाणुजाणित्था"

(आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० ४ गाथा ८)

(टीका)

"किञ्च ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्मप्रेरणसहिष्णुः नाऽपिच पापकं कर्म-स्वय मकार्षीत्। नाप्यन्यैरचीकरत्। नचक्रियमाण मपरैरनुज्ञातवान्"

अर्थात् त्यागने और संग्रह करने योग्य वस्तुको जानकर कर्मकी प्रेरणाको सहन करनेमें समर्थ भगवान् महावीर स्वामीने न तो स्वयं पाप कर्म किया न दूसरेसे कराया और करते हुएको अच्छा जाना। यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थवास्थामें न स्वयं पाप किया न दूसरेसे कराया और न पाप करते हुएको अच्छा जाना। अतः गोशालक की प्राणरक्षा करनेसे भगवान्‌को पाप लगने की प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

यदि गोशालककी प्राणरक्षा करना पाप होता तो इस गाथामें यह कैसे कहा जाता कि भगवान्‌ने छद्मस्थावस्थामें कभी भी पापका सेवन नहीं किया था। तथा आगे चल कर इसी उद्देशेकी १५ वीं गाथा में कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामें कभी भी प्रमादका सेवन नहीं किया था। वह गाथा यह है:—

"अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थोऽवि परक्कम माणो नप्पमायं सयंवि कुव्वीत्था"

(आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० ४ गाथा १५)

(टीका)

"नकषायी अकषायी तदुदयापादित भ्रूकुट्यादि कार्य्या भावात्। तथा विगता गृद्धिः गार्ध्यं यस्यासौ विगत गृद्धिः तथा शब्दरूपादिषु इन्द्रियार्थेषु अमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु नराग मुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूत्। तथा छद्मनि ज्ञान दर्शना वरणीय मोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थः इत्येवं भूतोऽपि विविध मनेक प्रकारं सदनुष्ठाने पराक्रममाणो प्रमादं कशायादिकं सकृदपि न कृतवानिति"

अर्थ :—

जिसमें कषाय नहीं है वह अकषायी कहलाता है। भगवान् महावीर स्वामी अकषायी थे क्योंकि कषायके उदयसे उन्होंने किसी पर भी अपनी भ्रूकुटि टेढ़ी नहीं की थी। भगवान् महावीर स्वामी, अनुकूल शब्द आदि विषयोंमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष नहीं करते थे। वह शब्दादि विषयोंमें आसक्त नहीं होकर रहते थे। यद्यपि भगवान् छद्मस्थ यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मोंमें स्थित थे तथापि वह विविध प्रकारके शुभ अनुष्ठानमें ही प्रवृत्त रहते थे। उन्होंने एक वार भी कषायादि रूप प्रमादका सेवन नहीं किया था। यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

इसमें छद्मस्थावस्थामें भगवान् महावीर स्वामीका एक वार भी प्रमादका सेवन करना वर्जित किया है अतः जो लोग गोशालककी प्राणरक्षाको प्रमादका सेवन वतलाते हैं वे प्रत्यक्ष उत्सूत्र वादी मिथ्यादृष्टि हैं उनके भ्रमजालमें पड़ कर भगवान् महावीर स्वामीको प्रमादका सेवी वतलाना अज्ञान है।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार आचारांग सूत्रकी इस गाथाको लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ ईहां गणधरां भगवान्‌रा गुण वर्णन कीधा त्यांगुणामें अवगुणाने किम कहे गुणोंमें तो गुणाने इज कहे (भ्र० पृ० २३१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंमें भगवान्‌के गुणोंका वर्णन मात्र ही नहीं किन्तु स्वल्प भी पाप करने और एक वार भी प्रमाद सेवन करने रूप दोषका निषेध भी किया है। अतः इन गाथाओंमें केवल भगवान्‌के गुणोंका वर्णन मात्र वतलाना

मिथ्या है। यदि गोशालककी प्राणरक्षा करना, प्रमाद सेवन और पापाचरण होता तो इन गाथाओंमें भगवान् के पापाचरण और प्रमाद सेवन करने का खण्डन कैसे किया जाता ? अतः गोशालककी प्राण रक्षा करनेसे भगवान्को पापी और प्रमादी कहना अज्ञान है। यदि कोई कहे कि ये गाथायें गणधरोंकी कही हुई हैं तीर्थंकरकी नहीं। इस लिये ये प्रमाण नहीं हो सकतीं तो उसे कहना चाहिये कि गणधरोंने तीर्थंकरोंसे सुन कर ही शास्त्रकी रचना की है। आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीसे जो कुछ सुना था वही इस प्रकरणमें कहा है इस लिये इन गाथाओंको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यका उल्लङ्घन रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है। आचारांग सूत्रके इसी अध्ययनके आरम्भमें लिखा है—

"सुयंमे आउसं तेणं भगवया एवमक्खाइं"

अर्थात् हे आयुष्मन् ! भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है तथा इस नवम अध्ययनके आरम्भमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे यह प्रतिज्ञा करते हुए कहा है कि —"अहा सुयं वइस्सामि" अर्थात मैंने जैसा सुना है वैसा ही कहूंगा अतः आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीसे जैसा सुना था वैसा ही इस प्रकरणमें कहा है अपनी ओरसे एक भी वात वनाकर नहीं कही है अतः आचारांग सूत्रके नवम अध्ययनके चौथे उद्देशेकी आठवीं और पन्द्रहवीं गाथामें कही हुई वातको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यको नहीं मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श समझना चाहिये।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३२ पर उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"जे साधांमे गुण हुन्ता ते वखाण्या परं इम न जाणि ए जे वीर रा साधुरे कदेइ आर्त्तध्यान आवे इज नहीं मांठा परिणामे क्रोधादिक आवे इज नहीं इम नथी कदाचित् उपयोग चूकां दोष लागे पर गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे तिम गणधरां भगवान रा गुण किया तिणमें तो गुण इज वर्णव्या जेतलो पाप न कीधो तेहिज आश्री कह्यो परं गुण में अवगुण किम कहे।" (भ्र० पृ० २३२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ अन्तेवासी बहवे समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राइण्ण णाय कोरव्व खत्तिय पव्वइया भडा जोहा सेणावइ पसत्थारो सेट्ठी इब्भा अण्णेय बहवे एवमाइणो उत्तम जाति कुल रूव विणय विण्णाण वण्ण लावण्ण विक्कम पहाण सोभग्ग कंतिजुत्ता बहु धण धाण्णणिचय परियालफिडिया णरवइ गुणातिरेका इच्छियभोगा सुखसंपललिया किंपाक फलोपमंच मुणिय विसयसोक्खं जलवुब्बुअ समाणं कुसग्ग जलविन्दु चंचलं जीवियं च णाउण अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संवुधिणित्ता णं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइया अप्पेगइया अद्धमास परियाया अप्पेगइया मास परियाया एवं दुमास तिमास जाव एक्कारस अप्पेगइया अनेक वास परियाया संजमेणं तपसा अप्पाणं भावेमाणाविहरंति"

(उवाई सूत्र)

अर्थ :—

उस समय भगवान महावीर स्वामीके पास बहुतसे शिष्य विद्यमान थे। जिनमें कोई तो उग्र वंशमें उत्पन्न, कोई भोग वंशज, कोई राजन्य, कोई नाग वंशज, कोई कुरु वंशज, कोई क्षत्रिय वंशज, कोई चार भट, योद्धा, और कोई सेनापति, कोई धर्मशास्त्र पाठी, कोई सेठ, कोई इभ्य (बड़े धनवान) इस प्रकार उत्तम जाति, कुल, रूप, विनय, विज्ञान, वर्ण, लावण्य, विक्रम, सौभाग्य और कान्तिसे युक्त, धन धान्य परिवार दासी दास आदिके द्वारा गृहवास कालमें बड़े बड़े धनवानों से भी श्रेष्ठ तथा विभव सुखमें राजाओंसे भी बड़े बड़े इच्छानुरूप भोग पाने वाले सुखमें पाले हुए विषय सुखको विषवृक्षके फलके समान बुरा और कुशके अग्र भागमें लगे हुए जल बिन्दुकी तरह जीवनको अति चंचल जान कर अनित्य विषय सुख और धन धान्य आदिको कपड़े में लगी हुई धूलिके समान झाड़कर हिरण्य सुवर्ण आदिको छोड़ कर प्रव्रजित (साधु) हो गये थे। इनमें कोई अर्ध मासके कोई एक मासके कोई दो मासके कोई तीन मासके यावत् ११ मास के पर्याय वाले थे। कोई अनेक दिनके पर्याय वाले थे। ये सभी शिष्य संयम और तपस्यासे अपनी आत्माको पवित्र करते हुए विचरते थे।

(यह उवाई सूत्रके उक्त मूलका अर्थ है)

इस पाठमें यह नहीं कहा है कि "भगवान् महावीर स्वामीके ये सब शिष्य कभी भी प्रमादका सेवन नहीं करते थे। तथा इन लोगोंने कभी पाप नहीं किया था।" इस

लिये भगवान् महावीर स्वामीके इन शिष्योंमें पाप और प्रमादका होना सम्भव है, परंतु भगवान् महावीर स्वामीमें नहीं क्योंकि भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आचारांगकी गाथाएं लिखी गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद का निषेध किया है। अतः उवाई सूत्रके इस पाठसे आचारांग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंकी तुल्यता बता कर भगवान् में बलात्कारसे पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है।

उवाई सूत्रमें यदि यह कहा होता कि "भगवान् महावीर स्वामी के शिष्यों ने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था" तो अवश्य यह बात मानी जाती कि भगवान् के शिष्योंने कभी भी पाप और प्रमाद नहीं किया था परन्तु मूलपाठमें ऐसा नहीं कहा गया है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीके शिष्योंमें पाप और प्रमाद होनेका खण्डन नहीं किया जा सकता लेकिन भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो आचारांगकी उक्त गाथाओंमें साफ साफ लिखा है कि "भगवान् ने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एक वार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था।" ऐसी दशामें जो भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करता है वह उत्सूत्रवादी मिथ्यादृष्टि है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३३ पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे कौणिकने सर्व राजाना गुण सहित कह्यो, माता पितानो विनीत कह्यो अने निरावलियामें कह्यो, जे कौणक श्रेणिकने बेडिबन्धन देई पोते राज्य बैठो तो जे श्रेणिकने बेडी बन्धन बांध्यो ते विनीत पणो नहीं ते तो अविनीत पणोइज छै। पिण उवाईमें कौणिकना गुण वर्णव्या तिणमें जेतलो विनीतपणो तेहिज वर्णव्यो अविनीत पणो गुण नहीं तेभणी गुण कहिणेमें तेहनो कथन कियो नहीं तिमगणधरां भगवान्रागुण किया त्यां गुणामें जेतला गुण हुन्ता तेहिज गुण वखाण्या पर लब्धि फोडी ते गुण नहीं ते अवगुणरो कथन गुणामें किम करे" (भ्र० पृ० २३३)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारका यह कथन भी अज्ञानसे परिपूर्ण है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें कौणिक राजाके चम्पानगरीमें निवास कालका गुण वर्णन किया है। कौणिक राजा चम्पानगरीमें जब रहने लगा था तब वह माता पिताका विनीत हो गया था अतएव वह

पितृ शोकाकुल होकर राजगृह को छोड़ कर चम्पानगरीमें आया था। उस समय उसे माता पिताका विनीत कहना ठीक ही है परन्तु उस पाठमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजाने माता पिताके साथ कभी भी अविनय नहीं किया था। इसलिये उवाई सूत्रके इस पाठसे कौणिकके अविनयी होनेका निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आचारांग सूत्रमें गाथाएं कही गई हैं उनमें साफ़ साफ भगवान्में पाप और प्रमाद होनेका निषेध किया गया है ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान्में पाप और प्रमाद थे" क्योंकि यह कहना प्रत्यक्ष ही शास्त्रसे विपरीत बोलना है अतः कौणिक वाले पाठके उदाहरणसे भगवान्में पाप और प्रमादका स्थापन करना उत्सूत्रवादियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

[बोल छट्ठा समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३४ पर उवाई सूत्र प्रश्न २० का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे श्रावकने धर्मरा करणहार कह्या ते तो स्यूं अधर्म न करे कांई। वाणिज्य, व्यापार, संग्राम आदिक अधर्म छै ते अधर्म ना करणहार छै। पिण ते अवकारें गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं "तिम भगवान् रे गुण वर्णनमें लब्धिफोडीने अवगुण ना वर्णन किम करे" (भ्र० पृ० २३४)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रमें श्रावकोंके सम्बन्धमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है। उवाई सूत्र के श्रावक सम्बन्धी पाठमें साफ साफ लिखा है कि श्रावक अट्ठारह पापोंसे देशसे हटे हुए और देशसे नहीं हटे हुए होते हैं इसलिये इस पाठसे ही श्रावकोंका देशसे पाप सेवन करना सिद्ध होता है परन्तु भगवान् के विषयमें जो आचारांगमें गाथाएं कही हैं उनमें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है अतः श्रावक सम्बन्धी पाठके उदाहरणसे भगवान्में पाप और प्रमाद का स्थापन करना अज्ञान है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद छद्मस्थदशामें कषायकुशील निग्रंथ थे। कषाय कुशील निग्रंथ, मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं

लगाते यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीने जो शीतललेश्याका प्रयोग करके गोशालेकी प्राणरक्षा की थी उसमें उनको पाप या प्रमाद नहीं हुआ यह बात शास्त्र सम्मत समझनी चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कषाय कुशील निग्रंथ यदि मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता तो गोतम स्वामी कषाय कुशील निग्रंथ होते हुए भी आनन्दके घर पर वचन बोलनेमें क्यों स्खलित हुए थे ? अतः जैसे गोतम स्वामी कषाय कुशील निग्रंथ होते हुए भी आनन्द के घर पर चूक गये थे उसी तरह भगवान् महावीर स्वामी भी चूक सकते हैं अतः कषाय कुशील निग्रंथके न चूकनेकी बात मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोतम स्वामी जिस समय आनन्द श्रावकके घर वचन बोलनेमें चूक गये थे उस समय उनमें कषाय कुशील नियण्ठा था ही नहीं तथा चौदह पूर्व और चार ज्ञान भी उस समय गोतम स्वामीमें नहीं थे । अन्यथा चार ज्ञान और चौदह पूर्वके धनी कषाय कुशील निग्रन्थ हो कर गोतम स्वामी कदापि नहीं चूक सकते थे । इस विषयमें वहांका मूलपाठ ही प्रमाण है । वह पाठ यह है—

"तएणं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए विइगिच्छा समापन्ने आनंदस्स अंतिआओ पडिनिक्खमइ"

अर्थ—

अर्थात् आनन्द श्रावकने गोतम स्वामीसे जब यह कहा कि "आप व्यर्थ ही मुझे आलोचना लेनेका उपदेश देते हैं मेरी रायमें आपको ही आलोचना लेनी चाहिये" तब गोतम स्वामी शङ्का, कांक्षा और विचिकित्सासे युक्त होकर आनन्दके घरसे बाहर आये । यह उपर्युक्त गाथाका मूलार्थ है ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे अन्यथा उनको आनन्दके वाक्यसे शङ्का, कांक्षा और विचिकित्सा क्यों उत्पन्न होती ? । वह अपने ज्ञानके प्रभावसे यथार्थ बातका निर्णय स्वयं कर सकते थे फिर उन्हें शङ्का, कांक्षा आदि होनेका क्या कारण था ? तथा उस समय उनमें कषाय

कुशील नियण्ठा भी नहीं था। अन्यथा वह वचन बोलनेमें क्यों चूक जाते ? अतएव उपासक दशांग सूत्रमें जहां गोतम स्वामीका गुण वर्णन किया है वहां उनको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धनी नहीं कहा है।

कोई कोई कहते हैं कि "भगवती सूत्र, उपासक दशांग सूत्रसे पहलेका बना है उसमें गोतम स्वामीको चार ज्ञान और चौदह पूर्व का धारक बतला दिया है इसीलिये उपासक दशांगमें गोतम स्वामीको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धारक नहीं कहा है क्योंकि ये बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं। जो बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं उसे फिर उपासक दशांगमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ?।

उनसे कहना चाहिये कि यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण गोतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन उपासक दशांग सूत्रमें नहीं किया गया है तो भगवतीसूत्र में जिन जिन गुणोंका वर्णन किया है उन सभी का वर्णन उपासक दशांग सूत्रमें नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होकर भगवतीमें कहे हुए कई गुणोंका उपासक दशांग सूत्रमें वर्णन किया है और कई गुणोंका नहीं किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्रमें समुच्चय रूपसे सभी गुणोंका वर्णन किया गया है और उपासक दशांग सूत्रमें आनन्दके पास जाते समय गोतम स्वामीमें जितने गुण थे उन्हींका वर्णन है। नहीं तो उपासक दशांगमें फिर उन्हीं गुणोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी जो भगवती में कहे जा चुके हैं।

भगवती सूत्रके साथ उपासक दशांग सूत्रके पाठमें केवल इतना ही अन्तर है कि भगवतीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वके साथ अन्य गुणोंका कथन है और उपासक दशांगमें अन्य गुणोंका वर्णनके साथ चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन नहीं है। इसके सिवाय भगवती सूत्र और उपासक दशांग सूत्र के पाठों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

देखिये भगवतीका पाठ यह है:—

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूति नामं अनगारे गोतम गोत्तेणं सत्तुसेहे समचउरंस्स संठाण संठिए वज्जरिसह नाराय संघमणे कणक पुलकणिघस पह्म गोरे उग्ग तवे दित्त तवे तत्त तवे महा तवे उराले घोरे घोर गुणे घोर तवस्सी घोर बंभचेर वासो उच्छूढ सरीरे संखित्तविउलतेउल्लेस्से चउदस पूव्वी चउणाणोवगये सव्वक्खर सन्निवाइ"

(भ० श० १ उ० १)

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूइ नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुसेहे समचउरंससंट्ठाणसंट्ठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणकपुलकणिघस पम्ह गोरे उग्गतवे दित्ततवे घोर तवे उराले घोर गुणे घोर तवस्सी घोर वंभचेर वासी उच्छूढ सरीरे संखित्त विउल तेउलेस्से छट्ठं छट्ठेणं अणिखित्तेणं तवोपकमेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे माणे विहरइ"

(उपासक दशांग)

इस पाठमें भगवती सूत्रोक्त गोतम स्वामीके "चउद्दस पूव्वी" "चउण्णाणोवगए" "सव्वक्खर संन्निवाई" इन तीन विशेषणोंको छोड़ कर बाकी सभी विशेषण कहे गये हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस समय गोतम स्वामी आनन्दके घर पर गये थे उस समय उनमें चौदह पूर्व और चार ज्ञान नहीं थे। यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण इन तीन विशेषणोंका कथन उपासक दशांगके इस पाठमें न माना जाय तो फिर उपासक दशांग सूत्रमें अन्य विशेषणोंका कथन भी नहीं होना चाहिये क्योंकि भगवतीमें ये सभी कहे जा चुके हैं अतः जिस अवस्थाका गुण वर्णन करनेके लिये उपासक दशांगका पाठ कहा गया है उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे यही बात सिद्ध होती है।

जो बातें पूर्वके अङ्गोंमें वर्णन की गई हैं वे सभी उत्तरके अङ्गोंमें समझी जायं ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि आचारांग सूत्रके दूसरे श्रुत स्कन्धमें भगवान् महावीर स्वामीके केवल ज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन किया गया है तथापि भगवती सूत्रके १५ वें शतकमें प्रसङ्गवश फिर भी भगवान् के छद्मस्थपनेका वर्णन है। भगवती पांचवां अङ्ग है और आचाराङ्ग पहला है। उसी तरह भगवतीमें गोतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह पूर्वका वर्णन होने पर भी प्रसङ्गवश उपासक दशांग सूत्रमें गोतम स्वामीके चार ज्ञान और चोदह पूर्व न होनेके समयकी वात कही गयी है।

यदि भगवतीमें कहे हुए गोतम स्वामीके सभी गुणोंको उपासक दशांग सूत्रमें वतलाना होता तो "जाव" शब्दसे भगवतीके पाठका संकोच करके उपासक दशांग सूत्र में में इस तरह कह देते कि "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूई नामं अनगारे जाव विहरइ" परन्तु शास्त्रकारको भगवतीमें कहे हुए सभी विशेषणोंके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं थी अतएव जाव शब्दसे भगवती

के पाठका यहां सङ्कोच नहीं किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आनन्द श्रावक को उत्तर देते समय गोतम स्वामी चौदह पूर्व और चार ज्ञानके धनी नहीं थे अतः गोतम स्वामीके दृष्टांतसे भगवान् महावीर स्वामीको चूका हुआ बताना मिथ्या है।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१३ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो—दृष्टिवादरो धणी पिण वचनमें खलाय जाय तो और साधुने हसनो नहीं। ए दृष्टिवादरो जाण चूके तिण में पिण कषाय कुशील नियंठो छै" (भ्र० पृ० २१३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारने दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका अशुद्ध अर्थ किया है इसलिये वह गाथा लिखकर उसका शुद्ध अर्थ किया जाता है—

आयार पन्नत्तिधरं दिट्ठिवाय महिज्जगं
वायविक्खलियं नच्चा नतं उवहसे मुणी"

(दशवैकालिक अ० ८ गाथा ५०)

(टीका)

'आयार' त्ति सूत्रम्। आचार प्रज्ञप्तिधर मिति आचार धरः स्त्रीलिंगादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधर स्तान्येव सविशेषाणीत्येवं भूतं। तथा दृष्टिवाद मधीयानं प्रकृति प्रत्यय लोपागम वर्ण विकार काल कारक वेदिनं वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा विविध मनेकैः प्रकारैर्लिङ्ग भेदादिभिः स्खलितं विज्ञाय नत माचारादि धर मुपहसेन्मुनिः अहोनु खल्वाचारादिधरस्यवाचि कौशलमित्येवम् इहच दृष्टिवाद मधीयान मित्युक्त मत इदं गम्यते—नाधीत दृष्टिवादं तस्य ज्ञानाप्रमादातिशयतःस्खलनासंभवात्। यद्येवं भूतस्यापि स्खलितं भवति नचैनमुपहसे दित्युपदेशः ततोऽन्यस्य सुतरां भवतीति नासौ हसितव्य इति सूत्रार्थः।"

अर्थः—

जो स्त्रीलिङ्ग आदिको जानता है उसे आचारधर कहते हैं और जो विशिष्ट रूपसे स्त्रीलिङ्ग आदि जानता है उसे प्रज्ञप्तिधर कहते हैं। जो मुनि, आचारधर और प्रज्ञप्तिधर हैं तथा दृष्टिवादका

अध्ययन कर रहे हैं, प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, काल और कारकको जानते हैं वह यदि बोलते समय लिङ्ग आदिसे अशुद्ध बोल देवें तो उन पर हास्य नहीं करना चाहिये। यह नहीं कहना चाहिये कि अहो! आचारादि धर मुनिका इस प्रकार वाक्कौशल है? इस गाथामें "दृष्टिवाद मधीयानं" इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग करके यह बतलाया गया है कि जिस मुनिने दृष्टिवादका अध्ययन करना समाप्त नहीं किया है किन्तु दृष्टिवादका अध्ययन अभी कर रहा है उससे यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये। जिसने दृष्टिवादको पढ़ कर समाप्त कर दिया है उससे वाक् स्खलन होना असम्भव है। दृष्टिवादको पढ़ कर जिसने समाप्त कर दिया है उसमें ज्ञान और अप्रमादका बहुत ज्यादा सद्भाव होता है अतः वह भूल नहीं कर सकता है। इस पाठमें यह उपदेश किया गया है कि दृष्टिवादका अध्ययन करने वाले मुनिसे यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार प्रज्ञप्ति धर मुनिसे जब कि वाक् स्खलन होता है तब फिर दूसरेसे वाक्-स्खलन होना तो एक साधारण बात है इसलिये यदि दूसरेसे भी वाक् स्खलन हो जाय तो उस पर हास्य नहीं करना चाहिये।

यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

यहां "दृष्टिवाद मधीयानं" इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग देकर दृष्टिवादको पढ़ते हुए मुनिका वाक् स्खलन होना बतलाया है, जिसने दृष्टिवादको पढ़ कर समाप्त कर दिया है उसका वाक् स्खलन होना नहीं कहा है अतः इस गाथाका नाम लेकर चौदह पूर्वधारीको चूक होनेकी सिद्धि करना मिथ्या है। चौदह पूर्वधारी दृष्टिवादको पढ़ा हुआ होता है अतः वह कदापि चूक नहीं सकता है। किन्तु जो अभी दृष्टिवादको पढ़ रहा है उसीका चूकना इस गाथामें कहा है।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका मत है कि कषाय कुशील निर्ग्रंथमें छः समुद्घात और पांच शरीर शास्त्रमें कहे हैं। और वैक्रियलब्धिका प्रयोग करनेवालेको विना आलोचना लिये मरने पर विराधक कहा है तथा वैक्रियलब्धि और आहारक लब्धिके प्रयोग करनेसे पांच क्रियाका लगना शास्त्रमें कहा है अतः कषाय कुशील निग्रन्थ भी वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करता हुआ दोषका प्रतिसेवी होता है इसलिये सभी कषाय कुशीलोंको दोष अप्रतिसेवी बताना मिथ्या है।

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

कषाय कुशीलमें छः समुद्घात और पांच शरीर पाये जाते हैं तथापि भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में उसे दोषका अप्रतिसेवी कहा है। वह पाठ यह है—

"कसाय कुसीलेणं पुच्छा गोयमा ! नो पडिसेवए होज्जा अपडिसेवए होज्जा"

(भगवती शतक २५ उ० ६)

अर्थः—

(प्रश्न) हे भगवन् । कषाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! कषाय कुशील दोष का अप्रतिसेवी होता है प्रतिसेवी नहीं होता है ।

इस पाठमें कषाय कुशीलको साफ साफ दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इसलिये छः समुद्घात और पांच शरीरके पाये जाने पर भी कषाय कुशील दोषका अप्रतिसेवी ही होता है प्रतिसेवी नहीं। यदि कोई पूछे कि "कषाय कुशीलमें जब कि छः समुद्घात और पांच शरीर पाये जाते हैं तब वह दोषका अप्रतिसेवी कैसे हो सकता है ?" तो उसे कहना चाहिये कि दोषका प्रतिसेवन परिणामके अधीन होता है कार्य्यके अधीन नहीं होता। जैसे कि वीतराग साधुके पैरके नीचे आकर यदि कोई जानवर मर जाय तो वीतरागको ऐर्य्यापथिकी (पुण्य बन्ध) क्रिया लगती है और सरागी साधुके पैरके नीचे आकर कोई जानवर मर जाय तो उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है। यहां पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेमें कोई भेद नहीं है परन्तु परिणाममें भेद होनेसे वीतरागको तो पुण्य-बन्ध और सरागको साम्परायिकी क्रिया होती है। वीतरागका परिणाम निर्मल है इसलिये उसके पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेसे उसे पुण्यबन्धकी क्रिया होती है और सराग साधुका परिणाम वैसा निर्मल नहीं है इस लिये उसके पैरके नीचे जानवरके मरनेसे उसे साम्परायिकी क्रिया लगती है उसी तरह कषाय कुशीलका परिणाम निर्मल होता है इसलिये छः समुद्घात और पांच शरीरके पाए जानेपर भी वह दोषका अप्रतिसेवी ही होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील, कषाय कुशीलकी तरह निर्मल परिणाम वाले नहीं होते इस लिये ये दोषके प्रति सेवी होते हैं। यदि छः समुद्घात और पांच शरीरके पाये जानेसे ही दोषका प्रति सेवी हो जाता तो फिर बकुश और प्रतिसेवना कुशीलकी तरह कषाय कुशील

को भी शास्त्रकार दोषका प्रतिसेवी बतलाते परन्तु शास्त्रकारने साफ साफ कषाय कुशील को दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इस लिये कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

[बोल १० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कारका कहना है कि "जैसे भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ६ में संवृत (साधु) को यथार्थ स्वप्न आना कहा है और उसीको आवश्यक सूत्रमें मिथ्या स्वप्न भी आना कहा है इसलिये जैसे संवृत साधु दो तरहके होते हैं एक सच्चा स्वप्न देखनेवाले और एक झूठा स्वप्न देखनेवाले, उसी तरह कषाय कुशील भी दो तरहके होते हैं एक दोषका प्रतिसेवन नहीं करने वाले और दूसरे दोषका प्रतिसेवन करने वाले।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

संवुडा साधुका दृष्टान्त देकर कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अज्ञान है। जिस संवुडा साधुका नाम लेकर भगवती शतक १६ उद्देशा ६ में सच्चा स्वप्न देखना कहा है उसी संवुडाका नाम लेकर आवश्यक सूत्रके चौथे अध्ययनमें मिथ्या स्वप्न देखना भी कहा है इस लिये संवुडा साधुका द्विविध होना शास्त्रसे ही सिद्ध होता है परन्तु कषाय कुशीलका द्विविध होना शास्त्रसे नहीं सिद्ध होता क्योंकि जिस कषाय कुशीलका नाम लेकर भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में दोषका अप्रतिसेवी कहा है फिर उसी कषाय कुशीलका नाम लेकर शास्त्रमें कहीं दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है अतः संवुडाकी तरह कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अप्रमाणिक है।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २१७ पर भगवती शतक ५ उद्देशा ४ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो—अनुत्तर विमानरा देवता उदीर्ण मोह नथी अने क्षीण मोह नथी उपशान्त मोह छै, इम कह्यो। इहां मोहने उपशमायो कह्यो। अने उपशान्त मोहतो ११वें गुण ठाणे छै अने देवता तो चौथे गुण ठाणे छै तिहांतो मोहनो उदय छै तेह थी समय समय सात २ कर्म लागे छै। मोहनो उदयतो दशमें गुणठाणे ताईं छे अने इहां तो देवता ने उपशान्त मोह कह्यो ते उत्कट वेद मोहनी आश्री कह्यो तिणां देवताने परिचारणा नथी

ते माटे वहुल वेद मोहनी आश्री उपशान्त मोह कह्यो। पिण सर्वथा मोह आश्री उपशान्त मोह न थी कह्या" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं "तिम कषाय कुशीलने अपडिसेवी कह्यो ते पिण विशिष्ट परिणामनाधणी आश्री अपडिसेवी कह्यो पिण सर्व कषाय कुशील चारित्रिया अपडिसेवी नहीं" (भ्र० पृ० २१७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुत्तर विमानवासी देवताओंके विषयमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी कहना अज्ञान है। अनुत्तर विमानवासी देवता चौथे गुण स्थानके धनी हैं इसलिये उनमें मोहका पूर्ण उपशम होना असम्भव है अतः उन्हें उपशान्त मोह कहनेका आशय यही हो सकता है कि उनमें उत्कट वेद मोहनीय का अभाव है परन्तु कषाय कुशीलके विषयमें यह उदाहरण नहीं घटता क्योंकि कषाय कुशील को कहीं भी दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है।

यदि किसी जगह कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी कहा होता अथवा किसी दूसरे प्रमाणसे भी कषाय कुशीलका प्रतिसेवी होना जाना जाता तो भगवतीके २५ वें शतक और छट्ठे उद्देशेके पाठका यह अभिप्राय माना जा सकता था कि कषाय कुशील जो उच्च कोटिके हैं उनकी अपेक्षासे ही भगवतीमें दोषका अप्रतिसेवी कहा है परन्तु कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बतानेवाला न कोई मूलपाठ ही कहीं मिलता है और न किसी दूसरे प्रमाणसे ही कषाय कुशीलका प्रतिसेवी होना सिद्ध होता है ऐसी दशामें अनुत्तर विमानवासी देवताओंके पाठका उदाहरण देकर कषाय कुशीलके सम्बन्धमें आये हुए पाठका यह अभिप्राय बतलाना कि "जो उच्च श्रेणीके कषाय कुशील हैं उन्हीं को दोषका अप्रतिसेवी बतलाना इस पाठका आशय है", बिलकुल मिथ्या है।

सभी कषाय कुशील यदि दोषके अप्रतिसेवी नहीं होते तो कदापि भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कषाय कुशील मात्रको दोषका अप्रतिसेवी नहीं कहते। अथवा टीकामें तथा किसी दूसरी जगह मूलपाठमें ही इसका खुलासा अवश्य कर देते परन्तु कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी नहीं होता है इसीलिये शास्त्रकारने सामान्य रूपसे सभी कषाय कुशील को दोषका अप्रतिसेवी ही कहा है अतः कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बतलाने के लिये विविध कुतर्कोंका आश्रय लेना दुराग्रहका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १८८ पर ठाणांग सूत्र ठाणा ७ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे पिण इम कह्यो सात प्रकारे छद्मस्थ जाणिये अने सात प्रकारे केवली जानिए। केवली तो ए सातुइ दोष न सेवे ते भगी न चूके अने छद्मस्थ सात दोष सेवे छै" (भ्र० पृ० १८८)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठसे भगवान् महावीर स्वामीका दोप सेवन करना नहीं सिद्ध होता है क्योंकि सभी छद्मस्थ दोषके प्रतिसेवी होते ही हैं ऐसा कोई नियम ठाणाङ्ग ठाणा सातमें नहीं कहा है। वहांके मूलपाठका यही आशय है कि छद्मस्थोंमें सात दोषों का सम्भव होता है केवलियोंमें नहीं। सातवें गुग स्थानसे लेकर बारहवें गुग स्थान तक के जीव छद्मस्थ ही होते हैं परन्तु वे दोपोंका सेवन नहीं करते क्योंकि उनका परिणाम बहुत ही निर्मल होता है उसी तरह छट्ठा गुण स्थान वाले जो विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी होते हैं वे भी दोषके प्रतिसेवो नहीं होते। यह बात भ्रमविध्वंसनकारने भी भ्र० पृ० २१४ पर लिखो है जैसे कि:—

"अने छट्ठे गुण ठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ट निर्मल परिणामनो धणी शुभयोगमें प्रवर्तै छै"

भगवान् महावीर स्वामी षष्ठ गुण स्थानमें अतिविशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे इसलिये वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे। भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ दशामें अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे यह बात प्रमाणके साथ पहले कही जा चुकी है और आचारांग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया गया है कि भगवान् महावीर स्वामोने छद्मस्थ दशामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः ठाणाङ्ग ठागा सातके मूलपाठका नाम लेकर भगवान्में चूक होनेकी प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

यदि कोई दुराग्रही सभी छद्मस्थोंमें सात दोपोंका अवश्य सद्भाव बतावे तो उसे कहना चाहिये कि छद्मस्थ तो सातवें गुगस्थान वाले तथा ८।९।१०।११ और बारहवें गुण स्थान वाले भी होते हैं फिर तुम उन्हें भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मान लेते?। यदि सातवें आठवें आदि गुग स्थान वाले अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी होनेसे दोषका प्रतिसेवी नहीं होते तो उसी तरह षष्ठ गुण स्थान वाला भी अतिविशिष्ट

निर्मल परिणामका धनी दोषका प्रतिसेवी नहीं होता। भगवान् महावीर स्वामी षष्ठ गुण स्थानमें अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे इसलिये वह दोषका प्रतिसेवी नहीं थे अतः गोशालककी रक्षा करनेके कारण भगवान्‌को चूका हुआ बतलाने वाले अज्ञानी और अनुकम्पाके द्रोही हैं।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्र० पृ० ३२२ पर लिखते हैं:—

"गोशालाने तिल बताई, लेश्या सिखाई, दीक्षा दीधी ए सर्व उपयोग चूकने कार्य्य कीधा। जो उपयोग देवे अने जाने ए तिल उखेड़नाखसी तो तिलबतावंताइज क्यांने पिण उपयोग दिया विना एकार्य्य किया छै" (भ्र० पृ० २२२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्‌मस्थपनेमें गोशालकको तिल बताया, दीक्षा दी और लेश्या सिखाई यह सब कार्य्य यदि भगवान्‌का चूकना है तो केवल ज्ञान होने पर भगवान् महावीर स्वामीने गोशालककी मृत्यु बताई, जामालीको दीक्षा दी और काली आदि दश रानियोंको उनके पुत्रोंका मरण बताया था यह सब कार्य्य उनका चूकना क्यों नहीं मान लेते ? क्योंकि इन कार्य्योंका परिणाम भी बहुत बुरा हुआ था। गोशालक अपने मरणका समय आया जान कर बहुत भयभीत हुआ था। जामाली कुशिष्य हुआ और काली आदि दश रानियां पुत्र मरण सुन कर भगवान के समवसरणमें ही मूर्च्छित होकर गिर गयीं थीं। इसी तरह भगवान् नेमिनाथजीने केवल ज्ञान होने पर संकेतसे सोमिल ब्राह्मणका मरण बतलाया था जिसका फल यह हुआ कि सोमिल को श्रीकृष्णने सारे शहरमें घसीट वाया और घसीटनेकी लकीर जो पृथ्वी पर पड़ी थी उस पर पानी छिटक वाया फिर इस कार्य्यको भगवान् नेमिनाथजी के चूकने में क्यों नहीं मान लेते ?

यदि कहो कि—केवल ज्ञानी पुरुष, अतीन्द्रियार्थ दर्शी अपरिमित ज्ञानी कल्पातीत और आगम व्यवहारी होते हैं वह जो करते हैं उसका रहस्य वही जानते हैं इसलिये सूत्र व्यवहारीके कल्पानुसार उनके कार्य्यको बुरा नहीं कहा जा सकता तो उसी तरह छद्‌मस्थ तीर्थंकर भी आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इसलिये सूत्र व्यवहारीके कल्पका नाम लेकर उनके कार्य्यको भी बुरा नहीं कह सकते अतः गोशालकको तिल

बताने, दीक्षा देने आदि कार्य्योंको भगवान्‌के चूकनेमें प्रमाण देना अविवेकका परिणाम जानना चाहिये।

[बोल १३ वां]

(प्रेरक)

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस में क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

छद्मस्थ तीर्थङ्कर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस विषयमें भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है। वह पाठ यह है—

"कषाय कुशीले पुच्छा गोयमा ! जिण कप्पे वा होज्जा, थेर कप्पे वा होज्जा कप्पातीते वा होज्जा"

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थः—

(प्रश्न) हे भगवन् ! कषाय कुशील निग्रन्थमें कितने कल्प होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कषाय कुशील निग्रन्थ जिन कल्पी भी होते हैं स्थविर कल्पी भी होते हैं और कल्पातीत भी होते हैं।

यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इस पाठमें कषाय कुशीलमें तीन कल्प कहे हैं—जिन कल्प, स्थविर कल्प और कल्पातीत। इनमें कल्पातीत कषाय कुशील नियण्ठा, केवल छद्मस्थ तीर्थंकरमें ही होता है दूसरेमें नहीं यह टीकाकारने लिखा है वह टीका यह है:—

"कल्पातीतेवा कषाय कुशीलो भवेत्। कल्पातीतस्य छद्मस्थ तीर्थंकरस्य सकषायत्वात्।"

अर्थात् कषाय कुशील निग्रन्थ, कल्पातीत भी होता है क्योंकि छद्मस्थ तीर्थंकर कषाय कुशील होते हैं और वह कल्पातीत हैं।

उक्त पाठ और उसकी उक्त टीकामें छद्मस्थ तीर्थंकरको कल्पातीत कहा है। कल्पातीत वह है जो जिन कल्प और स्थविर कल्पका उल्लंघन किया हुआ है। भगवतीकी टीकामें लिखा हुआ है कि "कप्पा तीतेति जिन 'कल्प स्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र" अर्थात् जिन कल्प और स्थविर कल्पसे भिन्नको कल्पातीत कहते हैं। कल्पम् अतीताः कल्पा तीताः" इस व्युत्पत्तिसे, जो कल्पका उल्लंघन किया हुआ है यानी जिस पर शास्त्रीय मर्य्यादाका कोई अधिकार नहीं है वह कल्पातीत है। शास्त्रमें प्रधान रूपसे दो ही कल्प

बतलाये हैं। जिन कल्प और स्थविर कल्प। शेष सभी कल्प इनमें ही अन्तर्भूत हैं इस लिये जिन कल्पी और स्थविर कल्पी ही शास्त्रीय मर्य्यादाके अधिकारी होते हैं, जो कल्प को उल्लंघन किया हुआ है वह नहीं होता। भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही कल्पातीत हो गये थे इस लिये जैसे केवल ज्ञान होने पर कल्पातीत और आगम व्यवहारी होनेसे उनके कार्य्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोषमें नहीं कह सकते हैं उसी तरह उनके छद्मस्थपनेके कार्य्यको भी दोषमें नहीं कह सकते। जैसे केवल ज्ञान होनेपर जा-माली आदिको दीक्षा देने आदि कार्य्य भगवानने किये थे और वे कार्य्य उनके दोषमें नहीं थे उसी तरह उनके छद्मस्थपनेमें गोशालको दीक्षा देने तिल बताने आदि कार्य्य भी दोष या चूकनेमें नहीं थे। अतः गोशालकको तिल बताने दीक्षा देने आदि कार्य्य को भगवानके चूकनेमें प्रमाण देना अज्ञान है।

बोल १४ समाप्त

(प्रेरक)

भगवान महावीर स्वामी छद्मस्थपनेमें आगम व्यवहारी और कल्पातीत थे इस लिये सूत्र व्यवहारीके कल्पानुसार उनके कार्य्योंको दोषमें नहीं कहा जा सकता यह ज्ञात हुआ, अब व्यवहारोंका भेद बतलाइये ?

(प्ररूपक)

भगवती व्यवहार सूत्र और ठाणाङ्ग सूत्रमें व्यवहारका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

"कइ विहेणं भन्ते ! ववहारे पन्नत्ते ? गोयमा ! पंचविहे वव-हारे पन्नत्ते तंजहा आगमे, सुए आणा, धारणा, जीए। जहासे तत्थ आगमेसिया आगमेणं ववहारे पट्ठवेज्जा णोयसे तत्थ :आगमेसिया जहा से तत्थ सुए सिया सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा। णोवासे तत्थ सुएसिया जहा से तत्थ आणासिया आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा। णोयसे तत्थ आणासिया जहा से तत्थ धारणासिया धारणाएणं वव-हारं पट्ठवेज्जा। णोयसे तत्थ धारणासिया जहा से तत्थ जीएसिया जीएणं ववहारे पट्ठवेज्जा"

(भग० श० ८ व्यवहार उ० १० ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थ :—

(प्रश्न) हे भगवन् ! व्यवहार कै प्रकारका होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! व्यवहार पांच प्रकारका होता है ।

(१) आगम व्यवहार (२ श्रुत व्यवहार (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जित व्यवहार । जहां केवल आदि छः आगमोंमेंसे कोई आगम विद्यमान हो वहां प्रायश्चित्तादि व्यवस्था आगमसे दी जाती है श्रुत आदिसे नहीं । जहां आगम न हो वहां श्रुत व्यवहारसे व्यवस्था देनी चाहिये आज्ञा आदिसे नहीं । जहां श्रुत न हो वहां आज्ञासे, जहां आज्ञा न हो वहां धारणासे, जहां धारणा न हो वहां जितसे व्यवस्था देनी चाहिये परन्तु आज्ञाके होने पर धारणासे और धारणाके होने पर जितसे व्यवस्था नहीं देनी चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें व्यवहारके आगम आदि छः भेद बतला कर पूर्व पूर्वके सद्भावमें उत्तर उत्तरसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है इसी तरह आगमोंमें भी केवल ज्ञानके रहने पर शेष पांच आगमोंसे और मन:पर्य्यवके रहते शेष चारसे एवं अवधिके रहने पर शेष तीनसे, चौदह पूर्वके रहते शेष दोसे और दश पूर्वके रहने पर शेष नव पूर्वसे और नव पूर्वके रहने पर श्रुत आदिसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है अतः छद्मस्थतीर्थंकरमें आगम व्यवहारके होनेसे श्रुतादि व्यवहारानुसार उनमें दोषकी स्थापना नहीं की जा सकती । भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही मनः पर्य्यव ज्ञानके धनी हो गये थे इस लिये उनको श्रुतादि व्यवहारोंसे आचरण करनेकी कोई आवश्यकता न थी उनके सभी व्यवहार आगम व्यवहारके अनुकूल ही होते थे अतः उनके कार्य्यको श्रुतादि व्यवहारके अनुसार समालोचना करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

भ्रम विध्वंसन कारने भी अपने प्रश्नोत्तर तत्वबोध नामक ग्रन्थमें आगम व्यवहारके रहने पर श्रुतादि व्यवहारोंसे कार्य्य न होनेका उल्लेख किया है ।

(प्रश्न)

दशवर्षां पछे भगवती भगवी व्यवहार उद्देशा १० कह्यो तो धनो नवमासे ११ अंग भण्यो किम् ?

(उत्तर)

वीरनी आज्ञाइं दोष नहीं ते ठामे आगम व्यवहार प्रवर्ततो सूत्र व्यवहाररो काम नहीं । व्यवहार उद्देशे १० तथा ठाणाङ्ग ठाणा ५ कह्यो जिवारे आगम व्यवहार व्है तिवारे आगम व्यवहार थापवो अने आगम व्यवहार न व्है तिवारे सूत्र व्यवहार थापवो इम कह्यो”

(प्रश्नोत्तर तत्व बोध उत्तर नं० १२३)

ऊपर लिखे हुए जीतमलजीके लेखमें आगम व्यवहारके होनेपर सूत्र व्यवहारका उपयोग नहीं किया जाना साफ साफ लिखा है और महावीर स्वामीके समयमें आगम व्यवहारका ही उपयोग होना भी लिखा है तथापि 'सूत्र व्यवहारानुसार भगवानमें - दोष कायम करना इनका अपने कथनसे ही विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल १५ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २२४ पर भगवती शतक १५ वें की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ टीकामें पिण कह्यो ए अयोग्यने भगवान अंगीकार कियो ते अक्षीण राग-पणे करी तेहना परिचय करी स्नेह अनुकम्पाना सद्भावथी अने छद्मस्थ छै ते मांटे आगा-मियां कालाना दोपना अजाण थकी अंगीकार कीधो कह्यो राग परिचय स्नेह अनुकम्पा कही ते स्नेह अनुकम्पा कही अने भावे मोह अनुकम्पा कहो जो एकार्य्य करवायोग्य हुवे ता इम क्यांने कहिता" (भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ वें की टीकासे महावीर स्वामीका चूकना नहीं सिद्ध होता क्योंकि वहां टीकाकारने लिखा है कि "अवश्यंभाविभावत्वाच्चैतस्यार्थस्येति विभावनीयम्" अर्थात् भगवानसे गोशालकका स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये भगवानने उसे स्वीकार किया । यह लिखकर टीकाकारने भगवानको चूक जाने का स्पष्ट रूपसे निषेध किया है तथापि इस टीकाके आश्रयसे भगवानको चूकनेकी सिद्धि करना अज्ञान है ।

यदि कोई कहे कि इस टीकामें गोशालकको स्वीकार करनेके दो कारण और भी बतलाये हैं । पहले तो गोशालकके ऊपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करना कारण कहा है और साधुका किसी पर स्नेह करना गुण नहीं किन्तु दोष है तो उसे कहना चाहिये कि अनुकम्पाके ऊपर तथा अपने धर्म, धर्माचार्य और अपने सहधर्मी भाइयोंपर स्नेह करना बुरा नहीं किन्तु गुण है । शास्त्रमें चोरी जारी हिंसा और झूठ आदिमें स्नेह करना ही बुरा कहा है गुणके साथ स्नेह करना बुरा नहीं कहा हैं अतः गोशालकके ऊपर जो भग-वानने स्नेहयुक्त अनुकम्पा की थी उसे सावद्य कहना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि गोशालक अयोग्य व्यक्ति था उसपर स्नेह करना अवश्य बुरा था" तो इसका उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं कि "छद्मस्थतयानाऽगत दोपाऽनव-

गमात्" अर्थात् जिस समय भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था उस समय गोशालक अयोग्य नहीं था किन्तु पीछे अयोग्य हुआ इस बातकी खबर भगवानको नहीं थी क्योंकि भगवान छद्मस्थ होनेके कारण भावी दोषको नहीं जानते थे।

यह लिखकर टीकाकार भगवानके चूकनेका स्पष्ट रूपसे निषेध कर रहे हैं। क्योंकि भविष्य कालका दोष नहीं जानने वाला कोई पुरुष वर्तमान कालमें किसीको अयोग्य नहीं जान कर यदि उसपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करे तो इसमें उसका क्या दोष है? अतः भविष्य कालके दोषको नहीं जान कर भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था यह भगवानका चूकना नहीं किन्तु दयालुता है। इसके आगे टीकाकारने भगवानके दोषका खण्डन करनेके लिये तीसरा हेतु अवश्य होनहार बतलाया है जो पहले लिख दिया गया है। यह तीसरा हेतु इस लिये दिया गया है कि पहलेके दो हेतुओंमें अरुचि है। पहले हेतुमें अरुचि यह है कि "गोशालक अयोग्य था उसपर भगवानने स्नेह क्यों किया?" इस अरुचिके कारण पहला हेतुको छोड़ कर टीकाकार दूसरा हेतु बतलाते हैं कि गोशालकके भविष्यमें अयोग्य होनेका भगवानको ज्ञान नहीं था क्योंकि वह छद्मस्थ थे इस लिये भगवानने गोशालकको स्वीकार किया। इस हेतुमें भी यह अरुचि आती है कि भगवान छद्मस्थ होकर भी भविष्यकी बात जान सकते थे जैसे कि उन्होंने गोशालकको बतलाया था कि इस तिलमें इतने दाने होंगे इत्यादि। अतः टीकाकारने पूर्व के दोनों हेतुओंसे सन्तुष्ट न होकर तीसरा हेतु दिया है और तीसरा हेतु देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि गोशालकको भगवानके द्वारा स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये इसमें भगवानका कुछ भी दोष नहीं है। आगम व्यवहारी पुरुष भावी बातको अपने ज्ञान द्वारा जान कर उसका अनुष्ठान करते हैं इसमें उनका कुछ दोष नहीं होता जैसे कि केवल ज्ञान होनेपर भावीको जानकर ही भगवानने जामालीको दीक्षा दी थी उसी तरह गोशालकके विषयमें भी समझना चाहिये। अतः भगवती शतक १५ की टीका

नोट—भगवती शतक १५ की टीकामें भगवान्के दोषका खण्डन किया है चूक जाना नहीं बतलाया है अन्यथा टीकाकार गोशालकको स्वीकार करना अवश्यम्भावी भाव क्यों बतलाते। पहलेके दो हेतुओंसे भी यही बात कही है उनसे भी दोषका खण्डन ही किया गया है समर्थन नहीं। क्योंकि एक ही विषयमें टीकाकार दो राय नहीं दे सकते यदि दो राय देवें तो स्थाणुर्वा पुरुषोवा की तरह उनकी बात संशयात्मक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकती।

का नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी कल्पना करना निर्मूल तथा निराधार समझना चाहिये।

[बोल १६ वां समाप्त]

(प्रेरक).

भ्रम विध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२४ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ की टीकामें लिखी हुई गाथाको लिख कर उसकी साक्षी देते हुए लिखते हैं—

"तथा छद्मस्थ तीर्थंकर दीक्षा लेवे जिण दिन साथे कोई दीक्षा लेवे तेतो ठीक छै पिण तठापछे केवल ज्ञान ऊपना पहिलां औरने दीक्षा देवे नहीं ठाणाङ्ग ठाणा ९ अर्थमें एहवी गाथा कही छै। (भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथाका नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी प्ररूपणा मिथ्या है। प्रथम तो वह गाथा कहीं मूलपाठ या किसी प्रमाणिक टीकामें नहीं पायी जाती इस लिये वह गाथा प्रमाण नहीं मानी जा सकती। दूसरी बात यह है कि उस गाथामें "नय सीसवग्गं दिक्खंति" यह लिखा है अर्थात् "छद्मस्थ तीर्थंकर शिष्य वर्गको दीक्षा नहीं देते।" यहां शिष्य वर्गको दीक्षा देनेका निषेध किया है किसी एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है अतः इस गाथासे भी एक व्यक्ति (गोशालक) को दीक्षा देनेसे भगवानका चूकना नहीं सिद्ध हो सकता। अतः किसी अज्ञात व्यक्तिकी बनाई हुई इस गाथाका नाम लेकर भगवान्के चूक जानेका समर्थन करना अज्ञान है।

वास्तवमें छद्मस्थ तीर्थंकर, वीतराग तीर्थंकरके समान ही कल्पातीत होते हैं इस लिये उनके कार्य्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्रीय कल्प कल्पस्थित साधुओं पर ही लगता है कल्पातीत पर नहीं। कल्पातीत साधु अपने ज्ञानमें जैसा देखते हैं वैसा ही करते हैं, यह उनका दोष नहीं किन्तु गुण है। ठाणाङ्ग ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथा, तीर्थंकरोंका कल्प नहीं बतलाती है कि "अमुक अमुक कार्य्य तीर्थंकरको कल्पता है और अमुक अमुक नहीं" क्योंकि कल्पातीतका कोई कल्प नहीं होता। तीर्थंकर लोग छद्मस्थ अवस्थामें प्रायः जो कार्य्य करते हैं उसका वर्णनमात्र इस गाथामें किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर तीर्थंकरमें कल्प कायम करके उन्हें चूकनेकी कल्पना करना मिथ्या है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

"अने कई एक पाखण्डी कहे गोतमने भगवान कह्यो हे गोतम ! बारह वर्ष तेरह पक्षमें मोने किञ्चिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं ते झूठरा बोलनहार छै" (भ्र० पृ० २५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

बारह वर्ष और तेरह पक्षमें दोष नहीं लगनेकी बात भगवान्ने सुधर्मा स्वामीसे कही थी और सुधर्मा स्वामीने यह बात भगवानसे सुन कर जम्बू स्वामीसे आचारांगमें कही है। आचारांग सूत्रके प्रथम श्रुत स्कन्धके नवम अध्ययनमें पहले पहल सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

"अहा सुयं वइस्सामि" अर्थात् जैसा मैंने सुना था वैसा ही कहूंगा। इससे ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीके मुखसे उनके छद्मस्थावस्थाका वृत्तान्त सुन कर उसका वर्णन आचारांग सूत्रमें जम्बू स्वामीसे किया है। अतएव आचारांगके आरम्भमें ही यह लिखा है कि "सुयंमे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं" अर्थात 'हे आयुष्मन ! भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है' इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुनी हुई बातोंका ही आचारांगमें जम्बू स्वामीसे वर्णन किया है अतः सुधर्मा स्वामीकी आचारांगमें कही हुई सब बातें भगवानकी ही कही हुई समझनी चाहिये। उन बातोंको न मानना सुधर्मा स्वामीकी ही नहीं किन्तु साक्षात् तीर्थंकरकी बातको न मानना है। आचारांग सूत्रमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कहा है कि—

"एएहिं मुणी सयणेहिं समणे असिय तेरस वासे। राइंदियंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ"

(आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० २ गाथा ४)

अर्थात मुनि भगवान् महावीर स्वामी इन स्थानोंपर निवास करते हुए तेरहवें वर्ष पर्य्यन्त रात दिन संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान करते थे।

इस पाठमें तेरहवें वर्ष पर्य्यन्त भगवानको प्रमाद रहित होकर रहना लिखा है। तथा आगे चलकर एक वार भी प्रमाद करनेका निषेध किया है। वह गाथा यह है—

"अकसाई विगयगेही सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई। छउमत्थोवि परक्कममाणो न पमायं सइंवि कुव्वीत्था"

इस गाथामें छद्मस्थपनेमें भगवान्‌के एक वार भी प्रमाद सेवन करनेका निषेध किया है और यह बात साक्षात महावीर स्वामीसे सुनकर ही सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कही थी इस लिये इस बातको न मानकर भगवानमें प्रमाद सेवन करनेका दोष लगाना केवलीके वाक्यको न मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है परन्तु दीर्घ संसारी जीव केवलीके वाक्यका तिरस्कार करनेमें शंका नहीं करते। आचारांग सूत्रके प्रमाणसे जब कि भगवानके न चूकनेकी बात स्पष्ट सिद्ध होती है तब इसपर पर्दा डालनेके लिये जीतमलजीने अपने मनसे गढ़ कर यह बतलाया है कि 'गोतम स्वामीसे भगवानने १२ वर्ष और तेरह पक्ष तक पाप नहीं लगनेकी बात नहीं कही है।"

अस्तु, भगवानने गोतम स्वामीसे नहीं कही परन्तु सुधर्मा स्वामीसे तो कही है फिर तुम इसे क्यों नहीं मानते ? बात तो सची ही है। सची बातको छिपानेके लिये अपने मनसे उसमें एक मिथ्या बात लगा देना कहांका पाण्डित्य है ?

(बोल १८ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान्‌को छद्मस्थपनेमें दश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक भगवान्‌को निद्रा आई थी। निद्रा लेना प्रमादका सेवन करना है फिर आचारांग सूत्रकी गाथामें यह क्यों कहा गया कि भगवानने छद्मस्थपनेमें एक वार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ?

(प्ररूपक)

भगवान महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक उन्हें निद्रा भी आई थी पर वह निद्रा द्रव्य निद्रा थी भाव निद्रा नहीं। मिथ्यात्व और अज्ञान को शास्त्रमें भाव निद्रा कहा है। केवल सोने मात्रको नहीं केवल सोना तो द्रव्य निद्रा है उसे शास्त्रीय विधानानुसार लेता हुआ साधु दोषका सेवन करने वाला नहीं होता। यह बात भ्रमविध्वंसनकारको भी मान्य है उन्होंने लिखा है कि "तिहां भाव निद्राथी तो पाप लागे छै अने द्रव्य निद्राथी तो जीव दबे छै" (भ्र०पृ० ४०९)

अतः भगवानको द्रव्य निद्रा लेनेसे प्रमादका सेवन करने वाला नहीं कहा जा सकता है। अतः आचारांग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथामें जो भगवानको एक वार भी प्रमाद सेवन नहीं करनेका कथन है वह अक्षरशः यथार्थ है उसे न मान कर भगवानके चूक जानेका या प्रमाद सेवन करनेका दुराग्रह करना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य्य है।

(बोल १९ वां)

इति प्रायश्चित्ताधिकारः।

(अथ लेश्याधिकारः)

—————o—————

(प्रेरक)

लेश्या किसे कहते हैं ?

(प्ररूपक)

लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या। कृष्णादिद्रव्य साचिव्याद्रात्मनः परिणाम विशेषे। "कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्परिणामोय आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रयुज्यते" ॥१॥

अर्थात् जिसके द्वारा आत्माका कर्मके साथ सम्बन्ध होता है उसे लेश्या कहते हैं। अथवा कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिक मणिकी तरह जो आत्माका परिणाम विशेष होता है उसे लेश्या कहते हैं। वह लेश्या दो प्रकारकी होती है एक द्रव्य लेश्या और दूसरी भाव लेश्या। भाव लेश्या मुख्य रूपसे द्रव्यके संसर्गसे पैदा होने वाला आत्माका परिणाम है और द्रव्य लेश्या मुख्य रूपसे पुद्गलका परिणाम (पर्य्याय) है।

(प्रेरक)

संयमधारी साधुओंमें कितनी लेश्यायें होती हैं।

(प्ररूपक)

संयमधारी साधुओंमें तेजः पद्म और शुक्ल ये तीन भाव लेश्यायें होती हैं, कृष्ण नील और कापोत भाव लेश्यायें नहीं होतीं। भगवती शतक १ उद्देशा १ में यह लिखा है इस लिये वहांका पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है!

"सलेस्सा जहा ओहिया किण्हलेसस्स नीललेसस्स काउलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं पमत्ता पमत्ता न भाणियव्वा। तेउलेसस्स पम्हलेसस्स सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धान- भाणियव्वा।".

(भ० श० १ उ० १)

(टीका)

"लेस्साणं भन्ते! जीवा किं आयारंभे" इत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थाने सलेश्या इतिवाच्यम् इत्ययमेको दण्डकः। कृष्णादिलेश्या भेदात् तदन्ये षट् तदेवमेते

सप्त तत्र "किण्हलेसस्स" इत्यादि कृष्णलेश्यस्य नीललेश्यस्स कापोत लेश्यस्यच जीवराशेर्दण्डको यथौधिकजीवदण्डकस्तथाऽध्येतव्यः प्रमत्ता प्रमत्त विशेषण वर्ज्यः कृष्णादिषुहि अप्रशस्त भावलेश्यासु संयतत्वंनास्ति यच्चोच्यते पुव्वं पडिवन्नाओ पुण अनेरिएउ लेस्साए" त्ति तद्द्रव्य लेश्यां प्रतीत्येतिमंतव्यम्। ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावः। तत्रसूत्रोच्चारण मेवम्। "किण्हलेस्साणं भन्ते ! जीवा किं आयारंभा परारंभा तदुभयारंभा अणारंभा ?। गोयमा ! आयारंभावि जावणो अणारंभा, सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! अविरयं पडुच्च" एवं नील कापोतलेश्या दण्डकावपीति। तथा तेजोलेश्या देजीर्वराशेर्दण्डकाः यथौधिक जीवास्तथा वाच्यः नवरं तेषु सिद्धानवाच्याः सिद्धानामलेश्यत्वात् तच्चैवं "तेउलेस्साणं भन्ते ! जीवा किं आयारंभा ४ गोयमा ! अत्थेगइया आयारंभावि जावणो अनारंभा। अत्थेगइया नोआयारंभा जाव अणारंभा। सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! दुविहा तेउलेस्सा पन्नत्ता संजयाए असंजयाए"

इस टीकाके अनुसार मूल पाठका अर्थ यह है—

अर्थात् जीव दो प्रकारका होता है एक सलेश्य और दूसरा अलेश्य। सलेश्य जीवोंका वर्णन सामान्य जीवोंका वर्णनके समान जानना चाहिये। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवोंका वर्णन भी समुच्चय जीवोंका वर्णनके समान ही जानना चाहिये परन्तु इनमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते क्योंकि कृष्ण नील और कापोत भाव लेश्याओंमें संयतपना (साधुपना) नहीं होता। कहीं कहीं साधुओं में छः लेश्याओंका भी उल्लेख है वह द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी अपेक्षासे नहीं अतः कृष्ण नील और कापोत इन तीन भाव लेश्याओंमें प्रमत्त और अप्रमत्त रूप दो भेद नहीं कहने चाहिये। कृष्णादि लेश्याओंमें सूत्रका उच्चारण इस प्रकार करना चाहिये। "कण्हलेस्साणं भन्ते ! जीवा" इत्यादि।

अर्थात् हे भगवन् ! कृष्ण लेश्यावाले जीव आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते।

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले जीव अनारंभी नहीं होते किन्तु आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव, अव्रतकी अपेक्षासे आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते। इसी तरह नील और कापोतलेश्या वाले जीवोंको भी समझना चाहिये।

तेज:, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवोंको समुच्चय जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु इनमें सिद्ध जीवोंको न कहना चाहिये क्योंकि सिद्ध जीवोंमें कोई लेश्या नहीं होती ।

तेजोलेश्याके विषयमें सूत्रका पाठ इस प्रकार है —

"तेउलेस्साणं भन्ते ! जीवा किं आयारंभावि जाव अणारंभा ? गोयमा ! अत्थेगइया आयारंभावि जाव णो अणारंभा अत्थेगइया णो आयारंभा जाव अणारंभा । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! दुविहा तेउलेस्सा पण्णत्ता संजयाए असंजयाए"

(भ० सू०)

अर्थः—

हे भगवन् ! तेजोलेश्या वाले जीव, आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी होते हैं ?

(उ०) हे गोतम ! तेजोलेश्या वाले कोई कोई जीव, आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते और कोई कोई अनारंभी होते हैं आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी नहीं होते ।

हे भगवन् ! तेजोलेश्या वाले जीवों में यह दो भेद क्यों होते हैं ?

हे गोतम ! तेजोलेश्यावाले जीव दो तरहके होते हैं एक संयत और दूसरे असंयत । संयत भी दो प्रकार के होते हैं प्रमादी और अप्रमादी । अप्रमादी आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी नहीं होते अनारंभी होते हैं, परन्तु प्रमादी अशुभ योगी साधु, अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते ।

यह भगवतीके मूलपाठ और टीकाका अर्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्या वाले जीवोंको ओघिक दण्डकके जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु विशेष इतना है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते ।

इस मूलपाठको बातका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—

"कृष्णादिषुहि अप्रशस्तभाव लेश्यासु संयतत्वं नास्ति"

अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत, इन भाव लेश्याओंमें साधुपन नहीं होता इसलिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी, ये दो भेद वर्जित किये गये हैं ।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका साफ साफ निषेध किया है इसलिये साधुओंमें तेजः पद्म और और शुक्ल, ये तीन भाव लेश्या ही होती हैं कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं अतः साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका सद्भाव बताना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४२ पर लिखते हैं—

"अथ अठे ओघिक पाठ कह्यो—तिणमें संयतिरा भेद प्रमादी अप्रमादी किया। अने कृष्ण नील कापोत लेश्याने ओघिकनो पाठ कह्यो तिम कहिवो पिण एतलो विशेष संयतिरा प्रमादी अप्रमादी ए दो भेद न करवा ते किम् प्रमत्तमें कृष्णादिक तीन लेश्या हुवे अने अप्रमत्तमें न हुवे ते मांटे दो भेद वर्ज्या" (भ्र० पृ० २४२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीजीके उक्त मूल पाठमें "पमत्ता पमत्तान भाणियव्वा" यह जो वाक्य आया है उसका टीकानुसार यही अर्थ है कि कृष्ण नील और कापोत, इन तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते किन्तु साधुसे भिन्न जीव इनमें होते हैं। अतः कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें प्रमादी साधुका सद्भाव बताना मिथ्या है।

यदि शास्त्रकारको उक्त तीन भाव लेश्याओंमें केवल अप्रमादीको ही वर्जित करना इष्ट होता तो वह "पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा" ऐसा नहीं लिख कर "अपमत्ता नभाणियव्वा" यही लिख देते। इस प्रकार लिखनेसे कृष्णादि तीन भाव लेश्याओं में प्रमादीका होना और अप्रमादीका न होना साफ साफ मालूम हो जाता परन्तु शास्त्रकार ने ऐसा नहीं लिख कर "पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा" यह लिखा है इसका तात्पर्य्य यही है कि कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके संयत नहीं होते और टीकाकारने भी मूल पाठका यही अर्थ स्पष्टरूपसे वतलाया है तथा इस पाठका टब्बा अर्थ भी कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकार के संयतोंका निषेध करता है वह टब्बा अर्थ यह है—

"एतलो विशेष प्रमत्त अप्रमत्त वर्जित कहिवा। कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याने विषे संयतपणो नथी"

इस टब्बा अर्थमें साफ साफ लिखा है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में साधुपना नहीं होता इसलिये इन लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकार के संयत वर्जित किये गये हैं तथापि उक्त मूलपाठ, उसकी टीका तथा टब्बा अर्थ, इन तीनों को नहीं मान कर कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें साधुपनाका स्थापन करना, मिथ्यात्वका परिणाम है।

जिस प्रकार भगवतीके उक्त मूलपाठ, उसकी टीका और टब्बा अर्थमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ में कृष्णादि तीन भाव लेश्याओं में सराग, वीतराग, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है। वह पाठ यह है:—

"सलेस्साणं भन्ते! नेरइया सव्वे समाहारगा? ओहियाणं सलेस्साणं सुक्कलेस्साणं एएसिणं तिन्नं तिण्हं एक्को गमो कण्हलेस्साणं नील लेस्साणं वि एक्को गमो। नवरं वेदणाए मायी मिच्छ दिट्ठी उववन्नगाय अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगाय भाणियव्वा मणुसा किरियासु सराग वीयरागपमत्ता पमत्ता न भाणियव्वा। काउलेस्साणवि एसेव गमो नवरं नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा नवरं मणुसा सराग वीयरागा नभाणियव्वा"

(भ० श० १ उ० २)

अर्थ:—

(प्रश्न) हे भगवन्! सलेशी सभी नारकि जीवोंका क्या एक समान ही आहार है?

(उत्तर) ओघिक सलेशी और शुक्ललेशी इन तीनोंके लिये एक समान ही पाठ कहना चाहिये। एवं कृष्णलेशी और नीललेशी जीवोंके लिये भी एक समान ही पाठ कहना चाहिये परन्तु वेदनाके विषयमें विशेष यह है कि— मायी मिथ्या दृष्टि महान वेदना वाले होते हैं और अमायी सम्यग्दृष्टि अल्पवेदना वाले होतेहैं मनुष्यपदमें क्रिया सूत्रके अन्दर यद्यपि ओघिक दण्डकमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी कहे हुए हैं तथापि कृष्ण और नील लेश्याके दण्डकमें इन्हें नहीं कहना चाहिये। कापोत लेश्याके दण्डकको भी नील लेश्याके दण्डकके समान ही कहना चाहिये परन्तु इसमें विशेष यही है कि कापोत लेश्या वाले नारकि जीवोंको ओघिक दण्डकके समान कहना चाहिये। तेजोलेश्या और पद्म लेश्या वाले जीवोंको ओघिक दण्डकको तरह कहना

चाहिये केवल इतना विशेष हैं कि इनमें सरागी और वीतरागी न कहने चाहिये। यह उक्त मूल पाठका अर्थ है।

इसमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओंमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके संयत (साधु) वर्जित किये गये हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएं साधुओंमें नहीं होतीं यह स्पष्ट सिद्ध होता है अतः जो लोग संयतियोंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करते हैं उन्हें उत्सूत्रवादी जानना चाहिये।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २४६ पर इसी पाठको लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"सरागी वीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद कृष्ण नील संयति मनुष्यरा न हुवे वीतरागी अने अप्रमादीमें कृष्ण नील लेश्या न हुवे ते मांटे दो दो भेद न हुवे। सरागीमें तो कृष्ण नील लेश्या हुवे परं वीतरागीमें न हुवे ते मांटे संयतिरा दो भेद सरागी वीतरागी न करवा। अने प्रमादीमें तो कृष्ण नील लेश्या हुवे परं अप्रमादीमें न हुवे ते मांटे सरागीरा दो भेद प्रमादी अप्रमादी न करवा। इण न्याय कृष्ण नील लेशी संयतिरा सरागी वीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद करवा वर्ज्या परं संयति वर्ज्यो नहीं संयतिमें कृष्ण नील लेश्या छे। अने संयतिमें कृष्णादिक न हुवे तो इमि कहिता 'संजया न भाणियव्वा" इत्यादि।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयति पुरुष नहीं होते क्योंकि अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम नहीं होता इस लिये भगवतीके उक्त पाठमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके संयतियोंका होना निषेध किया है, केवल संयतियोंके भेदका ही निषेध नहीं किया है यहांके पाठका भाव यह नहीं है कि प्रमादी और सरागीमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्यायें पायी जाती हैं और अप्रमादी तथा वीतरागीमें नहीं पायी जातीं क्योंकि इसी मूल पाठमें आगे चलकर कहा है कि "तेजः पद्म लेश्याओंमें सरागी और वीतरागी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते" इसका तात्पर्य्य यही है कि सरागी

और वीतरागी इन दोनों प्रकारके साधुओंमें तेजः पद्म लेश्यायें नहीं होतीं, यह नहीं कि सरागीमें तेजः पद्म लेश्या पाई जाती हैं और वीतरागीमें नहीं पाई जातीं क्योंकि अष्टम नवम और दशम गुण स्थान वाले जीव भी सरागी ही होते हैं परन्तु उनमें तेजःपद्मलेश्यायें नहीं होतीं एकमात्र शुक्ल लेश्या ही होती है अतः जैसे तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें सरागी और वीतरागी इन दोनों प्रकारके ही साधुओंका होना निषेध किया है उसी तरह कृष्णादिक लेश्याओंमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके संयतियोंके होनेका ही निषेध है। केवल भेद मात्र करनेका निषेध नहीं है। यदि कोई दुराग्रही यह नहीं मानकर सरागी और प्रमादीमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका सद्भाव कहे तो उसे कहना चाहिये कि तुम सरागीमें तेजः पद्म लेश्याका होना क्यों नहीं मानते ? यदि वह सरागीमें तेजः पद्म लेश्याका होना स्वीकार कर ले तो फिर उसे अष्टम नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेजः और पद्म लेश्याका सद्भाव मानना पड़ेगा क्योंकि ये भी सरागी हैं परन्तु यह बात शास्त्र विरुद्ध है अष्टमादि गुण स्थानोंमें एक मात्र शुक्ल लेश्या ही शास्त्र सम्मत है तेजः पद्म लेश्या नहीं। अतः जैसे तेजः पद्म लेश्या में सरागी और वीतरागीका भेद करना ही वर्जित नहीं किन्तु सरागी और वीतरागी दोनों प्रकारके साधुओंका होनेका निषेध है उसी तरह कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओं में सरागी और वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी इन चार प्रकारके साधुओंके होनेका ही निषेध है केवल इनके भेद मात्रका निषेध नहीं है।

यदि कोई कहे कि तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें सरागी और वीतरागी दोनों ही प्रकारके साधुओंका निषेध है तो फिर संयमी पुरुषों में तेजो लेश्या और पद्म लेश्या नहीं होनी चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि उक्त भगवतीजीके मूल पाठोंमें प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चार प्रकारके संयमी कहे गये हैं उनमें षष्ठ गुण स्थान वाले प्रमादी, सप्तम गुण स्थान वाले अप्रमादी और अष्टमसे दशम गुण स्थान पर्य्यन्त तक सरागी और एकादशादि गुण स्थान वाले वीतरागी माने गये हैं इस लिये षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले संयतियोंमें तेजः पद्म लेश्याके होनेका निषेध नहीं है क्योंकि यहां सरागी शब्दसे अष्टमादि गुण स्थान वाले संयति ही गृहीत होते हैं षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले नहीं उनको तो प्रमादी और अप्रमादी कह कर बतलाया है इस लिये षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले संयतियोंमें तेजो लेश्या और पद्म लेश्याके होनेका निषेध नहीं किया जा सकता। जो लोग कृष्ण नील लेश्या वाले भगवतीजीके पूर्व लिखित पाठ में, कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें केवल प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागीके भेद होनेका ही निषेध मानते हैं उनके मतमें तेजः पद्म लेश्यामें भी सरागी और वीत-

रागीके भेदको ही वर्जित कहना चाहिये परन्तु सरागी साधुके अन्दर तेजो लेश्या और पद्म लेश्याके होनेका नहीं ऐसी दशामें जैसे वे लोग कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें प्रमादी और सरागीका सद्भाव मानते हैं उसी तरह तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें अप्रमादि गुण स्थानवाले सरागियोंको भी क्यों नहीं मान लेते ? अतः जैसे अप्रमादि गुण स्थान वाले संयतियोंमें वे तेजो पद्म लेश्या नहीं मानते उसी तरह संयतियोंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्या भी नहीं माननी चाहिये।

यदि कोई कहे कि कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयति मात्रका निषेध करना इष्ट था तो शास्त्रकारने पदलाघवात् "संजया नभाणियव्वा" यही क्यों नही लिख दिया ? ऐसा लिखनेसे संयति मात्रका, कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें स्पष्ट निषेध हो जाता और पदका भी लाघव होता तो इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकार वैयाकरणोंकी तरह पद लाघवके पक्षपाती नहीं थे जहां केवल "पाणाणुकम्पयाए" इतना कह देनेसे ही काम चल सकता था, वहां उन्होंने "पाणाणुकम्पयाए भूयाणुकम्पयाए जीवाणुकम्पयाए सत्ताणुकम्पयाए" इत्यादि चार पदोंका प्रयोग किया है। उसी तरह यहां भी "संजया नभाणियव्वा" यह नहीं लिखकर "पमत्तापमत्ता सरागवीयरागा -नभाणियव्वा" यह लिखा है अतः इस पाठका टीका विरुद्ध और सम्प्रदाय विरुद्ध अर्थ करके साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना मिथ्या समझना चाहिये।

[बोल ३]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार पन्नावणा सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहां पिण कृष्ण लेशी मनुष्यरा तीन भेद कह्या छै संयति असंयति संयता संयति ते न्याय संयतिमें पिण कृष्णादिक हुवे"

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

पन्नावणा सूत्रके मूल पाठका नाम लेकर संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना मिथ्या है। भगवती सूत्र अंग है और पन्नावणा सूत्र उपांग है इस लिये भगवती सूत्रके विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयतियोंके अन्दर कृष्णादिक तीन अप्रशस्त लेश्याओंका सद्भाव नहीं कहा जा सकता। अंगोंमें कही हुई बातका उपांग

सूत्र समर्थन करते हैं खण्डन नहीं करते। जब कि भगवती सूत्रके मूल पाठमें और उसकी टीकामें संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंके होनेका निषेध कर दिया है तो उसके विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका सद्भाव कैसे कहा जा सकता है ? अब पाठकोंके ज्ञानार्थ पन्नावण सूत्रका वह पाठ लिख कर उसका अर्थ कर दिया जाता है।

वह पाठ यह है :—

"कण्हलेस्साणं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारा सम सरीरा सव्वेवपुच्छा ? गोयमा ! जहा ओहिया णवरं णेरइया वेदणाए मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नगाय अमायी सम्मदिट्ठी उववन्न गाय भाणियव्वा सेसंतहेव जहा ओहियाणं असुर कुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया णवरं मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो जाव तत्थणं जेते सम्मदिट्ठी तेतिविहा पन्नत्ता संजया असंजया संजया संजया जहा ओहियाणं"

(पन्नावणासूत्र पद १७)

अर्थः—

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले नारकी क्या सभी समान आहार वाले और समान शरीर वाले होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! जैसा औधिक दण्डकमें कहा गया है वैसा इसमें भी कहना चाहिये सिर्फ इतना विशेष है कि जो मायी मिथ्यादृष्टि मर कर नरकमें उत्पन्न होते हैं वे महान् वेदना वाले होते हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं वे अल्प वेदना वाले होते हैं शेष सभी बातें औधिक दण्डकके समान समझनी चाहिये। असुर कुमार और वाण व्यन्तरोंको भी औधिक दण्डकके समान ही समझनी चाहिये। मनुष्यों में यह विशेष है—सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिविध होते हैं—(१) संयत (२) असंयत (३) और संयता संयत। शेष सब औधिक दण्डक के समान समझना चाहिये।

यह इस पाठका अर्थ है।

इस पाठमें "जहा ओहियाणं" कह कर औधिक दण्डकके समान ही संयति जीवोंका भेद कहा है। औधिक दण्डकमें संयतिके चार भेद कहे गए हैं प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। इन चारों प्रकारके संयतियोंको भगवती सूत्रमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें न होना कहा है इसलिये इस पाठमें भी वही बात

समझनी चाहिये। अर्थात् यहां भी "जहा ओहियाणं" कह कर प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी इन चारों प्रकारके साधुओंको कृष्णलेश्यासे अलग किया गया है उनमें कृष्णलेश्याका सद्भाव नहीं कहा है। अन्यथा अप्रमादी और वीतरागमें भी कृष्णलेश्या माननी पडेगी क्योंकि औधिक दण्डकमें समुच्चय लेश्याके अन्दर संयतिके प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चारो ही भेद कहे गये हैं इनमें यदि इस पाठसे कृष्ण-लेश्याका सद्भाव माना जाय तो प्रमादी और सरागीकी तरह अप्रमादी और वीतरागीमें भी कृष्णलेश्या सिद्ध होगी परन्तु अप्रमादी और वीतरागीमें कृष्णलेश्याका सद्भाव मानना भ्रमविध्वंसनकारको भी इष्ट नहीं है अतः पन्नावणा सूत्र के इस पाठमें भी भगवती सूत्र के पूर्वोक्त पाठकी तरह कृष्णलेश्यामें चारो प्रकारके संयतियोंका निषेध ही किया है परन्तु सरागी और प्रमादीको स्थापन नहीं किया है। इसलिये इस पाठका नाम लेकर साधुओं में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं का स्थापन करना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३८ के ऊपर भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ अठे तीर्थंकरमें छद्मस्थपणे कषाय कुशील नियंठो कह्यो छै तिणसूं भगवान्‌में कषाय कुशील नियंठो हुन्तो अने कषाय कुशील नियंठे छः लेश्या कही छै" आगे चल कर लिखते हैं "ते न्याय भगवान्‌में छः लेश्या हुवे (भ्र० पृ० २३८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कषाय कुशीलमें समुच्चय छः लेश्या कही हैं परन्तु वहां यह निर्णय नहीं किया है कि इन छः लेश्याओंमें कौन कौन द्रव्य रूप हैं और कौन कौन भाव रूप हैं। अब देखना यह है कि कषाय कुशीलमें जो छः लेश्याएं कही गयी हैं वे द्रव्य रूप हैं या भाव रूप हैं ?

इसका निर्णय भगवती शतक १ उद्देशा १ के मूलपाठ और दोकी टीकामें टीकाकारने कर दिया है वहां टीकाकारने कहा है कि—"कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें साधुपना नहीं होता इसलिये इन लेश्याओंमें साधुको वर्जित किया है जहां कहीं

संयतिओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका कथन है वहां द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी अपेक्षासे नहीं।"

यह टीका मूलपाठके साथ पहले लिखी जा चुकी है टीकाकारकी इस उक्तिसे और वहांके मूलपाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलमें छः द्रव्यलेश्या कही गई हैं भाव लेश्या नहीं अतः भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठका नाम लेकर कषाय कुशील में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कषाय कुशील निग्रंथ मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कषाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है वह पाठ यह है—

"कसाय कुसीले पुच्छा गोयमा ! नोपडिसेवए होज्जा एवं नियंठेऽवि वउसेऽवि"

(भग० श० २५ । उ० ६)

अर्थ :—

हे भगवन् ! कषाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कषाय कुशील मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता इसी तरह निग्रंथ और स्नातक को भी समझना चहिये ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इस पाठमें स्नातक और निग्रन्थकी तरह कषाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कषाय कुशील निग्रंथमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याएं नहीं होतीं क्योंकि जिसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्या होती हैं वह अवश्य ही दोषका सेवन करता है कषाय कुशील दोषका सेवन नहीं करता इसलिये उसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्यायें नहीं होतीं अतः कषाय कुशीलमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका स्थापन करना भगवती सूत्रके मूलपाठसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल छट्ठा समाप्त

(प्रेरक)

कृष्णलेश्याका क्या लक्षण है और वह संयति पुरुषोंमें क्यों नहीं होती यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रमें कृष्ण लेश्याका लक्षण जिस प्रकार बतलाया है वह पाठ यह है—

"पंचासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरयोय। तीव्वारंभ परिणयो खुद्दो सहसिओनरो। निद्धंधस परिणामो निस्संसो अजि इन्दिओ। एय जोग समाउत्तो कण्हलेसं तु परिणमे।"

(उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा ३१। २२)

(टीका)

पञ्चाश्रवाः हिंसादयः तैः प्रमत्तः प्रमादवान् पञ्चाश्रव प्रमत्तः पाठान्तरतः पञ्चाश्रव प्रवृत्तो वाऽत त्रिभिः प्रस्तावान्मनोवाक्कायै रगुप्तोऽनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादि रहित इत्यर्थः तथा षट्सु पृथिवीकायादिषु अविरतः अनिवृत्तस्तदुपमर्दकत्वादेरितिगम्यते। अयंचातीव्रारंभोऽपिस्यादतआह तीव्रा उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतोवा आरंभाः सर्वसावद्य व्यापारास्तत्परिणतः तत्प्रवृत्त्या तदात्मतां गतः तथा क्षुद्रः सर्वस्यैवा हितैषी कार्पण्य युक्तोवा सहसा अपर्य्या लोच्य गुण दोषान् प्रवर्तत इति साहसिकः चौर्य्यादि कृदिति योऽर्थः नरः उपलक्षणत्वा त्स्त्र्यादिर्वा "निद्धंधस" त्ति अत्यन्त मैहिकामुष्मिकापायशंकाविकलोऽत्यन्तं जन्तुबाधानपेक्षोवापरिणामोऽध्यवसायोवा यस्यसतथा। नृसंसो निस्तृंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि नशंकते निःसंसोवा पर प्रशंसा रहितः अतितेन्द्रियः अनिगृहीतेन्द्रियः। अन्येतु पूर्व पूर्वसूत्रोत्तरार्धस्थाने इदमभि धीयते तच्चे हेति उपसंहारमाह एतेच अनंतरोक्ताः योगाश्च मनोवाक्काय व्यापाराः एतद्योगाः पञ्चावश्र प्रमत्तत्वादय स्तैः समिति भृश माङिति अभिव्याप्त्या युक्तः अन्वितः एतद्योग समायुक्तः कृष्णलेश्यांतुः अवधारणे कृष्ण लेश्या मेवपरिणमेत् तद् द्रव्यसाचित्येन तथाविध द्रव्य संपर्कात् स्फटिक वत्तदु परंजनात् तद्रूपतांभजेत् उक्तंहि "कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात्परिणामोय आत्मनः स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रयुज्यते"

अर्थात् हिंसा आदि पांच आस्रवोंमें प्रमत्त यानी मग्न रहने वाला या प्रवृत्त रहने वाला अतएव मन वचन और कायासे अगुप्त अर्थात् मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोंसे रहित तथा पृथिवी आदि छः कायके जीवोंके उपमर्दसे नहीं हटा हुआ स्वरूप और

अध्यवसायसे तीव्र यानी उत्कट सावद्य व्यापारमें प्रवृत्त होकर तत्स्वरूपताको प्राप्त, क्षुद्र सभीका अहित करने वाला अथवा कृपणतासे युक्त विना विचारे चोरी आदि बुरे कामों में झटपट प्रवृत्त हो जाने वाला इस लोक और परलोकके विगड़नेकी थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला प्राणियोंकी हिंसादि रूप वाधासे अत्यन्त निरपेक्ष परिणाम वाला, जीवहिंसा करनेमें थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला अथवा दूसरेकी प्रशंसासे रहित अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पंचाश्रव प्रमत्तत्व आदि योगोंसे अत्यन्त युक्त पुरुष कृष्ण लेश्याके परिणामी होते हैं जैसे कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिक मणि तद्रूप (कृष्ण रूप) हो जाता है उसी तरह उक्त जीव भी कृष्ण लेश्याका परिणामी होता है कहा भी है कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिककी तरह जो आत्माका कृष्णादिरूप परिणाम होता है उसीमें लेश्या शब्दका प्रयोग होता है। यह उक्त गाथाओंका टीकानुसार अर्थ है।

इन गाथाओंमें जो कृष्ण लेश्याके लक्षण कहे गये हैं उनमेंसे एक भी साधुओंमें नहीं पाया जाता। कृष्ण लेशी जीव, हिंसा आदि पांच आस्रवोंमें प्रमत्त (मग्न) या प्रवृत्त रहने वाला कहा गया है परन्तु साधु आस्रवोंमें मग्न नहीं रहता किन्तु वह पांच आस्रवका त्यागी होता है इस लिये साधुओंमें कृष्ण लेश्याका लक्षण नहीं घटता। यदि कोई कहे कि "प्रमादी साधु आरंभी कहा गया है और आरंभ करना आस्रवका सेवन करना है इस लिये यह लक्षण प्रमादी साधुमें घटता है" तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथामें सामान्य आरंभी पुरुषका ग्रहण नहीं होता किन्तु विशिष्ट रूपसे जो हिंसा आदि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहता है उसीका ग्रहण है अतएव इस गाथामें कहा है कि तीव्वारंभ परिणयो" इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है—

"अयंच अतीव्रारंभोपि स्यादत आह तीव्राः उत्कटाः स्वरूपतोऽध्यवसायतोवा आरम्भा सर्वसावद्य व्यापारास्तत्परिणतः तत्प्रवृत्या तदात्मतांगतः"

अर्थात् सामान्य आरम्भ करने वाला पुरुष भी पांच आस्रवोंमें प्रवृत्त, और मन वचन कायसे अगुप्त तथा छःकायके उपमर्दसे अविरत कहा जा सकता है परंतु उसका ग्रहण वर्जित करनेके लिये इस गाथामें "तीव्वारंभ परिणयो" ऐसा पद दिया गया है इसलिये जिसका आरंभ, स्वरूप और अध्यवसाय इन दोनोंसे उत्कट है और जो हमेशः पांच आस्रवोंमें प्रवृत्त होकर तत्स्वरूप हो गया है उसीका इस गाथामें ग्रहण है और वही कृष्णलेश्याका परिणामी है। जो कभी कभी सामान्य रूपसे मंद आरम्भ करता है वह कृष्णलेश्या का परिणामी नहीं है। षष्ट गुण स्थान वाला प्रमादी साधु यदा कदाचित् प्रमादवश आरम्भ करता है परन्तु उसका आरम्भ तीव्र नहीं होता अतः वह कृष्णलेश्या

का परिणामी नहीं है। जो मनो गुप्ति आदि तीन गुप्तियोंसे रहित है उसे यहां कृष्ण-लेश्याका परिणामी कहा है साधु मनोगुप्ति आदिसे युक्त होता है इसलिये वह कृष्णलेश्या का परिणामी नहीं हो सकता।

अजितेन्द्रिय और चोरी आदिमें प्रवृत्त रहना यहां कृष्णलेश्याका लक्षण कहा है परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं अतः इस पाठमें कहा हुआ कृष्णलेश्याका लक्षण साधुमें एक भी नहीं मिलता अतः संयति पुरुषोंमें और विशेष कर कषाय कुशील में कृष्णलेश्या का सद्भाव कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ७ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३८ पर लिखते हैं—

"उत्तराध्ययन अध्ययन ३४ गाथा २१ पञ्चासवप्पमत्ता इतिवचनात् पञ्चास्त्रवमें प्रवर्ते ते कृष्णलेश्याना लक्षण कह्या अने भगवान् शीतल तेजो लेश्या लब्धिफोडी तिहां उत्कृष्टी पांच क्रिया कह्यो ते मांटे ए कृष्णलेश्याना अंश जाणवो"

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा २१ में पांच आस्रवमें प्रवृत्त रहना कृष्णलेश्या का लक्षण कहा है परन्तु जो पुरुष सामान्य रूपसे कभी कभी प्रमाद वश मंद आरम्भ करता है वह भी पांच आस्रवमें प्रवृत्त कहा जा सकता है अतः उसमें भी कृष्णलेश्याका लक्षण न चला जाय इसलिये उक्त गाथामें "तीव्वारंभ परिणयो" यह कृष्णलेशी पुरुषका विशेषण लगाया है। इस विशेषणको लगा कर जो पुरुष पांच आस्रवोंमें तीव्र रूपसे प्रवृत्त रहता है जो तीव्र आरम्भ करता है उसीको कृष्णलेश्याका परिणामी कहा है जो तीव्र आरम्भ नहीं करता उसको नहीं अतएव इस विशेषण का सार्थक्य बतलाते हुए टीकाकार ने लिखा है कि—"अयंचा तीव्रारम्भोऽपिस्यादतआह"

अर्थात् पांच आस्रवोंमें प्रवृत्त होना, मन वचन कायसे गुप्त नहीं रहना, और पृथिवी काय आदिका उपमर्द करना, ये सब सामान्य आरम्भ करने वाले पुरुषमें भी हो सकते हैं परन्तु सामान्य आरम्भ करने वाले कृष्णलेश्याके परिणामी नहीं होते इसलिये 'तीव्वारम्भ परिणयो' यह कृष्णलेशीका विशेषण लगाया है। इसलिये जो उत्कट हिंसा आदि का आरम्भ करता है वही कृष्णलेश्याका परिणामी है सामान्य आरम्भ करनेवाला नहीं।

जो पुरुष सामान्य आरम्भ करने वाला है वह चाहे गृहस्थ हो तो भी उसमें कृष्णलेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता फिर साधु तो गृहस्थकी अपेक्षा बहुत ही शुद्ध परिणामी होता है उसमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव तो सुतरां असम्भव है।

इस गाथामें बताये हुए कृष्णलेश्याके लक्षण जब कि सामान्य साधुओंमें भी नहीं पाये जाते तब फिर भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो कहना ही क्या है। वह तो अनुत्तर चारित्री मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाने वाले कषाय कुशील थे उनमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव कैसे हो सकता है?

अतः उत्तराध्ययन सूत्रके इस गाथाका पहिला चरण लिख कर भगवान् महावीर स्वामी में कृष्णलेश्या का लक्षण घटाना मूर्ख जनताको धोखा देना है।

इस गाथाके बाद नीललेश्याका लक्षण बतानेके लिये उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है:—

"इस्सा अमरिस अतवो अविज्ज माया अहीरिया"

अर्थात् ईर्ष्या यानी दूसरेके गुणको नहीं सहना, अमर्ष यानी अत्यन्त आग्रह करना, तप नहीं करना, कुशास्त्ररूप अविद्या, माया करना, और निर्लज्जता, ये नीललेश्या के लक्षण हैं।

इस गाथामें माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है और दशमगुण स्थान पर्य्यन्त माया होती है। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठमें अप्रमादी साधुको माया प्रत्यया क्रिया कही गई है वह पाठ यह है—

"तत्थणं जेते अप्पमत्त संजया तेसिणं एगा माया वत्तिया किरिया कज्जइ"

अर्थात् अप्रमादी साधुमें एक माया प्रत्यया क्रिया होती है।

यहां अप्रमादी साधुमें माया प्रत्यया क्रियाका होना लिखा है और माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है फिर अप्रमादी साधुमें जीतमलजीके मतानुयायी नीललेश्या क्यों नहीं मानते? यदि कहो कि "उत्तराध्ययन सूत्रकी उक्त गाथामें विशिष्ट मायाका ग्रहण होता है सामान्य का नहीं इसलिये विशिष्ट माया करना नील लेश्याका लक्षण है सामान्य माया करना नहीं। अप्रमादी साधुमें विशिष्ट माया नहीं होती इसलिये उसमें नीललेश्या नहीं है" तो उसी तरह विशिष्ट रूपसे आरम्भ करना कृष्णलेश्याका लक्षण है सामान्य आरम्भ करना नहीं इसलिये संयतियोंमें भाव रूप कृष्ण लेश्या नहीं होती क्यों कि वे विशिष्ट रूपसे आरम्भ नहीं करते हैं।

यदि कोई सामान्य आरम्भको कृष्णलेश्याका लक्षण मान कर संयतियोंमें कृष्ण-लेश्याका स्थापन करे तो फिर सामान्य मायाको नील लेश्याका लक्षण मान कर अप्रमादी साधुमें नील लेश्या भी उसे माननी पड़ेगी परन्तु यदि सामान्य माया नील लेश्या का लक्षण नहीं है तो उसी तरह सामान्य आरम्भ करना भी कृष्ण लेश्या का लक्षण नहीं है अत: साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

शीतल लेश्याके द्वारा जो भगवान् ने गोशालक की प्राणरक्षा की थी उससे भगवान् को पांच क्रिया लगनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि शीतल लेश्यांके प्रयोग करनेमें उत्कृष्ट पांच क्रिया नहीं होती यह विस्तार के साथ लब्धि प्रकरणमें कहा जा चुका है अतः लब्धि का नाम लेकर भगवान् में कृष्ण लेश्याका अंश कायम करना एकांत मिथ्या है।

यदि कोई कहे कि "कृष्ण लेश्या हुवे विना लब्धिका प्रयोग नहीं किया जाता इस लिये भगवान् में कृष्ण लेश्या अवश्य थी" तो उसे कहना चाहिये कि पुलाक निग्रन्थ, जिस समय पुलाक लब्धिका प्रयोग करता है उसी समय उसमें पुलाक नियण्ठा माना गया है। जीतमलजीने भी भिक्खुयश रसायनमें लिखा है कि—

"पुलाक नियंठो पीछाणए लब्धिफोड्यां कह्यो जिण जाणए। स्थिति अन्त-र्मुहूर्त थायरे लब्धिनी स्थितितो अधिकायए।

विरह उत्कृष्ट असंखेज्ज वासए पछे तो अवश्य प्रकटे विमासए। यामें चारित्र गुण स्वीकारए तिणसुं वन्दन जोग विचारए"

परन्तु पुलाक निग्रन्थमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही कही गई हैं कृष्णलेश्या नहीं तथा वकुश और प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं परन्तु उनमें लेश्या विशुद्ध ही कही गयी हैं इसलिये कृष्णलेश्याके हुए विना लब्धिका प्रयोग नहीं होता यह कथन अज्ञान मूलक है।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भावलेश्या ही होती हैं इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ का मूल पाठ इसमें प्रमाण है। वह पाठ यह है:—

"पुलाएणं भन्ते ! किं सलेस्सो होज्जा अलेस्से होज्जा ? गोयमा ! सलेस्से होज्जा णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा सेणं भन्ते ! कतिसुलेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! तीसु विसुद्ध लेस्सासु होज्जा तंजहा—तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए, एवं वउसेवि एवं पडिसेवणा कुसीलेवि"

(भगवती श० २५ उ० ६)

अर्थ :—

(प्रश्न) हे भगवन् ! पुलाक निग्रन्थ, सलेशी होता है या अलेशी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! पुलाक निग्रन्थ सलेशी होता है अलेशी नहीं होता।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यदि सलेशी होता है तो वह कितनी लेश्याओंमें होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! तीन विशुद्ध लेश्याओं में होता है तेजो लेश्या में, पद्म लेश्या में, और शुक्ल लेश्या में। इसी तरह वकुश और प्रतिसेवनाकुशील तीन विशुद्ध लेश्याओं में ही होते हैं।

यहां पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भाव लेश्यायें कही गयी हैं कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं तथापि पुलाक निग्रन्थ लब्धिका प्रयोग करता है और वकुश तथा प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं इसलिये कृष्ण लेश्या के विना लब्धिका प्रयोग नहीं होता यह कहना शास्त्र नहीं जानने का फल है।

(प्रेरक)

पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं इस में क्या प्रमाण है ?

पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं इस विषयमें भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है वह पाठ यह है:—

"पुलाएणं भन्ते ! किं पडिसेवएहोज्जा अपडिसेवएहोज्जा ? पडिसेवए होज्जा नो अपडिसेवए होज्जा। जइपडिसेवए होज्जा किं मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा ? गोयमा ! मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा । मूल गुण

पडिसेवमाणे पञ्चण्हं अणासवाणं अण्णयरं पडिसेवएज्जा उत्तर गुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पञ्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । वउसेणं पुच्छा ? पडिसेवए होज्जाणो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसेवए होज्जा किं मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा । गोयमा ! नो मूलगुण पडिसेवए होज्जा उत्तरगुण पडिसेवए होज्जा उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पचक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । पडिसेवणा कुशीले जहा पुलाए''

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ—

हे भगवन् ! पुलाक निग्रंथ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है।

(उत्तर) हे गोतम ! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता।

(प्रश्न) यदि प्रतिसेवी होता है तो क्या वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका ही प्रतिसेवी होता है जब वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है तब पञ्च महाव्रतोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है और जब उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दश विध प्रत्याख्यानोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है।

(प्रश्न) हे भगवन् ! बकुश निग्रंथ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर हे गोतम ! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता ?

(प्रश्न) हे भगवन् ! वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! बकुश निग्रंथ मूल गुण का नहीं उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है। जब वह उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दशविध प्रत्याख्यानोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है। प्रतिसेवना कुशील, पुलाककी तरह मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी होता है।

यहां पुलाक और प्रतिसेवना कुशीलको मूलगुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी कहा है तथा बकुशको उत्तर गुणका प्रतिसेवी कहा है तथापि इनमें तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही पाई जाती हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याके विना दोष का सेवन नहीं होता यह कहना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २१२ पर भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"कषाय कुशील छांडि ए छः ठीकाने आवतो कह्यो। कषाय कुशीलने दोष लागे इज नहीं तो संयमा संयममें किम आवे एतो साधुपणो भांगि श्रावकथयो तेतो मोंटो दोष छै। एतो साम्प्रत दोष लागे तिवारे साधुरो श्रावक हुवे छै। दोप लागा विना तो साधुरो श्रावक हुवे नहीं। जे कषाय नियंठे तो साधु हुन्तो पछे साधु पणो पल्यो नहीं तिवारे श्रावकरा व्रत आदरी श्रावक थयो जे साधुरो श्रावक थयो यह निश्चय दोष लाग्यो"।

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० २१२)

(प्ररूपक)

जैसे कषाय कुशील, कषाय कुशीलपनाको छोड़कर संयमासंयममें जाता है उसी तरह निर्ग्रंथ भी निर्ग्रंथपनाको छोड़ कर असंयममें जाता है। यदि कषाय कुशील, कषाय कुशीलपना छोड़कर संयमा संयममें जानेसे दोषका प्रतिसेवी होता है तो फिर निर्ग्रंथ भी निर्ग्रंथपना छोड़ कर असंयममें जानेसे दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं होता। भ्रमविध्वंसनकार भी निर्ग्रंथको दोषका प्रतिसेवी नहीं मानते ऐसी दशामें कषाय कुशीलको प्रतिसेवी मानना उनका अयुक्त है।

वास्तवमें दोषका प्रतिसेवी वही कहा गया है जो मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाता है। जो मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है वह दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा गया है। कषाय कुशील और निर्ग्रंथ मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाते हैं इस लिये वे दोषके प्रतिसेवी नहीं हैं। यदि गिरनेसे दोषका प्रतिसेवी माना जाय तो फिर निर्ग्रंथको भी प्रतिसेवी ही मानना पड़ेगा क्योंकि निर्ग्रंथ भी असंयममें जाता है अतः गिरनेसे कोई दोषका प्रतिसेवी नहीं माना जाता किन्तु मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगानेसे माना जाता है अतः जैसे निर्ग्रंथ गिरकर असंयममें जानेपर भी दोषका प्रतिसेवी नहीं है उसी तरह कषाय कुशील गिर कर संयमा संयममें जाने पर भी दोषका प्रतिसेवी नहीं है।

यदि कोई कहे कि कषाय कुशील शास्त्रमें विराधकभी कहा गया है फिर वह दोष का प्रतिसेवी क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि कषाय कुशीलकी तरह निर्ग्रंथ भी विराधक कहा गया है फिर निर्ग्रंथको भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मानते ?

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में निर्ग्रंथको विराधक कहा है वह पाठ यह है :—

"कषाय कुसीले पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इन्द-ताएवा उववज्जेज्जा जाव अहमिन्दताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अन्नयरेसु उववज्जेज्जा नियंठे पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च णोइन्दताए उववज्जेज्जा जावणो लोग पालताए उववज्जेज्जा अहमिन्दताए उववज्जेज्जा, विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा"

(भगवती शतक २५ उ० ६)

अर्थः—

हे भगवन् ! कषाय कुशीलके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अविराधक कषाय कुशील इन्द्रसे लेकर यावत् अहमिन्द्रमें उत्पन्न होता है और विराधक कषाय कुशील भुवनपत्यादिकोंमें जाता है।

(प्रश्न) निग्रंथके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) अविराधक निग्रंथ इन्द्रादिकोंमें तथा लोकपालादिकोंमें उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह अहमिन्द्र होता है और विराधक निग्रंथ भुवनपत्यादिकोंमें जाता है।

यहां कषाय कुशीलकी तरह निग्रंथको भी विराधक कहा है अतः विराधक होनेसे यदि कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निग्रंथको भी दोषका प्रतिसेवी कहना होगा क्योंकि इस पाठमें निग्रंथको भी विराधक कहा है। इस लिये जैसे विराधक होने पर भी निग्रंथ दोषका प्रतिसेवी नहीं होता उसी तरह कषाय कुशील भी दोषका प्रतिसेवी नहीं होता। अतः विराधक तथा गिरनेका नाम लेकर कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बताना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २३९ पर आवश्यक सूत्रका नाम लेकर लिखते हैं :—

"अथ इहां पिण छः लेश्या कही। जो अशुभ लेश्यामें नवर्ते तो ए पाठ क्यूं कह्यो। तथा पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं अट्टेणं झाणेणं रुद्देणं झाणेणं धम्मेणं झाणेणं सुक्केणं झाणेणं" इहां साधुमें चार ध्यान कह्या। जिम आर्त रुद्रध्यान पावे तिम कृष्ण, नील, कापोत लेश्या पिण पावे" (भ्र० पृ० २३९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका स्थापन करना और साधुमें द्ररुध्यान बतलाना अयुक्त हैं। रुद्रध्यान वालेकी शास्त्रमें नरक गति कही है और हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेके लिये दृढ़ निश्चय करनेका नाम रुद्रध्यान है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें लिखा है कि—

"ध्यानं दृढ़ोऽध्यवसायः। हिंसाद्यति क्रौर्य्यानुगतं रुद्रम्"

अर्थात् हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेका जो दृढ़ निश्चय है वह रुद्रध्यान है। यह चतुर्विध होता है (१) हिंसानुबन्धी (२) मृषानुबन्धी (३) स्तेनानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी।

ये चारों प्रकारके ध्यान अति क्रूर कर्मियोंके होते हैं साधुके नहीं होते क्योंकि साधु अति क्रूर कर्मी नहीं है।

आवश्यक सूत्रमें "पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं" यह पाठ आया है इससे साधुओं में रुद्रध्यान नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानमें अविश्वास होनेसे जो साधुको अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये उक्त पाठका उच्चारण करके साधु प्रतिक्रमण करता है इन चारों ध्यानोंके साधुमें होनेसे नहीं अतएव इस पाठका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है—

"प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः करण भूतै रश्रद्धेयादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृतः"

अर्थात् शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास होनेसे जो अतिचार किया है उससे मैं निवृत्त होता हूं यह साधु प्रतिज्ञा करता है।

यहां टीकाकारने शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास रखनेसे होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना कहा है इन ध्यानोंके साधुओंमें होनेसे नहीं। अतः आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमें रुद्रध्यानका स्थापन करना मिथ्या है। जिस प्रकार साधुमें रुद्रध्यान नहीं होता उसी तरह उसमें कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्या भी नहीं होती तथापि यदि कोई दुराग्रही प्रतिक्रमण सूत्रकी टीकाको न मान कर साधुमें रौद्र ध्यानका स्थापन करे तो उसे कहना चाहिये कि शास्त्रमें प्रमादी साधुको ही प्रतिक्रमण करनेकी आवश्यकता बतलाई है और प्रतिक्रमण सूत्रमें रुद्र ध्यानकी तरह शुक्ल ध्यानका भी प्रतिक्रमण कहा है फिर तुम प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यानका सद्भाव क्यों नहीं मानते ? अतः जैसे प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यान न होने पर भी उसमें अविश्वास होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रमादी साधु प्रतिक्रमण करता है उसी

तरह रुद्रध्यानमें अविश्वास होनेके कारण जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करता है रुद्रध्यानके साधुमें होनेसे नहीं।

प्रतिक्रमण सूत्रमें जैसे चार ध्यानोंके प्रतिक्रमणके विषयमें पाठ आया है उसी तरह मिथ्या दर्शन शल्य के प्रतिक्रमण के विषय में भी पाठ आया है। वह पाठ यह है—

"पडिक्कमामि तीहिं सल्लेहिं मायासल्लेणं नीयाणसल्लेणं मिच्छा-दंसण सल्लेणं"

अर्थः—

साधु कहता है कि मैं माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य इन तीनोंसे निवृत्त होता हूं।

यह इस पाठका अर्थ है।

यहां साधुको मिथ्यादर्शन शल्यसे भी प्रतिक्रमण करना कहा है परन्तु साधुमें मिथ्या दर्शन शल्यका सद्भाव नहीं है उसी तरह रुद्र ध्यान भी साधुमें नहीं होता तथापि उसमें अविश्वास होनेके कारण प्रतिक्रमण करना कहा है। यदि साधुमें रुद्र ध्यान होनेसे वह प्रतिक्रमण करता है तो फिर साधुमें मिथ्या दर्शन शल्य होने से उसका प्रतिक्रमण करना मानना चाहिये। परन्तु साधुमें मिथ्यादर्शन नहीं होता उसी तरह उसमें रुद्र ध्यान भी नहीं होता, किन्तु उनमें अविश्वास होनेके कारण साधु प्रतिक्रमण करता है।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४० पर पन्नावणा सूत्र पद १७ का मूलपाठ लिख कर उसकी मलय गिरिकी टीकाकी साक्षी देकर साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका स्थापन करते हैं। (भ्र० पृ० २४० य० सु० १७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मलय गिरि टीकामें मनः पर्य्यवज्ञानियोंमें कृष्णलेश्या बतलाई गयी है परन्तु वह टीका भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है अतः वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती है। भगवती शतक १ उद्देशा २ का मूलपाठ और उसकी

टीका पहले लिख दी गयी है। वहां साफ साफ लिखा है कि—प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चारो प्रकारके संयति कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्यामें नहीं होते। टीकाकारने कहा है कि—

"कृष्णादिषुहि अप्रशस्त भाव लेश्यासु संयतत्वं नास्ति"

अर्थात् कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम नहीं होता। अतः कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम मानना उक्त टीका और भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठसे विरुद्ध है।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि कोई भी टीका स्वतः प्रमाण नहीं होती। टीका की प्रमाणता मूलपाठके आधीन है अतः जो टीका मूल पाठसे प्रतिकूल है वह कदापि प्रमाण नहीं है। मलयगिरि टीका भगवतीके उक्त मूलपाठ और उसकी प्राचीन टीकासे विरुद्ध है इसलिये वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

भ्रमविध्वंसनकारने पन्नावणा सूत्रका जो मूलपाठ लिखा है उसमें भी यह नहीं कहा है कि मनः पर्य्यव ज्ञानियोंमें भाव कृष्ण लेश्या पाई जाती है वहां सामान्य रूपसे कृष्ण लेश्याका होना लिखा है अतः वह कृष्ण लेश्या द्रव्यरूप है, भाव रूप नहीं क्योंकि भगवतीके मूलपाठमें साफ साफ संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका निषेध किया है उससे विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयति पुरुषोंमें भाव कृष्ण लेश्याका स्थापन कैसे किया जा सकता है? भगवती सूत्र अङ्ग है और पन्नावणा उपांग है। अङ्गमें कही हुई बात का उपाङ्ग सूत्रमें समर्थन किया जाता है खण्डन नहीं किया जाता। अतः पन्नावणा सूत्र की साक्षी से संयतियों में भाव कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक है।

(बोल १२ वां समाप्त)

लेश्या प्रकरणका सार यह है—

कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें साधुता नहीं होती। तेजः पद्म और शुक्ल रूप भाव लेश्याओंमें ही साधुता होती है। इन विशुद्ध भाव लेश्याओंसे युक्त जो साधु, संघादिकी रक्षाके लिये वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करता है उसे शास्त्रकारने भावितात्मा अनगार कहा है।

भगवती शतक ३ उद्देशा ५ में मूलपाठ आया है—

"सेजहा नामए केइ पुरिसे असिचम्म पायं गाहाए गच्छज्जा एवामेव अणगारेवि भावियप्पा असिचम्मपायंहत्थकिच्चगएणं

अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ? हंता ! उप्पएज्जा"

(भ० श० ३ उ० ५)

अर्थ:—

(प्रश्न) हे भगवन् ! जैसे कोई पुरुष खड्ग और चर्मको धारण करके चलता है उसी तरह भावितात्मा अनगार संघ आदिका कार्य्यके लिये असि चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चल सकता है ?

(उत्तर) हां ! गोतम ! चल सकता है।

यह उपर्युक्त पाठका मूलार्थ है।

इस पाठमें संघ सादिका कार्य्यके लिये असि और चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चलने वाले साधुको भावितात्मा अनगार कहा है इससे सिद्ध होता है कि मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने पर भी साधुओंमें संयमके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं इसलिये उनमें विशुद्ध भाव लेश्या ही होती हैं अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं होती अन्यथा असि चर्म धारी होकर आकाशमें चलने वाले साधुको इस पाठमें भावितात्मा नहीं कहते। जिसमें शुद्ध भाव लेश्याएं होती हैं वही भावितात्मा हो सकता है अशुद्ध भाव लेश्या वाला नहीं अतः साधुओं में अप्रशस्त भाव लेश्याओं का स्थापन करना मिथ्या है।

जीतमलजीने भिक्खूयश रसायन नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

"मूलगुणने उत्तर गुण मांहिए दोष लगावे ते दुःख दायए पडिसेवणा कुशील पिछाणए। जघन्य दो सौ कोडते जाणए नहीं विरह ए थी ओछा नाहीं ए। एपिण छट्ठे गुणठाणे कहिवायए यामें चारित्र गुण स्वीकार ए। तिणसूं वन्दवा जोग विचार ए।"

इन पद्यों में जीतमलजी ने कहा है कि प्रतिसेवना कुशील यद्यपि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाता है तथापि उसमें छट्ठा गुण स्थान और चारित्रके श्रेष्ठ गुण मौजूद हैं अतः वह वन्दनीय समझा जाता है।

इनके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने वाले साधुओंमें जबकि चारित्रके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं तब फिर उनमें अप्रशस्त कृष्णादिक भाव लेश्या कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें चरित्रके श्रेष्ठ गुण कदापि नहीं विद्यमान रह सकते। अतः चारित्रके श्रेष्ठ गुण, और अशुभ भाव लेश्याओंका सद्भाव, इन दोनों परस्पर विरुद्ध बातोंको एक व्यक्तिमें स्वीकार करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

तेजः पद्म और शुक्ल लेश्याओंमें भी दोषका प्रतिसेवन होता है इस लिये दोषके प्रतिसेवनका नाम लेकर साधुओंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन नहीं किया जा सकता। वैमानिक देवताओंमें तेजः पद्म और शुक्ल लेश्या ही मानी गई हैं परन्तु वैमानिक देवता आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं। इस प्रकार जब कि आत्मारंभी परारंभी और तदुभयारंभी वैमानिक देवताओंमें विशुद्ध तीन भाव लेश्या ही मानी गई हैं तब महाव्रतके पालने वाले मुनियोंमें दोष लगानेपर भी प्रशस्त तीन भाव लेश्याओंके होनेमें क्या संदेह है ?

अब इन लेश्याओंका स्वरूप समझानेके लिये आवश्यक सूत्रकी टीकामें दिये हुए दृष्टान्त बताये जाते हैं—

"जहजम्बूतरु रेगो सुपक्कफल भरिय नमिय सालग्गो ।
दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं तेविंती जम्बु भक्खेमो ।
किह पुणतेवेंतेक्को आरुहयाणाण जीव संदेहो ।
तो छिंदि ऊण मूले पाडे मुंताहे भक्खेमो ।
बितिआह एद्दहेणं किं छिण्णेणं तरुण अम्हंति ।
साहा महल्ल छिंदह तइयो वेंती पसाहाओ ।
गोच्छे चउत्थ ओऊण पञ्चमो वेगेण्हइ फलाइं ।
छट्ठोवेंति पडिया एएच्चिय खाह घेतुं जे ।
दिट्ठं तस्सो वणयो जोवेंति तरुवि छिन्नमूलाओ ।
सोवट्टइ किण्हाए साल महल्लाउ नीलाओ ।
हवइ पसाहा काऊ गोच्छा तेऊ फलाय पम्हाए ।
पडियाए शुक्कलेस्सा अहवा अन्न मुदाहरणं ।"

अर्थः—

पके हुए सुन्दर फलोंके भारसे नम्र शाखा वाले किसी एक जामुनके वृक्षको छः पुरुषोंने देखा। वे सभी कहने लगे कि हम लोग इस जामुनके फलको खांय। उनमेंसे किसी एकने जामुनके फलको पानेका उपाय बतलाते हुए कहा कि वृक्षके ऊपर चढ़नेमें गिरनेका भय है इस लिये इस वृक्षको जड़से काटकर हम लोग इसके फलोंको खांय। दूसरेने कहा कि इतने बड़े वृक्षको काटनेसे क्या प्रयोजन है इसकी शाखाको काट कर हम लोग जामुन खा लेवें। तीसरेने कहा कि शाखाओंको काटना भी ठीक नहीं है किन्तु

इसकी प्रशाखाओंको काट कर हम लोग इसके फल खांय। चौथेने कहा कि हम लोग केवल इसके गुच्छोंको तोड़ लेवें प्रशाखाओंको काटनेकी क्या आवश्यकता है। पांचवेने कहा कि हम लोग इसके फल तोड़ लेवें गुच्छोंको तोड़नेकी क्या आवश्यकता है। छट्ठे ने कहा कि गिरे हुए फलोंको ही खा लेवें फलोंको तोड़नेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह एक दृष्टान्त है। इसमें पहला पुरुष जो वृक्षको जड़से काटनेकी सलाह देता है वह कृष्ण लेश्याके परिणाममें विद्यमान है। जो बड़ी शाखाओंको काटनेकी राय देता है वह दूसरा पुरुष नील लेशी है। प्रशाखाओंको काटनेकी राय देता हुआ तीसरा पुरुष कापोत लेशी है। गुच्छाको तोड़नेकी राय देने वाला चौथा पुरुष तेजो लेश्या वाला है। फलोंको तोड़ने की राय देने वाला पांचवां पुरुष पद्म लेश्या वाला है। गिरे हुए फलोंके लेनेकी राय देने वाला छट्ठा पुरुष शुक्ल लेश्या वाला है। यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका अर्थ है। इसमें कहा है कि जो गुच्छा तोड़नेकी राय देता है वह तेजो लेश्या वाला है और जो फल तोड़नेकी राय देता है वह पद्म लेशी है, जो गिरे हुए फलोंके खानेकी राय देता है वह शुक्ल लेशी है। यद्यपि ये तीनो पुरुष आरंभ दोषसे रहित नहीं हैं, तथापि ये पहले दूसरे और तीसरे पुरुषकी अपेक्षा बहुत ही अल्पारंभी हैं अतः ये क्रमशः तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्याके स्वामी कहे गए हैं। इसी तरह मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले साधु यद्यपि आरम्भ दोषसे मुक्त नहीं हैं तथापि वे अव्रतियोंकी अपेक्षासे बहुत ही उत्तम निर्मल चारित्री हैं इस लिये इनकी लेश्या विशुद्ध है। जो पुरुष अल्प फलकी प्राप्तिके लिये महान् आरम्भ करता है जैसे जामुनके फलको पानेके लिये पहले पुरुषने जड़ काटनेकी और दूसरेने शाखा काटनेकी और तीसरेने प्रशाखा काटनेकी राय दी थी उसी तरह वह पुरुष भी कृष्णनील और कापोतलेश्या वाला है परन्तु जो अल्प फल पानेके लिये महान् आरम्भ नहीं करता वह कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या वाला नहीं है। साधु जन आरम्भ त्यागी पञ्चमहाव्रतधारी और विवेकी होते हैं वे अल्प फलकी प्राप्तिके लिये कदापि महान् आरम्भ नहीं करते अतः उनमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्यायें नहीं होतीं।

ऊपर बताये हुए दृष्टान्तका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि तेजः पद्म और शुक्ल लेश्या वाले सभी जीव आरंभी ही होते हैं। जो मुनि उत्कृष्ट परिणामके धनी होते हैं वे बिलकुल आरंभके त्यागी होते हैं। शुक्ल लेश्या वाले पुरुष वीतरागी भी होते हैं। उक्त दृष्टान्तमें जघन्य श्रेणीके तेजः पद्म और शुक्ल लेश्या वाले कहे गये हैं इसलिये इस दृष्टान्तसे सभी तेजः पद्म और शुक्ल लेश्या वालोंको आरंभी नहीं समझना चाहिये।

ऊपर बताया हुआ लेश्याका दृष्टान्त तेरह पंथी साधु चित्रके साथ दिखलाकर लोगोंको इसका परिचय कराते हैं परन्तु जब साधुओंके लेश्याका प्रसंग आता है तब वे इस दृष्टान्तके भावको झट भूल जाते हैं और साधुओंमें यथा कथं चित् कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करने लग जाते हैं यहां तक कि वे पंचमहाव्रतधारी साधुओंको आस्रवोंका सेवन करने वाला भी कह डालते हैं। इसी तरह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें, दुखी जीव पर दया करके उसको दान देनेमें बुरी लेश्याका स्थापन करके उसे एकान्तपाप कहते हैं। बुद्धिमानोंको सोचकर देखना चाहिये कि जब फल तोड़नेके परिणाम भी भली और बुरी दोनों ही लेश्याओंमें होते हैं तब मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करने और दुखी जीव पर दया लाकर उसे दान देनेमें बुरी लेश्या कैसे हो सकती है ?।

(बोल १३ समाप्त)

इति लेश्याप्रकरणम् ।





(अथ वैयावृत्याधिकारः)

—०※०—

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५१ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ की ३२ वीं गाथा लिखकर उसकी सहायतासे मुनिके व्यावचको सावद्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां हरिकेशी मुनि कह्यो—पूर्वे हिवाडा अने आगामिये काले म्हारो तो किञ्चितद्वेष नहीं। अने जे यक्षे व्यावचकीधी ते मांटे ए विप्र बालकांने हण्या छै। एपोतानी आशंका मेटवा अर्थे कह्यो। जे छात्राने हण्याते यक्ष व्यावचकरी पिण म्हारो द्वेप न थी। ए छात्राने हण्या ते पक्षपात रूप व्यावच कही छै। आज्ञा वाहिरे छै ते मांटे सावद्य छै" (भ्र० पृ० २५१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यक्षने मुनिका उपद्रव मिटानेके लिये जो ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था उस ताडनको मुनिका व्यावच बतलाकर मुनिके व्यावचको सावद्य बतलाना मिथ्या है। क्योंकि मुनिका व्यावच करना न्यारा है और ब्राह्मण कुमारोंको ताडन करना न्यारा है मारना और व्यावच करना दोनों एक नहीं हैं। अतएव इसी उत्तराध्ययन सूत्रमें जहां यक्षोंने ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करना आरंभ किया है वहां यह गाथा कही है कि "इसिस्सवेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति" अर्थात् यक्ष ऋषिका व्यावच करनेके लिये ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करने लगे।

यहां ऋषिका व्यावचके निमित्त ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया जाना कहा है, ताडनको ही मुनिका व्यावच नहीं कहा। इस लिये व्यावच और ताडनका भिन्न भिन्न होना स्पष्ट सिद्ध होता है। जैसे देवताओंने भगवान् महावीर स्वामीका वन्दनके निमित्त जहां वैक्रिय समुद्घात किया है वहां "वन्दन वत्तियाए" यह पाठ आया है। उसी तरह यहां भी यक्ष लोग जब ब्राह्मण कुमारोंको वारण करने लगे हैं वहां 'वेयावडियट्ठयाए' यह पाठ आया है। जैसे वंदनार्थ किया जाने वाला-वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नहीं है किन्तु वन्दनसे भिन्न है। उसी तरह व्यावचार्थ किया जानेवाला ब्राह्मण कुमारोंका ताडन

व्यावचसे भिन्न है व्यावच स्वरूप नहीं है । अतः जैसे वैक्रिय समुद्घातके सावद्य होनेपर भी भगवान्का वन्दन सावद्य नहीं है उसी तरह ब्राह्मण कुमारोंके ताडनके सावद्य होने पर भी मुनिका व्यावच सावद्य नहीं है । इस लिये उत्तराध्ययन सूत्रकी उक्त गाथाका नाम लेकर मुनिके व्यावचको सावद्य कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । इस विषयका विशेष विचार अनुकम्पाधिकारके ३७ वें बोलमें किया गया है इसलिये यहां संक्षेपसे लिखा गया है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५२ के ऊपर राजप्रश्नीय सूत्र का मूल पाठ लिख कर उसकी सहायतासे वीतराग की भक्ति को सावद्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

"इहां सूर्य्याभ नाटकने भक्ति कही छै । ते भक्ति सावद्य छै । ते माटे भक्तिनी भगवन्ते आज्ञा न दीधी"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

राजप्रश्नीय सूत्रके मूलपाठके आश्रयसे भक्तिको सावद्य कायम करना अज्ञान है । उक्त सूत्रके मूल पाठमें भक्तिको नाटक स्वरूप नहीं कहा है किन्तु नाटकसे भक्तिको भिन्न बतलाया है वहांका पाठ यह है—

"तं इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्ति पुव्वगं गोयमातियाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देव जुइं दिव्वं देवाणुभागं बत्तीसत्तिवद्धं नटविहिं उवदंसित्तए"

(राजप्रश्नीय सूत्र)

अर्थः—

हे भगवन्! मैं आप की भक्ति पूवक देव्य देव ऋद्धि, दिव्य देव द्युति, दिव्य देव प्रभाव, और बत्तीस प्रकार की नाटक विधि गोतमादि श्रमण निग्रन्थों को दिखलाना चाहता हूं ।

यह उपर्युक्त गाथाका अर्थ है ।

यहां सूर्य्याभने भगवान्‌की भक्तिपूर्वक नाटक करनेकी आज्ञा मांगी है परन्तु उस ने नाटकको ही भगद्भक्तिस्वरूप नहीं बतलाया है क्योंकि इस पाठमें "भक्ति पुव्वगं" ऐसा पाठ आया है "भक्ति रूवं" ऐसा पाठ नहीं है । इसलिये नाटकको ही भक्ति कायम करना मिथ्या है ।

वीतरागमें परमानुराग रखनेका नाम वीतरागकी भक्ति है और शरीर वेष भूषा और भाषा आदिके द्वारा किसी उत्तम पुरुषकी अवस्थाका अनुकरण करना नाटक है। इसलिये नाटक दूसरी चीज है और भक्ति दूसरी चीज है। इन दोनों को एक कायम करना अज्ञान है । यह विषय अनुकम्पाधिकारके ३५ वें बोलमें स्पष्ट कर दिया गया है विशेप जिज्ञासुओंको वहीं देख लेना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५४ के ऊपर साधुके सिवाय दूसरे जीवको साता उत्पन्न करनेसे एकान्त पापकी सिद्धि करनेके लिये लिखते हैं—

"कोई कहे सर्वजीवाने साता उपजायां तीर्थंकर गोत्र बंधे, इम कहे ते पिण झूठ छ । सूत्रमें तो सर्व जीवांरो नाम चाल्यो नहीं"

इसके अनन्तर ज्ञाता सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहां टीकामें पिण गुर्वादिक साधु इज कह्या । पिण गृहस्थ न कह्या । गृहस्थनी व्यावच करे तेतो अठाइसमो अणाचार छै । पिण आज्ञामें नहीं ।" इत्यादि

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ज्ञातासूत्रके मूलपाठमें तीर्थंकर नाम गोत्र बांधनेके २० कारण बतलाये हैं । उनमें समाधि (चित्तमें शान्ति) उत्पन्न करना भी तीर्थंकर गोत्र बांधनेका कारण कहा है। वह समाधि जिसकी उत्पन्न करनी चाहिये ऐसा कोई खास करके पुरुष विशेप वहां नहीं कहा गया है ऐसी दशामें केवल साधुके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करना ही तीर्थंकर गोत्र बांधनेका कारण होता है इतर प्राणियोंको शान्ति देना तीर्थंकर गोत्र बन्धका कारण नहीं होता ऐसी कल्पना अप्रामाणिक और मूलपाठसे विरुद्ध है ।

इस पाठकी टीकासे भी यह कल्पना नहीं की जा सकती देखिये वहांकी टीका यह है:—

"समाधौच गुर्वादीनां कार्य्यकरण द्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादनेसति निर्वर्तितवान्"

अर्थात् गुरु आदिका कार्य्य करके उनके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करनेसे तीर्थंकर गोत्र बंधता है।

यहां गुरु आदिकसे साधु का ही ग्रहण बतलाना अज्ञान है क्योंकि माता पिता ज्येष्ठ बन्धु और चाचा आदि भी गुरु कहलाते हैं। फिर गुरु शब्दसे उनका ग्रहण नहीं होकर एकमात्र साधुका ही ग्रहण क्यों होगा? इसमें "आदि" शब्द भी आया है। उस आदि शब्दसे गुरुजनसे भिन्न दूसरे लोग यदि नहीं लिये जावेंगे तो फिर आदि शब्द का प्रयोजन ही क्या होगा? अतः इस टीकामें गुरु शब्दसे साधुके समान ही माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरु जन भी गृहीत हुए हैं और आदि शब्दसे जो लोग गुरु जनसे भिन्न हैं उनका भी ग्रहण किया गया है। अतः इस टीकाका मनमाना अर्थ करके साधुसे इतरको साता उत्पन्न करनेसे धर्मपुण्यका निषेध करना मिथ्या है। इस टीकासे साधुसे इतरको शान्ति देना भी तीर्थंकर गोत्र बन्धका कारण सिद्ध होता है। अतः भ्रमविध्वंसनकारका साधुसे इतरको साता देनेमें पाप कहना अज्ञान है।

इसी तरह गृहस्थका व्यावच करनेको जो अठाईसवां अनाचार कहा है उसका दाखला देकर साधुसे इतरको साता देनेमें पाप कहना भी मिथ्या है। गृहस्थका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार कहा है परन्तु गृहस्थके लिये गृहस्थ का व्यावच करना अनाचार नहीं कहा है। अतएव उवाई सूत्रमें माता पिताके शुश्रूषक पुत्रको स्वर्गगामी कहा है। यदि साधुसे इतरको शान्ति देना (व्यावच करना) गृहस्थके लिये भी अनाचार होता तो माता पिताकी सेवा करनेसे उवाई सूत्र में स्वर्ग जाना कैसे कहा जाता। अतः ज्ञाता सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरको समाधि उत्पन्न करनेसे धर्मपुण्य नहीं मानना उत्सूत्रभाषियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५६ के ऊपर सुयगडांग श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ की छट्ठी और सातवीं गाथाओं को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो—साता दियां साता हुवे इम कहे ते आर्य्यमार्ग थी अलगो कह्यो। समाधिमार्ग थी न्यारो कह्यो। जिणधर्मरी हीलणारो करणहार, अल्प सुखरे अर्थे घणां सुखारो हारणहार, ए असत्य पक्षे अणछांणवे करी मोक्ष नहीं। लोहवाणियां

नोपरे घणो झूरसी। सातां दियां सातापरूपे तिणमें एतला अवगुण कह्या सावद्य सातामें धर्म किम कहिए। तेहथी तीर्थंकर गोत्र किम बंधे" (भ्र० पृ० २५७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी गाथाओंका नाम लेकर साधुसे इतरको साता देनेमें धर्मपुण्य का निषेध करना जगत्में अन्धकार फैलाना है। उन गाथाओंमें शाक्यादिकोंके मतका खण्डन किया है साधुसे इतरको साता देनेका निषेध नहीं किया है परन्तु भ्रमविध्वंसनकारने शास्त्र नहीं जानने वाले भोले लोगोंको भ्रमानेके लिये उन गाथाओं का विपरीत अर्थ करके साता देनेको सावद्य बतलाया है अतः पाठकोंके ज्ञानार्थ उन गाथाओं को टीकाके साथ लिख कर बतलाया जाता है जिससे उनका भ्रम दूर हो जाय।

"इहमेगे उभासंति सातं सातेन विज्जती जे तत्थ आरियं मग्गं परमंच समाहि ए (यं) मा एयं अवमन्नंता अप्पेणं लुम्पहा बहुं एतस्स (उ) अमोक्खाए अओ हारिव्व जूरह"

(सुय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ गाथा ६-७)

(टीका)

मतान्तरं निराकर्तुं पूर्व पक्ष यितु माह—इहेति मोक्ष गमन विचार प्रस्तावे एके शाक्या दयः स्वयूथ्या: वा लोचादिनोपतप्ताः तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकादिपरिभोगाद्विशेष माह—भाषंते ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठः। किंतदित्याह—सातं सुखं सातेनैव सुखे नैव विद्यते। भवतीति। तथाचवक्तारो भवन्ति "सर्वाणि सत्त्वानि सुखेरतानि सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते ? तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात् सुख प्रदाता लभते सुखानि" युक्तिरप्येवमेवस्थिता। यतः कारणानुरूपं कार्य्यं मुत्पद्यते तद्यथा शालिबीजाच्छाल्यं कुरो जायते न यवांकुर इत्येव मिहत्यात्सुखान्मुक्ति रुप जायते नतु लोचादि रूपा दुःखा दिति। तथा ह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—"मणुण्णं भोयणं भोच्चा मणुण्णं सयणा सणं मणुण्णं सि अगारंसि मणुण्णं झायए मुणी।" "मृद्वीशय्या प्रात रुत्थाय पेया। भक्तं मध्ये पानकं चापराण्हे द्राक्षाखण्डं शर्कराचार्ध रात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्य पुत्रेण दृष्टः। इत्यतो मनोज्ञाहार विहारादे श्चित्त स्वास्थ्य मुत्पद्यते चित्त समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिः। अतः स्थित मेतं तत् सुखे नैव सुखावाप्तिः। नपुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्ति रिति स्थितम्। इत्येवं व्यामूढ मतयो केचन शाक्यादयस्तत्र तस्मिन् मोक्ष विचार प्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यातः सर्वहेय धर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेंद्र

शासन प्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति तथाच परमं समाधिं ज्ञान दर्शन चारित्रात्मकं येत्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्त वर्तिनः सदा भवंति । एन मार्ग्य मार्गं जैनेन्द्र प्रवचनं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग प्रतिपादकं "सुखं सुखेनैव विद्यते" इत्यादि मोहेन मोहिता अवमन्यमाना परिहरन्तः अल्पेन वैषयिकेण सुखेन मा बहु परमार्थ सुखं मोक्ष सुखं मोक्षा ख्यं लुम्पथ विध्वंसथ । तथाहि मनोज्ञाहारादिना कामोद्रेकः । तदुद्रेकाच्च चित्ता स्वास्थ्यं न पुनः समाधिरिति । अपिच एतस्यासत्पक्षाभ्युपगमस्यामोक्षेऽपरित्यागे सति "अयोहारिव्व जूरह" अत्मानं यूयं कदर्थ यथ केवलं यथासौ अयसो—लोहस्याहर्ता अपान्तराले रूप्यादि लाभे सत्यपि दूरमानीत मिति कृत्वा नोज्झितवान् पश्चात् स्वस्थानावाप्तामल्प लाभे सति जूरितवान् पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ।"

अर्थ :—

मतान्तरका खण्डन करनेके लिये छठी गाथामें अन्य मतावलम्बियोंकी ओरसे पूर्व पक्ष किया गया है । वह इस प्रकार है—मोक्ष प्राप्तिके विषयमें शाक्य आदि, तथा केशोल्लुञ्चनसे पीड़ित कई एक अपने यूथ वाले, यह कहते हैं कि सुखकी प्राप्ति सुख हीसे होती है । जैसे कि उन लोगोंने अपने मतका पोषण करनेके लिये यह श्लोक बनाया है "सर्वाणि सत्वानि" इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सभी जीव सुखमें रत हैं और सभी लोग दुःखसे उद्विग्न होते हैं । इस लिये सुखकी इच्छा करने वाले पुरुषको सुख ही देना चाहिये क्योंकि सुख देनेवाला ही सुख पाता है । इस विषयमें ये लोग यह युक्ति देते हैं कि सभी कार्य्य अपने कारणके अनुरूप ही उत्पन्न होते हैं शालिके बीजसे शालिका ही अंकुर उत्पन्न होता है यवका अंकुर उत्पन्न नहीं होता इसी तरह इस लोकमें सुख भोगनेसे ही पर लोकमें सुख मिलता है परन्तु केशोलुञ्चनादि रूप दुःख भोगनेसे नहीं मिलता । इनके आगममें भी यही कहा है कि साधुको मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ शय्याके ऊपर मनोज्ञ गृहमें मनोज्ञ वस्तुका ध्यान करना चाहिये । कोमल शय्यापर शयन करना, प्रभात कालमें दुग्ध आदि पौष्टिक पदार्थ पीना, तथा दिनके मध्य भागमें स्वादिष्ट भात आदि खाना, और दोपहरके बाद शर्बत आदि पीना, तथा आधी रातमें दाख शक्कर आदि मधुर पदार्थ खाना, इन कार्य्योंसे अन्तमें मोक्ष मिलता है यह शाक्य पुत्रका विश्वास है । संक्षेपसे इनका सिद्धान्त यह है कि मनोज्ञ आहार विहारसे चित्तमें समाधि उत्पन्न होती है और चित्तमें समाधि उत्पन्न होनेसे मोक्ष सुख मिलता है । अतः सिद्ध हुआ कि सुखसे ही सुख मिलता है पर केशोलुञ्चनादि रूप दुःख भोगनेसे नहीं ।

इस प्रकारका सिद्धान्त रखनेवाले मूढ़मति शाक्य आदि, सभी हेय धर्मोंसे पृथक् रहने वाले जिन प्रतिपादित आर्य्य धर्मका त्याग करते हैं और ज्ञान दर्शन तथा चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को छोड़ देते हैं ! वे ज्ञान रहित हैं और चिरकाल तक इस संसार चक्रमें घूमते रहते हैं । उनपर

कृपा करके शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे भाइयो ! 'सुखसे ही सुख मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्तका आश्रय लेकर सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष धर्मका उपदेशक जैनागमको तुम मोहवश छोड़ रहे हो। तुम तुच्छ विषय सुखके लोभमें पड़कर वास्तविक सुख मोक्षको मत छोड़ो मनोज्ञ आहार आदि खानेसे कामकी वृद्धि होती है और कामवासनाके प्रवल होनेपर चित्तमें शान्ति नहीं मिल सकती। इस प्रकार चित्तमें समाधि उत्पन्न होना एकान्त असम्भव है। अतः असत्पक्षका आश्रय लेकर तुम अपनेको खराव कर रहे हो। जैसे कोई वणिक् पुत्र दूरसे लोहा लिए हुए आता था उसे रास्तेमे चांदी मिली पर उसने सोचा कि मैं दूरसे इस लोहेको लिये आ रहा हूं इसे छोड़कर चांदी कैसे लूं। इसी प्रकार रास्तेमें उसने सोना भी नहीं लिया। पीछे अपने स्थानपर पहुंचनेपर उसको सोना चांदीको अपेक्षा लोहेका बहुत कम मूल्य मिला तो वह पछिताने लगा था उसी तरह अन्तमें तुम्हें भी पछिताना पड़ेगा।

यहां जो लोग विषय सुखसे मोक्ष मिलनेका सिद्धान्त मानकर जैनेन्द्र प्रवचन का त्याग करते हैं उनका सिद्धान्त खण्डन करनेके लिये कहा है कि "विषय सुख भोगने से मोक्षकी प्राप्तिकी आशा रखना मिथ्या है। विषय सुख को छोड़ कर जैन मार्गसे गमन करना ही मोक्षका साधन है"। परन्तु किसीको साता देना सावद्य है या किसीको साता देनेसे धर्म या पुण्य नहीं होता यह बात यहां नहीं कही है। इस लिये इन गाथाओं का नाम लेकर दूसरेको साता देनेसे पाप कहना मिथ्यावादियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

यदि कोई इन गाथाओंका यही तात्पर्य्य बतावे कि दूसरेको साता देनेसे लोह वणिककी तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है अथवा आर्य्य मार्गसे दूर रहता है तो फिर किसी साधुको साता देना भी उसके हिसाबसे पाप ही ठहरेगा। यदि कहो कि "साधु से इतरको साता देनेसे पश्चात्ताप करना इस गाथामें कहा है इस लिये साधुको साता देना बुरा नहीं है" तो यह मिथ्या है उक्त गाथाओंमें तथा उनकी टीकामें यह नहीं कहा है कि "साधुसे इतरको साता देने वाला लोह वणिककी तरह पश्चात्ताप करता है" किन्तु साधु अथवा गृहस्थ जो कोई ऐसा मानता है कि विषय सुखके सेवन करनेसे मोक्ष मिलता है उस अधम श्रद्धा वालेको लोह वणिककी तरह पश्चात्तापका भागी वतलाया है परन्तु अनुकम्पा करके किसी हीन दीन दुःखीके दुःख मिटाने वालेकी यहां जिक्र भी नहीं है। अतः उक्त गाथाका नाम लेकर हीन दीन दुःखी जीव पर दया करके उन्हें साता देने वालेको एकान्त पापी कहना अज्ञान समझना चाहिये।

बोल ४ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २५७ के ऊपर लिखते हैं—

"दश वैकालिक अध्ययन ३ गृहस्थनी सातां पूछ्यां सोलमो अनाचार लागतो कह्यो । तथा गृहस्थनी व्यात्रच कीधां अठ्ठाईसमो अनाचार कह्यो । तथा निशीथ उद्देशा १३ गृहस्थनी रक्षा निमित्ते भूति कर्म कियां प्रायश्चित्त कह्यो तो गृहस्थनी सावद्य साता वांछ्या तीर्थङ्कर गोत्र किम बंधे । (भ्र० पृ० २५७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गृहस्थसे साता पूछना तथा उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार कहा है गृहस्थके लिये अनाचार नहीं कहा है । देखिये दश वैकालिक सूत्रमें आचारों की गणना करते हुए पहले पहल यह गाथा लिखी है—

"संजमे सुट्ठि अप्पाणं विप्पमुक्काणताइणं
तेसिमेयमणा इन्नं निग्गंथाण महेसिणं"

अर्थ :—

संयमके अन्दर अपनी आत्माको स्थिर रखने वाले और बाह्य तथा अन्तरसे मुक्त एवं अपनी आत्माकी रक्षा करने वाले निर्ग्रंथ महर्षियोंके लिये ये बातें अनाचार हैं ।

इस गाथामें स्पष्ट कहा है कि अग्रिम गाथाओंमें कहे हुए ५२ अनाचार श्रमण निग्रन्थोंके हैं गृहस्थोंके नहीं हैं । इस लिये गृहस्थका साता पूछना और गृहस्थका व्यावच करना दश वैकालिक सूत्रके पाठानुसार गृहस्थके लिये एकान्त पाप नहीं हो सकता । अतः दशवैकालिक सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरकी साता और व्यावचको सावद्य कायम करना अज्ञान है ।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि गृहस्थकी साता पूछने और व्यावच करनेसे जब कि साधुको अनाचारका पाप लगता है तो फिर श्रावकको पाप क्यों नहीं लगेगा ? । तो इसका उत्तर यह है कि साधु और श्रावकका कल्प जुदा जुदा है एक नहीं है । इसलिये पूर्वोक्त कार्य्य साधुके कल्पसे विरुद्ध होनेके कारण साधुके लिये ही अनाचार है गृहस्थ के कल्पसे विरुद्ध नहीं होनेसे गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है । जैसे अपने सांभोगिक साधुसे इतर प्राणीको उत्सर्ग मार्गमें आहार पानी देना साधुके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहा है परन्तु गृहस्थके लिये नहीं । गृहस्थके लिये तो अपने आश्रित पशु नौकर आदि को भात पानी नहीं देनेसे उसके पहले व्रतमें अतिचार होना कहा है । उसी तरह साधु

के लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है पर श्रावकके लिये नहीं। यदि कोई उक्त कार्य्यको गृहस्थके लिये भी अनाचार कहे तो फिर उसके हिसावसे अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देना भी गृहस्थके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहना चाहिये। क्योंकि साधु अपने सांभोगिक साधुसे इतरको आहार पानी देनेसे प्रायश्चित्ती हो जाता है तो फिर गृहस्थ अपने आश्रित पशु आदिको आहार पानी देनेसे प्रायश्चित्ती क्यों नहीं होगा ? पर बात ऐसी नहीं है। गृहस्थ यदि अपने आश्रित पशु आदिको भात पानी न देवे तो प्रायश्चित्ती होता है और साधु यदि सांभोगिक साधुसे भिन्नको उत्सर्ग मार्गमें आहार पानी देवे तो प्रायश्चित्ती होता है। अतः साधुके लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है श्रावकके लिये नहीं है।

दशवैकालिक सूत्रमें उद्दिष्ट भक्त लेना साधुके लिये पहला अनाचार कहा है इस लिये जो साधु उद्दिष्ट भक्त लेता है वह प्रायश्चित्ती होता है परन्तु आदिम और अन्तिम तीर्थंकरके साधुओंको छोड़ कर दूसरे साधु यदि उद्दिष्ट भक्त लेवें तो वे पापके भागी नहीं होते क्योंकि उद्दिष्ट भक्त लेना उनके कल्पसे विरुद्ध नहीं है। अतः जैसे उद्दिष्ट भक्त लेना आदिम और अन्तिम तीर्थंकरके साधुओंके लिये अनाचार है दूसरे तीर्थंकरोंके साधुओंके लिये अनाचार नहीं है उसी तरह गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार है श्रावकके लिये अनाचार नहीं है। अतः गृहस्थकी साता पूछने और उसका व्यावच करनेसे गृहस्थको भी अनाचार बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

२४ वें तीर्थंकरके साधु तेइसवें तीर्थंकरके साधुको आहार पानी नहीं देते। क्योंकि उनका यह कल्प नहीं है। यदि देवें तो उनको प्रायश्चित्त आता है। परन्तु गृहस्थ यदि तेईसवें तीर्थंकरके साधुओंको आहार पानी देवे तो उसको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। इस लिये जो कार्य्य साधुके लिये अनाचार है वह गृहस्थके लिये भी अनाचार हो यह कल्पना मिथ्या समझनी चाहिये।

इसी तरह निशीथ सूत्र उद्देशा १२ का दाखला देकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना भी मिथ्या है निशीथ सूत्र उद्देशा १२ के अन्दर किसी प्राणीकी रक्षा करना वर्जित नहीं की है किन्तु भूति कर्म करनेका निषेध किया है। इस लिये साधु भूति कर्म नहीं करते। यदि भूति कर्म करें तो उनको अवश्य प्रायश्चित्त आता है परन्तु अपनी कल्प मर्य्यादाके अनुसार जीवरक्षा करनेसे पाप नहीं होता। क्योंकि जीवरक्षा करनेका कहीं भी शास्त्रमें निषेध नहीं है। प्रत्युत प्रश्नव्याकरणादि सूत्रोंमें जगह जगह

इसका विधान किया है। अतः निशीथ उद्देशा १३ का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप का स्थापन करना एकान्त अज्ञान समझना चाहिये। इस विषयका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण अनुकम्पाधिकारके २५ वें बोलमें किया गया है। इस लिये यहां बहुत संक्षेपसे लिखा गया है।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

गृहस्थसे साता पूछना और उसका व्यावच करना गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है यह ज्ञात हुआ। परन्तु श्रावकके लिये श्रावकके व्यावचका विधान कहीं शास्त्रमें किया हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रके मूलपाठमें श्रावकके लिए श्रावकके व्यावचका विधान किया गया है वह पाठ यह है—

"सेकिंतं वेयावच्चे, दसविहे पन्नत्ते तंजहा—आयारिय वेयावच्चे, उवज्झाय वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, तवस्सि वेयावच्चे, थेर वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे,"

(उवाई सूत्र)

अर्थ :—

अर्थात् व्यावच दश प्रकारके कहे हैं।

आचार्य्यका व्यावच करना, उपाध्यायका व्यावच करना, नवदीक्षित शिष्यका व्यावच करना, रोगादिसे पीडित हुएका व्यावच करना, तपस्वीका व्यावच करना, स्थविर का व्यावच करना, साधर्मिक का व्यावच करना, गणका व्यावच करना, कुलका व्यावच करना, और संघ का व्यावच करना।

यह उक्त गाथाका अर्थ है।

यहां दश प्रकारके व्यावचोंमें साधर्मिक व्यावच कहा गया है और श्रावकसे श्रावकका व्यावच किया जाना भी साधर्मिक व्यावच है क्योंकि साधुका साधर्मिक जैसे लिङ्ग और प्रवचन के द्वारा साधु होता है उसी तरह श्रावक का साधर्मिक प्रवचन के द्वारा श्रावक भी होता है। व्यवहार सूत्र दूसरे उद्देशे के भाष्य में यह गाथा लिखी हुई है:—

"पवयणसंघे गयरो लिङ्गे रयहरण मुहपत्ती"

इसकी टीका यह है—

" "पवयण" त्ति प्रवचनतः साधर्मिकः संघमध्ये एकतरः श्रमणः श्रमणी श्रावकः श्राविकाचेति। लिंगे लिङ्गतः साधर्मिकः रजोहरण मुहपोत्तिका युक्तः"

अर्थः—

श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका इनमें से कोई भी प्रवचन के द्वारा साधर्मिक होता है और रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका से युक्त लिङ्ग के द्वारा साधर्मिक होता है।

यह उपर्युक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है।

यहां प्रवचनके द्वारा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इनमेंसे किसी को भी साधर्मिक होना कहा है। इस लिये प्रवचन के द्वारा श्रावक का साधर्मिक श्रावक भी होता है।

तथा इसी भाष्यके १५ वीं गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिंग और प्रवचन के द्वारा साधर्मिकों की एक चतुर्भंगी कही है। उस के दूसरे भंगों में श्रावक को बतलाया है।

वह टीका यह है—

"तथा प्रवचनतः साधर्मिको न पुनः लिंगे लिंगतः एष द्वितीयः। केते एवं भूता इत्याह—दशभवंति सशिखाकाः असुण्डित शिरस्काः श्रावका इति गम्यते। श्रावकाहि दर्शन व्रतादि प्रतिमा भेदेन एकादशविधा भवन्ति। तत्र दश सकेशाः—एकादश—प्रतिमा प्रतिपन्नस्तु लुञ्चितशिराः श्रमणभूतो भवति। ततस्तद्व्यवच्छेदाय सशिखाक ग्रहणम्। एतेहि दश सशिखाकाः श्रावकाः प्रवचनतः साधर्मिकाः भवंति तेषां संघान्तर्भूतत्वात् नतु लिङ्गतो रजोहरणादि लिङ्ग रहितत्वात्"

अर्थात् प्रवचनके द्वारा जो साधर्मिक होता है और लिंगके द्वारा नहीं होता वह दूसरा भांगावाला साधर्मिक है। अब यह बतलाया जाता है कि इस दूसरे भांगावाले साधर्मिक कौन होते हैं।

जिनके केश मुण्डित नहीं हैं जो शिखाधारी हैं ऐसे दश प्रकार के श्रावक इस दूसरे भंगके स्वामी हैं क्योंकि श्रावक, दर्शन, व्रतादि, और प्रतिमाके भेदसे ग्यारह प्रकारके होते हैं। उनमें दश शिखाधारी होते हैं। और ग्यारहवीं प्रतिमा[illegible] लुञ्चितशिर और साधुके सदृश होता है। उसकी व्यावृत्तिके लिये इस दूसरे [illegible] शिखाधारी श्रावक कहा गया है। ये दश शिखाधारी श्रावक प्रवचनसे [illegible]

क्योंकि वे सङ्घके अन्दर मौजूद हैं परन्तु लिङ्गसे साधर्मिक नहीं होते क्योंकि वे रजोहरणादि लिङ्गोंसे युक्त नहीं होते।

यहां टीकाकारने श्रावकको प्रवचनके द्वारा साधर्मिक कह कर उसको साधर्मिकों की चौभङ्गीके दूसरे भङ्गमें रक्खा है। इसलिये श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक होता है यह बात निर्विवाद सिद्ध है। दश प्रकारके व्यावचोंमें उवाई सूत्रके अन्दर साधर्मिक का व्यावच करना भी कहा गया है। इसलिये श्रावकसे श्रावकका व्यावच किया जाना भी साधर्मिक व्यावच होने से धर्म का ही हेतु है। उसे पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य्य है।

उक्त दश विध व्यावचोंमें सङ्घका व्यावच भी कहा गया है और सङ्घ नाम है साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओं के समूह का। इसलिये सङ्घके अन्तर्भूत होनेसे साधु की तरह श्रावक का व्यावच भी सङ्घके व्यावच में गिना जाता है। इस लिये श्रावक से श्रावक का व्यावच किया जाना भी देशसे सङ्घका व्यावच है। अतः वह धर्म है परन्तु पाप नहीं है।

यदि कोई कहे कि साधुओं की १२ प्रकार की तपस्याओंके भेदमें व्यावच कहा गया है। इसलिये उवाई सूत्रोक्त दश विध व्यावच साधुओंका ही है परन्तु श्रावक का नहीं तो उसे कहना चाहिये कि श्रावकोंके लिये तपका विधान कहीं अन्यत्र नहीं करके साधुओंके साथ ही किया गया है। कारण यह है कि तपके विषयमें साधु और श्रावकों का कोई अन्तर नहीं है। इस लिये जैसे बारह प्रकार के तप साधुओं के समान श्रावकों के भी हैं उसी तरह ये दशविध व्यावच साधुओं की तरह श्रावकोंके भी हैं।

इस विषयमें भ्रमविध्वंसनकारका भी कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि उनके गुरु भीषणजीने लिखा है—

"सांधांरे बारे भेद तपस्या करतां जहां जहां निरवद्य योग रूंधायजी। तहां तहां संवर होय तपस्यारे लारे, तिणसु पुण्य लागवा मिट जायजी। ४७ गाथा

इण तप मांहिलो तप श्रावक करतां। कठे अशुभ योग रूंधायजी जब व्रत संवर हुवे तपस्यारे लारे लागता पाप मिट जायजी" ४८ गाथा

(नवसद्भाव पदार्थ निर्णय)

इन पद्योंमें भीषणजीने १२ प्रकारकी तपस्याएं साधुकी तरह श्रावकों की भी मानी हैं। इस लिये इन तपस्याओं में आया हुआ व्यावच श्रावकों का भी सिद्ध होता है। अतः पूर्वोक्त दश विध व्यावच को श्रावकों के लिये नहीं स्वीकार करना हठवाद समझना चाहिये।

जब कि दश विध व्यावच करना श्रावकों का भी कर्त्तव्य है तब फिर कोई श्रावक यदि अपने साधर्मिक श्रावक का व्यावच करे तो उसमें पाप या प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है? यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ उद्देशा २ के अन्दर श्रावकों को अवर्ण बोलनेसे दुर्लभबोधी और वर्ण बोलनेसे सुलभबोधी होना कहा है। वह पाठ—

"पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति। तंजहा—अरिहंताणं अवन्नं वदमाणे अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे आयरिय उवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्ण स्स संघस्स अवन्नं वदमाणे विवक्कतव बंभचेराणं अवन्नं वदमाणे। पंचहिं ठाणेहिं जोवासुलभवोधियत्ताए कम्मं पकरेंति अरिहंताणं वन्नं वदमाणे जाव विवक्क तव बंभचेराणं वन्नं वदमाणे"

(ठाणाङ्ग ठाणा ५ उ० २)

अर्थः—

अर्थात् पांच स्थानोंमें जीव, दुर्लभबोधी होनेका कर्म बांधता है।

अरिहंतको अवर्ण बोलता हुआ, और अरिहंत प्रणीत धर्मको अवर्ण बोलता हुआ, तथा आचार्य्य और उपाध्यायको अवर्ण बोलता हुआ, एवं चातुर्णात्मक सङ्घको अवर्ण बोलता हुआ और परिपक्व ब्रह्मचार्य्य और तप वाले पुरुष को अवर्ण बोलता हुआ।

इसी तरह पांच स्थानों में जीव सुलभबोधी होनेका कर्म बांधता है। जैसे कि—

अरिहंत को वर्ण बोलता हुआ, यावत्, परिपक्व, तप और ब्रह्मचार्य्य वाले पुरुष को वर्ण बोलता हुआ।

यह उपर्युक्त गाथाका अर्थ है।

यहां चतुवर्णात्मक सङ्घको अवर्ण बोलनेसे दुर्लभवोधी कर्मका वन्ध होना, और वर्ण बोलनेसे सुलभ वोधी कर्मका वन्ध होना कहा है और श्रावक श्राविका भी चतुवर्णात्मक सङ्घके अङ्ग हैं। इसलिये श्रावक और श्राविकाको अवर्ण बोलना भी अवश्य ही दुर्लभवोधो कर्म बन्धका हेतु होता है। इसी तरह श्रावक और श्राविका को वर्ण बोलना भी निश्चय ही सुलभ वोधी कर्मबन्धका हेतु होता है। इस प्रकार जब कि श्रावक और श्राविकाको वर्ण बोलने मात्रसे जीव सुलभ वोधी कर्म बांधता है तब फिर कोई

श्रावक यदि किसी श्रावकको अन्नादिके द्वारा धार्मिक सहायता देने रूप व्यावच करे तो उससे पाप वन्ध कैसे हो सकता है ?। वल्कि उससे और ज्यादा पुण्य ही होगा अतः श्रावकों से किया जाने वाला श्रावक के व्यावच को पाप वतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा पहलेमें कहा है कि सनत्कुमार देवेन्द्र श्रावकोंके हित, सुख, पथ्य यावत् निःश्रेयसको इच्छा करनेसे भव सिद्धिसे लेकर यावत् चरम शरीरी हो गये हैं। वह पाठ यह है—

"सणं कुमारे देविंदे देवराया वहूणं समणाणं वहूणं समणीणं वहूणं सावयाणं वहुणं सावियाणं हियकामए सुह कामए पत्थ कामए अणुकम्पिए निस्सेयसिए हियसुहनिस्सेयसकामए से तेणट्ठेणं गोयमा ! सणं कुमारेणं भव सिद्धिए णो अचरिमे"

(भगवती शतक ३ उ० १)

अर्थः—

भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गोतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र देवराज बहुत से साधु, साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा, और मोक्षकी कामना करते हैं। इसलिये वह भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम हैं।

यहां श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पथ्य आदिकी इच्छा करने मात्रसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम शरीरी तक हो जाना कहा है ऐसी दशामें यदि कोई साक्षात् श्रावक और श्राविकाओंको हित, सुख और पथ्यका सम्पादन करके उसके धर्ममें सहायता पहुंचाने रूप व्यावच करे तो उसे पाप कैसे हो सकता है ? वल्कि उसको और ज्यादा धर्म ही होगा। अतः श्रावकोंसे किया जाने वाला श्रावकके व्यावचको सावद्य कायम करना अज्ञान समझना चाहिये।

[बोल ८ वां समाप्त]

नोट—इस पाठकी टीकामें हित, सुख और पथ्य शब्दका क्रमशः सुख साधक वस्तु, तथा सुख और दुःखसे त्राण (रक्षा) रूप अर्थ किया है। वह टीका दानाधिकार के २७ वें बोलमें इस पाठके साथ लिखी गयी है। जिज्ञासुओं को उसे वहीं देख लेना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६२ के ऊपर भीषणजीके वार्तिकका दाखला देते हुए लिखते हैं कि —

"ते कहे छै। पडिमाधारी साधु अग्नि मांहि बलताने बांहो पकडिने बाहिरे काढे। अथवा सिंहादिक पकडताने झाल राखे। तथा हर कोई साधु साध्वी जिन कल्पी स्थविर कल्पी, त्यांने बांहि पकडिने बाहरे काढे इत्यादि कार्य्य करीने साता उपजावे। अथवा जीवां बंचावे। अथवा ऊंचाथी पडताने झाल बंचावे। अथवा आखड़ पडताने झाल बंचावे अथवा ऊंचाथी पड़ताने बैठो करे तिण गृहस्थने अरिहंत भगवंतरी पिण आज्ञा नहीं। अनंता साधु साध्वी गये काल हुआ त्यांरी पिण आज्ञा नहीं। जिण साधुरे बंचायो तिणरी पिण आज्ञा नहीं। इत्यादि (भ्र० २६२)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि मरणान्त कष्टकी अवस्थामें भी यदि कोई गृहस्थ, साधुकी रक्षा कर देवे तो उसे एकांत पाप होता है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी रक्षा करनेसे गृहस्थ को एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध है क्योंकि वृहत्कल्प सूत्रके मूलपाठमें स्थविर कल्पी साधु या साध्वीको सर्प काटने पर गृहस्थसे झाडा दिलानेकी वीतरागने आज्ञा दी है। अतः मरणान्त कष्ट से साधुकी रक्षा करना आज्ञा बाहर तथा एकांतपाप नहीं है वह पाठ यह है—

"निग्गंथं चणं राओवा वियालेवा दीहपीट्ठे लूसेज्जा इत्थी पुरिसस्स पमज्जेज्जा पुरिसोवा इत्थिए पमज्जेज्जा। एवं से चिट्ठति परिहारंच नो पाउणति एसकप्पे थेर कप्पियाणं एवं से नो कप्पति एवं से नो चिट्ठति परिहारंच पाउणति एसकप्पे जिण कप्पियाणं"

(वृहत्कल्प सूत्र)

(इसकी व्याख्या)

"सम्प्रति सूत्र व्याख्या क्रियते—निर्ग्रंथं च शब्दान्निर्ग्रंथीं च रात्रौवा विकालेवा दीर्घ पृष्ठः सर्पो लूषयेत् दंशेत्। तत्र स्त्री वा पुरुषस्य हस्तेन तं विषमपमार्जयेत्। पुरुषोवा स्त्रियाः हस्तेन एवं से तस्य स्थविर कल्पिकस्य कल्पते। स्थविरकल्पस्य अपवाद् बहुलत्वात्। एवंचामुना प्रकारेणापवादमासेवमानस्य से तस्य तिष्ठति पर्य्यायः न स्थविर कल्पात् परिभ्रश्यति येन छेदादयः प्रायश्चित्त विशेषा स्तस्य न संति। परिहारंच

तपो न प्राप्नोति कारणेन यतनया प्रवृत्तेः। एष कल्पः स्थविरकल्पिकानाम्। एवममुना प्रकारेण सपक्षेण विपक्षेण वा वैयावृत्य कारापणं। "से" तस्य जिन कल्पिकस्य न कल्पते केवलोत्सर्ग प्रवृत्तत्वा त्तस्येतिभावः। एवमपवाद सेवनेन "से" तस्य जिन कल्प पर्य्यायो नतिष्ठति जिनकल्पात् पततीत्यर्थः। परिहारंच तपो विशेषं परि पालयति एष-कल्पो जिन कल्पिकानाम्"

अर्थः—

साधु या साध्वीको रातमें या विकालके समय यदि सांप काट लेवे तो स्त्री (साध्वी) गृहस्थ पुरुषके हाथसे, और पुरुष (साधु) गृहस्थ स्त्रीके हाथसे उस विषका झाड़ा दिलावे। ऐसा करना, स्थविर कल्पी साधुका कल्प है। क्योंकि स्थविर कल्पियों के कल्पमें अपवाद बहुत होता है। इस लिये उक्त कार्य्य करनेसे स्थविर कल्पी का पर्य्याय रह जाता है। वह अपने कल्पसे गिरता नहीं है। इसलिये इस कार्य्यसे स्थविर कल्पीको छेद आदि प्रायश्चित्त विशेष नहीं प्राप्त होते और प्रायश्चित्त स्वरूप तपस्या भी नहीं प्राप्त होती क्योंकि कारणवश और यतनाके साथ उक्त कार्य्यमें स्थविर कल्पीकी प्रवृत्ति हुई है परन्तु इस प्रकार अपने या दूसरे पक्षवालोंसे व्यावच कराना जिन कल्पी साधुका कल्प नहीं है क्योंकि जिन कल्पी साधु उत्सर्ग मार्गसे ही प्रवृत्त होता है। वह यदि इस प्रकार अपवाद मार्गका आश्रय लेवे तो उसका पर्य्याय स्थिर नहीं रहता किन्तु वह जिन कल्पसे गिर जाता है। तथा वह प्रायश्चित्तका अधिकारी होता है।

यहां स्थविर कल्पी साधु या साध्वीको सर्प काटने पर गृहस्थके हाथसे झाड़ा दिलानेका विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मरणान्त सङ्कटमें पड़े हुए साधु की प्राणरक्षा करना गृहस्थोंके लिये जिन आज्ञासे विरुद्ध नहीं है तथा ऐसी दशामें गृहस्थकी सहायता लेकर अपनी प्राणरक्षा करना स्थविर कल्पी साधुके लिये भी आज्ञा विरुद्ध तथा प्रायश्चित्त का कारण नहीं है। अतः मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी रक्षा करना गृहस्थके लिये आज्ञा बाहर बतलाकर उसमें एकान्त पाप स्थापन करना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

आचारांग सूत्रमें गड्ढे आदिमें गिरनेकी सम्भावना होने पर गृहस्थका हाथ पकड़ कर पार करना कहा है। वह पाठ यह है—

"सेभिक्खूवा गामाणुगामं दुइज्जमाणे अन्तरासे वप्पाणिवा फलिहाणिवा पागाराणिवा तोरणानिवा अग्गलाणिवा, अग्गल पासगा-

णिवा, गड्ढाओवा दरीओवा सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा। नोउज्जुयं गच्छेज्जा केवली ब्रूया आयाण मेयं। तत्थ परक्कममाणे पपलिज्जवा २ सेतत्थ पयलमाणेवा रूक्खाणिवा गुच्छाणिवा लयाओवा वल्लीओवा तयाणिवा गहाणिवा, हरियाणिवा अवलम्बिय उत्तरिज्जा। जे तत्थ पडिपहियावा उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा तओ संजयामेव अवलम्बिय उत्तरिज्जा। तओ सं० गामानुगामं दुइज्जेज्जा"।

अर्थः—

एक ग्रामसे दूसरे ग्राममें जाते हुए साधु या साध्वीको मार्गके अन्दर यदि क्यारी मिले या खाई; गड्ढा, तोरण, अर्गला, गर्त, या खोह मिले तो दूसरा मार्ग होने पर उस (गड्ढे आदि वाले) मार्गसे नहीं जाना चाहिये। क्योंकि उस मार्गसे जाने पर केवलीने कर्मबन्ध होना कहा है। परन्तु दूसरा मार्ग नहीं होने पर उस मार्गसे जानेमें दोष नहीं है। ऐसे कठिन मार्गसे जाता हुआ साधुका यदि पैर फिसल जाय, तथा गिरनेकी नौबत आ जावे तो वह वृक्ष, लता, तृण या गहरी वनस्पतियोंको पकड़ कर उस मार्गसे पार हो जावे। अथवा जो कोई उस मार्गसे पथिक आता हो उसके हाथकी सहायता लेकर जयणाके साथ उस कठिन मार्ग को पार करे। इसके पश्चात् ग्रामानुग्राम विहार करे।

यह इस पाठका अर्थ है।

इसकी टीकामें भी लिखा है कि—

"अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत् कथञ्चित् पतितश्च गच्छगतो वल्ल्यादिकमवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयतएव गच्छेत्"

अर्थात् कारण पड़ने पर साधु उसी (कठिन) मार्गसे ही जावे। और किसी प्रकार गिरता हुआ स्थविर कल्पी साधु, लता आदिको पकड़ कर अथवा सम्मुख आते हुए पथिकके हाथका आश्रय लेकर जयणाके साथ उस मार्गको पार करे।

जीतमलजी ने अपने प्रश्नोत्तर तत्वबोध नामक ग्रन्थ में ६३ वें प्रश्न के उत्तर में दूसरा मार्ग नहीं होने पर आचारांग सूत्रोक्त कठिन मार्ग से जाना लिखा है। जैसे कि:—

(प्रश्न)—विहार करतां मार्गमें पृथिवी हरी आयां तेणेइज मार्गे जावणो कि नहीं ?

(उत्तर)—आचारांग श्रुत० २ अ० ३ उ० २ कह्यो विहार करता मार्ग माई वीज हरी पानी मांठी होय तो छते रास्ते ते मार्गे जावणो नहीं । इण न्याय रस्तो न होय तो ते मार्गरो दोष नहीं । ऊंची भूमि, खाई, गड्ढने मार्गे छते रस्ते न जावणो रास्तो और न होय तो जावणो" ।

इत्यादि जीतमलजीके लेखसे भी यह सिद्ध होता है कि दूसरा रास्ता नहीं होने पर साधु गर्त आदि वाले मार्गसे जाते हैं और वहां वे कारणवश पथिकके हाथकी सहायता भी आचारांग सूत्रोक्त विधिके अनुसार लेते हैं । ऐसा करनेसे स्थविर कल्पी साधु का कल्प भङ्ग नहीं होता क्योंकि यह कार्य्य जिन आज्ञामें है । तथा उक्त मार्ग के अन्दर मुसीबतमें पड़े हुए साधुको जो पथिक अपने हाथकी सहायता देकर उनकी प्राण-रक्षा करता है वह भी आज्ञानुसार ही कार्य्य करता है आज्ञासे बाहर या एकांतपापका कार्य्य नहीं करता । अतः आगमें जलते हुए साधुकी बांह पकड़ कर बाहर निकालने वाले गृहस्थ को पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये ।

यदि मरणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेना स्थविर कल्पी साधुका कल्प नहीं होता और उस हालतमें भी स्थविर कल्पीको शारीरिक सहायता देना गृहस्थके लिये वर्जित होता तो आचारांग सूत्रके इस पाठमें पथिक के हाथ की सहायता लेकर साधुको कठिन मार्गसे पार करने का विधान कैसे किया जाता ? तथा वृहत्कल्प सूत्रमें सर्पका जहर उतारनेके लिये साधु साध्वी को गृहस्थ से झाडा लगवाने का विधान क्यों किया जाता ? अतः साधु के लिये गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेने को हर एक अवस्था में एकान्त निषेध करना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६५ के ऊपर भीषणजीके वार्तिकों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"वली केई एक इसडी कहे छै । सुभद्रासती साधुरी आंख मांहि थी फांटो काढ्यो तिणमे धर्म कहे छै ।"

इसके आगे २६७ पृष्ठमें अपनी ओरसे लिखते हैं कि "केतला एक जिन आज्ञा ना अजाण छै । ते साधु अग्नि मांहि बलतानी कोई गृहस्थी बांह पकड़नी बाहिरे काढे तथा साधुरी फांसी कोई काटे तिणमें धर्म कहे छै" इत्यादि । इनके कहनेका तात्पर्य्य

यह है कि सुभद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आंखसे तिनका निकाला था, इससे उसको पाप हुआ तथा किसी दुष्टके द्वारा साधुके गलेमें लगाई हुई फांसीको यदि कोई दयालु गृहस्थ काट देवे, तथा आगमें जलते हुए साधुको कोई दयावान गृहस्थ बांह पकड़ कर बाहर कर दे तो उसको एकान्त पाप होता है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुभद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आंखसे तिनका निकाला था इस कार्य्यसे सुभद्राजीको पाप बतलाना भीषणजीका अज्ञान है तथा साधुके गलेकी फांसी काटने और आगमें जलते हुए साधुको बांह पकड़कर बाहर निकालनेसे दयालु गृहस्थको पाप बतलाना जीतमलजीका भी अज्ञान है। भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ३ के अन्दर साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्शका छेदन करने वाले वैद्यको शुभ क्रिया (पुण्यबन्ध) होना कहा है। वह पाठ यह है—

"अणगारस्सणं भन्ते ? भाविअप्पणो छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं जाव आयावेमाणस्स तस्सणं पुरच्छिमेणं अवड्ढ दिवसं णो कप्पइ हत्थंवा पायंवा उरुंवा आउंटावेत्तएवा पसारेत्तएवा पच्चच्छिमेणं अवड्ढ दिवसं कप्पइ हत्थंवा पायंवा जावउरुंवा आउंटावेत्तएवा पसारेत्तएवा" तस्स य अंसिआओ लंबइ तंचेव विज्जे अदक्खु इसिपाडेइ। पाडेइत्ता अंसिआओ छिंदेज्जा सेणूणंभन्ते ? जे छिन्देज्जा तस्स किरिया कज्जइ। जस्सछिन्दइ णोतस्स किरिया कज्जइ णणत्थेगेणं धम्मं तराएणं ? हन्त ! गोयमा ! जेछिन्दइ जाव धम्मंतराएणं सेवं भन्ते भन्तेति"

(भ० श० १६ उ० ३)

अर्थ—

हे भगवन् ! निरन्तर वेले वेले तप करता हुआ यावत् आतापना लेता हुआ भावितात्मा अनगारका दिनके पूर्वार्ध भागमें अपने हाथ, पांव, ऊरु आदि अङ्गोंको पसारना और संकोच करना, नहीं कल्पता। तथा दिनके उत्तरार्धमें उक्त अङ्गोंको पसारना और संकोच करना कल्पता है। उक्त साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्शको यदि कोई वैद्य साधुको नीचे डालकर काटे तो उस वैद्यको क्रिया लगती है परन्तु साधुको एक धर्मान्तरायके सिवाय और क्रिया नहीं लगती क्या यह बात सत्य है ?

हां गोतम ! सत्य है । छेदन करने वाले वैद्यको ही क्रिया लगती है और उक्त साधुको एक धर्मान्तरायसे भिन्न दूसरी क्रिया नहीं लगती यह बात यथार्थ है ।

यहां भगवतीजीके मूल पाठमें साधुकी नासिकामें लटके हुए अर्शके छेद न करने से वैद्यको क्रिया लगना बतलाया है क्रियायें दो प्रकार की ठाणाङ्ग सूत्रमें कही गई हैं शुभ और अशुभ परन्तु इस मूल पाठमें शुभ अथवा अशुभ किसी एक क्रियाका नाम न लेकर समुच्चय रूपसे कहा है कि साधुकी नासिकामें लटके हुए अर्शके छेदन करने वाले वैद्यको क्रिया लगती है । इसका खुलासा करते हुए टीकाकार बतलाते हैं कि साधु की नासिकामें लटके हुए अर्शको जो वैद्य धर्म बुद्धिसे छेदन करता है उसको तो शुभ क्रिया (पुण्यकी क्रिया) लगती है और जो लोभ आदिसे छेदन करता है उसको अशुभ क्रिया (पाप) होती है । वह टीका यह है—

"तंचानगारं कृत कायोत्सर्गं लम्बमानार्शसमद्राक्षीत् । ततश्चार्शसांछेदनार्थमनगारं भूम्यां पातयति । नापातितस्यार्शश्छेदः कर्तुं शक्यत इति । तस्य वैद्यस्य क्रिया व्यापार रूपा साच शुभा धर्म बुद्ध्या छिन्दानस्य । लोभादिनात्व शुभा क्रिया तस्य भवति । यस्य-साधोरर्शांसिछिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति निर्व्यापारत्वात् । किं सर्वथा क्रियाया अभावो नैव मित्याह नन्नत्थेत्यादि । न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रै कस्माद्धर्मान्तरायाद् धर्मान्तराय लक्षणा क्रिया तस्याऽपि भवतीतिभावः । धर्मान्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदा दर्शश्छेदानुमोदनाद्वा इति"

अर्थात् कायोत्सर्ग किये हुए अनगारकी नासिकामें लटकते हुए अर्शको देखकर उसका छेदन करनेके लिये कोई वैद्य साधुको नीचे डाले (क्योंकि नीचे डाले बिना अर्श का छेदन नहीं किया जा सकता) और नीचे डालकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करे तो उस वैद्यकी क्रिया शुभ समझनी चाहिये । अर्थात् उसको शुभ क्रिया (पुण्यकी क्रिया) लगती है । तथा वह यदि लोभ आदिके द्वारा अर्शका छेदन करे तो उसको अशुभ क्रिया लगती है परन्तु जिसका अर्श काटा जाता है उस मुनिको एक धर्मान्तराय के सिवाय दूसरी क्रिया नहीं लगती क्योंकि वह मुनि व्यापार रहित है और वह धर्मान्तराय रूप क्रिया भी मुनिके शुभ ध्यानके विच्छेद होनेसे और अर्श छेदनके अनुमोदन करनेसे लगती है अन्यथा नहीं ।

यहां टीकाकार भगवतीके उक्त पाठ का अभिप्राय बतलाते हुए लिखते हैं कि जो वैद्य धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करता है उसको शुभ क्रिया यानी पुण्यकी क्रिया लगती है तब फिर सुभद्रा सतीने धर्म बुद्धिसे जो जिन कल्पी मुनिकी आंखसे तिनका निकाला था उसमें सुभद्रा सतीको पाप कैसे हो सकता है ? तथा आगमें जलते हुए

साधुकी बांह पकड़कर धर्म बुद्धिसे बाहर करने वाले दयालु गृहस्थको तथा साधुकी गले की फांसी काटने वाले धार्मिक दयालु पुरुषको पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये। यदि इन कार्य्योंमें पाप होता तो फिर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले वैद्यको भगवती सूत्रके उक्त पाठमें तथा उसकी टीकामें शुभ क्रिया (पुण्य बन्ध) होना क्यों कहा जाता ? अतः भगवतीके पूर्वोक्त पाठ और उसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके गलेकी फांसी काटना तथा आगमें जलते हुए साधुकी बांह पकड़कर उसको बाहर निकालना, मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी शारीरिक सहायता से प्राण रक्षा करना, धार्मिक गृहस्थोंके लिये पापका कार्य्य नहीं है किन्तु धर्मका कार्य्य है। अतः भीषणजीने, सुभद्रा सतीको जिन कल्पी मुनिकी आंखसे तिनका निकालनेसे जो पापिनी कहा है तथा जीतमलजीने जो साधुके गलेकी फांसी काटने वाले और आगमें जलते हुए साधुको बाहर निकालने वाले दयालु गृहस्थोंको पाप कर्म करने वाला बतलाया है यह इन लोगोंकी प्ररूपणा नितान्त शास्त्र विरुद्ध समझनी चाहिये।

(बोल १० वां)

(प्रेरक)

आपने भगवती सूत्रके मूलपाठ और उसकी टीकासे यह सिद्ध कर दिया कि जो वैद्य साधुकी नासिकामें लटके हुए अर्शको धर्म बुद्धिसे काटता है उसको शुभ क्रिया लगती है परन्तु भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७० के ऊपर निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ३१ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"अथ इहां कह्यो—साधु अन्य तीर्थी तथा गृहस्थ पासे अर्श छेदावे तथा कोई अनेरा साधुरी अर्श छेदताने अनुमोदे तो मासिक प्रायश्चित्त आवे। अर्श छेद्या पुण्यनी क्रिया होवे तो ए अर्श छेदन वालांने अनुमोदे तो दण्ड क्यूं कह्यो ? पुण्यरी करणी तो निरवद्य छै। निरवद्य करणी अनुमोद्यां तो दुण्ड आवे नहीं। दण्ड तो पापरी करणी अनुमोद्यां थीज आवे" इत्यादि। (भ्र० पृ० २७०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रको उक्त पाठ देकर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है—

"जे भिक्खू अण्ण उत्थिएणवा गारत्थिएणवा अप्पाणो कायंसि गंडंवा पलियंवा अरियंवा असियंवा भगंदलंवा अण्णयरे-

णंवा तिक्खेण सत्थजाएणवा आच्छिंदेइ विच्छिदेइ आच्छिंदंतं विच्छिंदंतंवा साइज्जइ"

(निशीथ १५ उ० बोल ३१)

-अथ :—

जो कोई साधु अन्य यूथिकसे अथवा गृहस्थसे अपने शरीरके गंडमालादिक, मेह, फोड़ा, अर्श भगन्दर, इनको किसी तीक्ष्ण शस्त्र जातिसे छेदावे तथा विशेष रूपसे छेदावे अथवा इनका छेदन कराने वाले साधुकी अनुमोदना करे तो उसको प्रायश्चित्त आता है।

यहां निशीथ सूत्रके मूल पाठमें अन्य यूथिक और गृहस्थके द्वारा अर्श छेदन कराने वाले और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है इस लिये कोई साधु यदि गृहस्थसे अर्शका छेदन करावे तथा छेदन कराते हुए साधुको भला जाने तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे उक्त साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त आना इस पाठमें नहीं कहा है क्योंकि भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ३ के मूल पाठमें और उसकी टीकामें जब कि धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको शुभ क्रिया कही है तब उसके विरुद्ध यहां उक्त गृहस्थको पाप कैसे कहा जा सकता है। यद्यपि भ्रम विध्वंसनकार इस विषयमें यह तर्क करते हैं कि "साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको यदि पुण्यकी क्रिया होती है तो फिर उसका अनुमोदन करने से साधुको प्रायश्चित्त कैसे आता है" परन्तु उनका यह तर्क भी अज्ञान सूचक है। उक्त निशीथके मूलपाठमें अर्श छेदन करने वाले गृहस्थकें कार्य्यका अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आना नहीं कहा है किन्तु गृहस्थके द्वारा अर्श छेदन कराते हुए साधुके कार्य्यका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त आना कहा है। इसलिये अनुमोदनका नाम लेकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको पापकी स्थापना करना मिथ्या है।

यदि कोई कहे "कि गृहस्थसे अर्श कटाने वाले साधुको यदि पाप लगता है तो साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको पुण्य कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे गृहस्थके द्वारा सत्कार सम्मान और पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा रखना उत्तराध्ययन सूत्रके अन्दर साधु को वर्जित की गयी है परन्तु श्रावक यदि साधुकी पूजा प्रतिष्ठा बन्दना सत्कार करे तो उसका निषेध नहीं है किंतु वह धर्म का कार्य्य है। इसी तरह साधु यदि गृहस्थसे अर्शछेदन करावे अथवा कराते हुए साधुको अच्छा जाने तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थ को पायश्चित्त नहीं आता।

उत्तराध्ययन सूत्रकी मूलगाथा यह है—

"नोसक्किय मिच्छई नपूअं नोविय वंदणगं कुओ पसंसं"

(उत्तरा० अ० १५)

अर्थ:—

"साधु अपनी पूजा और सत्कारकी इच्छा नहीं करे तथा वन्दन और प्रशंसा की चाहना भी न करे।"

परन्तु श्रावक लोग साधुकी पूजा सत्कार वन्दन और प्रशंसा करते हैं और उक्त कार्य्योंसे श्रावकोंको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। उसी तरह साधु यदि किसी गृहस्थसे अर्श कटवाना चाहें तो उसको पाप हो सकता है परन्तु अर्श काटनेवाले गृहस्थ को पाप नहीं हो सकता है बलिक धर्म बुद्धिसे काटने पर धर्म ही होता है। तथापि साधु, गृहस्थसे अर्श कटवाना नहीं चाहते, यह देख कर साधुके अर्श काटनेसे गृहस्थको पाप होना यदि कोई हठी कहे तो फिर साधुकी वन्दना पूजा सत्कार सम्मान करनेवाले श्रावक को भी उसके हिसावसे पाप ही होना चाहिये क्योंकि साधु गृहस्थसे पूजा प्रतिष्ठा वन्दना नमस्कार आदिकी भी चाहना नहीं रखता। अतः निशीथ सूत्रका मन-माना तात्पर्य्य बतला कर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले वैद्य को पाप होने की स्थापना करना एकमात्र अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० २७० के ऊपर आचारांग सूत्र अध्ययन १३ श्रुत० २ रे का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ ईहां कह्यो जे साधुरे व्रण ते गुमडो फुणसी आदिक तेहने कोई पर अनेरो गृहस्थ शस्त्रे करी छेदे तो तेहने मनकरी अनुमोदे नहीं। अने वचन करी तथा काया ईं करी करावे नहीं। जे कार्य्य साधु मन करी अनुमोदना ई न करे ते कार्य्य करणवाला ने धर्म किम हुवे। इत्यादि।

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

जैसे उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १५ की गाथामें अपनी पूजा प्रतिष्ठा, सत्कार सम्मान की चाहना करना साधुके लिये वर्जित की है परन्तु गृहस्थ यदि साधुकी पूजा

प्रतिष्ठा आदि करे तो उसको पाप नहीं कहा है। उसी तरह आचारांग सूत्रके इस पाठ में भी गृहस्थके द्वारा अपने फोडे आदिको छेदन करानेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गयी है परन्तु गृहस्थको साधुके फोडे आदिका छेदन करना वर्जित नहीं है। इस लिये धम बुद्धिसे गृहस्थ यदि साधुका व्रणको काटे तो उसको एकान्त पाप नहीं हो सकता क्योंकि जैसे साधु गृहस्थके द्वारा अपनी पूजा प्रतिष्ठा कराने की इच्छा नहीं करता पर गृहस्थ साधुकी पूजा प्रतिष्ठा करता है और उस गृहस्थको उस कार्य्यसे पाप नहीं होता धर्म होता है उसी तरह साधु, गृहस्थसे अपने फोडे आदिका छेदन कराना नहीं चाहता यदि चाहे तो पाप होगा परन्तु गृहस्थ यदि धर्म बुद्धिसे साधुका व्रण छेदन करे तो उसको एकान्त पाप नहीं हो सकता।

देखिये आचारांग सूत्रका वह पाठ यह है—

"सिया से परो कायंसि वणं अण्णपरेण सत्थ जाएणं आच्छिंदेज्जवा विच्छिंदेज्जवा णो तं सातिए णो तं णियमे"

(आचारांग अ० १५ श्रु० २)

अर्थः—

अर्थात् कदाचित् साधुके शरीरमें व्रण उत्पन्न हुआ देख कर गृहस्थ यदि उसका छेदन करे तो साधु उसकी इच्छा न करे। और छेदन न करावे।

यहां साधुको गृहस्थसे फोडे आदिके छेदन करानेकी इच्छा करना वर्जित की गई है। परन्तु गृहस्थको साधुका व्रण छेदन करना वर्जित नहीं किया है इसलिये इस पाठ का नाम लेकर साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको एकांत रूपसे पापी कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति वैयावृत्य प्रकरणं समाप्तम्)



अथ विनयाधिकारः।

---*---

(प्रेरक)

विनय किसे कहते हैं। और उसके भेद कितने होते हैं।

(प्ररूपक)

"विनीयते कर्मानेनेति विनयः। गुरुशुश्रूषा विनयः नीचैर्वृत्यनुत्सेके"

अर्थात् जिससे कर्मबन्ध निवृत्त होता है उसे विनय कहते हैं। तथा गुरुजन की सेवा शुश्रूषा करनेका नाम विनय है। एवं नम्रताको भी विनय कहते हैं।

यह सात प्रकार का होता है। इस विषयमें भगवती आदि सूत्रोंमें यह पाठ मिलता है।

"सत्तविहे विणए पण्णत्ते तंजहा—

णाण विणए, दंसण विणए, चारित्त विणए, मण विणए, वत्ति विणए, काय विणए, लोगोवयार विणए"

(ठाणाङ्ग ठाणा ७—भगवती शतक १५ उ० ७)

अर्थः—

अर्थात् विनय सात प्रकारके होते हैं।

(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, (४) मनो विनय, (५) वचन विनय, (६) काय विनय, (७) लोकोपचार विनय।

इनमें दर्शन विनयके विषयमें टीकाकारने यह लिखा है कि—

"दर्शनं सम्यक्त्वं तदेव विनयो दर्शन विनयः। दर्शनस्यवा तदव्यतिरेकाद्दर्शन गुणाधिकानां शुश्रूषाऽनासातनारूपो विनयो दर्शन विनयः। उक्तञ्च—"सुस्सुसणा अणासायणा य विणओउ दंसणे दुविहो दंसण गुणाहिएसु कज्जइ सुस्सुसणा विणओ। सक्कारा ब्भुट्ठाणे सम्माणासण अभिग्गहो तहय। आसणमणुप्पयाणं कीकम्मं अंजलि गहोय। इंतस्सणु गच्छणया ठियस्सतह पज्जुवासणा भणिया। गच्छंताणुव्वयणं एसो सुस्सुणा विणओ"

अर्थात् दर्शन नाम सम्यक्त्वका है और तद्रूप जो विनय है उसे दर्शन विनय कहते हैं। अथवा गुण और गुणीके अभेदसे दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुषकी शुश्रूषा करना, तथा उनको असातना नहीं देना दर्शन विनय कहलाता है। कहा भी है—

दर्शन विनयके दो भेद होते हैं। शुश्रूषा विनय, और असातना विनय।

दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुषों की शुश्रूषा विनय करना चाहिये। शुश्रूषा विनय ये हैं—

सत्कार करना, सम्मुख खडा होना, सम्मान करना, सम्मुख जाना, आसन देना, वन्दन करना, हाथ जोड़ना, आते हुए गुरुजनके सामने जाना, बैठे हुए की सेवा करना और जाते हुएके पोछे जाना। यह शुश्रूषा विनय कहलाता है।

इसी तरह भगवती शतक १४ उद्देशा ३ के मूलपाठमें शुश्रूषा विनयके भेद बतलाये हैं वह पाठ यह है।

"सक्कारेइवा सम्माणेइवा कीकम्मेइवा अब्भुट्ठाणेइवा अंजलिप्पग्गहेइवा। आसणाभिग्गहेइवा असणाणुप्पदाणेइवा इंतस्स पज्जुगच्छणया ठियस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्सपडिसंहाणत्ता"

(भ० श० १४ उ० ३)

(इस पाठकी टीका)

सत्कारो विनयार्हेषु वंदनादिना आदर करणम् प्रवर वस्त्रादि दानञ्च "सक्कारो पवरवत्थादिहिं" इति वचनात्। सम्मानस्तथाविधप्रतिपत्तिकरणम् [कृतिकर्म वंदनं कार्य्यं करणञ्च। अभ्युत्थानं गौरवार्ह दर्शने विष्टरत्यागः। अंजलिप्रग्रहः अंजलि करणम्। आसनाभिग्रहः तिष्ठत एव गौरव्यस्यासनानयनपूर्वक मुपविशतेति भणनम्। गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानांतरसंचारणम्। आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमनं तिष्ठतो गौरव्यस्यसेवेति। गच्छतोऽनुगमनमिति।

अर्थः—

विनय करने योग्य पुरुषका वंदन आदिके द्वारा आदर करना और उसको उत्तमोत्तम वस्त्रादिका प्रदान करना सत्कार विनय कहलाता है।

श्रेष्ठ पुरुषको स्वरूपानुरूप गौरव देना सम्मान विनय है।

श्रेष्ठ पुरुष को वन्दन करना और उसका कार्य्य करना कृति कर्म कहलाता है।

गौरव के योग्य पुरुष को देख कर आसन छोड़ खड़ा हो जाना अभ्युत्थान विनय है।

गौरव के योग्य पुरुष को हाथ जोड़ना "अंजलि प्रग्रह" कहलाता है।

खड़े हुए गौरव योग्य पुरुषको आसन देकर बैठनेके लिये कहना आसनाभिग्रह कहलाता है। गौरव योग्य पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार दूसरी जगह रखना

आसनानुप्रदान कहलाता है। इसी तरह आते हुए गौरव योग्य पुरुषके सम्मुख जाना और बैठे हुए की सेवा करना, और जाते हुएके पीछे जाना ये सब शुश्रूषा विनय कहलाते हैं। यह टीकाका अर्थ है :—

दर्शन विनयके अधिकारी सम्यग्दृष्टि, साधु और श्रावक सभी लोग होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और श्रावक अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावककी, तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी तथा कनिष्ठ साधु अपनेसे अधिक गुण वाले साधुकी जो शुश्रूषा करते हैं वह उनका दर्शन विनय समझा जाता है। यह दर्शन विनय निर्जराके भेदमें गिना गया है। इस लिये दर्शन विनय करना निर्जराका हेतु समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावकका दर्शन विनय करना श्रावकके लिये निर्जरा का हेतु आप बतलाते हैं पर किसी श्रावकने किसी श्रावकका दर्शन विनय किया हो ऐसा उदाहरण कोई मूलपाठसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ११ उद्देशा १२ के मूल पाठमें श्रावकोंका श्रावकसे विनय करनेका स्पष्ट कथन है। वह पाठ यह है—

"तएणं ते समणो वासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिआओ एयमट्ठं सोच्चाणिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वन्दित्ता जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता इसिभद्दपुत्तं समणोवासयं वंदंति णमंसंति एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति"

(भ० श० ११ उ० १२)

अर्थ :—

इसके अनन्तर वे श्रावक श्रमण भगवान् महावीर स्वामीसे इस बातको सुन कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामीको वन्दना नमस्कार करके ऋषिभद्र पुत्र श्रावकके पास गये वहां जाकर ऋषिभद्र पुत्र श्रावकको वन्दना नमस्कार करके उनकी सच्ची बात नहीं मानने रूप अपराधके लिये विनयके साथ बार बार क्षमा प्रार्थना की।

इस पाठमें श्रावकोंका श्रावकसे विनय किया जाना स्पष्ट कहा गया है इस लिये अपनेसे उत्कृष्ट गुण वाले श्रावकोंका विनय करना श्रावकके लिये निर्जराका हेतु समझना चाहिये ।

इसी तरह भगवतीसूत्र शतक १२ उद्देशा १ के मूलपाठमें उपला श्राविकासे पोखलि श्रावकको दर्शन विनय किये जानेका उल्लेख है । वह पाठ यह है—

"तएणं साउपला समणोवासिया पोखलिं समणोवासयं एज्जमाणं पासइ पासइत्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठइत्ता सत्तट्ठपयाहिं अणुगच्छइ अणुगच्छइत्ता पोक्खलिं समणोवासयं वंदइणमंसइ णमंसइत्ता आसणेणं उवनिमंत्तइत्ता एवं वयासी"

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ :—

उत्पला नामक श्राविकाने पोखलि नामक श्रमणोपासकको आते हुए देख कर हृष्टतुष्ट हो अपने आसन से उठ कर सात आठ पैर तक उनके सामने जाकर उक्त श्रावकको वन्दना नमस्कार करके आसन पर बैठनेकी प्रार्थना करके इस प्रकार कहा ।

इसी तरह पोखली श्रावकने शंख श्रावकको वन्दना नमस्कार किया था । वह पाठ यह है—

"तएणं से पोखली समणोवासए जेणेव पोसहसालाए जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइत्ता गमणा गमणाए पडिक्कमइत्ता संखं समणोवासयं वन्दइ नमंसइत्ता एवं वयासी"

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ :—

इसके अनन्तर पुष्कली श्रावकने पौषध शालामें शंख श्रावकके पास जाकर इर्य्यापथिक प्रतिक्रमण करके शंख श्रावकको वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा ।

इस पाठमें भी पुष्कली श्रावकसे शंख श्रावकके वन्दन नमस्कार करनेका स्पष्ट उल्लेख किया है । यह सब श्रावकके प्रति श्रावकके शुश्रूषा विनयका उदाहरण समझना चाहिये ।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

आपने शास्त्रके प्रमाणसे यह सिद्ध कर दिया कि अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावकोंको श्रावक लोग वन्दन नमस्कार आदि करते हैं और वह उनका श्रावकके प्रति शुश्रूषा विनय है अतः वह निर्जराका हेतु है परन्तु जीतमलजी और भीषणजी एक मात्र साधुकेही शुश्रूषा विनयको, निर्जराके हेतु बतलाते हैं श्रावकके शुश्रूषा विनयको निर्जराका हेतु नहीं मानते। भीषणजीने स्वरचित ढालमें कहा है "दर्शन विनयरा दोय भेद छै। शुश्रूषाने अणअसातना तेहजी। शुश्रूषा तो बड़ा साधुरी करणी त्यांने वन्दना करणी शीश नामजी" (निर्जरा प्रकरण भीषणजीकी ढाल) तथा जीतमलजीने भ्रम० के २७३ पृष्ठ पर लिखा है कि "केई पाखण्डी श्रावकरो सावद्य विनय कियां धर्म कहे छ। विनय मूल धर्मरो नाम लेइ श्रावकरी शुश्रूषा विनय करवो थापे" इत्यादि (भ्र० पृ० २७३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भीषणजीका और जीतमलजीका श्रावकके प्रति श्रावकके शुश्रूषा विनयको सावद्य बताना शास्त्र विरुद्ध और अप्रमाणिक है। हमने इसी पूर्व प्रकरणके बोलमें भगवती सूत्रकी कई साक्षियां देकर श्रावकोंके विनयका प्रमाण बतलाया है। यदि भीषणजी और जीतमलजी के सिद्धान्तानुसार श्रावकके प्रति श्रावकका विनय करना सावद्य होता तो फिर भगवान् महावीर स्वामीकी मौजूदगीमें उनके समवसरणमें ही श्रावक लोग ऋषिभद्र पुत्र श्रावकका विनय क्यों करते ? और उसे भगवान् सावद्य कहकर क्यों नहीं रोकते ? अतः श्रावकके प्रति श्रावकके विनयको सावद्य कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २७६ के ऊपर लिखते हैं—

"सामायक पोषामें सावद्य रा त्याग छै। ते सामायक पोषामें श्रावक मांहो माही नमस्कार करे नहीं। ते मांटे ये विनय सावद्य छै। वली पोखलीने उत्पला नमस्कार कियो। ते पिण आवतां कियो। अने पोखली जातां वन्दना नमस्कार न कियो। जे धर्म हेते नमस्कार कीधी हुवे तो जातां पिण करता। वली शंखनो विनय पोखली कियो। ते पिण आवतां कियो पिण पाछा जावता विणय कियो चाल्यो न थी। इण न्याय संसार हेते विणय कियो पिण धर्म हेते न थी। जिम साधुनों विनय करे ते श्रावक आवतां पिण करे अने पाछां जावता पिण करे तिम पोखलीनो विनय उत्पला पाछां जावतां न

कियो । तथा पोखली पिण शंखकनाथी पाछां जाता विनय न कियो । ते मांटे संसारनो रीते ए विनय कियो छै ।" (भ्र० पृ० २७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीसूत्रके मूलपाठमें यद्यपि पोखलीश्रावकको जाते समय उत्पलाका नमस्कार करना, तथा शंखके पाससे जाते समय शंखको पोखलीका नमस्कार करना लिखा हुआ नहीं है तथापि नहीं लिखनेसे यह नहीं निश्चय किया जा सकता कि उत्पलाने जाते समय पोखलीको, और पोखलीने जाते समय शंखको नमस्कार नहीं किये थे, क्योंकि उपासक दशांगसूत्रमें गोतमस्वामीको आतेसमयमेंही आनंदश्रावकसे नमस्कार किये जानेका उल्लेख है जाते समय नमस्कार करनेका कथन नहीं चला है तथा रेवती धर्मपत्नी श्राविकाके सीह अनगारको आते समयमें ही नमस्कार करनेका उल्लेख है ,जाते समयका उल्लेख नहीं है इस लिये जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आनन्द श्रावकने जाते समय गोतम स्वामीको नमस्कार नहीं किये थे तथा रेवती श्राविकाने जाते समय सीह अनगारको वन्दन नमस्कार नहीं किये थे उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि उत्पलाने जाते समय पोखलीको और पोखलीने विदा होते समय शंखको वन्दन नमस्कार नहीं किये थे। अतः जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होनेसे उत्पलाने जाते समयमें पोखलीको और पोखलीने जुदा होते समय शंखको नमस्कार नहीं किये थे यह निश्चय करना भ्रमविध्वंसनकारका निर्मूल है।

जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होने पर भी जैसे यह कहा जा सकता है कि आनन्द श्रावकने गोतम स्वामीको और रेवती श्राविकाने सीह अनगारको जाते समय भी वन्दना नमस्कार किये होंगे उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि उत्पलाने पोखलीको और पोखलीने शंखको जाते समय भी वन्दन नमस्कार किये होंगे। अस्तु—भ्रमविध्वंसनकारके अनुयायियोंसे पूछना चाहिये कि उत्पला श्राविकाने आते समय पोखलीको और पोखलीने शंखके पास जाते समय जो शंखको वन्दना नमस्कार किये थे यह लौकिक रीतिके पालनार्थ किये थे धर्मके निमित्त नहीं इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि मूल पाठमें जैसे साधुके वन्दन नमस्कारका उल्लेख पाया जाता है उसी तरह पोखली और शंखके भी वन्दना नमस्कारका उल्लेख है वहां यह नहीं कहा है कि साधु वन्दन तो धर्मार्थ है और श्रावककी वन्दना लौकिक रीति पालनार्थ है। ऐसी दशा में तुमने यह निर्णय किस आधार से कर लिया है कि 'उत्पलाने पोखलीको और पोखलीने शंखको जो वन्दन नमस्कार किये थे वह लौकिक रीति पालनार्थ किये थे

धर्म्मार्थ नहीं" शास्त्रके अन्दर कहीं भी अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध नहीं है प्रत्युत श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन करनेकी शास्त्रमें प्रशंसा की गई है। अतः अधिक गुणवान श्रावक के प्रति श्रावक के विनय को सावद्य कायम करना अज्ञान है।

यदि सभी शुश्रूषा विनय साधुका ही किया जाना धर्मका हेतु है तो फिर श्रावक लोग कृतिकर्म, असनानुप्रदान, और आसनाभिग्रहरूप विनय किसका करें ? कृतिकर्मका अर्थ है अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषका कार्य्य करना परन्तु साधु लोग किसी गृहस्थ से अपना कार्य्य नहीं कराते फिर यह विनय श्रावक किस का करें ? यह भ्रमविध्वंसनकारके शिष्योंसे पूछना चाहिये।

अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार अन्यत्र रखना आसनानुप्रदान विनय है और अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषको बैठनेके लिये आसन देना आसनाभिग्रह रूप विनय है परन्तु साधु लोग गृहस्थ से अपना आसन अन्यत्र नहीं रखवाते और गृहस्थ के दिये हुए आसन पर बैठते भी नहीं हैं। ऐसी दशामें श्रावक इन विनयों का व्यवहार किसके साथ करे ? यह भी भ्रमविध्वंसनकारके अनुयायियोंसे पूछना चाहिये। लाचार होकर उन्हें यह कहना ही होगा कि ये विनय श्रावकोंके साथ ही श्रावक करते हैं परन्तु साधुके साथ नहीं।

कदाचित् कोई यह कहे कि "उक्त सभी शुश्रूषा विनय श्रावकोंके नहीं हैं इसलिये श्रावक को यदि कृति कर्म, आसनानुप्रदान, तथा आसनाभिग्रह रूप विनय करने का प्रसङ्ग नहीं आता तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि भगवती सूत्र शतक १४ उद्देशा ३ में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह रूप विनयको छोड़ कर शेष सभी विनयोंका सद्भाव तिर्य्यंच श्रावकोंमें भी बतलाया है और मनुष्य श्रावकों में तो सभी विनयोंका सद्भाव कहा है। अतः मनुष्य श्रावकोंमें सभी शुश्रूषा विनयों का सद्भाव नहीं मानना शास्त्र से विरुद्ध है। श्रावक लोग अपनेसे श्रेष्ठ श्रावक के जो कार्य्य कर देते हैं वह उनका कृतिकर्म रूप विनय है और उनके आसनको उनकी इच्छानुसार अलग रखना आसनानुप्रदान रूप विनय है और उन्हें बैठनेको आसन देना आसनाभिग्रहरूप विनय है। यह निर्जराका हेतु है। इसे पाप कहना उत्सूत्रभाषियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

भगवती सूत्र शतक १४ उद्देशा ३ में मनुष्य श्रावकोंमें सभी विनयों का और तिर्य्यंच पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी विनयोंका सद्भाव बतलाया है वह पाठ यह है—

"अत्थिणं भंते ! पंचिन्दिय तिरिक्ख जोणियाणं सक्कारेइवा जाव पडिसंसाहणया ?

हंता ! अत्थि णो चेवणं आसणा भिग्गहेइवा आसणाणुप्पदाणेइवा । मणुस्साणं जाव वेमाणियाणं जहा असुर कुमाराणं"

(भ० श० १४ उ० ३)

अर्थः—

हे भगवन् तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें सत्कार आदि शुश्रूषा विनयका सद्भाव होता है ?

हां गोतम ! होता है। आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह को छोड़ कर सभी शुश्रूषा विनय तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंके भी होते हैं। तथा मनुष्य यावत् वैमानिक देवोंके असुर कुमारकी तरह सभी शुश्रूषा विनय होते हैं।

इस पाठमें मनुष्य श्रावकोंमें सभी विनयोंका सद्भाव कहा है और तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी विनय कहे हैं। तिर्य्यंच पञ्चेन्द्रिय श्रावक अढाई द्वीपसे बाहर भी रहते हैं, जहां साधुओं का गमनागमन नहीं होता फिर वह शुश्रूषा विनय किसका करते हैं यह भ्रमविध्वंसनकार के मतावलम्बियोंसे पूछना चाहिये। लाचार होकर उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यंच पञ्चेन्द्रिय श्रावक जो अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकका सत्कार सम्मान आदि करते हैं वह उनका शुश्रूषा विनय है। अतः श्रावकके प्रति श्रावकके शुश्रूषा विनयको सावद्य कायम करना अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि "श्रावकको वन्दना नमस्कार करना सावद्य नहीं है तो सामायकके अन्दर बैठा हुआ श्रावक किसी श्रावकको वन्दना नमस्कार क्यों नहीं करता।" तो इसका उत्तर यह है कि सामायकके अन्दर बैठा हुआ श्रावक सामायक और पोषा में नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ होता है और श्रेष्ठ अपने से कनिष्ठ को नमस्कार नहीं करता इसलिये सामायक और पोषामें बैठा हुआ श्रावक सामायक और पोषा में नहीं बैठे हुए श्रावकको वन्दन नमस्कार नहीं करता परन्तु वह उसके वन्दन नमस्कार को सावद्य नहीं समझता। जैसे बड़ा साधु छोटे साधुको वन्दन नमस्कार नहीं करता तथा जिन कल्पी साधु स्थविर कल्पीको वन्दना नमस्कार नहीं करता एवं पुरुष साधु स्त्री साध्वीको वन्दना नमस्कार नहीं करता क्योंकि ये उनसे बड़े हैं परन्तु यदि कोई दूसरा

पूर्वोक्त मुनियोंको वन्दन नमस्कार करे तो उसे वे सावद्य नहीं जानते उसी तरह सामायकमें बैठा हुआ श्रावक श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे श्रावकको वन्दन नमस्कार नहीं करता परन्तु उसके वन्दन नमस्कारको सावद्य नहीं जानता। अन्यथा बड़ा साधु छोटे साधुको और जिनकल्पी, स्थविर कल्पी को एवं पुरुष साधु स्त्री साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं करते इसलिए छोटे साधु तथा स्थविर कल्पी साधु और स्त्री साध्वीके वन्दन नमस्कार को भी सावद्य मानना पड़ेगा।

यदि छोटे साधुको और स्थविर कल्पी साधुको तथा स्त्री साध्वीको क्रमशः बड़े साधु तथा जिनकल्पी साधु और पुरुष साधुसे वन्दन नमस्कार नहीं किये जाने पर भी उनका वन्दन नमस्कार सावद्य नहीं है तो उसी तरह सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकसे श्रावकको वन्दन नमस्कार नहीं किये जाने पर भी श्रावक का वन्दन नमस्कार सावद्य नहीं है। अतः श्रावकके वंदन नमस्कारको सावद्य बतलाना एकांत मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

अम्बड सन्यासीके शिष्योंने संथाराग्रहण करते समय अम्बडजीको वन्दन नमस्कार किया था। उस वन्दन नमस्कारको सावद्य सिद्ध करते हुए भ्रमविध्वंसनकार लिखते हैं कि—

"अथ इहां चेला कह्यो नमस्कारथावो म्हारा धर्माचार्य्यं धर्मोपदेशकनें इहां अम्बड परिव्राजकने नमस्कार थावो एहवूं कह्यो। अम्बड श्रमणोपासकने नमस्कार थावो इम न कह्यो। ए श्रमणोपासक पद छांडि परिव्राजक पद ग्रहण करी नमस्कार कीधो ते मांटे परिव्राजकना धर्मनी आचार्य्य अने परिव्राजकना धर्मनो उपदेशक छै। तिणने आगे पिण वन्दना नमस्कार करता हुन्ता। पछे जिण धर्म तिणकने पाम्या। पिण आगलो गुरुपणो मिट्यो नहीं। ते मांटे सन्यासी धर्मरो उपदेशक कह्यो छै।"

इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि—

आचार्य्यांना ३६ गुण कह्या छै अने अम्बड में तो ते गुण पावे नहीं आचार्य्य पद तो पांचपदां मांहि छै। अने अम्बड तो पांचपदा माहीं नहीं छै। (भ्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

अम्बडजीके शिष्योंने संथारा ग्रहण करते समय अरिहंत सिद्ध, और महावीर स्वामीके नमस्कारके साथ ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया था. उन्होंने अरिहंत,

सिद्ध, और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो मोक्षार्थ किया हो और अम्बडजी को नमस्कार मोक्षार्थ नहीं किया हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस पाठमें साफ साफ लिखा है कि जिस अम्बडजीसे हम लोगोंने यावज्जीवन के लिये बारह व्रतको धारण किया है उनको नमस्कार है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अम्बडजी के शिष्योंने अम्बडजीको बारह व्रत धारण करानेका उपकार मानकर ही वन्दन नमस्कार किया है पर दूसरे किसी कारणसे नहीं। अतः इस दाखले से बारह व्रत धारण करानेवाला अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन नमस्कार करना धर्मका कारण सिद्ध होता है सावद्य सिद्ध नहीं होता वह पाठ यह है।

"अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणंति। अण्णमण्णस्स अन्तिए पडिसुणित्ता तिदण्डएय जाव एगंते एडेइ २ गंगं महाणइं ओगाहेंति २त्ता वालुआ संथारए संथरंति। वालुयासंथारयं दुरुहिंति वा २त्ता पुरत्थाभिमुहा संपलियंक निसन्ना करयल जाव कट्टु एवं वयासी नमोऽत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थुणं अम्बडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स पुव्विणं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अन्तिए थूलग पाणाइवाए पच्चक्खाए जाव जीवाए थूलगे मुसावाए थूलगे अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जाव जीवाए थूलगे परिग्गहे पच्चक्खाए".

(उववाई सूत्र प्रश्न १३)

अर्थ:—

अम्बडजीके शिष्योंने परस्पर पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करके संन्यासी वेषोचितसम्पूर्ण त्रिदण्ड आदिको एकांतस्थानमें रखकर गङ्गा नदीके तटपर जाकर वहां बालुकामय संथारा बनाया। उस पर स्थित होकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पर्य्यंकासन जमाकर हाथ जोड़ कहने लगे कि—नमस्कार हो अरिहंतोको यावत् मोक्षमें पहुंचे हुए सिद्धोंको तथा नमस्कार हो भगवान् महावीर स्वामीको जो मोक्षमें जानेकी इच्छा रखते हैं। हमारे धर्माचार्य्य धर्मोपदेशक अम्बडजीको नमस्कार हो जिनसे हमने स्थूलहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्ता दान, सब प्रकारका मैथुन और स्थूल परिग्रहको यावज्जीवनके लिये परित्याग किया है।"

यहां अम्बडजीके शिष्योंने संथारा ग्रहण करते समय अरिहंत, सिद्ध, और भगवान् महावीर स्वामीके समान ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया है। यदि अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको नमस्कार करना पाप होता तो वे अम्बडजीको नमस्कार क्यों करते?

यदि कहो कि "अरिहंत, सिद्ध और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो उन्होंने मोक्षार्थ किया और अम्वडजीको लोक रीतिके अनुसार किया" तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है बल्कि अरिहंत सिद्ध और महावीर स्वामीके साथ ही अम्बडजीका पाठ आनेसे उनका नमस्कार भी मोक्षार्थ ही सिद्ध होता है लौकिक रीतिके पालनार्थ नहीं।

तथा अम्बडजीके शिष्य उस समय संथारा पर बैठे हुए थे वहां लौकिक रीतिके पालनका प्रसंग नहीं था। उस समय लोकोत्तर रीतिके पालनका प्रसंग था तदनुसार ही उन्होंने अरिहंत सिद्ध और भगवान् महावीरको तथा अम्बड़जीको भी नमस्कार किया था। अतः अरिहंत आदिके नमस्कारको धर्मका अंग मानना और अम्बडजीके नमस्कारको धर्मसे बाहर कायम करना अज्ञान है।

इस पाठमें अम्बडजीके लिये परिव्राजक पदका प्रयोग देख कर सन्यास धर्मके नातेसे अम्बडजीको नमस्कार करनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि इस पाठमें साफ साफ शिष्योंने कहा है कि जिनके पास हमने स्थूल प्राणातिपात यावत् स्थूल परिग्रहका प्रत्याख्यान किया था उस अम्बडजीको नमस्कार है। यदि सन्यास धर्मके सम्बन्धसे शिष्योंने नमस्कार किया होता तो यहां वे प्राणातिपात आदिके प्रत्याख्यानका उपकार क्यों बतलाते बल्कि यह कहते कि जिस अम्बडजीसे हमने सन्यास धर्म ग्रहण किया था उनको मेरा नमस्कार हो। यहां मूल पाठमें साफ साफ बारह व्रत धारण करानेका उपकार मान कर ही अम्बडजीको शिष्योंके द्वारा नमस्कार किये जानेका कथन है परन्तु सन्यास धर्मका उपदेशक गुरु मानकर अम्बडजीको नमस्कार करनेका कथन नहीं है। अतः इस पाठमें अम्बडजीके लिये परिव्राजक पदका प्रयोग देख कर सन्यास धर्मके सम्बन्धानुसार उनके शिष्योंका नमस्कार बतलाना अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि "अम्बडजीके शिष्योंने सन्यास धर्मके सम्बन्धानुसार यदि अम्बडजीको नमस्कार नहीं किया था तो यहां मूल पाठमें उन्होंने अम्बडजीके लिये श्रमणोपासक ऐसा विशेषण क्यों नहीं लगाया ?" तो इसका उत्तर यह है कि "जिन" धर्मका महत्व प्रकट करनेके लिये शास्त्रमें जगह जगह अम्बडजीके लिये "श्रमणोपासक" यह विशेषण नहीं लगाकर परिव्राजक यह विशेषण ही लगाया है तदनुसार यहां भी श्रमणोपासक ऐसा नहीं कह कर परिव्राजक ही कहा है क्योंकि इस विशेषणसे शीघ्र ही यह बात बुद्धिगोचर हो जाती है कि सन्यास धर्मकी अपेक्षासे श्रमणोपासकोंका धर्म भी श्रेष्ठ है अतएव अम्बडजीने सन्यास धर्मका परित्याग करके श्रावक धर्मको स्वीकार किया था अन्यथा शास्त्रमें जो अम्बडजीके लिये परिव्राजक पद दिया है वह सर्वथा असंगत ठहरेगा क्योंकि जिस समय अम्बडजीके शिष्योंने संथारा पर बैठ कर अम्बड़

जीको परिव्राजक कहा है उस समय अम्वडजीने परिव्राजक कर्मको छोड़ दिया था वे परिव्राजक धर्मका आचरण उस समय नहीं करते थे फिर उन्हें परिव्राजक ऐसा विशेषण लगा कर कहनेका कोई दूसरा कारण नहीं है। जैसे कोई गृहस्थ गृहस्थाश्रमको छोड़ कर साधु हो जाता है तो उसे साधु हो जानेपर गृहस्थ ऐसा विशेषण लगाकर नहीं कहते क्योंकि उस समय उसने गृहस्थाश्रमको छोड़कर साधुता ग्रहण कर ली है। उसी तरह अम्वडजी सन्यास धर्मको छोड़कर उस समय श्रमणोपासक हो गये थे फिर उस समय उन्हें परिव्राजक ऐसा विशेषण लगा कर बतलाना उचित नहीं हो सकता। अतः यह मानना होगा कि जिन धर्मके पूर्वोक्त महत्वको प्रकट करनेके लिये ही मूलपाठमें अम्वड जीको श्रमणोपासक नहीं कह कर परिव्राजक कह कर बतलाया है। अतः अम्वडजीके लिये परिव्राजक पदका प्रयोग होनेसे परिव्राजक धर्मके सम्बन्धसे अम्वडजीको नमस्कार करनेकी प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

जिस समय श्रावक धर्मानुसार अम्वडजीके शिष्य संथारा ग्रहण कर रहे थे उस समय कुप्रावचनिक धर्मका उपकार मानकर कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यको वे किस प्रकार नमस्कार कर सकते थे यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये क्योंकि इस कार्य्यमें वही वन्दनीय पूजनीय हो सकता है जो इसका समर्थन करता हो परन्तु संथारा ग्रहण करनेको बुरा बतलाने वाला कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य संथारा ग्रहण करने वालोंको वन्दनीय और नमस्कार करने योग्य नहीं हो सकता है। इस लिये अम्वडजीके शिष्योंने बारह व्रत ग्रहण करानेका उपकार मान कर ही अम्वडजी को वन्दन नमस्कार किया था परिव्राजक धर्मका उपकार मानकर नहीं।

तथा जिसमें ३६ गुण विद्यमान हों वही धर्माचार्य्य होता है यह कोई नियम नहीं है क्योंकि ठाणांग सूत्रके अन्दर कई आचार्य्य ऐसे भी कहे हैं जिनमें ३६ गुण नहीं पाये जाते तथापि शास्त्र उन्हें धर्माचार्य्य बतलाता है।

वह पाठ यह है—

"पव्वायणायरिये नाम मेगे नो उवट्ठावणायरिए उवट्ठावणायरिए नाम मेगे नो पव्वायणायरिए। एगे पव्वायणायरिएवि उवट्ठावणायरिए वि। एगे नोपव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए धम्मायरिए"

"चत्तारि आयरिया पन्नत्ता तंजहा—उद्देसनायरिए नाम मेगे नो वायणायरिए धम्मा यरिए। चत्तारि अन्तेवासी पं० तं० पव्वाय-

णान्तेवासी नाम मेगेणो उवट्ठावणान्तेवासी धम्मंतेवासी। चत्तारि अन्तेवासी पं० तं० उद्देसणान्तेवासी धम्मंतेवासी नाम मेगे नो वायणान्तेवासी धम्मंतेवासी"

(ठाणांग ठाणा ४ उद्देशा ३)

अर्थ:—

आचार्य्य चार प्रकारके होते हैं। जो दीक्षा देते हैं परन्तु छेदोपस्थापन चारित्र नहीं देते। वे प्रव्राजनाचार्य्य कहलाते हैं जो छेदोपस्थापन चारित्र देते हैं पर दीक्षा नहीं देते वे उपस्थापनाचार्य्य कहलाते हैं जो दीक्षा तथा छेदोपस्थापन चारित्र दोनों ही देते हैं वे उभयाचार्य्य कहलाते हैं। तथा जो दीक्षा छेदोपस्थापन चारित्र नहीं देते किन्तु धर्मोपदेश मात्र देते हैं वे धर्माचार्य्य कहलाते हैं।

फिर दूसरी तरहसे आचार्य्य चार प्रकारके होते हैं। जो अङ्गोंको पढ़ने योग्य बना देते हैं परन्तु पढ़ाते नहीं हैं वह उद्देशनाचार्य्य कहलाते हैं जो अङ्गोंको पढ़नेके योग्य नहीं बनाते परन्तु अङ्गोंको पढ़ाते हैं वे वाचनाचार्य्य कहलाते हैं। जो पूर्वोक्त दोनों ही कार्य्य करते हैं वह उभयाचार्य्य कहलाते हैं। जो न अङ्गोंको पढ़ने योग्य बनाते हैं और न अङ्गोंको पढ़ाते ही हैं किन्तु धर्मका उपदेश देते हैं वे धर्माचार्य्य कहलाते हैं।

इसी प्रकार शिष्योंके भी चार भेद कहे हैं। जो एक आचार्यसे दीक्षा मात्र ग्रहण करता है पर उन्हींसे छेदोपस्थापन चारित्र नहीं ग्रहण करता वह प्रव्राजनान्तेवासी कहलाता है। जो छेदोपस्थापन चारित्रका ग्रहण किसी एकसे करता है परन्तु दीक्षा ग्रहण नहीं करता वह उपस्थापनान्तेवासी कहलाता है जो दोनों ही एक आचार्यसे ग्रहण करता है वह उसका उभयान्तेवासी कहलाता है। जो न तो किसी एक आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करता है और न छेदोपस्थापन चारित्र ग्रहण करता है किन्तु धर्मोपदेश मात्र लेता है वह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है।

फिर भी शिष्य चार प्रकारके होते हैं। जो जिससे अङ्गोंको पढ़नेकी योग्यता प्राप्त करता है परन्तु अङ्गोंको उससे पढ़ता नहीं वह उसका उद्देशनान्तेवासी कहलाता है जो जिससे अङ्गोंको पढ़ता है पर उनके पढ़नेकी योग्यता दूसरेसे प्राप्त किया होता है वह उसका वाचनान्तेवासी कहलाता है। जो दोनो ही कार्य्य एक ही आचार्यसे करता है वह उसका उभयान्तेवासी कहलाता है। जो जिससे न तो अङ्गोंके पढ़नेकी योग्यता ही प्राप्त करता है और न अङ्गोंको पढ़ता ही है किन्तु धर्मोपदेश मात्र लेता है वह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है।

यहां ठाणाङ्गके मूल पाठमें जो न तो दीक्षा देता है और न छेदोपस्थान चारित्र देता है तथा जो न तो अङ्गोंको पढ़ने योग्य ही बनाता है और न अङ्गोंको पढ़ाता ही है किन्तु धर्मका उपदेश मात्र करता है उसे धर्माचार्य कहा है। इसलिये जो

कोई मनुष्य धर्मोपदेश करता है वह धर्माचार्य होता है अतएव इस पाठकी टीकामें लिखा है कि

"आचार्य्य सूत्र चतुर्थ भंगे यो न प्रव्राजनया नचोत्थापनयाचार्य्यः सकः इत्याह धर्माचार्य्य इति प्रतिबोधक इत्यर्थः आहच धम्मो जेणुवइट्ठो सो धम्म गुरु गिहीव समणोवा कोवि तिहिं संपउत्तो दोहिवि एक्केक्कोणेव"

अर्थात् आचार्य्य सूत्रके चतुर्थभङ्गमें जो न दीक्षा देता है और न छेदोपस्थापन चारित्र ही देता है वह कौन है ? तो इसका उत्तर यह है कि वह धर्मका प्रतिबोध देने वाला पुरुष है। कहा भी है जिसने धर्मका उपदेश दिया है वह चाहे गृहस्थ हो या श्रमण हो वह धर्माचार्य्य कहलाता है। इनमें कोई तो दीक्षा, छेदोपस्थापन चारित्र और धर्म इन तीनोंके आचार्य्य होते हैं और कोई दो के आचार्य्य होते हैं और कोई एक एक के आचार्य्य होते हैं।

यहां टीकाकारने उक्त गाथा लिख कर स्पष्ट बतला दिया है कि जो धर्मोपदेश देता है वह चाहे श्रमण हो या गृहस्थ हो धर्माचार्य्य कहलाता है अम्बडजीने अपने शिष्योंको बारह व्रत रूप धर्मका उपदेश दिया था फिर वह उनके धर्माचार्य्य क्यों नहीं हो सकते ? अतएव मूलपाठमें अम्बडजीके शिष्योंने अम्बडजीको धर्माचार्य्य बतला कर उनसे बारह व्रत धारण करनेकी बात कही है इसलिये यह निःसंदेह सिद्ध होता है कि अम्बडजीके शिष्योंने उन्हें लोकोत्तर धर्मका आचार्य्य समझ कर ही नमस्कार किया था सन्यास धर्मका उपदेशक समझ कर नहीं।

बारह व्रत धारी श्रावक कुप्रवाचनिक धर्माचार्य्यको राजाभियोगादि छः कारणों के विना वन्दन नमस्कार नहीं करते जैसे कि शकडाल पुत्र पहले गोशालकका शिष्य था पश्चात् महावीर स्वामीसे बारह व्रत धारण करनेपर उसने गोशालकको वन्दन नमस्कार नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उसके समकितमें अतिचार आता। उसी तरह अम्बडजीके शिष्योंने भी अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य समझ कर वन्दन नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उनके समकितमें अतिचार आता किन्तु उन्हें बारह व्रत रूप धर्मका उपदेशक जान कर नमस्कार किया था। अतः अम्बडजीके शिष्यों से अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यके सम्बन्धसे नमस्कार करनेकी प्ररूपणा करके अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको नमस्कार करनेमें पाप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

[बोल ४ समाप्त]

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ के अन्दर पांच कारणोंसे जीवको सुलभवोधी होना कहा है। वह पाठ यह है—

"पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभ वोधियत्ताए कम्मं पकरेंति। तंजहा अरिहंताणं वन्नं वदमाणे जाव विवक्कतववंभचेराणं देवाणं वन्नं वदमाणे"

(ठाणांग ठाणा ५ उद्देशा २)

अर्थः—

अर्थात् पांच कारणोसे जीव सुलभवोधी होनेके कर्म करते हैं। जैसे कि—अरिहंतो को यावत् परिपक्व ब्रह्मचर्य्य वाले देवों को वर्ण (प्रशंसा) बोलनेसे।

यहां जिनके ब्रह्मचर्य्य और तप परिपक्व हो गये हैं ऐसे देवोंके गुणानुवाद करने से भी सुलभवोधी होना कहा है परन्तु वे देवता साधु नहीं हैं फिर उनकी प्रशंसा करनेसे जीव सुलभवोधी कर्म क्यों बांधता है ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतर का विनय करना भी एकान्त पाप नहीं है किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुषके प्रति विनय करना सुलभ वोधी होनेका कारण है। इस प्रकार जब कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके गुणानुवाद करनेसे जीव सुलभवोधी हो जाता है तब फिर उसकी सेवा भक्ति और वन्दन नमस्कार आदि शुश्रूषा विनय करनेसे पाप कैसे हो सकता है ? इससे तो और अधिक धर्म ही होगा।

जिस समय तीर्थंकर जन्मधारण करते हैं उस समय वह साधु नहीं होते तथापि इन्द्रादि देवता उनको अपनेसे अधिक सम्यक्त्व आदि गुणोंसे युक्त जान कर भक्ति-पूर्वक वन्दना और स्तुति करते हैं परन्तु भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे यह वन्दना सावद्य ठहरती है क्योंकि वह साधुसे इतरको की जाती है लेकिन शास्त्र ऐसा नहीं कहता वह तो इस वन्दनाको कल्याणका कारण बतलाता है तथा दिक्कुमारियोंने भी अपनेसे सम्यक्त्व आदि गुणोंमें श्रेष्ठ जान कर जन्मते तीर्थंकर और उनकी माताको वन्दना नमस्कार और गुणग्राम किया है। इस दाखलेसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपनेसे सम्यक्त्व आदि गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुषको वन्दन नमस्कार करना धर्मका ही कारण होता है भ्रमविध्वंसनकार के कथनानुसार एकान्त पाप नहीं होता अन्यथा इन्द्रादि देवता जन्मते तीर्थंकर की, और दिक्कुमारी गण तीर्थङ्कर की वन्दना और स्तुति क्यों करते हैं ? अतः साधुसे इतर अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषके प्रति शुश्रूषा विनय करनेमें पाप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

दिक्कुमारियों ने तीर्थंकर और उनकी माता का गुण ग्राम किया था वह पाठ यह है—

"जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयर माया य तेणेव उवागच्छंति २ त्ता भगवं तित्थयरं तित्थयर मायरंच तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंतित्ता पत्तेयं करयल परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी णमोऽत्थुते रयण कुच्छि धारिके जगप्पईव दीविए सव्व जग मंगलस्स चक्खुणो अमुत्तस्स सव्वजगजीव वच्छलस्स हियकारग मग्गदेसिय वागिद्धि विभुय भुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स वुहस्स वोहगस्स सव्व लोग नाहस्स निम्ममस्स पवरकुलसमुब्भवस्स जाईए खत्तियस्स जंसि लोगु त्तमस्स जणणी धण्णासि तं पुण्णासि कयत्थासि अम्हेणं देवाणुप्पिए अहेलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसा कुमारी महत्तरिआओ भगवओ तित्थयरस्स जम्मण महिमं करिस्सामो तण्णं तुब्भेहिं न भीइव्वं"

(श्री जम्बूद्वीप पन्नत्ति)

अर्थ :—

दिक्कुमारियों ने भगवान् तीर्थंकर और उनकी माताके पास आकर तीन बार परिक्रमा देकर शिरपर अंजलि बांध कर कहा कि—हे रत्नकुक्षिधारिके ? तुम्हारे लिये मेरा नमस्कार है। हे देवि ! संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को दीपकी तरह प्रकाशित करने वाले तीर्थंकर देवको तुम उत्पन्न करनेवाली हो जो जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप दिखलाने वाले नेत्रके समान हैं जिनकी वाणी सब प्राणियोंका उपकार करने वाली सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र का उपदेश देने वाली, सब व्यापक तथा सबके हृदयमें प्रवेश करनेवाली है। जो तीर्थंकर देव राग द्वेषको जीतनेवाले उत्कृष्ट ज्ञानके स्वामी नायक और बुद्ध यानी सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले हैं जो सब प्राणियों के हृदयमें वोधि वीज के स्थापक और सबकी रक्षा करने वाले और सबके वोधक हैं जो ममतारहित उत्तमकुलमें जन्मे हुए क्षत्रिय वंशधर हैं। ऐसे तीर्थंकर देवकी तू जननी है इसलिये हे देवि ! तू धन्य है पुण्यवती है और कृतार्थ है। हे देवि ! हम लोग अधोलोकमें निवास करनेवाली दिक्कुमारिका हैं हम तीर्थंकर देवके जन्मकी महिमा करेंगी अतः आप किसी प्रकारका भय न करें।

यहां दिक्कुमारियों द्वारा तीर्थङ्कर और उनकी माताको वन्दना नमस्कार किया जाना तथा उनका गुणग्राम किया जाना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने

से अधिक गुणवान् सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना तथा उसका गुणानुवाद करना धर्म है पाप नहीं है तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टिके गुणानुवादको तो धर्म और वन्दना नमस्कार को पाप बतलाते हैं यह इनका व्यामोह है। जब कि अपने से अधिक सम्यग्दृष्टिके गुणग्राम करनेमें धर्म होता है तब फिर वंदना नमस्कार करने से पाप कैसे हो सकता है ? यह विचारना चाहिये। अतः अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुष की वंदना नमस्कार को पाप कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

जन्मते तीर्थंकरको इन्द्रने, तथा जन्मते तीर्थङ्कर और उनकी माता को दिक्कुमारियोंने वंदन नमस्कार और गुणग्राम किये थे इस दाखलासे यद्यपि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषको वंदन नमस्कार करना तथा उनका गुणग्राम करना धर्म सिद्ध होता है तथापि भ्रमविध्वंसनकार इस बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये भ्रम० पृ० २८४ के ऊपर जम्बूद्वीप पन्नति का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ इहां कह्यो तीर्थंकर जन्म्या ते द्रव्य तीर्थङ्करने इन्द्र नमोऽत्थुणं गुणे नमस्कार करे ते पिण इन्द्रनी रीति कुत्ती ते सांचवे पिण धर्म जाणे नहीं। तीण ज्ञान सहित इन्द्र एकावतारीने पिण पर पुठे जनम्या छतां द्रव्य तीर्थङ्कर नो विनय करे नमोऽत्थुणं गुणे ते लौकिक संसारनी रीति सांचवे पिण मोक्ष हेते नहीं।" (भ्र० पृ० २८४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जन्मते तीर्थङ्करको वंदना नमस्कार, इन्द्र धर्म जान कर नहीं करते इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि मूलपाठमें "जीय मेयं" ऐसा पाठ आया है और इस पाठका अर्थ यह है कि इंद्र जन्मते समय तीर्थंकरको वंदना नमस्कार करना अपना पुराना आचार बतलाता है अर्थात् पुराने इंद्रोंने पुराने तीर्थंकरोंको वंदन नमस्कार किया है इसलिये वर्तमान इंद्र भी वर्तमान तीर्थंकरको वंदना नमस्कार करके पुरातन रीतिका पालन करता है पर इस कार्य्यको वह धर्म समझ कर नहीं करता तो यह मिथ्या है क्योंकि केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर जहां देवताओंने तीर्थंकर को वंदना नमस्कार किया है वहां भी "जीय मेयं देवा" यही पाठ आया है। 'अर्थात् हे देवताओं ! तीर्थंकरोंको वंदन नमस्कार करना तुम्हारा पुराना आचार है।' फिर तो भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थंकरको वंदना नमस्कार

करना धर्म नहीं होना चाहिये क्योंकि उस समय भी पुराने आचारके अनुसार ही वंदन नमस्कार करना कहा है परन्तु यदि केवल ज्ञान होने पर तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करना पुराने रिवाजके अनुसार किये जाने पर भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है तो उसी तरह जन्मते तीर्थंकर को पुराने रिवाजके अनुसार किया जाने वाला इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी पाप नहीं है किंतु धर्म है।

जैसे जन्मते समय इन्द्रादि देव भगवान्‌की जन्म महिमा करनेके लिये आते हैं उसी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी केवल ज्ञानकी महिमा करनेके लिये भगवान्‌के पास वे आते हैं। शास्त्र के अन्दर जन्म महिमाके पाठका संकोच करके पांचों कल्याणोंका पाठ आया है अतः सभी पाठोंमें जन्म महिमाके पाठके समान ही "जिय मेयं" यह पाठ समझना चाहिये। तथा लोकान्तिक देवता जहां तीर्थंकर को प्रतिवोध देनेके लिये आते हैं वहां भी पूर्ण पाठका सङ्कोच करके "जिय मेयं" यह पाठ आया है। इस लिये जो लोग "जिय मेयं" ऐसा पाठ आनेसे जन्मते तीर्थंकर को इन्द्र का वन्दन नमस्कार किया जाना पाप वतलाते हैं उनके हिसावसे पांचो कल्याणोंके समय जो देवता भगवान् को वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीको पाप ही कहना चाहिये तथा लोकान्तिक देवता पुराने रिवाजके अनुसार जो तीर्थंकर देवको प्रतिवोध देते हैं वह भी पाप ही कहना चाहिये। जहां लोकान्तिक देवता तीर्थंकरको प्रतिवोध देनेके लिये आये हैं वहांका पाठ यह है—

"तएणं तेसिं लोगंतियाणं देवाणं पत्तेयं २ आसणाइं चलंति। तहेवजाव अरहंताणं निक्खममाणं संवोहणं करेत्तएत्ति तंगच्छामोणं अम्हेऽवि मल्लिस्स अरहतो संवोहणं करेमित्ति कट्टु एवं संपेहेंति २ उत्तर पुरच्छिमं दिसिभायं वेउव्विय समुग्घाएणं समोहणंति २ संखिज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छंति २ अंतलिक्खपडिवन्ना सखिंखिणिआइं जाववत्थाति पवरपरिहिया करयल ताहिं इट्ठा एवं वयासी वुज्झाहि भगवं लोगनाहा पवत्तेहिं धम्मतित्थं जीवाणं हिय सुख निस्सेयसकरं भविस्सतोत्ति कट्टु दोचंपि तच्चंपि एवं वयंति २ मल्लिं अरहं वंदंति नमंसंति २ जामेव दिसं पाउभुया तामेव दिसिं पडि गया।"

इस पाठमें जाव शब्दसे जिस पूर्व पाठका संकोच किया गया है। वह पाठ यह है—

"तएणं लोगंतिया देवता आसणाइं चलिताइं पासंति पासंतित्ता ओहिं पाउज्जंति २ मल्लिं अरहं ओहिणा आभोऐंति २। इमेया-रूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु जम्बू द्वीवे दीवे भारए वासे मिथिलाए कुम्भगस्स मल्ली अरहा निक्खमिस्सामीत्ति मनं पहारेंति तंजीयमेयं तीय पच्चुपन्न मणागयाणं लोगंतियाणं"

इस पाठमें "जीयमेयं" यह वाक्य आया है और पूर्व लिखित पाठमें जाव शब्दसे इसी पाठका संकोच किया है। इस लिये उस पाठमें भी "जीय मेयं" इस वाक्यका सद्भाव है। ऐसी दशामें लोकान्तिक देवताओंने जित आचारके अनुसार जो मल्लिनाथ, जीको प्रतिबोध दिया है उसे भी भ्रम० कारके हिसावसे सावद्य ही कहना चाहिये। यदि "जीयमेयं" इस पाठके होनेपर भी प्रतिबोध देना सावद्य नहीं है तो जित आचारके अनुसार जन्मते तीर्थंकरको इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी सावद्य नहीं है। अब उक्त पाठ का पाठकोंके ज्ञानार्थ अर्थ किया जाता है—

अर्थ :—

इसके अनन्तर लोकान्तिक देवताओंके प्रत्येकके आसन डोलने लगे। यह देखकर देवताओंने अवधि ज्ञानका प्रयोग करके अरिहंत मल्लिनाथजीको समझा। पश्चात् उनके मनमें यह निश्चय उत्पन्न हुआ कि जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें मिथिला नगरीके राजा कुम्भककी पुत्री भगवान् मल्लिनाथजी दीक्षा लेनेका विचार कर रहे हैं। अतः भूत भविष्यत और वर्तमान कालका हमारा जित आचार है कि तीर्थंकरोंके पास जाकर हम उनको प्रतिबोध देते हैं। इस आचारके अनुसार भगवान् मल्लिनाथजीके पास भी जाना चाहिये। यह सोचकर लोकान्तिक देवताओंने ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात किया। और संख्यात योजनका दण्ड निकाल कर उत्तर वैक्रिय शरीर बनाया। उसे बनाकर वे देवता जम्बक देवोंकी तरह मिथिला नगरीके कुम्भक राजाके मकानपर भगवान् मल्लिनाथजीके पास आये। वहां आकाशमें स्थित घूघूरू बजाते हुए उत्तम वस्त्र पहने हुये हाथ जोड़कर मधुर वचनोंसे कहने लगे कि हे भगवन्! हे लोकनाथ! प्रतिबोध प्राप्त करो और धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करो जिसमें जीवोंको हित सुख और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो। इसी प्रकार दो तीन वार कहकर और वन्दना नमस्कार करके लोकान्तिक देवता जहांसे आये थे वहीं वापस चले गये।

यहां भी जित आचारके अनुसार ही लोकान्तिक देवताओंका मल्लिनाथ भगवानको प्रतिबोध देना कहा है। फिर इसे भी भ्रमविध्वंसनकारको सावद्य ही समझना चाहिये।

यदि कहो कि भगवान्‌के जन्म समयमें देवता लोग बहुतसा आरंभ समारंभ भी करते हैं वह जैसे सावद्य है उसी तरह उस समयका वन्दन नमस्कार भी सावद्य है तो फिर केवल ज्ञान होने पर भी भगवान्‌को वन्दना नमस्कारार्थ देवता लोग आते हैं और आरंभ समारंभ करते हैं फिर उस आरंभ समारंभकी तरह उस समयका वन्दना नमस्कार सावद्य क्यों नहीं माना जाता ? अतः जैसे केवल ज्ञान होने पर देवता लोगोंके गमना गमन आदि रूप क्रियाके सावद्य होने पर भी भगवान्‌का वन्दना नमस्कार सावद्य नहीं होता उसी तरह जन्मोत्सवमें भी आरंभ समारंभके सावद्य होने पर भी भगवान्‌को वन्दन नमस्कार करना सावद्य नहीं होता किन्तु धर्म होता है इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणसे अपनेसे अधिक गुणवान सम्यग्दृष्टि का शुश्रूषा विनय करना धर्म सिद्ध होता है पाप नहीं। अतः साधुके सिवाय दूसरोंके विनयको सावद्य कहना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये।

बोल ६ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८१ के ऊपर लिखते हैं कि "इहां चक्र उपनो सुण्यो तिहां भरतजी इसो विनय कीधो पछे चक्र कने आवी पूजा कीधी। ते संसाररी रीते पिण धर्म हेते नहीं। तिम अम्बडने चेलां पिण आपरो निज गुरु जाण गुरुनी रीति सांचवी पिण धर्म न जाण्यो" इत्यादि। (भ्र० पृ० २८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भरतने जो चक्रकी पूजा की थी उसका दृष्टान्त अम्बडजीके साथ देना अज्ञान है क्योंकि चक्र तो प्रत्यक्ष ही स्थावर एकेन्द्रिय और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्वीकी पूजा करना है जो सम्यग्दृष्टिके लिये धर्मका कारण नहीं है अपितु उसके व्रतका अतिचार है। परन्तु अम्बडजी बारह व्रत धारी श्रावक और सम्यग्दृष्टि थे। उनको वन्दना नमस्कार करना सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना है। अतः वह चक्र पूजाकी तरह लौकिक रीतिके पालनार्थ नहीं है किन्तु धर्मार्थ है। अतः चक्र पूजाका दृष्टान्त देकर अम्बडजीके वन्दन नमस्कारको सावद्य बतलाना अज्ञान है।

(प्रेरक)

श्रावककी सेवा भक्ति करनेसे क्या फल मिलता है। यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ में श्रावककी सेवा भक्ति करनेका शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल बतलाया है। वह पाठ यह है—

"तहा रूवेणं भन्ते! समणंवा माहनंवा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुपासणा? गोयमा! सवणफला सेणं भन्ते! सवणे किं फले। णाणफले, सेणं भन्ते! णाणे किंफले विण्णाणफले। सेणं भन्ते विण्णाणे किं फले पच्चक्खाण फले। सेणं भन्ते! पच्चक्खाणे किं फले, संजम फले। सेणं भन्ते! संजमे किं फले, अणण्हणय फले। एवं अणण्हए तव फले तवे वोदारण फले वोदारणे अकिरियाफले। सेणं भन्ते! अकिरिया किं फला सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा!"

(भ० श० २ उ० ५)

अर्थ :—

हे भगवन् तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेसे क्या फल होता है? (उत्तर) हे गोतम! शास्त्रका (धर्मका) श्रवण फल होता है। (प्रश्न) हे भगवन्! शास्त्रके श्रवणसे क्या फल होता है। (उत्तर) हे गोतम! शास्त्रीय सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त होता है। (प्रश्न) ज्ञानसे क्या फल मिलता है? (उत्तर) ज्ञानसे त्यागने योग्य और स्वीकार करने योग्य वस्तुका विवेक (विज्ञान) फल प्राप्त होता है। (प्रश्न) विज्ञानका क्या फल होता है? (उत्तर) विज्ञानसे पापोंका प्रत्याख्यान होता है। (प्रश्न) पापोंके प्रत्याख्यानसे क्या फल होता है? (उत्तर) पापोंके प्रत्याख्यान करनेसे संयमकी प्राप्ति होती है। (प्रश्न) संयमका क्या फल होता है? (उत्तर) संयमसे आश्रवका निरोध होता है। (प्रश्न) आश्रव निरोधसे क्या फल होता है। (उत्तर) आश्रवके निरोधसे तप रूप फल होता है। (प्रश्न) तपसे क्या फल मिलता है? (उत्तर) तपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। (प्रश्न) निर्जराका क्या फल है? (उत्तर) निर्जरा से योगोंका निरोध होता है। (प्रश्न) योग निरोधका क्या फल है? (उत्तर) योग निरोधसे सब फलोंका अन्त स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

इस पाठमें तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल मिलना कहा है और इस पाठकी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है। वह टीका यह है "श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः"। अतः इस पाठसे श्रावककी सेवा भक्ति करना धर्म सिद्ध होता है। अतः

जो श्रावककी सेवा भक्ति और वन्दन नमस्कार करनेसे एकान्त पाप बतलाते हैं उन्हें उत्सूत्रवादी समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि भगवती सूत्रके इस पाठमें जो श्रमण और माहन शब्द आये हैं वे एक साधुके ही बोधक हैं माहन शब्दका श्रावक अर्थ नहीं है तो यह बात प्रथम तो उक्त टीकासे ही विरुद्ध है क्योंकि उक्त टीकामें माहन शब्दका स्पष्ट श्रावक अर्थ लिखा है। दूसरा अन्य तीर्थियोंके लिये भी श्रमण, माहन, शब्द आये हैं उनका अर्थ एक साधु ही नहीं किया है किन्तु श्रमण शब्दका अर्थ शाक्यादि और माहन शब्दका ब्राह्मण अर्थ किया है। इस प्रकार जैसे अन्य तीर्थियोंके विषयमें कहे हुए श्रमण और माहन शब्दका भिन्न भिन्न ही अर्थ है उसी तरह स्वतीर्थीके लिये आये हुए श्रमण और माहन शब्दका भी भिन्न भिन्न ही अर्थ है पर एक साधु ही नहीं। जैसे कि सुयगडांग सूत्रके दूसरे श्रुतस्कन्धके दूसरे अध्ययनमें यह पाठ आया है—

"तत्थणं जेते समणा माहना एव माइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हन्तव्वा"

अर्थ :—

जो श्रमण माहन यह प्ररूपणा करते हैं कि सब प्राणियोंका वध करना धर्म है वे परमार्थ को नहीं जानते ।

यहाँ अन्य तीर्थीके लिये श्रमण और माहन शब्दका प्रयोग हुआ है। इनका अर्थ टीकाकारने भिन्न भिन्न ही किया है। अर्थात् श्रमण शब्दका शाक्यादि और माहन शब्दका ब्राह्मण अर्थ किया है और इस बातको भ्रमविध्वंसनकारने भी स्वीकार किया है। जैसे कि भ्रम० पृ० २९४ पर लिखा है कि "तिम अन्य तीर्थीमें श्रमण शाक्यादि माहन ते ब्राह्मण, ए अन्यतीर्थीना श्रमण माहन कह्या" अतः जैसे इस पाठमें श्रमण माहन शब्दका एक साधु ही अर्थ न होकर भिन्न भिन्न अर्थ होता है उसी तरह भगवती सूत्र शतक २ उद्देशा ५ के पूर्व लिखित मूल पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ ही समझना चाहिये परन्तु एक साधु ही नहीं। अतएव टीकाकारने वहां टीकामें साफ लिख दिया है कि "श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः" अतः पर तीर्थी के विषयमें आये हुए श्रमण माहन शब्दका भिन्न भिन्न अर्थ मान कर भी स्वतीर्थीके लिये आये हुए श्रमण माहन शब्दोंका भिन्न भिन्न अर्थ नहीं मानना एक मात्र हठवाद और टीका तथा मूल पाठसे भी विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

पर तीर्थी धर्मोपदेशक दो होते हैं। एक श्रमण शाक्यादि और दूसरा ब्राह्मण। इस लिये पर तीर्थी धर्मोपदेशकके लिये आये हुए श्रमण और माहन शब्दका भिन्न २ अर्थ होना ठीक ही है परन्तु स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक मात्र साधु ही होते हैं श्रावक नहीं होते। इस लिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशकके विषयमें जो श्रमण और माहन शब्द आये हैं उनका एक साधु ही अर्थ होना चाहिये परन्तु श्रमण शब्दका अर्थ साधु और माहन का अर्थ श्रावक न होना चाहिये।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो ही होते हैं। एक साधु और दूसरा श्रावक इस लिये परतीर्थी धर्मोपदेशकके पाठकी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशकके पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक, इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थ ही करना चाहिये एक साधु नहीं। यहां कोई यह पूछे कि 'श्रावक भी धर्मोपदेश करता है ऐसा पाठ कहां आया है' तो उसका उत्तर यह है कि सुयगडांग सूत्र श्रुत० २ अध्ययन दूसरेमें तथा उवाई सूत्रके २० वें प्रश्नमें श्रावकको भी धर्मोपदेशक कहा है। वह पाठ यह है—

"अहावरेतच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एव माहिज्जइइहखलु पाईणंवा ४ संते गतिया मणुस्सा भवंति तंजहाअप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खायी धम्मप्पलोइया धम्म पलज्जणा धम्म समुदायारा धम्मेणंचेव वित्तिं कप्पेमाणाविहरंति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू"

(सुय० श्रु० २ अ० २)

अर्थः—

तीसरा स्थान मिश्रसंज्ञक है उसका विभंग कहा जाता है। इस जगतके अन्दर पूर्वादि दिशाओंमें रहने वाले कोई कोई मनुष्य शुभ कर्म करने वाले होते हैं तथा अल्प इच्छा रखने वाले अल्पारंभी, अल्प परिग्रही, धार्मिक, श्रुत और चारित्र धर्मके पीछे चलने वाले धर्मिष्ट श्रुत और चारित्र रूप धर्म जिनको बहुत प्रिय है) धर्माख्यायी यानी भव्य जीवोंके समक्ष धर्म का प्रतिपादन (उपदेश) करने वाले साधुओंके पास धर्मका अन्वेषण करने वाले अथवा धर्मको उपादेय समझने वाले, धर्ममें प्रेम रखने वाले, हर्षके साथ धर्माचरण करने वाले तथा हर्षके साथ जीविका करने वाले, सुन्दर स्वभाव वाले, सुव्रती और आनन्दमें मग्न रहने वाले साधुके सदृश होते हैं।

इस पाठमें श्रावकको धर्माख्यायी कहकर बतलाया है। धर्माख्यायी उसे कहते हैं जो धर्मका उपदेश देता है जैसे कि इस शब्दका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है।

धर्म माख्याति भव्यानां प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी"

अर्थात् भव्य लोगोंके समक्ष जो धर्मका प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है। इस प्रकार इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्मका उपदेश करता है अतः परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो तरहके होते हैं अतः भगवतीके उक्त पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ समझना चाहिये परन्तु दोनोंका एक साधु ही अर्थ नहीं। अतः माहन शब्दका साधु ही अर्थ करना हठवादियोंका काम समझना चाहिये।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

किसी श्रावकने धर्मोपदेश देकर यदि किसीको धार्मिक बनाया हो तो बतलाइये।

(प्ररूपक)

प्रथम तो अम्बडजीने ही अपने ५०० शिष्योंको उपदेश देकर बारह व्रत धारण कराये थे यह बात खुद भ्रमविध्वंसनकारने भी लिखी है। दूसरी बात यह है कि सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजाको धर्मोपदेश देकर बारह व्रतधारी श्रावक बनाया था। वह पाठ यह है—

"तत्तेणं सुबुद्धी जितसत्तुस्स विचित्तं केवलिपन्नत्तं चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ। तमाइक्खति जहाजीवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयातिं। तत्तेणं जित सत्तु सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चाणिसम्म हट्ठ सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासो—सद्दहामिणं देवाणुप्पिया! णिग्गंथं पावयणं ३ जाव से गहेयं तुब्भे वयह। तं इच्छामिणं तव अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। अहा सुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तएणं से जितसत्तू सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ। तत्तेणं जित सत्तू समणोवासए अभिगयजीवा जीवे जाव पडिलभमाणे विहरइ"

(ज्ञाता अध्ययन १२)

अर्थः—

इसके अनन्तर सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजासे केवलिसे कहा हुआ चार महाव्रत वाला विचित्र धर्म कहा और इस प्रकार राजाको समझाया जिससे जीव प्रतिबोध प्राप्त करके आराधक बन जाते हैं। तथा पांच अनुव्रत रूप श्रावक धर्मका भी सविस्तर उपदेश दिया। इसके अनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे कहा कि हे देवानुप्रिय! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन श्रद्धा धारण करता हूं और तुम्हारे उपदेशानुसार श्रावकोंके बारह व्रतोंको तुमसे ग्रहण कर रहना चाहता हूं। यह सुन कर सुबुद्धि प्रधानने कहा कि हे देवानुप्रिय! सुखके साथ यह कार्य्य करो विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे बारह प्रकारके श्रावकोंके व्रत ग्रहण किये और वह श्रमणोपासक होकर जीव तथा अजीवको जानकर यावत् साधुओंको दान देता हुआ विचरने लगा।

यहां सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित शत्रु राजाका बारह व्रत धारण करना स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह श्रावकोंके धर्मोपदेशक होनेका मूल सूत्रोक्त उदाहरण है। इस लिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दोनों ही होते हैं तथापि भ्रमविध्वंसन कार जो स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक साधुको ही बतलाते हैं श्रावकको निषेध करते हैं यह इनका अज्ञान समझना चाहिये अतः भगवती सूत्र शतक २ उ० ५ के मूलपाठमें जो श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे शास्त्र श्रवणसे लेकर मोक्ष पर्य्यन्त फल मिलना कहा है उसके अनुसार श्रावककी सेवा भक्ति भी मोक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है इसीलिये श्रावककी सेवा भक्तिको एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २९६ के ऊपर लिखते हैं कि "अने किण-हीक ठामें टीकामें माहणना अर्थ प्रथम तो साधु इज कियो। अने बीजो अर्थ अथवा श्रावक इम कियो छै। पिण मूल अर्थ तो श्रमण माहन नो साधु इज कियो"

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

टीकाकारने पहले श्रमण और माहन शब्दका साधु ही अर्थ किया है और पीछे अथवा कह कर श्रावक अर्थ किया है यह बात मिथ्या है भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७की टीकामें पहले ही टीकाकारने माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है। वह टीका यह है।

"माहण"—त्ति माहनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वात्यः समाहनः।"

अर्थात् जो पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरेको भी नहीं मारने का उपदेश करता है वह माहन कहलाता है।

यहां टीकाकारने पहले ही पहल माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है। दूसरी बात यह है कि इस टीकाके आगे भगवती शतक २ उद्देशा ५ के अन्दर जो टीका आई है उसमें भी पहले पहल माहन शब्दका अर्थ साधु नहीं किया है। देखिये वह टीका यह है।

"तथा रूपं मुचित स्वभावं कञ्चन पुरुषं श्रमणं वा तपोयुक्त मुपलक्षणत्वा दस्योत्तर गुणवन्त मित्यर्थः। माहनंवा स्वयं हनन निवृत्तत्वात्परंप्रतिमाहनेतिवादिनम् उपलक्षणत्वा देव मूल गुण युक्त मित्यर्थः। वाशब्दौ समुच्चये। अथवा श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः"

अर्थात् जो कोई पुरुष उचित स्वभाव वाला तपस्यासे युक्त यानी उत्तर गुणसे युक्त हो वह श्रमण कहलाता है और जो स्वयं हिंसासे निवृत्त होकर दूसरेको नहीं मारनेका उपदेश देने वाला, यानी मूल गुणसे युक्त हो वह "माहन" कहलाता है। अथवा श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है।

यहां टीकाकारने पहले पहल श्रमण शब्दका "उत्तर गुण युक्त" और माहन शब्द का "मूलगुण युक्त" अर्थ किया है। मूल गुण और उत्तर गुण साधु और श्रावक दोनों के होते हैं केवल साधुके ही नहीं इस लिये पहले अर्थमें श्रमण और माहन शब्दसे मूल गुण और उत्तर गुणसे युक्त साधु और श्रावक दोनों ही का ग्रहण होता है केवल साधुका ही नहीं। दूसरे अर्थमें तो टीकाकारने साफ साफ खोलकर लिख दिया है कि "श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है।" अतः उक्त टीकाका नाम लेकर माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेमें टीकाकारकी अरुचि बताना अज्ञानका परिणाम है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८७ के ऊपर भगवती सूत्र शतक १५ वें का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

"अथ अठे सुनक्षत्र सर्वानुभूति मुनि गोशालाने कह्यो। हे गोशाला! जे तथारूप श्रमण माहन कने एक वचन सीखे तेहने पिण वांदे नमस्कार करे कल्याणिक मांगलिक देवयं चेइयं जाणीने घणी सेवा करे। इहां श्रमण माहन कने सीखे तेहने वन्दना नमस्कार करणी कही। पिण श्रमणोपासकने सीखे तेहने वंदना नमस्कार करणी इम न कह्यो। श्रमण माहननी सेवा कही पिण श्रमणोपासकरी सेवा न कही। एतो प्रत्यक्ष

श्रावकने टाल दियो । अने श्रमण माहनने वंदना नमस्कार करणो कह्यो ते मांटे श्रावक ने नमस्कार करे ते कार्य्य आज्ञा वाहिरे छै ।" (भ्र० पृ० २८७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ वें के मूलपाठका प्रमाण देकर यह कहना कि "श्रावकसे सीखे, पर उसको वंदना नमस्कार नहीं करे" एकान्त मिथ्या है। उक्त पाठमें साधु और श्रावक इन दोनोंसे सीखना, और दोनोंको ही वंदन नमस्कार करना कहा है श्रावकको नमस्कार करनेका निषेध नहीं किया है। इस पाठमें भगवती शतक २ उद्देशा ५ के पाठके समान ही श्रमण और माहनसे सीखना तथा उनको वंदना नमस्कार करना कहा है। इसलिये यहां भी पूर्ववत् ही श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ है। भगवतीके इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु और श्रावक इन दोनों ही से सीखे और दोनों ही को वंदन नमस्कार करे तथा यह बात साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि जब श्रावकसे सीखना मना नहीं है तब फिर उस को वंदन नमस्कार करना मना कैसे हो सकता है ? परन्तु भ्रमविध्वंसनकार जो श्रावकसे सीखने का निषेध न करते हुए भी उसको वंदन नमस्कार करनेका निषेध करते हैं यह एकमात्र इनका हठवाद और जनतामें कृतघ्नताका प्रचार करना है क्योंकि श्रावक से सीख कर उससे अपना कार्य्य तो करा लेना पर उसको वंदन नमस्कार नहीं करना इससे बढ़ कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है ?। अतः श्रावकसे धर्म सीख कर भी उसको वंदन नमस्कार नहीं करनेकी प्ररूपणा एकांत मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि "इस पाठमें श्रमण माहनका विशेषण "कल्याणं मंगलं देवयं चेइयं" यह आया है। और यह विशेषण श्रावक आदि किसी दूसरेमें न आकर एकमात्र साधु और तीर्थंकरोंमें ही आता है इसलिये यहां माहन शब्दका श्रावक अर्थ नहीं है किन्तु साधु ही है तो यह मिथ्या है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये भी "कल्याणं मङ्गलं देवयं चेइयं" ये विशेषण आये हैं। वह पाठ यह है—

"बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएण पज्जुवासणिज्जे"

(उवाई सूत्र)

यह पाठ पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये आया है। इसमें पूर्ण भद्र नामक यक्षके लिये "कल्याणं मङ्गलं देवयं चेइयं" यह विशेषण आया है। इसलिये ये विशेषण साधु और तीर्थंकरोंके लिये ही आते हों यह नियम नहीं है इसलिये इन विशेषणोंका नाम ले कर भगवतीके १५ वें शतकके मूलपाठमें माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेका निषेध करना अज्ञातमूलक समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार उत्तराध्ययन सूत्रकी बहुतसी गाथाओं को लिख कर उन की साक्षीसे माहन शब्दका एक मात्र साधु ही अर्थ होना बतलाते हैं श्रावक नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंमें जो "माहन" या ब्राह्मणका लक्षण लिखा है वह लक्षण केवल साधुमें ही मिलता हो श्रावकमें न मिले यह बात नहीं है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें माहन (ब्राह्मण) का लक्षण यह लिखा है—

"समयाए समणो होइ। बंभचेरेण बंभणो।
नाणेणय मुणि होइ। तवेणं होइ तावसो"

(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थ :—

अर्थात् सब जीवोंमें समता रखनेसे श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होता है। तथा ज्ञानसे मुनि और तपस्या करनेसे तापस होता है।

यहां ब्रह्मचर्य्य धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होना कहा है और श्रावक भी ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं जैसे कि अम्बडजी और उनके शिष्य, श्रावक हो कर भी पूर्ण ब्रह्मचारी थे। तथा दूसरे श्रावक भी देशसे ब्रह्मचर्य्य व्रतको धारण करते हैं इस लिये इस गाथामें कहा हुआ माहन (ब्राह्मण) का लक्षण श्रावकमें भी मौजूद है। अतः उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंका दाखला देकर एकमात्र साधुको ही माहन कहना और श्रावकको माहन होनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७७ के ऊपर लिखते हैं कि—

"इम जो धर्माचार्य्य हुवे तो पुत्रकने पिता श्रावकरा व्रतधारे तो तिणरे लेखे पुत्रने धर्माचार्य्य कही जै इम हिज स्त्री कने भर्तार श्रावकना व्रत धारे तो तिणरे लेखे

स्त्रीने पिण धर्माचार्य्य कही जे। तथा सासू वहुकने व्रत आदरे तथा सेठ गुमास्ताकने व्रत आदरे तो तिणने पिण धर्माचार्य्य कहिजे" अने जिणपासे धर्म सीखा तिणने वंदना करणी कहे तिणरे लेखे पाछे कह्या ते सवने वन्दना नमस्कार करणी" (भ्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके छट्ठे ठाणेमें कहा है कि पुरुष, कारणवश साध्वीसे दीक्षा ग्रहण कर सकता है पर वह दीक्षा ग्रहण करके साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं करता क्योंकि साध्वीको वन्दन नमस्कार करना साधुके कल्पसे विरुद्ध है उसी तरह पिता पुत्र से श्वश्रू पुत्रवधू से, और सेठ गुमास्तासे धर्मोपदेश ले सकते हैं पर लोक विरुद्ध होनेसे पिता पुत्रको श्वश्रू पुत्र वधूको और सेठ गुमास्तेको वन्दन नमस्कार नहीं करते किंतु जिस धर्मोपदेशक श्रावकको वंदन नमस्कार करनेसे कोई लोकाचारका विरोध नहीं होता उसको वन्दन नमस्कार करनेमें कोई दोष नहीं है किंतु धर्म है अतः धर्मोपदेशक पुत्र, वधू, और गुमास्ताको पिता, श्वश्रू, और सेठ नमस्कार नहीं करते यह दृष्टान्त देकर सभी धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति विनयाधिकारः)



अथ पुण्याधिकारः ।

(प्रश्क)

पुण्य किसे कहते हैं, और उसके कितने भेद हैं ।

(प्ररूपक)

"पुनाति पवित्री करोत्यात्मान मिति पुण्यम् ।

अर्थात् जो आत्माको पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं । वह नव प्रकारका कहा है । जैसे कि ठाणाङ्ग सूत्रके नवम ठाणामें यह पाठ आया है—

"नवविहे पुण्णे पन्नत्तो तंजहा—अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, वत्थ पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, मण पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे"

(ठाणाङ्ग ठाणा सूत्र)

अर्थः—

पुण्य नौ प्रकारका होता है । जैसे कि—

अन्न दान देना, जल दान देना, वस्त्र देना, मकान देना; शय्या आसनादि देना, गुणी पुरुषों में मन को तुष्ट रखना, वचन से प्रशंसा करना, शरीर से उन की सेवा करना, और श्रेष्ठ उनको नमस्कार करना ।

इस पाठका अर्थ करते हुए टीकाकार तथा टब्बाकारने लिखा है कि पात्रको अन्नादि दान देनेसे तीर्थंकर नाम गोत्रादि विशिष्ट पुण्य प्रकृति बंधती है और साधुसे इतरको दान देनेसे दूसरी पुण्य प्रकृति बंधती है इसलिये साधु और उससे इतर पुरुषको दान आदि देनेसे उक्त नव प्रकारका पुण्य होना समझना चाहिये ।

इन पुण्योंके फल ४२ प्रकारके होते हैं । वे भी कार्य्य और कारण के अभेद से पुण्य ही कहलाते हैं । इस प्रकार पुण्य नाम शुभ करणी का भी है और पुण्य-कर्मका भी है ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरने योग्य है अथवा त्यागने योग्य है ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके प्रथम ठाणेकी टीकामें पुण्यके दो भेद किये हैं । एक पुण्यानुबंधी पुण्य, और दूसरा पापानुबन्धी पुण्य । उनमें पुण्यानुबन्धी पुण्य तो साधन दशामें आद-रने योग्य है और पापानुबंधी पुण्य त्यागने योग्य है ।

(प्रेरक)

पुण्यानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

(प्ररूपक)

"गेहाद्‌गेहान्तरं कश्चित् शोभनादधिकं नरः याति यद्वत् सुधर्मेण तद्वदेव भवान्तरम्"

(श्लोक हरिभद्रसूरिकृत)

अर्थः—

जैसे कोई मनुष्य सुन्दर मकानसे निकल कर उससे भी अधिक सुन्दर दूसरे मकानमें जाता है उसी तरह जिस पुण्यके द्वारा जीव, मनुष्यादि उत्तम योनियोंको छोड़ कर उससे भी उत्तम देवादि योनियोंमें जाता है उसे पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं। इस पुण्यानुबंधी पुण्यका कारण हरिभद्र सूरिने इस प्रकार बतलाया है।

"दया भूतेषु वैराग्यं विधिवद्‌गुरु पूजनम्।
विशुद्धा शील वृत्तिश्च पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः"

अर्थात् सब प्राणियोंके ऊपर दया (अनुकम्पा) रखना, वैराग्य, और विधिवत गुरु पूजन, तथा अतिचार रहित अहिंसा आदि व्रतोंका पालन करना, ये सब पुण्यानुबंधी पुण्यके कारण होते हैं।

आगे चल कर हरि भद्र सूरिने यह भी लिखा है कि मोक्षार्थियोंको पुण्यानुबंधी पुण्यका आदर करना चाहिये। जैसे कि—

"शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्त्तव्यं सर्वथा नरैः यत्प्रभावादपातिन्यो जायन्ते सर्वसम्पदः"

अर्थात् मनुष्योंको पुण्यानुबंधी पुण्यका आदर करना चाहिये। क्योंकि इसके प्रभावसे अविनश्वर सब सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं।

इसमें पुण्यानुबंधी पुण्यको आदरणीय कहा है। अतः मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं।

[बोल १ समाप्त]

(प्रेरक)

मोक्षार्थियोंको पुण्यका फल आदरणीय है या नहीं ?

(प्ररूपक)

साधन दशामें मोक्षार्थियोंको भी पुण्य फल आदरणीय है। शास्त्रमें मोक्ष प्राप्तिके चार मुख्य कारण कहे हैं। जैसे कि—

"चत्तारि परमंगाणि दुल्लभाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमिय वीरियं"

(उत्तरा० अ० ३)

अर्थ :—

चार वस्तु मुक्तिके परम साधन, और जीवोंके लिए दुर्लभ हैं। मनुष्य योनिमें जन्म लेना, धर्म श्रवण करना, धार्मिक श्रद्धा, और संयमके अन्दर सामर्थ्य विशेष।

यहां मनुष्य जन्मको मोक्ष प्राप्तिका परम साधन कहा है और वह मनुष्य जन्म पुण्य का ही फल है। इस लिये पुण्य फल मोक्षार्थियोंको भी साधन दशामें आदरणीय है। अतः जो लोग पुण्य और उसके फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाते हैं उन्हें मिथ्यावादी जानना चाहिये।

(प्रेरक)

पुण्य आदरणीय है यह बात कहां कही है—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २१ में पुण्यको आदरणीय बतलाया है। वह गाथा यह है—

"इह जीविए राय असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणे। से सोयइ मच्चु मुहो वणीए धम्मं अकाऊण परम्मिलोके"

(उत्तरा० अ० १३ गाथा २१)

अर्थः—

चित्त मुनि कहते हैं कि हे ब्रह्मदत्त! अशाश्वत अर्थात् अनित्य मनुष्यकी आयु पाकर जो पुरुष अतिशय पुण्यका उपार्जन नहीं करता वह मृत्युमुखमें प्रवेश करके धर्माचरण नहीं करने के कारण परलोकमें पश्चात्ताप करता है।

यहां चित्त मुनिने ब्रह्मदत्तसे मनुष्यकी आयु पाकर पुण्योपार्जन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। अतः साधन दशामें मोक्षार्थियों को भी पुण्य आदरणीय सिद्ध होता है।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० के ऊपर इस गाथाको लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां तो कह्यो हे राजन्! अशाश्वत जीवितव्यने विषे गाढ़ा पुण्यना हेतु शुभ अनुष्ठान शुभ करणी न करे ते मरणान्तने विषे पश्चात्ताप करे। इहां पुण्य शब्दे पुण्य नो हेतु शुभ अनुष्ठानने कह्यो" इत्यादि।

इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि इस गाथामें पुण्यको आदरणीय नहीं कहा है। अतः मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पुण्यके हेतुभूत शुभ अनुष्ठान का आदरणीय होना भ्रमविध्वंसन कार स्वयं कबूल करते हैं और शास्त्रके अन्दर शुभ अनुष्ठान, और पुण्य फल इन दोनोंको पुण्य कहकर बतलाया है। इस लिये मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है यह कहना भ्रम-विध्वंसनकारका अपने कथनसे ही विरुद्ध है। यदि वह कहें कि हम पुण्यफलकी अपेक्षा से पुण्यको अनादरणीय कहते हैं परन्तु शुभ अनुष्ठान की अपेक्षासे पुण्यको अनादरणीय नहीं कहते तो इसका उत्तर यह है कि पुण्य फलकी अपेक्षासे भी पुण्यको अनादरणीय कहना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान है क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्रके १३ वें अध्ययनके २१ वीं गाथामें मनुष्य जन्मको दुर्लभ कह कर मोक्षार्थियोंको भी आदरणीय बतलाया है। तथा उत्तराध्ययन सूत्रके २३ वें अध्ययनमें संसार सागरसे पार होने वाले प्राणियोंके लिये मनुष्य शरीरको नौकाकी तरह आदरणीय बतलाया है। वह पाठ यह है—

"सरीर माहुनावत्ति जीवोउच्चइ नाविओ संसारो अन्नवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो"

(उ० अ० २३ गाथा)

अर्थात् मनुष्य शरीर नौका है जीव उस नावको चलाने वाला नाविक है और यह संसार समुद्र है। इसे महर्षि लोग पार करते हैं।

इसमें मनुष्य शरीरको नौकाका दृष्टान्त देकर संसार सागरसे पार जाने वाले पुरुषोंके लिये इसकी परम आवश्यकता बतलाई है। मनुष्य शरीर पुण्यका ही फल है। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधन दशामें पुण्य फल भी मोक्षार्थियोंको आदरणीय है। भगवान् महावीर स्वामीने मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ बतलाते हुए यह कहा है कि—

"दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिर काले णवि सव्वपाणिणं"

(उ० अ० १०)

अर्थात हे गोतम ! चिरकालके अनन्तर भी मनुष्य जन्म मिलना प्राणियोंके लिये दुर्लभ है।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमें भी मनुष्य जन्मको देव वांच्छनीय कहा है। वह पाठ यह है—

"ततो ठाणाइं देवेपोहेज्जा। तं० माणुसंभवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायातिं"

(ठाणाङ्ग ठाणा ३)

अर्थात् देवता भी तीन बातोंकी अभिलाषा करते हैं। मनुष्य योनिमें जन्म पाना, आर्य्य क्षेत्रमें जन्म पाना, और अच्छे कुलमें जन्म लेना।

यहां मनुष्य जन्मको देव वांच्छनीय कहा है। तथा उत्तराध्ययनके १०वें अध्ययनमें साक्षात् भगवान महावीर स्वामीने मनुष्य जन्मको दुर्लभ बतलाया है वह मनुष्य जन्म पुण्यका ही फल है। इस लिये पुण्य फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाना अज्ञान समझना चाहिये।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २९९ के ऊपर भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां नरक जाय ते जीवने अर्थनो राज्यनो भोगनो कामनो कांक्षी श्री तीर्थंकरे कह्यो पिण अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वांछा करे ते आज्ञामें नहीं। जिम अर्थ भोग, राज्य, कामनी वांछा करे ते आज्ञामें नहीं। जिम अर्थ भोग राज्य कामनी वांछाने सरावे नहीं तिम पुण्यनी वांछाने स्वर्गनी वाञ्छाने पिण सरावे नथीं। पुण्ण कामए सग्ग कामए" ए पाठ कह्यां माटे पुण्यनी वांछाने सराई कहे तो तिणरे लेखे स्वर्गनो कामी वाञ्छक कह्यो ते पिण स्वर्गनी वाञ्छा सराई कहणी। (भ्र० पृ० २९९)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठका नाम लेकर पुण्यको त्याज्य बतलाना मिथ्या है। वहांके पाठका अभिप्राय, पाठ और टीका लिखकर बतलाया जाता है। वह पाठ यह है—

"तहारूवस्स समणस्सवा माहणस्सवा अंतिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चाणिसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिव्व-धम्माणुरागरत्ते। सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गमोक्खकंखिए धम्मपि-पासिए पुण्णसग्गमोक्ख पिपासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झ-वसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए एयंसिणं अंतरंसिकालं करे० देवलो० उव० सेतेणट्ठेणं गोयमा !"

(भ० श० १ उ० ७)

(टीका)

श्रमणस्य साधोः वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमणमाहनवचनयो स्तुल्यत्व प्रकाशनार्थः। "माहण" त्ति माहन इत्येव मादिशति स्वयं स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्त त्वाद्यः समाहनः। अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्य्यस्य देशतः सद्भावात्। ब्राह्मणो देश विरतः तस्यवा अंतिके समीपे एकमप्यास्तां तावदनेकम् आर्य्यम् आराद्यातं पापं कर्म-इत्यार्य्यम् अतएव धार्मिकम् इति। तदनन्तरमेव "संवेगजाय सड्ढित्ति संवेगेन भव भयेन जाता श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषुयस्य स तथा। "तीव्व धम्माणुराग रत्ति" त्ति तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्म बहुमान स्तेन रक्तइव यः सतथा। "धम्मकामए" त्ति धर्मः श्रुत चारित्र लक्षणः पुण्यं तत्फल भूतं शुभ कर्म इति"

अर्थः—

हे गोतम ! तथा रूपके श्रमण और माहन के पास एक भी आर्य्य धर्म सम्ब-न्धी सुवचनके सुननेसे जीवको उसके बाद ही भव भय होनेसे धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है। और वह तीव्र धर्मानुरागसे रक्त सा हो जाता है। तथा वह जीव, धर्मकामी, पुण्य कामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्य कांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्म पिपासित, तथा उनमें चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, और तीव्र अध्यवसाय (प्रयत्न विशेष) वाला होता है। एवं उक्त धर्मादि अर्थोंमें उपयोग रखता हुआ तथा उन्हींमें अपने इन्द्रियोंको अर्पण किया हुआ और उनकी भावनासे भावित (वासित) होता हुआ यदि उसी कालमें मरणको प्राप्त होता है तो वह देवलोकमें उत्पन्न होता है।...

यहां तथा रूपके श्रमण और माहनसे आर्य्य धर्म्म सम्बन्धी एक भी सुवचन सुननेसे जीवको वैराग्य, धर्मप्रेम तथा धर्म पुण्य स्वर्ग और मोक्षमें कामना आदि होकर स्वर्ग प्राप्त करना बतलाया है। यह बतलाकर तथा रूपके श्रमण माहनसे धार्मिक

वाक्यके श्रवण करनेसे ही जीवको पुण्य कामना होना यहां कहा है। वह पुण्य कामना यदि बुरी है तब तो तथा रूपके श्रमण माहनसे सुवाक्य सुनना भी बुरा ही कहना होगा क्योंकि उसीके सुननेसे जीवको पुण्य कामनाका होना इस पाठमें कहा है। यदि तथा रूपके श्रमण माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनना बुरा नहीं है तब फिर उस वाक्यके सुननेसे उत्पन्न होने वाली पुण्य भावना या पुण्य कामना भी बुरी नहीं हो सकती है। तथा पुण्य शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

"धर्मः श्रुत चारित्र लक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म"

अर्थात् श्रुत और चारित्रको धर्म कहते हैं और उस श्रुत चारित्र रूप धर्मका जो शुभ कर्म रूप फल है वह पुण्य कहलाता है। उस पुण्यको जो बुरा बतलाता है उसके हिसाबसे तो श्रुत और चारित्र रूप धर्म भी बुरा ही ठहरता है क्योंकि श्रुत और चारित्र लक्षण धर्मका ही फल यहां पुण्य कहा है। वह पुण्य यदि त्याज्य होगा तो फिर उसका कारण श्रुत चारित्र रूप तथा उसका भी कारण श्रमण माहनसे सुवाक्य सुनना त्याज्य ही ठहरेंगे। अतः इस पाठका नाम लेकर पुण्यको त्याज्य कायम करना मिथ्या है।

यदि कहो कि इस पाठमें तो आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे स्वर्गकामना होना भी लिखी है वह स्वर्ग कामना जैसे अच्छी नहीं कही जा सकती उसी तरह पुण्य कामना भी अच्छी नहीं कही जा सकती है तो यह भी मिथ्या है क्योंकि जो स्वर्ग कामना मोक्षकी प्रतिबन्धिका नहीं है किन्तु उसमें सहायता पहुंचाने वाली है उसीका यहां कथन है। जो मोक्षको रोकती है उसका नहीं। पहले पहल इस पाठमें श्रमण माहनके सुवाक्य सुननेसे जीवको वैराग्य उत्पन्न होना कहा है। तदनन्तर स्वर्ग कामना लिखी है। वह स्वर्ग कामना मोक्षको सहायता देने वाली ही यहां समझनी चाहिये. उसमें विघ्न डालने वाली नहीं क्योंकि जिसको संसारसे वैराग्य हो जाता है वह जीव मोक्ष प्राप्तिके बाधक वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता किन्तु उसके अनुकूल वस्तुकी ही इच्छा करता है। इसलिये इस पाठमें जो स्वर्ग कामना कही है वह भी मोक्षके अनुकूल होनेसे अच्छी ही है बुरी नहीं है। अतः उसका दृष्टान्त देकर पुण्य कामनाको बुरी बतलाना मिथ्या है। वास्तव में तथा रूपके श्रमण माहनसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे जो वैराग्य उत्पन्न होकर जीवके हृदयमें धर्म कामना पुण्य कामना स्वर्ग कामना और मोक्ष कामना होती हैं वे सभी अच्छी हैं। इनमें एक भी बुरी नहीं है।

यहां टीकाकारने लिखा है कि श्रमण और माहन इन दोनों शब्दोंके बाद जो मूल पाठमें वा शब्द दिया है वह विकल्पका बोधक नहीं है किन्तु श्रमणसे सुवाक्य सुना जाय अथवा माहनसे सुवाक्य सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती

है यह तुल्यता बतलानेके लिये यहां वा शब्द दिया गया है। श्रमण नाम साधुका है। और स्थूल प्राणातिपातसे निवृत्त होकर जो दूसरेको नहीं मारनेका उपदेश करता है वह माहन कहलाता है। अथवा ब्राह्मणका नाम माहन है। क्योंकि उसमें देश विरति होती है और जिसमें देश विरति होती है वही यहां ब्राह्मण समझा जाता है। शेष टीका का अर्थ मूल पाठके अर्थमें मिलाकर दे दिया गया है।

यहां जो टीकाकार यह लिखते हैं कि इस पाठमें श्रमण माहन शब्दके साथ वा शब्द जोड़नेका यह भाव है कि चाहे श्रमणसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुना जाय चाहे माहनसे सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण दूसरा है और माहन दूसरा है। इस लिये श्रमण माहन इन दोनोंका एक साधु ही अर्थ बतलाना भी मिथ्या समझना चाहिये।

इति पुण्याधिकारः।



अथ आश्रवाधिकारः ।



(प्रेरक)

आश्रव किसे कहते हैं, वह जीव है या अजीव है ?

(प्ररूपक)

आत्म रूपी तालावमें कर्म रूपी जल जिसके द्वारा प्रवेश करता है उसे आश्रव कहते हैं। आश्रव, जीव भी है और अजीव भी है। ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें टीकाकारने आश्रवका लक्षण और भेद बतलाते हुए यह लिखा है :—

"आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्याआश्रवः कर्मवन्ध हेतु रिति-भावः। सचेन्द्रिय कषाया व्रत क्रिया योग रूपः क्रमेण पंच चतुः पंच पञ्चविंशति त्रिभेदः उक्तञ्च "इन्द्रिय कसाय अव्वय किरिया पण चउर पंच पणुवीसा जोगा तीन्नेव भवे आसव भेआओ वयाला" इति तदेवमयं द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्य भाव भेदात्। तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नवादौ तथा विधच्छिद्रैर्जल प्रवेशनम् भावाश्रवस्तु यज्जीव नावीन्द्रियादिच्छिद्रतः कर्म जल संचय इति सचाश्रव सामान्यादेक एव"

यह ठाणाङ्ग सूत्रके "एगे आसवे" इस पाठकी टीका है। इसका अर्थ यह है—

जिसके द्वारा आत्मामें कर्म प्रवेश करता है उसे "आश्रव" कहते हैं जो कर्मवन्ध का हेतु है वह आश्रव है। पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग, ये बयालीस आश्रवके भेद हैं। ये बेयालीस आश्रव, भाव आश्रव कहलाते हैं इनसे अलग द्रव्याश्रव भी होता है। छिद्रोंके द्वारा नाव आदिमें जलका प्रवेश होना द्रव्य आश्रव है। पूर्वोक्त ४२ वस्तुओंके द्वारा जीव रूपी नौकामें कर्म रूपी जलका प्रवेश होना भाव आश्रव है।

यहां टीकाकारने भाव आश्रवके बेयालीस भेद बतलाये हैं इनमें पचीस प्रकारकी क्रिया भी शामिल हैं। ये क्रियाएं केवल जीवकी ही नहीं किन्तु अजीवकी भी बतलाई गई हैं इस लिये आश्रव अजीव भी है।

उक्त टीकामें इन्द्रियोंको आश्रव बतलाया है। इन्द्रियां दो तरहकी हैं द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय अजीव हैं और भाव इन्द्रिय जीव हैं। इस लिये

भाव इन्द्रिय स्वरूप आश्रव भी जीव है। इस प्रकार आश्रव अजीव और जीव दोनों ही प्रकारका है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

ठाणाङ्गकी उक्त टीकामें आश्रवका भेद बतलाते हुए पचीस क्रियाओंको आश्रव का भेद बतलाया है वे क्रियाएं कौनसी हैं और वे अजीवकी क्रिया क्यों मानी जाती हैं?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमें क्रियाके दो भेद बतलाते हुए कहा है कि क्रिया द्विविध होती है एक जीवकी क्रिया और दूसरी अजीवकी क्रिया। वह पाठ यह है—

"दो किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—जीव किरियाचेव अजीव किरियाचेव"

(ठाणाङ्ग ठाणा २)

"तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीव क्रिया, तथा अजीवस्य पुद्गल समुदायस्य यत्कर्मरूपतया परिणमनं सा अजीव क्रियेति"

अर्थः—

क्रिया दो प्रकारकी है। जीवकी और अजीवकी, जीवके व्यापारको जीव क्रिया कहते हैं और पुद्गल समूहके कर्म रूपसे परिणाम होनेको अजीव क्रिया कहते हैं।

अजीव क्रिया दो तरहकी होती है एक ऐर्य्यापथिकी और दूसरी सांपरायिकी, ऐर्य्यापथिकी का कोई अवान्तर भेद नहीं होता परन्तु साम्परायिकी क्रियाके चौवीस भेद होते हैं। चौवीस प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और एक ऐर्य्यापथिकी ये २५ क्रियाएं अजीवकी कही गई हैं। ठाणाङ्ग ठाणा ५ में क्रियाका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है :—

"पंच किरियाओ पन्नत्ताओ तंजहा—कायिया, अहिकरणिया, पाओसिया, परितावणिया, पाणातिवायकिरिया। पंच किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—आरंभिया, परिग्गहिआ, मायावत्तिया, अपचक्खाण किरिया, मिच्छादंसणवत्तिया, पंचकिरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडोच्चिया, सामन्तोवणिया, साहत्थिया।

पंच किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—णेसत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया। पञ्च किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिआ, पयोगकिरिआ, समदाणकिरिआ, इय्यावहिआ।

(ठाणाङ्ग ठाणा ५ उ० २)

अर्थ :—

क्रियाएं पांच प्रकारकी होती हैं (१) कायिकी (शरीरसे की जाने वाली) (२) अधिकरणिकी (खड्ग आदि शस्त्रके द्वारा होने वाली क्रिया) (३) प्राद्वेषिकी (मत्सरसे होने वाली क्रिया) (४) पारितापनिकी—किसी जीवको परिताप देनेसे होने वाली क्रिया। (५) प्राणातिपातकी—प्राणातिपात यानी हिंसासे होने वाली क्रिया।

फिर भी क्रियाओंके पांच भेद हैं (१) आरम्भिकी—आरम्भसे होने वाली क्रिया। (२) पारिग्रहिकी—परिग्रहसे होने वाली क्रिया। (३) माया प्रत्यया—मायासे होने वाली क्रिया। (४) अप्रत्याख्यानिकी—प्रत्याख्यान नहीं करनेसे होने वाली क्रिया। (५) मिथ्या दर्शन प्रत्यया—मिथ्या दर्शनसे उत्पन्न होने वाली क्रिया।

फिर भी क्रियाएं पांच प्रकारकी होती हैं। (१) दिट्ठिया—घोड़े और चित्र आदिको देखनेके लिये आने जानेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (२) पुट्ठिया—राग आदिके कारण किसी जीव या अजीवको स्पर्श करनेसे अथवा पूछनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (३) पाडुच्चिया—किसी चीजके लिये जो क्रिया की जाती है। (४) सामन्तोवणिवाइया—अपने घोड़े आदिकी प्रशंसा सुन कर हर्षित होकर जो क्रिया की जाती है। (५) साहत्थिया—अपने हाथसे किसी जीवको पकड़कर मारनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया।

फिर क्रियाओंके पांच भेद होते हैं। (१) नेसत्थिया-किसी जीवको यन्त्रादिके द्वारा पीड़न करनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (२) आणवणिया-किसी जीव या अजीवको कहीं ले जानेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (३) वियारणिया—किसी जीव या अजीवको विदारण करनेसे होने वाली क्रिया। (४) अणाभोगवत्तिया—पात्र आदि उपकरणोंको असावधानीके साथ लेने या रखनेसे उत्पन्न होने वाली क्रिया। (५) अणवकंखवत्तिया—इस लोक या परलोक के बिगड़नेकी अपेक्षा नहीं रखनेसे होने वाली क्रिया।

फिर भी क्रियाएं पांच प्रकारकी होती हैं। (१) राग प्रत्यया-रागसे होने वाली क्रिया। (२) द्वेषप्रत्यया-द्वेषसे होने वाली क्रिया। (३) प्रयोग क्रिया-काय आदिके व्यापारसे होने वाली क्रिया। (४) समुदान किया-कर्मोंके उपादानसे होने वाली क्रिया। (५) ऐर्य्यापथिकी (योगसे होने वाली क्रिया)

ऊपर कहे हुए मूलपाठमें सब मिल कर २५ क्रियाओंका वर्णन किया गया है उनमें एक ऐर्य्यापथिकी है और २४ साम्परायिकी क्रिया है। ये सभी क्रियाएं आस्रव हैं और कर्मबन्धके हेतु हैं ये क्रियाएं अजीव की कही हैं अतः आस्रव अजीव भी है। यद्यपि सभी क्रियाएं जीवकी सहायतासे ही होती हैं कोई भी जीवकी सहायताके बिना नहीं हो सकती तथापि इन क्रियाओंमें पुद्गलोंके व्यापार की ही प्रधानता रहती है इस लिये ये क्रियाएं अजीव की कही गई हैं। ठाणांग सूत्रकी टीकामें टीकाकारने ऐर्य्यापथिकी और सांपरायिकी क्रियाकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि इन क्रियाओं में पुद्गलों का व्यापार ही मुख्य होता है इस लिये ये क्रियाएं अजीवकी कही गई हैं। वह टीका –

"ईरण मीर्य्या गमनं तद्विशिष्टः पन्थाः ईर्य्यापथस्तत्र भवा ऐर्य्यापथिकी व्युत्पत्ति मात्र मिदं प्रवृत्ति निमित्तन्तु यत्केवल योग प्रत्यय मुपशान्तमोहादित्रयस्य सात वेदनीयकर्मतया अजीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्य्या पथिकी। इह जीव व्यापारेऽपि अजीव प्रधानत्व विवक्षयाऽजीवक्रियेऽयमुक्ता तथा सम्परायाः कषाया स्तेषु भवा साम्परायिकी साह्य जीवस्य पुद्गल राशेः कर्मता परिणति रूपा जीव व्यापारस्याविवक्षणा दजीव क्रियेति साच सूक्ष्मसंपरायान्तानां गुणस्थानकवर्ता भवतीति"

अर्थ :—

जानेको ईर्य्या कहते हैं उससे युक्त जो मार्ग है वह ईर्य्यापथ कहलाता है उसमें जो क्रिया होती है उसे "ऐर्य्यापथिकी" कहते हैं। यह केवल व्युत्पत्ति मात्र है इसके प्रयोगका विषय अर्थ यह है:—उपशान्त मोह, क्षीण मोह, और सयोगीकेवली, इन तीनों गुणस्थानोंमें जो योगोंके कारण पुद्गल राशिका सात वेदनीय कर्मरूपसे परिणाम होता है वह ऐर्य्यापथिक कहलाता है यह क्रिया भी जीवके व्यापारके विना नहीं हो सकती तथापि जीवके व्यापारकी अपेक्षा इसमें पुद्गल राशिके व्यापारकी प्रधानता होती है इस लिये जीवके व्यापारकी अविवक्षा करके इसे अजीवकी क्रिया ही कहा है। संपराय नाम कषायका है उससे जो क्रिया होती है उसे साम्परायिकी कहते हैं पुद्गल राशिका कर्म रूप से परिणाम होना साम्परायिकी क्रिया है। इसमें भी जीवका व्यापार अवश्य होता है परन्तु अति अल्पताके कारण उसकी अविवक्षा तथा बहुत अधिक होनेसे पुद्गल के व्यापार की विवक्षा करके यह साम्परायिकी क्रिया भी अजीव की ही कही गयी है। यह क्रिया दशम गुण स्थान पर्य्यन्त रहती है।

यह उक्त टीकाका अर्थ है।

यहां शास्त्रकार और टीकाकारने ऐर्य्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों ही क्रियाओंको अजीव की क्रिया कहा है इसलिये आश्रवको एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है क्योंकि उक्त २५ क्रियाएं अजीव आश्रव हैं ।

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा दूसरेमें भगवान् महावीर स्वामीने अन्य यूथिकों का मत खण्डन करते हुए प्राणाति पातादि ९६ बोलोंको और जीवको एक होना बतलाया है वह पाठ—

"अण्ण उत्थिआणं भन्ते ! एव माइक्खंति जाव परूवेंति एवं खलु पाणाइवाए मुसावाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवा या । पाणाइवाय—वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे कोह विवेगे जाव मिच्छा दंसण सल्ल विवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया । उप्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया दुग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमाणस्स जाव जीवाया णेरइयत्ते तिरिक्ख मणुस देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया णाणावरणिज्जे जाव अंतराए वट्टमाणस्स जाव जीवाया एवं कण्हलेस्सा ए जाव सुक्कलेस्साए समदिट्ठि ए ३ एवं चक्खु दंसणे ४ आभिणिवोहियणाणे ५ मइ अण्णाणे आहार सण्णाए ४ एवं आरोलिय सरीरे ५ एवं मण जोए ३ सगारो वयोगे अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया से कहमेयं भन्ते ! एवं गोयमा ! जण्णंते अण्ण उत्थिया एव माइक्खंति जाव मिच्छंते एव माहंसु अहं पुण गोयमा ! एव माइक्खामि जाव परूवेमि एवं पाणाइवाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स सचेव जीवे सचेव जीवाया जाव अणागारो वयोगे वट्टमाणस्स सचेव जीवे सचेव जीवाया"

(भगवती शतक १७ उद्देशा २)

अर्थ :—

(प्रश्न) हे भगवन् ! अन्य यूथिक कहते हैं कि "प्राणातिपात और मृषावादसे लेकर मिथ्यादर्शन शल्य पर्य्यंत अठारह बोलोंमें वतमान रहने वाले देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं तथा प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शल्य पर्य्यंत अठारह पापोंके विरमणमें वर्त-

मान देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं। चार प्रकारकी बुद्धि, अवग्रहादिक चार मति ज्ञान, उत्थानादिक वीर्य्योंके भेद, नरक आदि चार गति, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म, कृष्णादि छः लेश्याएं, चक्षुर्दर्शनादि चार दर्शन, अभिनिवोधिक आदि पांच ज्ञान, मति आदि तीन अज्ञान आहरादिक चार संज्ञायें, औदार्य्य आदि ५ शरीर, मन आदि तीन योग, सागार और अनागार दो प्रकारके उपयोग, इन सब बोलोंमें वर्तमान रनेवाले देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं" हे भगवन्! आप इसे कैसा समझते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम! अन्य यूथिकोंका यह कथन मिथ्या है उक्त ९६ बोल और जीवात्मा एक ही है परन्तु एकान्त भिन्न भिन्न नहीं हैं।

यह भगवतीके उक्त पाठका अर्थ है।

यहां भगवानने पूर्वोक्त ९६ बोलोंको जीव कहा है और ९६ बोलों में मनोयोगादि आश्रव भी हैं इसलिये आश्रव कथंचित. जीव भी है और पूर्व वर्णन की हुई क्रिया के हिसाबसे कथंचित अजीव भी है अतः आश्रवको एकान्त जीव मानना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल २ रा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार और उनके गुरु भीषणजीने पुण्य, पाप और बन्धको एकांत रूपी और अजीव, तथा आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहा है। भीषणजीने अपने तेरह द्वारके छट्ठे द्वारमें लिखा है कि—

"पुण्यते शुभ कर्म तेहने पुण्य कहीजे तेहने अजीव कहीजे तेहने वन्ध कहीजे। पापते अशुभ कर्म तेहने पाप कहीजे अजीव कहीजे वन्ध कहीजे। कर्म ग्रहेते आस्रव कहीजे तेहने जीव कहीजे। जींव संघाते कर्म वंधाणा ते वन्ध कहीजे अजीव कहीजे"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पाप पुण्य और वन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है क्योंकि ये तीनों ही पदार्थ जीवात्मामें दूध और पानीकी तरह मिल कर एकाकार बने रहते हैं इसलिये व्यवहार दशामें इन्हें जीवका लक्षण माना है और व्यवहार नयसे इन तीनोंको शास्त्रमें जीव कहा है इसलिये पाप, पुण्य, और वन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है। दूसरी वात यह है कि पाप, पुण्य और वन्ध रूप कर्मकी प्रकृतिसे ही जीवको चार गति और पांच जाति आदि प्राप्त होती हैं और चार गति पांच जाति और छः कायको भगवती आदि

सूत्रोंमें जीव कह कर बतलाया है इसलिये शुभाशुभ कर्मोंसे बंधा हुआ जीवात्मा ही व्यवहार दशामें जीव कहलाता है। गति और जाति आदि जीवसे अलग कहे जाते हों और जीव उनसे अलग कहा जाता हो यह बात नहीं है अतः पुण्य, पाप, और बन्ध भी व्यवहार दशामें जीव ही हैं अजीव नहीं हैं इन्हें एकांत अजीव कहना अज्ञान है।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

पुण्य पाप और बन्ध रूपी हैं और जीव अरूपी है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

(प्ररूपक)

व्यवहार दशामें जीव भी रूपी माना गया है। भगवती शतक १७ उद्देशा २ में जीवको रूपी होना बतलाया है। वह पाठ यह है—

"देवेणं भन्ते! महिड्ढिए जाव महेसक्खे पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए? णो इणट्ठे समट्ठे सेकेणट्ठेणं भन्ते! एवं वुच्चइ देवेणं जावणो पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए? गोयमा! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं वुज्झामि अहमेयं अभिसमण्णागच्छामि मए एवं णायं मए एयं दिट्ठं मए एयं वुद्धं मए एयं अभिसमण्णागयं जण्णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदगस्स समोहस्स सलेस्सस्स ससरीरस्स तओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पण्णायाति तंजहा कालत्तेवा जाव सुक्किलत्तेवा, सुब्भिगंधत्तेवा, दुब्भिगंधत्तेवा तित्तत्तेवा जाव महुरत्तेवा कक्खडत्तेवा जावलुक्खत्तेवा सेतणट्ठेणं गोयमा! जाव चिट्ठित्तए"

(भगवती शतक १७ उद्देशा २)

अर्थः—

हे भगवन्! महेश नामक देवता जो कि बड़ा समृद्धि शाली और शरीरादि पुद्गलोंके सम्बन्धसे रूपी है वह अरूपी होकर रह सकता है या नहीं?

(उत्तर) हे गोतम! यह सम्भव नहीं है।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है?

(उत्तर) हे गौतम! मैं इसे जानता हूं यावत् अनुभव करता हूं यह बात मेरी जानी हुई यावत् अनुभव की हुई है। जो जीव मूर्तिमान् है सरागी है सवेद है और जिसमें मोह, तथा लेश्या विद्यमान है जो शरीरसे छुटा हुआ नहीं है उसमें ये बातें अवश्य पाई जाती हैं जैसे कि यह काला है, यह शुक्ल है, इसमें दुर्गन्ध आता है, इसमें सुगन्ध आता है यह तिक्त है, यह मधुर है यह कर्कश है यह सूक्ष्म है इत्यादि। जिसमें पूर्वोक्त बातें पाई जाती हैं वह रूपी ही बना रहता है कदापि अरूपी नहीं हो सकता।

यह इस पाठका सरल अर्थ है।

इस पाठमें भगवान् ने सराग, समोह, और सलेश्य जीवको रूपी कहा है इसलिये व्यवहार दशामें सराग जीव भी रूपी है। जब कि सराग जीव भी रूपी है तब फिर पुण्य, पाप और बन्ध, इन रूपी पदार्थोंके साथ उसका अभेद व्यवहार होनेमें क्या संदेह है? जो लोग रूपी होनेके कारण पाप, पुण्य और बन्धको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं वे शास्त्रके रहस्यको नहीं जानने वाले अज्ञानी हैं।

इस पाठसे आश्रवके एकान्त अरूपी होनेका सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। इस पाठमें सराग सलेश्य और समोह जीवको रूपी कहा है अतः आश्रव रूपी भी सिद्ध होता है क्योंकि जब जीव भी रूपी है तब जीवस्वरूप आश्रव क्यों नहीं रूपी होगा? इसलिये जो लोग आश्रवको एकान्त जीव मान कर उसे एकान्त अरूपी बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं।

[बोल ४ समाप्त]

(प्रेरक)

क्या पाप, पुण्य और बन्ध अजीव नहीं हैं?

(प्ररूपक)

पाप, पुण्य और बन्ध व्यवहार दशामें जीव और निश्चय नयके अनुसार अजीव हैं इसलिये इन्हें एकान्त अजीव या एकान्त जीव कहना मिथ्या है किन्तु ये कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं यही बात यथार्थ समझनी चाहिये जो इन्हें एकांत अजीव कहता है वह अज्ञानी है।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका यदि व्यवहारनयसे नहीं किन्तु निश्चयनयके अनुसार पाप पुण्य और बन्धको अजीव कहनेका तात्पर्य्य हो तो इसमें क्या आपत्ति है?

(प्ररूपक)

यदि भ्रमविध्वंसनकारका यह तात्पर्य्य हो कि पाप, पुण्य और बन्ध निश्चय नयके अनुसार अजीव हैं परन्तु व्यवहारनयके अनुसार नहीं तो उनके कथनमें कुछ भी

दोष नहीं है किन्तु वह बिलकूल यथार्थ है परन्तु एकान्त रूपसे पाप पुण्य और बन्धको अजीव कहना मिथ्या है। यही बात आश्रवके विषयमें भी है आश्रवको भी यदि भ्रमविध्वंसनकार एकान्त रूपसे जीव और अरूपी न कहें तो कोई भी आपत्ति नहीं है परन्तु वह आश्रवको एकांत अरूपी और जीव कहते हैं यह बात भगवान् के कथनसे ही प्रतिकूल है शास्त्रका कथन यह है कि आश्रव न तो एकांत जीव है और न एकांत अजीव ही है किंतु वह जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है। मिथ्यात्व, कषाय, और योग ये, आश्रव माने जाते हैं और मिथ्यात्व कषाय और योगको चतुस्स्पर्शी और काय योग को अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है अतः आश्रव कदापि एकांत रूपसे जीव नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यात्व, कषाय और योग जीव नहीं हैं। यदि आश्रवको कोई एकांत अजीव कहे तो वह भी ठीक नहीं कहता क्योंकि मिथ्यादृष्टिभी आश्रव माना गया है और मिथ्या दृष्टि, अरूपी और जीवका परिणाम है इसलिये आश्रव जीव भी सिद्ध होता है अतः आश्रवको एकान्त जीव, या एकान्त अजीव, एकान्त रूपी, या एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है।

(बोल ५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारने ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ वें का मूलपाठ लिख कर आश्रव को एकांत अरूपी जीव सिद्ध किया है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारने ठाणाङ्ग ठाणा ५ वें का जो मूलपाठ लिखा है उससे आश्रव एकांत अरूपी और एकांत जीव सिद्ध नहीं हो सकता। वह पाठ लिख कर बतलाया जाता है।

"पंच आसव द्वारा पन्नत्ता तंजहा—मिच्छत्तं, अविरती, पमादो, कसायो, जोगा"

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थ—

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग ये पांच आश्रव द्वारके भेद हैं।

इस पाठमें आश्रव द्वारके भेद मात्र का वर्णन है परन्तु आश्रव जीव है या अजीव है यह निर्णय नहीं किया है इसलिये इस पाठका नाम लेकर आश्रव को एकान्त जीव या अरूपी कहना भोले जीवोंको धोखा देना है।

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशा ५ में मिथ्यात्वको चतुस्स्पर्शी पुद्गल माना है फिर मिथ्यात्व आश्रव एकांत जीव कैसे हो सकता है ? बल्कि इस पाठसे ही आश्रवका अजीव होना ही सिद्ध होता है। दूसरा आश्रव द्वार अव्रत है। अठारह पापोंसे बिलकुल नहीं हटनेका नाम अव्रत है। अठारह पाप चतुःस्पर्शी पुद्गल माने गये हैं इसलिये दूसरा आश्रव द्वार भी अजीव ही सिद्ध होता है। प्रमाद और कषाय, मोहसे उत्पन्न हुई कर्म की प्रकृतिके नाम हैं और मोह कर्मको शास्त्रमें चतुःस्पर्शी पुद्गल माना है इसलिये मोह कर्मसे उत्पन्न होने वाले प्रमाद और कषाय भी चतुःस्पर्शी पौद्गलिक होनेसे अजीव ही सिद्ध होते हैं। पांचवां आश्रव द्वार योग है यह मन, वचन, और कायके भेदसे तीन प्रकारका है। मन और वचनके योगको चतुःस्पर्शी और काय योगको अष्टस्पर्शी कहा है इसलिये योगाश्रव भी अजीव सिद्ध होता है अतः ठाणाङ्ग सूत्र के उक्त पाठका नाम लेकर आश्रवको एकांत जीव बतलाना अज्ञान समझना चाहिये।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारने तीन दृष्टियोंका नाम लेकर मिथ्यात्व आश्रवको एकांत जीव और अरूपी बतलाया है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशा ५ के मूलपाठमें तीन दृष्टियोंको अरूपी और मिथ्यादर्शन शल्यको रूपी कहा है इसलिये मिथ्यात्व आश्रव एकांत अरूपी नहीं हो सकता। भगवतीका पाठ यह है:—

"अहभंते ! पेज्जो दोसे कलहे जाव मिच्छा दंसण सल्ले एसणं कइवण्णे ४ जहेव कोहे तहेव चउफासे"

(भग० शतक १२ उ० ५)

इस पाठमें भगवान्ने मिथ्यादर्शन शल्यको चतुःस्पर्शी पौद्गलिक कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रव रूपी भी है और अजीव भी है उसे एकान्त अरूपी और जीव बताना अज्ञान है।

(प्रेरक)

भगवती सूत्रके उक्त मूलपाठमें मिथ्यादर्शन शल्यको रूपी कहा है परन्तु वह आश्रव नहीं है आश्रव तो केवल मिथ्यादृष्टि है और वह अरूपी है फिर मिथ्यादर्शनके रूपी होनेसे आश्रव कैसे रूपी हो सकता है ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा ५ के मूलपाठमें आश्रव द्वारका भेद बतलानेके लिये "मिच्छत्त" यह पाठ आया है इसका अर्थ है मिथ्यात्व, मिथ्यात्वसे जैसे मिथ्यादृष्टिका ग्रहण होता है उसी तरह मिथ्यादर्शन शल्यका भी—ग्रहण होता है इसलिये मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादर्शन शल्य ये दोनों ही आश्रव हैं केवल मिथ्यादृष्टि ही नहीं अतः मिथ्यात्व पदसे केवल मिथ्यादृष्टिका ही ग्रहण करना और मिथ्यादर्शन शल्यका ग्रहण नहीं करना अप्रामाणिक है। मिथ्यादर्शन शल्य भी आश्रव है और वह रूपी है इसलिये मिथ्यात्व आश्रव को एकांत अरूपी बताना अज्ञान है।

आश्रवके विषयमें भीषणजी और जीतमलजीने कई विरुद्ध बातें भी कह डाली हैं। भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें माना है और मिथ्यादृष्टिको क्षयोपशम भावमें माना है अतः इनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि आश्रव ही नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम भावमें है और आश्रव उदयभावमें है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अतः भीषणजीकी यह प्ररूपणा पूर्वापर विरुद्ध है। भीषणजीके उक्त आशय का लेख यह है—

"आश्रवभाव दोय, उदय और पारिणामिक। मोहनीय कर्मरो क्षयोपशम होय तो आठ बोल पामे चार चारित्र, एक देश व्रत और तीन दृष्टि"

इस लेखमें भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें और मिथ्यादृष्टिको क्षयोपशमभावमें माना है तो भी मिथ्यादृष्टिको आश्रवमें मानना इनके अविवेकका पूर्ण उदाहरण समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०९ पर उत्तराध्ययन सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ इहां पांच आश्रवने कृष्णलेश्याना लक्षण कह्या ते मांटे जे कृष्णलेश्या अरूपी तेहना लक्षण पांच आश्रव ते पिण अरूपी छै" (भ्र० पृ० ३०९)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

कृष्णलेश्या संसारी जीवका परिणाम है और संसारी जीवको भगवती शतक १७ उद्देशा २ में रूपी होना भी कहा है इसलिये कृष्णलेश्या रूपी भी सिद्ध होती है अतः

उसके लक्षण पांच आश्रव रूपी भी हो सकते हैं इसलिये कृष्णलेश्याके लक्षण होनेके कारण पांच आश्रवको एकांत अरूपी कहना मिथ्यात्वका परिणाम है। संसारी जीव रूपी भी हैं इस विषयमें भगवती शतक १७ उद्देशा २ का मूलपाठके सिवाय भगवती शतक २ उद्देशा १ का मूलपाठ भी प्रमाण है वह पाठ यह है:—

"जेऽवियते खंदया! जाव सअंते जीवे अणंतेजीवे तस्सवि-यणं अयमट्ठे एवं खलु जाव दव्वओणं एगे जीवे सअंते खेत्तओणं जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थिपुण से अन्ते। कालओणं जीवे नकदाइ न आसी णिच्चे नत्थिपुण से अन्ते। भाव ओणं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसण पज्जवा अणंता चारित्त पज्जवा अणंता अगुरु लहु पज्जवा णत्थिपुण से अन्ते। सेत्तं दव्वओ जीवेसअंते खेत्तओ जीवे सअन्ते कालओ जीवे अणंते भावओ जीवे अणंते"

(भ० श० २ उ० १)

अर्थ—

हे स्कन्दक! जीव सान्त है या अनन्त है तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जीव द्रव्यसे एक और सान्त है क्षेत्रसे असंख्य प्रदेशी और असंख्य आकाश प्रदेशको व्याप्त किया हुआ है अतः वह सांत है। कालसे जीव अनन्त है क्योंकि वह सब कालमें विद्यमान रहता है कभी भी उसका अभाव नहीं होता। भावसे जीव अनन्त है अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन पर्य्याय, अनंत चारित्र पर्य्याय, अनन्त लघु गुरु पर्य्याय, और अनन्त अगुरु अलघु पर्य्याय जीवके होते हैं अतः भावसे जीव अनन्त है। सारांश यह है कि द्रव्य और क्षेत्रसे जीव सांत और काल तथा भावसे अनन्त है।

यहां मूल पाठमें कहा है कि "जीवके अनन्त लघु गुरु पर्य्याय और अनन्त अलघु अगुरु पर्य्याय होते हैं" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसारी जीव रूपी भी है क्योंकि अरूपी पदार्थके लघु गुरु पर्य्याय और अगुरु अलघु पर्य्याय नहीं हो सकते। इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है—

"अनन्ता गुरुलघुपर्य्याया· औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य इतरेतु कार्मणादि द्रव्याणि जीव स्वरूपंचाश्रित्येति"

अर्थात् औदारिकादि शरीरकी अपेक्षासे जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय कहे गये हैं और कार्मण आदि द्रव्य तथा जीवके स्वरूप की अपेक्षासे अनन्त अगुरु अलघु पर्य्याय कहे गये हैं।

इस टीकासे भी जीवका रूपी होना सिद्ध होता है। यद्यपि निश्चयनयसे निज स्वरूपापन्न जीव रूपी नहीं है किन्तु अरूपी है तथापि इस पाठमें उसका वर्णन न करके संसारी जीवका वर्णन किया गया है संसारी जीव औदारिकादि शरीरके साथ दूध पानी की तरह मिलकर एकाकार हुआ रहता है इस लि इस पाठमें उसके अनन्त गुरु लघु और अनन्त अगुरु लघु पर्य्यायोंका वर्णन है। ग लेश्या संसारी जीवका ही परिणाम है और संसारी जीव इस पाठमें रूपी भी क गया है इस लिये कृष्ण लेश्या रूपी भी है। कृष्ण लेश्या रूपी है इस लिये उसके लक्षण पांच आश्रव रूपी भी हैं उन्हें एकान्त अरूपी कहना शास्त्रसे विरुद्ध समझना चाहिये।

उक्त पाठमें संसारी जीवका औदारिकादि शरीरके साथ अभेद होना सिद्ध होता है और औदारिकादि शरीर, पुण्य पाप तथा बंधकी प्रकृति माना जाता है इस लिये पुण्य पाप और बंधका भी कथंचित् जीव होना सिद्ध होता है। अतः इनको सर्वथा जीवसे भिन्न मानना मिथ्या है।

शुभाशुभ कर्मकी प्रकृतिको भी पुण्य, पाप और बंध कहते हैं और वह कर्मकी प्रकृति, चतुःस्पर्शी पौद्गलिक है इस लिये वह रूपी और जीवसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है उसे जीवसे एकान्त भिन्न मानना मिथ्या है। मिथ्यात्व, कषाय और योगको चतुःस्पर्शी और काययोगको अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है। इस लिये ये सब रूपी और अजीव भी सिद्ध होते हैं एकान्त अरूपी और जीव नहीं अतः आश्रवमात्र को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव कहना अज्ञानका परिणाम है। वस्तुतः किसी अपेक्षासे आश्रव, जीव और अरूपी है और किसी अपेक्षासे अजीव और रूपी है परन्तु एकान्त पक्षका आश्रय लेकर इसे एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम है।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

मिथ्यात्व आश्रवको एकान्त जीव कहना भी भ्रमविध्वंसनकारका दुराग्रह और अपने सिद्धान्तसे ही प्रतिकूल है। ठाणांग सूत्रका मूल पाठ लिख कर पहले बतलाया जा चुका है कि ऐर्य्यापथिकी और साम्परायिकी ये दो क्रियाएं अजीवकी हैं और साम्परायिकी क्रियाके भेदमें मिथ्यात्व और अव्रत भी शामिल हैं इस लिये मिथ्यात्व और अव्रतकी क्रिया अजीवकी क्रिया हैं इन्हें एकान्त जीवकी क्रिया मानना शास्त्रसे सर्वथा प्रतिकूल है।

यद्यपि शास्त्रमें सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही हैं तथापि उनका स्पष्ट अर्थ टीकाकारने यह किया है—

"सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वयोः सतोर्ये भवतस्ते सम्यक्त्व मिथ्यात्व क्रियेति"

(ठाणांग ठाणा २ की टीका)

"सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया है।"

यहां टीकाकारने सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह क्रिया चाहे जीवकी हो या पुद्गल की हो दोनोंको ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी क्रिया कहा है केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रिया नहीं कहा है इस लिये केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कहना मिथ्या है। वास्तवमें ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाएं जीव और पुद्गल दोनों के व्यापारसे होती हैं कोई भी क्रिया अजीवके व्यापारको छोड़कर नहीं हो सकती, अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रियामें जीवके व्यापारकी मुख्यता होती है और किसीमें अजीवके व्यापारकी मुख्यता होती है। साम्परायिकी और ऐर्य्यापथिकी क्रियामें अजीवके व्यापारकी ही प्रधानता है इस लिये वे दोनों अजीवकी क्रिया कही गई हैं इसी तरह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रियामें अजीवका व्यापार अवश्य रहता है परन्तु उसकी अपेक्षासे उनमें जीवका व्यापार ही प्रधान होता है इस लिये सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही गई हैं उनमें सर्वथा अजीवका व्यापार न हो यह बात नहीं है। ज्ञान और इच्छाको छोड़कर सभी क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं परन्तु जीवके व्यापारकी मुख्यताको लेकर किसीको जीवकी क्रिया और अजीवके व्यापारकी प्रधानताको लेकर किसीको अजीव क्रिया कहा है परन्तु दोनों ही प्रकार की क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं। आश्रव, क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंकी हैं इस लिये आश्रव जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है उसे एकान्त जीव कहना अज्ञान है।

[बोल ९ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा १० के पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव सिद्ध करना मिथ्या है। वह पाठ लिख कर यह बतलाया जाता है—

"धम्मे अधम्म सन्ना अधम्मे धम्म सन्ना"

(ठाणाङ्ग)

अर्थः—

धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

यहां विपरीत ज्ञानका स्वरूप समझाते हुए यह लिखा है कि "धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान है" इससे आश्रवका जीव होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस पाठमें कहा हुआ विपरीत ज्ञान, क्षयोपशम भावमें है और आश्रव उदयभावमें है। भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें माना है यह उनका लेख उद्धृत करके पहले बतला दिया गया है अतः उदयभावमें होने वाला आश्रव, अज्ञान या विपरीत ज्ञानकी तरह कदापि एकान्त जीव नहीं हो सकता। आश्रव, मोहकर्मके उदयभावमें माना गया है और मोहकर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं अतः आश्रव भी चतुःस्पर्शी पुद्गल है उसे एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा २ का मूलपाठ लिखकर उसकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं।

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा २ के मूलपाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है। उस पाठमें आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है वह पाठ इसी प्रकरणके सातवें बोलमें लिख दिया गया है उसका भाव यह है—

१८ पाप और उनसे निवृत्ति, बुद्धिके चार भेद, अवग्रहादिक मति ज्ञानके चार भेद, उत्थानादिक पांच, चार गति, आठ कर्म, छः लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार संज्ञाएं, पांच शरीर, तीन योग और साकार तथा अनाकार इन ९६ बोलोंमें रहने वाला जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं, यह अन्य तीर्थियोंका मत है इसका खण्डन करते हुए भगवान्ने कहा है कि "एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्लेवट्टमाणे सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया"

अर्थात् प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शल्य पर्य्यन्त ९६ बोलोंमें रहनेवाला वही जीव है और वही जीवात्मा है। इस पाठसे आश्रवको एकान्त जीव बताना भोले जीवोंको धोखा देना है। इस पाठमें ९६ बोलोंके साथ जीवात्माका कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद बतलाया है आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है। अतः इस पाठके आश्रय से आश्रवको एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

इस पाठमें जो ९६ बोल कहे गये हैं उनमें १८ पाप भी शामिल हैं। उक्त ९६ बोल और जीवात्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं इस लिये अठारह पाप भी कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं परन्तु तेरह पंथके आचार्य जीतमलजी १८ पापोंको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं यह इनका प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध प्ररूपणा समझनी चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

शास्त्रमें रूपी अजीवको कहीं जीवका परिणाम कहा हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके दशवें ठाणेमें रूपी अजीवको जीवका परिणाम कहा है वह पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है।

"दसविहे जीवपरिणामे पं० तं० गतिपरिणामे, इन्दिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सा परिणामे, जोगपरिणामे, उवयोग परिणामे, णाण परिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेय-परिणामे"

(ठाणाङ्ग ठाणा १०)

अर्थः—

जीवके परिणाम दश प्रकारके हैं--(१) गति परिणाम (२) इन्द्रिय परिणाम (३) कषाय परिणाम (४) लेश्या परिणाम [५] योग परिणाम [६] उपयोग परिणाम [७] ज्ञान परिणाम [८] दर्शन परिणाम [९] चारित्र परिणाम [१०] वेद परिणाम।

टीका :—

"परिणमनं परिणाम स्तद्भाव गमनमित्यर्थः यदाह—"परिणामोह्यर्थान्तरगमनं नच सर्वदाव्यवस्थानं नच सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः"। सच प्रायोगिकः गतिरेव परिणामो गति परिणामः एवं सर्वत्र गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादि व्यप-

देश हेतुः। तत्परिणामश्चाभवक्षयादिति सचनरकगत्यादिश्चतुर्विधः गतिपरिणामेच सत्येवेन्द्रिय परिणामो भवतीति तमाह "इन्द्रिय परिणामे" त्ति सचश्रोत्रादिभेदात्पंचधा इन्द्रिय परिणतौचेष्टानिष्टविषयसम्बन्धाद्रागद्वेष परिणति रिति तदनंतरं कषाय परिणाम उक्तः सच क्रोधादिभेदाच्चतुर्विधः। कषाय परिणामेच सति लेश्या परिणतिर्नतु लेश्या परिणतौ कषाय परिणतिः येन क्षीण कषायस्यापि शुक्ल परिणतिर्देशोन पूर्वकोटिं यावद्भवति यतउक्तम्" मुहुत्तद्धं तु जहन्ना उक्कोसा होई पुव्व कोडीओ नवहिं वरिसेहिं ऊणा नायव्वा शुक्कलेस्साय (शुक्ल लेश्याया जघन्यास्थितिः मुहूर्त्तार्धं नववर्षोना पूर्व कोटी उत्कृष्टा ज्ञातव्या भवति) अतो लेश्या परिणाम उक्तः। सच कृष्णादिभेदात्षोढेति। अयञ्च योग परिणामेसति भवति यस्मान्निरुद्धयोगस्य लेश्या परिणामोऽपैति यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवतीति लेश्यापरिणामानन्तरं योगपरिणाम उक्तः सचमनोवाक्काय भेदात्त्रिधेति। संसारिणाञ्च योगपरिणतावुपयोग परिणति र्भवतीति तदनंतरमुपयोग परिणाम उक्तः सच साकारानाकार भेदाद्द्विधेति। सतिचोपयोगपरिणामे ज्ञानपरिणामोऽतस्तदनंतरमसावुक्तः। सचाभिनिबोधिकादि भेदात्पञ्चधा तथा मिथ्यादृष्टे र्ज्ञानमप्यज्ञानमित्यज्ञानपरिणामो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगाज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेषग्रहण साधर्म्याद्ज्ञान परिणाम ग्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्य इति। ज्ञानाज्ञानपरिणामेचसति सम्यक्त्वादिपरिणतिरिति ततोदर्शन परिणामउक्तः सचत्रिधा सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रभेदात्। सम्यक्त्वेसति चरित्रमिति ततस्तत्परिणामउक्तः। सच सामायिकादिभेदात्पंचधेति। स्त्र्यादिवेद परिणामे चारित्र परिणामो नतुचारित्रपरिणामे वेदपरिणतिर्यस्मादवेदकस्या यथाख्यात चारित्र परिणतिर्दृष्टेति चारित्र परिणामान्तरं वेद परिणाम उक्तः। सचस्त्र्यादि भेदात्त्रिविध इति।"

अर्थ :—

रूपान्तर प्राप्तिका नाम परिणाम है कहा है कि न तो सर्वथा अपने रूपमें स्थित रहना और न सर्वथा नाश हो जाना, किन्तु अपनेसे भिन्न किसी दूसरे रूपमें आ जाना परिणाम है। जीवका दूसरे रूपमें आना जीव परिणाम है वह गति आदिके भेदसे दस प्रकारका है। गति रूप जो जीवका परिणाम है वह गति परिणाम है इसी तरह सभी परिणामोंमें समझना चाहिये। गति नामक कर्मके उदयसे नरक आदि व्यवहारका कारण जो जीवका परिणाम होता है वह गति परिणाम है। यह परिणाम जब तक भवका क्षय नहीं होता तब तक बना रहता है। यह नरक आदिके भेदसे चार प्रकारका होता है। गति परिणाम होनेके बाद इन्द्रिय परिणाम होता है इस लिये मूल पाठमें गति परिणामको कहकर पश्चात् इन्द्रिय परिणाम कहा है। श्रोत्र आदिके भेदसे इन्द्रिय परिणाम पांच प्रकार

का है। इन्द्रिय परिणाम होनेके बाद इष्ट और अनिष्ट वस्तुके सम्बन्धसे राग और द्वेष रूप परिणाम होता है अतः इन्द्रिय परिणामको कहकर कषाय परिणाम कहा गया है। वह श्रोत्र आदिके भेदसे चार प्रकारका है। कषाय परिणाम होने पर लेश्या परिणाम होता है अतः कषाय परिणामके बाद लेश्या परिणाम कहा गया है। वह लेश्या परिणाम कृष्ण आदिके भेदसे छः प्रकारका होता है। योग परिणाम होनेके बाद लेश्या परिणाम होता है क्योंकि जिसके योग रुक जाते हैं उसको लेश्या परिणाम नहीं होता इस लिये लेश्या परिणामके बाद ही योग परिणाम कहा गया है। योग परिणाम मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका है। संसारी जीवोंका योग परिणाम होनेपर उपयोग परिणाम होता है इस लिये योग परिणामके बाद उपयोग परिणाम कहा है। उपयोग परिणाम साकार और अनाकारके भेदसे दो तरहका होता है। उपयोग परिणाम होनेके बाद ज्ञान परिणाम होता है इस लिये उपयोग परिणामको कहकर ज्ञान परिणाम कहा गया है। ज्ञान परिणाम, आभिनिवोधिक आदिके भेदसे पांच प्रकारका है। मिथ्या दृष्टियोंके मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभंगाज्ञान भी ज्ञान परिणामसे ही ग्रहण किये जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान रूप परिणाम होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि परिणाम होता है इस लिये ज्ञान परिणामको कहकर दर्शन परिणाम कहा है, यह सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र भेदसे तीन प्रकारका है। सम्यक्त्व परिणाम होनेके बाद चारित्र परिणाम होता है अतः सम्यक्त्व परिणामको कहकर पश्चात् चारित्र परिणामको कहा है। चारित्र परिणाम सामयक आदि भेदसे पांच प्रकारका होता है। चारित्र परिणाम, वेद परिणामके होनेपर होता है परन्तु चारित्र परिणाम होनेपर वेद परिणाम होनेका कोई नियम नहीं है क्योंकि वेद परिणाम रहित जीव में भी यथाख्यात चारित्र देखा जाता है अतः चारित्र परिणामके अनन्तर वेद परिणाम कहा गया है। वेद परिणाम स्त्री आदिके भेदसे तीन प्रकारका है।

यहां मूल पाठ और टीकामें जीवके दश विध परिणाम कहे हैं उनमें ज्ञान, दर्शन, और चारित्र परिणाम तो अरूपी और एकान्त जीव हैं और गति, कषाय, योग और वेद परिणाम रूपी और अजीव हैं। गति, कषाय, योग और वेद आत्माके साथ क्षीर नीर न्यायसे मिलकर एकाकार होकर रहते हैं इस लिये इन्हें जीवका परिणाम कहा है यहां जो गति परिणाम कहा है वह गति नाम कर्मके उदयसे प्राप्त होने वाली नरक आदि चार गतियां समझनी चाहिये। टीकाकारने लिखा है—

"गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादि व्यपदेशहेतुः।"

अर्थात् गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरक आदि व्यवहारका कारण यहां गति समझनी चाहिये" नरक आदि चार गतियां रूपी और अजीव हैं तो भी यहां वे जीवका परिणाम कही गई हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रुपी और अजीव भी जीवका परिणाम होता है।

(बोल १२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३१४ पर ठाणांग ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"इहां तो गति परिणामने भावे गतिने जीव कही, भाव इन्द्रिय, भाव कषाय, भाव योग, भाव वेद, ये सर्व जीवना परिणाम छै" (भ्र० पृ० ३१४)

इनके कहनेका आशय यह है कि गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरक आदि चार गतियां अजीव हैं वे जोवका परिणाम नहीं हो सकती इसलिये ठाणांग ठाणा दशके मूलपाठमें जो जीवका गत्यादि परिणाम कहा है वह भावरूप गत्यादि सम-समझना चाहिये द्रव्य रूप नहीं। इसी तरह द्रव्य इन्द्रिय, द्रव्य कषाय, द्रव्य योग और द्रव्य वेद भी अजीव हैं वे कदापि जीवके परिणाम नहीं हो सकते इसलिये ये भी भाव रूप ही जीवके परिणाम समझने चाहिये द्रव्य रूप नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणांग ठाणा दशके मूलपाठमें जो गति, कषाय, और इन्द्रिय आदिको जीवका परिणाम बतलाया है उसका अभिप्राय भाव गति, भाव, कपाय, और भाव इन्द्रिय बतला कर द्रव्य गति, द्रव्य कषाय और द्रव्य इन्द्रियको जीवका परिणाम नहीं मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है। टीकाकारने गतिके विषयमें स्पष्ट लिखा है कि—

"गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादिव्यपदेशहेतुः"

अर्थात् "यहां गति शब्दसे, गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरकादि व्यवहारका कारण जो गति है वह समझनी चाहिये"

यहां टीकाकारने नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरकादि गतिको जीवका परिणाम बतलाया है इसलिये भाव गत्यादिको ही जीवका परिणाम मान कर द्रव्यग-त्यादिको जीवका परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि रूपी अरूपी सिद्ध करनेके लिये द्रव्य और भावकी कल्पना करना व्यर्थ है। द्रव्य होनेके कारण कोई वस्तु रूपी नहीं होती और भाव होनेसे अरूपी नहीं हो जाती। द्रव्य होनेसे यदि रूपीकी कल्पना की जाय तो धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल द्रव्य भी रूपी मानने पड़ेंगे क्योंकि ये सब द्रव्य हैं। यदि भाव होनेके कारण किसीको अरूपी मान लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव रूप हैं उन्हें औदयिक भावोंमें गिना गया है, परन्तु वे अष्टस्पर्शी रूपी हैं। तात्पर्य्य यह है कि कोई कोई द्रव्य भी अरूपी होता है और कोई कोई भाव भी रूपी होता है। ऐसी हालतमें भ्रमविध्वंसनकार जो अरूपी सिद्ध करनेके लिये भाव की कल्पना करते हैं वह सर्वथा असंगत और शास्त्र न जानने का परिणाम समझना चाहिये।

(बोल १३ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

यहां यह शङ्का होती है कि गति, कषाय और योग चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी पुद्गल माने गये हैं पुद्गल जीव नहीं किन्तु अजीव हैं फिर गति, कषाय और योग को जीवका परिणाम यहां कैसे कहा है? तो इसका उत्तर यह है:—

गुरु लघु पर्य्याय, अष्टस्पर्शी और अगुरु अलघु पर्य्याय चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं तथापि जैसे जीवके साथ एकाकार होकर रहनेसे इन्हें भगवती शतक २ उद्देशा १ में जीवका पर्य्याय कहा है उसी तरह जीवके साथ मिल कर एकाकार होकर रहनेसे गति आदिको ठाणांग ठाणा दशमें जीवका परिणाम कहा है। भगवती शतक २ उद्देशा १ का मूल पाठ यह है:—

"भावओणं जीवे अनंता नाण पज्जवा अनंता दंसण पज्जवा अनंता चारित्त पज्जवा अनंता गुरु लहु पज्जवा अनंता अगुरु अलहु पज्जवा"

(भगवती शतक २ उ० १)

अर्थः—

भाव जीवके अनंत ज्ञान पर्य्याय, अनन्त दर्शन पर्य्याय, अनन्त चारित्र पर्य्याय, अनन्त गुरु लघु पर्य्याय और अनन्त अगुरु अलघु पर्य्याय होते हैं।

यहां भाव जीवके अनन्त गुरु लघु पर्य्याय और अनंत अगुरु अलघु पर्य्याय कहे हैं। गुरु लघु पर्य्याय और अगुरु अलघु पर्य्याय क्रमशः अष्टस्पर्शी और चतुःस्पर्शी

पुद् गल हैं तथापि जीवके साथ एकाकार होकर रहनेसे जैसे इन्हें भाव जीवका पर्य्याय कहा है उसी तरह दुग्ध जलवत् जीवके साथ मिल कर एकाकार होकर रहने से गति आदिको ठाणांग ठाणा १० में जीवका परिणाम कहा है अतः गति आदि को भावरूप मान कर द्रव्य गति को जीव का परिणाम नहीं मानना मिथ्या समझना चाहिये।

[बोल १४ वां समाप्त]

(प्ररूपक)

पन्नावणा सूत्रके पांचवें पदमें मनुष्य जीवके वर्ण, गन्ध, आदि पर्य्याय भी कहे हैं वह पाठ यह है:—

"मनुस्साणं भन्ते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ? गोयमा ! अनंता पज्जवा पण्णत्ता। सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ मणुस्साणं अणंता पज्जवा पण्णात्ता ? गोयमा ! मणुस्से मणुस दव्वट्ठयाए तुल्ले पएसट्ठयाए तुल्ले ओगाहण ट्ठयाए चउट्ठाण वडिए ठीए चउट्ठाण वडिए वन्नगंधरसफासआभिणिबोहियणाणओहिणाणमनपज्जवणाण केवल णाण पज्जवेंहिं तुल्ले तिहिं दंसणेहिं छट्ठाण वणिए केवल दंसण पज्जवेहिं तुल्ले"

(पन्नावणा पद ५)

इस पाठमें मनुष्य जीवके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, पर्य्याय कहे हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूपी और पौद् गलिक हैं तो भी क्षीर नीरकी तरह जीवके साथ मिले हुए होनेसे इन्हें जीवका पर्य्याय कहा है उसी तरह ठाणांग ठाणा दशमें, जीव के साथ मिले हुए होनेसे गति आदिको जीवका परिणाम कहा है।

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्माको रूपी और अरूपी दोनों ही प्रकार का कहा है वह पाठ यह है।

"कइ विहाणं भन्ते ! आया पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता तंजहा—दवि आया, कसायाया, जोगाया, उपयोगाया, णाणाया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया"

(भगवती शतक १२ उ० १०)

अर्थ :—

हे भगवन् ! आत्मा कै प्रकारका होता है ?

हे गोतम ! आत्मा आठ प्रकारका है [१] द्रव्यात्मा [२] कषायात्मा [३] योगात्मा [४] उपयोगात्मा [५] ज्ञानात्मा [६] दर्शनात्मा [७] चारित्रात्मा [८] वीर्य्यात्मा ।

यहां आठ प्रकारका आत्मा कहा गया है। इनमें कषाय, और योग क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं और दोनों ही रूपी हैं इसलिये आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। कषाय और योग रूपी हैं इसलिये कषायाश्रव और योगाश्रव भी रूपी हैं अतः आश्रवको एकान्त अरूपी मानना सर्वथा शास्त्रसे प्रतिकूल समझना चाहिये।

बोल १५ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ ३१५ पर लिखते हैं कि—

ते मांटे कषाय अने योग आत्मा कही ते भाव कषाय भाव योगने कह्या छै ।। भाव कषाय तो आश्रव छै।"

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि उक्त भगवती सूत्र के मूलपाठमें जो कषाय और योगको आत्मा कहा है वह भाव कषाय भाव योग समझना चाहिये। भाव कषाय ही आश्रव है और वह अरूपी है इसलिये आश्रव अरूपी है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशा १० का मूलपाठ १५ वें बोलमें लिख दिया गया है उस पाठमें सामान्य रूपसे लिखा है कि "कषाय और योग आत्मा हैं।" भाव कषाय और भाव योग आत्मा हैं ऐसा वहां नहीं लिखा है इसलिये भाव कषाय और भाव योग को आत्मा मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना भ्रमविध्वंसनकार का अज्ञान है। उस पाठकी टीका और टब्बामें भी नहीं कहा है कि "भाव कषाय और भाव योग ही आत्मा हैं"- तथा दूसरी जगह भी कषाय और योगका द्रव्य भाव रूप भेद नहीं किया गया है अतः भ्रमविध्वंसनकार की पूर्वोक्त कल्पना अप्रामाणिक और मिथ्या है।

यदि कोई कहे कि "कषाय और योग क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी हैं, वे आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि आत्मा अरूपी है" तो यह ठीक नहीं है। भगवती आदि सूत्रोंका प्रमाण देकर यह बतला दिया गया है कि संसारी आत्मा रूपी भी होता है इसलिये कषाय और योगके क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी होने पर भी आत्मा होनेमें कोई सन्देह नहीं है।

(बोल १६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में भाव आत्माके आठ भेद कहे हैं द्रव्य आत्मा के नहीं। भाव आत्मा अरूपी है इसलिये कषाय और योग भी भावरूप ही आत्माके भेद हैं, द्रव्य कषाय योग नहीं। भाव रूप कषाय योग अरूपी हैं इसलिये कषायाश्रव और योगाश्रव भी अरूपी हैं रूपी नहीं। अतः भ्रमविध्वंसनकारने जो भाव रूप कषाय और योगको आत्माका भेद माना है वह ठीक ही मालूम होता है।

(प्ररूपक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्ममात्रके आठ भेद कहे हैं केवल भाव आत्माके ही नहीं। वहां द्रव्य और भावका कुछ जिक्र भी नहीं है इस लिये भगवती सूत्रोक्त आत्माके आठ भेद भाव आत्माके हैं यह कल्पना निर्मूल है। यदि तुम्हारी बात मानकर भगवती सूत्रमें भाव आत्माके ही आठ भेद मान लिये जायं तो योग नामक तीसरा भेद व्यर्थ ठहरता है क्योंकि भाव योगको भीषणजीने वीर्य्य स्वरूप माना है, वह वीर्य्य नामक आठवां भेद अलग कहा गया है उसीमें भाव योग भी शामिल हो जाता है फिर उसे अलग करनेकी क्या आवश्यकता है ? भीषणजीने भाव योगको वीर्य्य स्वरूप माना है वह गाथा यह है—

"योग वीर्य्य तणो व्यापार तिणसूं अरूपी छे भाव जीव".

भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ३१८ में जीतमलजीने लिखा है :—

"अने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार पराक्रम, फोडवे तेहिज भाव योग छे"

भीषणजी और जीतमलजीने भाव योगको वीर्य्य स्वरूप माना है वह वीर्य्य नामक आत्माका भेद जब कि कह दिया गया है तो उससे अलग योग नामक भेद कहने की क्या आवश्यकता है क्योंकि वीर्य्य नामक भेदमें ही भाव योग भी गतार्थ हो जाता है अतः भीषणजी और जीतमलजीका भाव योगको ही आत्माका भेद मानकर द्रव्य योगको आत्माका भेद नहीं मानना नितान्त अज्ञान समझना चाहिये।

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में संसारी आत्माका शरीरके साथ कथंचित् अभेद कहा गया है। वह पाठ—

"आयाभंते ! काया अण्णे काया ? गोयमा ! आयाविकाए अण्णे वि काए। रूवी भन्ते ! काए अरूवीकाए ? गोयमा ! रूवीविकाए अरूवीविकाए"

(भग० शतक १३ उ० ७)

(टीका)

"आयाभंते ! काए" इत्यादि। आत्मा कायः कायेन कृतस्यानुभवना न्नह्यन्येन-कृतमन्योऽनुभवत्यकृताभ्यागमप्रसंगात्। अथान्य आत्मनः कायः कायैकदेशच्छे-देऽपि संवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः। उत्तरंतु आत्मापि कायः कथंचित्त-द्व्यतिरेकात् क्षीर नीरवत् अग्न्ययः पिण्डवत् काञ्चनौपलवद्वा अतएव कायस्पर्शे सत्यात्मनः संवेदनं भवति। अतएव कायेन कृत मात्मना भवान्तरे वेद्यते अत्यन्त भेदे-वाऽकृताभ्यागम प्रसंग इति। "अण्णेऽविकाए" त्ति अत्यन्ता भेदेहि शरीरांशच्छेदे जीवां-शच्छेद प्रसंगः तथाच संवेदनस्यासंपूर्णतास्यात् तथा शरीर दाहे आत्मनोऽपिदाहेन पर लोका भाव प्रसंग इत्यतः कथं चिदन्योऽप्यात्मनः काय इति। अन्यैस्तु कार्मण काय-माश्रित्यात्माकाय इति व्याख्यातम्। कार्मण कायस्य संसार्य्यात्मनश्च परस्पराव्यभि-चारित्वेनैकरूपत्वात्। "अण्णेऽविकाए" त्ति औदारिकादिकाया पेक्षया जीवादन्यः कायः तद्विमोचनेन तद्भेद सिद्धे रिति "रूवीकाए" त्ति रूप्यपि कायः औदारिकादि कायस्थूल रूपापेक्षया। अरूप्यपिकायः कार्मण कायस्यातिसूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्व विवक्षणात्।"

अर्थ :—

हे भगवन् ! आत्मा शरीरसे भिन्न है या शरीर स्वरूप है ?

हे गोतम ! आत्मा कथंचित शरीर स्वरूप है और कथंचित् शरीरसे भिन्न भी है।

इस प्रश्नोत्तरका अभिप्राय यह है:—

आत्मा शरीर स्वरूप है क्योंकि शरीरसे किये हुए का अनुभव आत्माको होता है। यदि आत्मा शरीरसे जुदा होता तो शरीरसे किये हुए का आत्माको अनुभव नहीं होता क्योंकि दूसरेसे किये हुएका अनुभव दूसरे को नहीं होता अतः आत्माका शरीर स्वरूप होना सिद्ध होता है।

आत्मा शरीरसे भिन्न है क्योंकि शरीरके किसी अवयवका विच्छेद होने पर भी ज्ञानका विच्छेद नहीं होता किन्तु ज्ञान पूर्णरूप में ही होता है। यदि आत्मा और शरीर एक होते तो शरीरके किसी अवयवका विच्छेद होने पर सम्पूर्ण रूपसे ज्ञानका उदय नहीं होता। अतः आत्मा शरीरसे भिन्न है। ये दो परस्पर विरुद्ध बातोंको देख कर आत्मा और शरीरके भेद और अभेदका प्रश्न किया गया है। इसका उत्तर यह है:—

आत्मा, कथंचित् शरीर स्वरूप भी है क्योंकि मिले हुए दूध जलकी तरह आग और लौह पिण्डकी तरह पत्थर और सोनेकी तरह आत्मा शरीरसे एकाकार होकर रहता है। अतएव शरीरका स्पर्श होने पर उसका ज्ञान आत्माको होता है और शरीर से किये हुएका फल आत्माको जन्मान्तरमें मिलता है। यदि शरीर के साथ आत्मा का

अत्यन्त भेद हो तो शरीरके कर्मका फल आत्माको कदापि नहीं मिल सकता। दूसरोंके कर्मका फल दूसरेको नहीं मिलता। अतः आत्मा शरीरसे कथंचित् अभिन्न है।

यदि आत्माको शरीरके साथ सर्वथा अभेद मान लिया जाय तो शरीरके किसी अवयवका छेद हो जाने पर आत्माके अंशका भी छेद मानना पड़ेगा और आत्माके अंश का छेद मानने पर सम्पूर्ण रूपमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और शरीरके दाह होने पर आत्माका भी दाह मानना पड़ेगा ऐसी दशामें आत्माके परलोक होने का अभाव होगा अतः आत्मा कथंचित् शरीरसे भिन्न भी है।

किसी किसी टीकाकारने कार्मण शरीरके साथ आत्माका अभेद मान कर 'आया-विकाए'' इसकी व्याख्या की है। उनका आशय यह है कि "ससारी आत्मा और कार्मण शरीर क्षीर नीरकी तरह मिले हुए होनेसे अभिन्न मालूम होते हैं—इसलिये यहां आत्माको शरीर स्वरूप कहा है।"

"औदारिकादि शरीरको आत्मा छोड़ देता है इसलिये औदारिकादि शरीर से आत्माको जुदा मान कर "अण्णेविकाए" यह पाठ कहा है।" औदारिकादि स्थूल शरीर रूपी है उसकी अपेक्षासे कायको रूपी कहा है। कार्मण शरीरका रूप अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिये उस रूपकी अविवक्षा करके काय को अरूपी भी कहा है। यह उक्त मूलपाठके टीकाका अर्थ है।

यहां मूलपाठ और टीकामें संसारी आत्माको शरीरसे कथंचित् अभिन्न माना है अतः संसारी आत्माका रूपी होना भी सिद्ध होता है। जब कि संसारी आत्मा कथंचित् रूपी भी है तब फिर रूपवाले कषाय और योग उसके भेद क्यों नहीं हो सकते हैं? अतः भाव कषाय और भाव योगको आत्माका भेद मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्माका भेद न मानना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

अनुयोग द्वार सूत्रमें, कर्मके उदयसे कषाय और योगकी उत्पत्ति कही गई है। कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले पदार्थ न तो एकान्त जीव हैं और न एकांत अजीव हैं वे कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव दोनों ही तरहके हैं इसलिये कषाय और योगको एकान्त अजीव या एकांत जीव बताना मिथ्या है।

शास्त्रकारोंने मिथ्यात्व अव्रत कषाय और योगको कहीं तो जीव, और कहीं अजीव कहा है। जहां जीव कहा है वहां जीवांशकी प्रधानता और जहां अजीव कहा है वह पुद्गलांश की प्रधानता समझनी चाहिये परन्तु एकान्त जीव या एकांत अजीव बताना शास्त्रका आशय नहीं है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार अनुयोग द्वार सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ ईहां उदयरा दो भेद कह्या उदय, अने उदय निष्पन्न, उदय ते आठ कर्म नी प्रकृति रो उदय, अने उदय निष्पन्नरा दो भेद जीव उदय निष्पन्न अजीव उदय निष्पन्न" यह लिख कर आगे लिखते हैं:—

"इहां तो चौडे कषाय, मिथ्यादृष्टि, अव्रत, योग इयां सर्वाने जीव कह्या छै ते मांटे सर्व आश्रव छै इण न्याय आश्रव जीव छै (भ्र० पृ० ३१७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत और योगको, जीवांशकी मुख्यताको लेकर जीवोदय निष्पन्न कहा है। ये एकान्त जीव हैं इनमें पुद्गलोंका सर्वथा अभाव है यह शास्त्रका तत्पर्य नहीं है क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य्य होता है मिट्टीसे मिट्टीका ही घड़ा बनता है—सोनेका नहीं बनता। आठ प्रकारकी कर्मकी प्रकृतियोंका उदय चतुःस्पर्शी पौद्गलिक माना गया है इसलिये उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी चतुःस्पर्शी पौद्गलिक ही होंगे एकांत अरूपी और एकांत अपौद्गलिक नहीं हो सकते। मिथ्यात्व, अव्रत कषाय और योग आठ प्रकारकी कर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और चतुःस्पर्शी पौद्गलिक हैं एकांत अरूपी और अपौद्गलिक नहीं हैं तथापि जीवांशकी मुख्यताको लेकर शास्त्रमें इन्हें जीवोदय निष्पन्न कहा है। इसलिये इन्हें एकांत जीव और अरूपी मानना मिथ्या है। टीकाकारने स्पष्ट रूपसे यह बात दर्शायी है वह टीका यह है:—

"ननुयथा नरकत्वादयः पर्य्यायाः जीवे भवन्तीति जीवोदय निष्पन्ने औदयिके पठ्यन्ते एवं शरीराण्यपि जीवे एव भवंतीति तान्यपि तत्रैव पठनीयानिस्युः किमिति अजीवोदयनिष्पन्ने अधीयन्ते ? । अस्त्येतत् किन्त्वौदारिकादिशरीरनामकर्मोदय स्य मुख्यतया शरीर पुद्गलेष्वेव विपाक दर्शनात् तन्निष्पन्न औदयिको भावः शरीर लक्षणेऽजीवे एव प्राधान्या दर्शित इत्यदोषः ।"

(प्रश्न) अर्थात् जैसे नरक आदि पर्य्याय जीवमें होते हैं इसलिये वे जीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें पढ़े गये हैं उसी तरह शरीर भी जीवमें ही उत्पन्न होता है इसलिये उसे भी जीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें ही पढ़ना चाहिये।

उसे अजीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें क्यों पढ़ा गया है ?

(उत्तर) ठीक है परंतु औदारिक आदि शरीर नाम कर्मके उदयका विपाक, मुख्य रूपसे शरीर पुद्गलोंमें ही देखा जाता है इसलिये उससे (शरीर नाम कर्मके उदय से) उत्पन्न हुए भावको शरीर रूप अजीवमें ही प्रधानतासे दिखलाया गया है इसलिये कोई दोष नहीं ।

इस टीकामें टीकाकारने शरीरको अजीवोदयनिष्पन्न औदयिक भावमें कहने का कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि "यद्यपि शरीर भी जीवोदय निष्पन्न औदयिक भाव कहा जा सकता है तथापि उसमें पुद्गलांशकी मुख्यता होनेसे अजीवोदय निष्पन्न कहा है ।"

इस टीकाकारकी उक्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शास्त्रमें जीवांशकी मुख्यताको लेकर जीवोदय निष्पन्न और पुद्गलांशकी मुख्यताको लेकर, अजीवोदय निष्पन्न कहा है परन्तु किसीको एकांत अजीव या एकांत जीव कहनेका तात्पर्य्य नहीं है। जीवोदय निष्पन्न पदार्थों में जीवांशकी मुख्यता और अजीवोदय निष्पन्नमें पुद्गलांशकी मुख्यता मात्र समझनी चाहिये परन्तु जीवोदय निष्पन्नमें पुद्गलांशका और अजीवोदय निष्पन्न में जीवांशका सर्वथा अभाव नहीं है । इसी प्रधानताको लेकर ही शास्त्रमें उदयभावके जीवोदय निष्पन्न और अजीवोदय निष्पन्न नामक दो भेद किये हैं एकांत जीव या एकांत अजीवको लेकर नहीं अतः जीवोदयनिष्पन्न भावको एकांत जीव और अजीवोदय निष्पन्नको एकांत अजीव बतलाना मिथ्या है ।

(बोल १८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ३२० पर अनुयोग द्वार सूत्रके पाठकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अने भाव संयोग जे ज्ञानादिक ना भला भावने संयोगे तथा क्रोधादिक मांठा भावने संयोग नाम ते भाव संयोग कह्या तिहां भाव क्रोधादिकने संयोगे क्रोधी मानी मायी लोभी कह्यो ते मांटे ए ज्ञानादिक भाव कह्या ते जीव छै तिम भाव क्रोधादिक पिण जीव छै । एतला भाव क्रोधादिक ४ कह्या ते जीवरा भाव छै ते कषाय आश्रव छै ते मांटे कषाय आश्रवने जीव कही जे" (भ्र० पृ० ३२०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ भाव रूप कहे गये हैं तथापि ये सिर्फ आत्माके ही धर्म नहीं हैं क्योंकि सिद्धात्माओंमें इनका सर्वथा अभाव है और केवल

पुद्गलोंके भी धर्म नहीं है क्योंकि आत्म संसर्ग रहित पुद्गलोंमें इनका सद्भाव नहीं देखा जाता इस लिये पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्माके ये धर्म हैं । पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्मा रूपी संसारी और वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदिसे युक्त माना गया है इस लिये उसके धर्म क्रोधादि भाव भी एकान्त अरूपी नहीं हो सकते । दूसरी बात यह है कि क्रोधादि भाव कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं । कर्म रूपवान है इस लिये उससे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव भी रूपवान हैं एकान्त अरूपी नहीं हैं । यदि कोई ज्ञानादि गुण का दृष्टान्त देकर क्रोधादि भावको भी एकान्त अरूपी कहे तो उसे कहना चाहिये कि ज्ञानादि गुण कर्मके उदयसे नहीं किन्तु कर्मके क्षय, उपशम और क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं और सिद्ध जीवोंमें भी पाये जाते हैं इस लिये ज्ञानादि, अरूपी और आत्माके मौलिक गुण हैं परन्तु क्रोधादि भाव ऐसे नहीं हैं वे कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं और सिद्धात्माओंमें नहीं होते इस लिये वे ज्ञानादि गुणके समान एकान्त अरूपी नहीं हो सकते । यदि भाव रूप कहे जानेसे कोई क्रोधादि भावको एकान्त अरूपी कहे तो उसे कहना चाहिये कि भाव रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी हो जाता है और न द्रव्य रूप होनेसे रूपी ही होता है यह हम पहले ही उदाहरणके साथ बतला चुके हैं अतः भाव रूप होनेसे क्रोधादिको एकान्त अरूपी कहना अज्ञान है ।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३२१ पर अनुयोग द्वार सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां भाव लाभरा २ भेद कह्या । प्रशस्तभावनो लाभते ज्ञान, दर्शन, चारित्र-नो अने अप्रशस्त माठा भावनोलाभ क्रोध, मान, माया, लोभनो लाभ । इहां क्रोधादिकने भाव लाभ कह्या छै ते मांटे ए भाव क्रोधादिकने भाव कषाय कहीजे ते भाव कषायने कषाय आश्रव कहीजे । तथा अनुयोग द्वार सूत्रमें इम कह्यो—सावज्ज जोग विरइ" ते सावद्य योगथकी निवर्तते सामायक । इहां योगाने सावद्य कह्या अने अजीवने तो सावद्य पिण न कहीजे । सावद्य निरवद्य तो जीवने इज कहीजे । इहां योगांने सावद्य कह्या ते मांटे ए भाव योग जीवछै अने योग आश्रव छै इण न्याय योग आश्रवने जीव कहीजे"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुयोग द्वार सूत्रके मूल पाठमें क्रोध, मान, माया और लोभके लाभको अप्रशस्त भावका लाभ कहा है। यहां क्रोधादिको भाव रूप कहा है यह देखकर जीतमलजी इन्हें अरूपी बतलाते हैं परन्तु यह मिथ्या है। पहले बतला दिया गया है कि भाव रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी ही हो जाता है किन्तु अपने कारणके अनुरूप सभी कार्य्य होते है क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं। यदि ये रूपी और पौद्गलिक नहीं हैं तो फिर इन्हें आत्मा का मूलगुण कहना होगा और आत्माका मूलगुण माननेपर सिद्धात्माओंमें भी इनको स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि आत्माके मौलिक गुणोंका कभी भी नाश नहीं होता जैसे ज्ञानादि गुण आत्माके मौलिक गुण हैं अतः वे सिद्ध होनेपर भी आत्मामें मौजूद रहते हैं उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ भी सिद्धात्मामें मानने होंगे परन्तु यह बात जीतमलजीको भी इष्ट नहीं है अतः कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव पौद्गलिक हैं एकान्त अरूपी नहीं हैं यद्यपि ये आत्माके गुण कहे गये हैं तथापि इन्हें पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्माका गुण समझना चाहिये शुद्ध आत्माका गुण नहीं। तात्पर्य यह है कि क्रोधादि भाव आत्माके मौलिक गुण नहीं किन्तु पुद्गल और आत्मके संसर्ग से उत्पन्न होते हैं इस लिये ये एकान्त जीव और एकान्त अरूपी नहीं हो सकते। ज्ञान दर्शन और चारित्र तो आत्माके मौलिक गुण हैं और ये पुद्गलके संसर्गसे उत्पन्न नहीं होते हैं तथा इनके कारण भी कर्मों का क्षय, उपशम और क्षयोपशम हैं कर्मों का उदय नहीं है इसलिये ज्ञानादि गुण एकान्त अरूपी और जीव हैं इनके दृष्टान्तसे क्रोधादि भावोंको एकान्त अरूपी और जीव बताना अज्ञान है।

इसी तरह सावद्यको एकान्त अरूपी और जीव बताना भी मूर्खता है। सुयगडांग सूत्रमें १२ प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और १ प्रकारकी ऐर्य्यापथिकी इन १३ क्रियाओं को अजीव कहा गया है और भ्रमविध्वंसनकारने भी भ्र० पृ० ३१० में ठाणांगका मूल पाठ लिखकर इन क्रियाओंको अजीव क्रिया कहा है और ये १३ क्रियाएं सावद्य मानी गई हैं इसलिये सावद्यका अजीव होना भी सिद्ध होता है। सुयगडांग सूत्रमें उक्त क्रियाओंको सावद्य कहा है। वह पाठ यह है—

"एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए"

(सुयगडांग)

यही पाठ साम्परायिकी क्रियाके लिये भी आया है इस पाठमें साम्परायिकी और ऐर्य्यापथिकी क्रियाको भी सावद्य कहा है अतः निश्चित होता है कि सावद्य रूपी और अजीव भी है उसे एकान्त अरूपी और जीव मानना अज्ञानियोंका काम है।

(बोल २० समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३२२ पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां अकुशल मनने मांठा मनने रूंधवो कह्यो। कुशल मन प्रवर्त्तावणो कह्यो। इमपिण वचन कह्यो। अकुशल मनने रूंधवो कह्यो ते अजीवने किम रूंधे पिण एतोजीव छै।"

इनके कहनेका भाव यह है कि योग प्रतिसंलीनता नामक तपमें आया हुआ योग एकान्त अरूपी और जीव है इस लिये आश्रव एकान्त जीव और अरूपी है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रके मूलपाठमें मन, वचनका योगके समान कायका योग भी कहा हुआ है परन्तु भ्रमविध्वंसनकारने काय योगके पाठको छोड़कर अधूरा पाठ लिखा है। काय योग प्रत्यक्ष ही रूपी और अजीव है और वह भी योगप्रतिसंलीनता नामक तपमें कहा हुआ योगमें शामिल है इस लिये योग प्रतिसंलीनता नामक तपमें आये हुए योग को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव बताना मिथ्या है। उवाई सूत्रका पूर्ण पाठ इस प्रकार है—

"सेकिंतं मणजोगपडिसंलीनया ? अकुसलमनणिरोहोवा, कुसल मनउदीरणंवा सेतं मणजोगपडिसंलीनया। सेकिंतं वयजोगपडिसंलीनया ? असकुलवयणिरोहोवा कुसलवयउदीरणंवा सेतं वय जोगपडिसंलीनया। सेकिंतं कायजोगपडिसंलीनया ? जण्णं सुसमाहितपाणिए कुम्भोइव गुत्तिंदिए सव्वगायपडिसंलीने चिट्ठइ सेतं कायजोगपडिसंलीनया"

(उवाई सूत्र)

अर्थः—

[प्रश्न] मनोयोग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?

[उत्तर] अकुशल मनको रोकना और कुशल मनको प्रवृत्त करना, मनोयोग प्रतिसंलीनता है।

[प्रश्न] वचनयोग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?

[उत्तर] अकुशल वचनको रोकना और कुशल वचनको प्रवृत्त करना वचनयोगप्रतिसंलीनता है।

[प्रश्न] काययोगप्रतिसंलीनता किसको कहते हैं ?

[उत्तर] हाथ पैर आदि अवयवोंको सुसमाहित रखना तथा कच्छपकी तरह अपनी इन्द्रिय और अवयवोंको संकुचित रखना "काययोग प्रतिसंलीनता" है।

यहां अकुशल मन वचन और कायके योगको रोकना तथा कुशल मन वचन और कायके योगको प्रवृत्त करना योगप्रतिसंलीनता नामक तप कहा गया है परन्तु जीतमलजी लिखते हैं कि "अजीवने किम रूंधे पिण एजीव छै" यदि अजीव नहीं रोका जा सकता तो इस पाठमें अकुशल कायके योगका निरोध करना क्यों कहा गया है ? क्योंकि शरीर और उसकी इन्द्रियां तो जीतमलजीके मतमें भी प्रत्यक्ष ही एकान्त अजीव और पौद्गलिक हैं। यदि अजीव होनेपर भी शरीर और इन्द्रियां रोकी जा सकती हैं तो फिर मन और वचन भी अजीव होनेपर क्यों नहीं रोके जा सकते ? अतः इस पाठमें अकुशल मन वचनको रोकनेके लिये कथन होनेसे मन और वचन के योगको एकान्त जीव और अरूपी बताना मिथ्या है।

दूसरी बात यह है कि भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में वचनको अजीव और रूपी कहा है इसलिये वचनका योग रूपी और अजीव है। वह पाठ यह है—

"आयाभंते ! भासा अण्णा भासा ? गोयमा ! णो आया भासा अण्णा भासा ! रूपी भंते ! भासा अरूपो भासा ? गोयमा ! रूपी भासा णो अरूपी भासा"

अर्थ :—

[प्रश्न] हे भगवन् ! भाषा, (वचन) आत्मा है या अन्य है ?

[उत्तर] हे गोतम ! भाषा आत्मा नहीं है, आत्मासे अन्य है।

[प्रश्न] हे भगवन् ! भाषा (वचन) रूपवती है या अरूपवती है ?

[उत्तर] हे गोतम ! भाषा रूपवती है अरूपवती नहीं है।

इसी तरह मनके विषयमें भी पाठ आया है। वह पाठ यह है—

"आया भन्ते! मणे अण्णे मणे णो आया मणे अण्णे मणे"

अर्थ :—

हे भगवन्! मन आत्मा है या आत्मासे भिन्न है?

हे गोतम! मन आत्मा नहीं है किन्तु वह आत्मासे भिन्न है।

उक्त पाठमें मन और वचनको रूपी और आत्मासे भिन्न कहा है इस लिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं इस लिये मन वचन और योगको एकान्त अरूपी और जीव मान कर आश्रवको एकान्त जीव कहना अज्ञान है। भाव मन और भाव वचनकी कुयुक्ति लगा कर आश्रवको एकान्त जीव और अरूपी बताना भी मिथ्या है क्योंकि मूलपाठमें भाव होनेसे किसीको एकान्त अरूपी और जीव नहीं कहा है और द्रव्य होनेसे किसीको एकान्त रूपी और अजीव भी नहीं कहा है अतः शास्त्र विरुद्ध आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल २१ समाप्त]

(प्रेरक)

आश्रवको जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका कहीं कहा हो तो उसे उदाहरण सहित बतलाइये?

(प्ररूपक)

ठाणांग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें ही माना है। वह टीका यह है—

"नव सब्भावे" त्यादि सद्भावेन परमार्थेनानुपचारेणेत्यर्थः पदार्थाः वस्तूनि नव सद्भावपदार्थास्तद्यथा जीवाः सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणाः अजीवास्तद्विपरीताः पुण्यं शुभप्रकृतिरूपं कर्म, पापं तद्विपरीतं कर्मैव। आश्रूयते गृह्यते कर्माऽनेनेत्याश्रवः शुभाशुभ कर्मादान हेतुरिति भावः। संवर आश्रवनिरोधो गुप्त्यादिभिः निर्जरा विपाकात्तपसावा कर्मणां देशतः क्षपणा बन्ध आश्रवैरात्तस्य कर्मणः आत्मना संयोगः। मोक्षः कृत्स्न कर्म-क्षयादात्मनः स्वात्मन्यधिष्ठानम्। ननु जीवाजीव व्यतिरिक्ताः पुण्यादयोनसंति तथा युज्य-मानत्वात् तथाहि—पुण्य पापे कर्मणी बन्धोऽपि तदात्मकएव। कर्मच पुद्गल परिणामः पुद्गलाश्चाजीवा इति। आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्यकोऽन्यः। संवरोऽपि आश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वभेदादात्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः। निर्जरातु कर्म परिशाटोजीवः कर्मणां यत्पार्थक्य मापादयति स्व-शक्त्या। मोक्षोऽप्यात्मा समस्त कर्म विरहित इति तस्माज्जीवाजीवौ सद्भावपदार्थाविति

वक्तव्यम् अतएवोक्तमिहैव "यदत्थि चणं लोए तंसव्वं दुप्पडोयारं तंजहा—जीवच्चेअ अजीवच्चेअ अथोच्यते सत्यमेतत् किन्तु द्वावेव जीवाजीव पदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्ताविति"

अर्थ :—

पदार्थ नौ प्रकारके हैं (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध (९) मोक्ष। सुख दुःख ज्ञान और उपयोग लक्षण पदार्थको जीव कहते हैं और उससे भिन्न पदार्थका नाम अजीव है। शुभ प्रकृति रूप कर्म 'पुण्य' और अशुभ प्रकृति रूप कर्म पाप कहलाते हैं। शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारके कर्मोंका ग्रहण जिससे होता है उसे "आश्रव" कहते हैं। गुप्ति आदिके द्वारा आश्रवको रोक देना 'संवर' है। विपाक या तपस्यासे देशसे कर्मोंका क्षपण करना निर्जरा है। आश्रवके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मोंका आत्माके साथ संयोग होना 'बंध' कहलाता है। सब कर्मोंके क्षय होनेपर आत्माका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना 'मोक्ष' है।

(शंका)

उक्त नव ही पदार्थ जीव और अजीव नामक दो ही पदार्थमें शामिल हो जाते हैं। इन्हें अलग कहनेकी क्या आवश्यकता है? पाप और पुण्य कर्मस्वरूप हैं और वन्ध भी कर्म स्वरूप ही है कर्म पुद्गलोंका परिणाम है पुद्गल अजीव हैं इसलिये पाप, पुण्य और वन्ध ये तीनों पदार्थ अजीवमें गतार्थ होते हैं। मिथ्या दर्शनादि रूप आश्रव जीवका परिणाम है वह जीव और पुद्गलोंको छोड़कर अन्य क्या हो सकता है? (अर्थात् आश्रव कोई तो जीवका परिणाम है और कोई पुद्गलका परिणाम है अतः वह जीव और अजीव दोनोंमें ही गतार्थ है) देश या सर्वसे आश्रवको रोकने वाला निवृत्तिस्वरूप संवर भी जीवका ही परिणाम है। कर्मोंका परिशाटन रूप निर्जरा भी जीव स्वरूप ही है क्योंकि जीव ही अपनी शक्तिसे कर्मोंको अपनेसे पृथक कर देता है। मोक्ष भी जीवस्वरूप ही है क्योंकि समस्त कर्मोंसे रहित हुआ जीव ही मोक्ष माना जाता है इस प्रकार उक्त नौ ही पदार्थ जीव और अजीव नामक दो ही पदार्थमें शामिल हो जाते हैं। कहा भी है—लोकमें जो कुछ देखा जाता है वह कोई तो जीव और कोई अजीव है।

(उत्तर)

यह सत्य है परन्तु सामान्य रूपसे संक्षेपमें बतलाये हुए जीव और अजीव पदार्थोंका ही यहां विशेष रूपसे उल्लेख करके उनका प्रपंच समझाया गया है इस लिये यहां जो

पदार्थोंका नौ भेद किया है इसमें कोई दोष नहीं है। वास्तवमें पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं।

यहां टीकाकारने आश्रवके विषयमें लिखा है कि "सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः" अर्थात् वह आश्रव आत्मा और पुद्गलोंको छोड़कर अन्य क्या है? अर्थात कुछ भी नहीं है। आश्रव, आत्मा और पुद्गल इन दोनोंका परिणाम स्वरूप ही है यह टीकाकारका आशय है इस लिये आश्रवको एकान्त जीव मानना इस टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये। यद्यपि टीकाके इस पूर्वोक्त वाक्यके पहले आश्रवके सम्बन्धमें यह वाक्य आया है कि "आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य" तथापि इस वाक्यमें "परिणामो जीवस्य" इसमें दो तरहका सन्धि विच्छेद है—"परिणामः जीवस्य" परिणामः अजीवस्य" इन दोनों ही प्रकारका छेद करके आश्रवको जीव और अजीव दोनोंका परिणाम बताना टीकाकारको इष्ट है। यदि आश्रवको केवल जीवका ही परिणाम बताना इष्ट होता तो टीकाकार यह कैसे लिखते कि "सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः। अतः टीकाकारका "परिणामो जीवस्य" इसमें पूर्वोक्त रीतिसे द्विविध सन्धिका विच्छेद करना तात्पर्य है। परन्तु जीतमलजीने भोले जीवोंको भ्रममें डालनेके लिये इस टीकाके "सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः इस वाक्यका अर्थ नहीं करके केवल "आश्रवस्तु मिथ्या दर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य इसीका अर्थ करके छोड़ दिया है और वह अर्थ भी "परिणामः जीवस्य" इस विच्छेदके अनुसार ही किया है "परिणामः अजीवस्य" इस विच्छेदके अनुसार नहीं किया है अतः आश्रवको एकान्त अजीव कहना उनका अज्ञान समझना चाहिये।

बोल २२ वां समाप्त

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में पाठ आया है कि—"दुखी दुखेण फुडे नो अदुखी दुखेण फुडे" अर्थात् कर्मोंसे युक्त पुरुष ही कर्मका स्पर्श करता है परन्तु अकर्मा पुरुष, कर्मका स्पर्श नहीं करता" यदि अकर्मा (कर्म रहित) पुरुषको भी कर्मका स्पर्श हो तो सिद्धात्मा पुरुषोंमें भी कर्मका स्पर्श मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात नहीं होती अतः निश्चित होता है कि कर्म भी कर्मके ग्रहण करनेमें कारण होनेसे आश्रव हैं। तथा भगवती में इस पाठके आगे यह पाठ आया है कि "दुखी दुखं परियायइ" अर्थात कर्मसे युक्त मनुष्य कर्मका ग्रहण करता है" इस पाठसे कर्मका आश्रव होना सिद्ध होता है। कर्म पौद्गलिक अजीव है इस लिये आश्रव, पौद्गलिक अजीव भी सिद्ध होता है उसे एकान्त जीव मानने वाले अज्ञानी हैं।

इसके पहलेके बोलमें ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकाकी साक्षी देकर जो पाप, पुण्य और वन्धको अजीवमें, और संवर, मोक्ष तथा निर्जराको जीवमें एवं आश्रवको जीव और अजीव दोनों ही में गतार्थ किया है वह निश्चय नयके अनुसार समझना चाहिये क्योंकि व्यवहारनय में पाप, पुण्य और वन्ध को आत्मा का परिणाम भी कहा है। वह पाठ यह है।

"अह भंते ! पाणाइवाए मुसावाए जावमिच्छादंसणसल्ले, पाणाइवायवेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे उप्पत्तिया जाव परिणामिया उग्गहे जावधारणा उट्ठाणे कम्मे वले वीरिए पुरिसक्कार परक्कमे णेरइयत्ते असुर कुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते णाणावरणिज्जे जाव अन्तराइए कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा समदिट्ठिए ३ चक्खु दंसणे ४ ओरालिय सरीरे ५ मण जोगे ३ सागारोवयोगे जेयावण्णे तहप्पगारा सव्वेते णणत्थ आत्ताए परिणमन्ति ? हंता ! गोयमा ! पाणाइवाए जाव सव्वेते णणत्थ आत्ताए परिणमन्ति ।"

(भगवती शतक २० उद्देशा ३)

अर्थः—

हे भगवन् ! प्राणातिपात और मृषा वादसे लेकर मिथ्यादर्शन शल्य पर्य्यन्त, और प्राणातिपात विरमणसे लेकर यावत् मिथ्या दर्शन शल्य विवेक पर्य्यन्त, औत्पातिकी यावत् परिणामिकी, अवग्रह यावत् धारणा, उत्थान, बल, वीर्य्य, कर्म्म, पुरुषाकार पराक्रम, नैरयिकत्व, असुर कुमारत्व, यावत् वैमानिकत्व, ज्ञानावरणीय यावत् आन्तरायिक, कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या, सम्यग्दृष्टि आदि तीन, चक्षुर्दर्शनादि चार, आभिनिवोधिकादि पांच ज्ञान, यावत विभंग ज्ञान आहारादि चार संज्ञाएं औदारिकादि पांच शरीर, मनोयोगादि तीन योग, साकार और अनाकारोपयोग ये सब पदार्थ क्या आत्माके ही परिणाम हैं ?

[उत्तर] हां गोतम ! प्राणातिपातसे लेकर उक्त सभी बोल आत्माके ही परिणाम हैं दूसरोंके नहीं।

इस पाठमें प्राणातिपातसे लेकर अनाकारोपयोग पर्य्यंत सभी आत्माके ही परिणाम कहे हैं इसलिये पुण्य पाप और वंध भी व्यवहारनयमें जीव है इन्हें एकांत अजीव कहना अज्ञानका परिणाम है।

बोल २३ वां समाप्त

(इति आश्रवाधिकारः समाप्तः)

अथ जीवाजीवादि पदार्थ विचारः।



(प्ररूपक)

जैन शास्त्रमें, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष ये नव तत्व माने गये हैं। ये नव ही तत्व, किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं। इसका विवेक नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

जीव, निश्चयनयसे अरूपी और व्यवहार नयसे रूपी है। कौए बगले आदि शरीर धारी प्राणियोंको जीव कहते हैं और वे रूपी हैं अतः व्यवहार नयसे जीव रूपी है। सिद्धात्मा, रूपरहित होते हैं और वे भी जीव हैं इसलिये निश्चय नयसे जीव निराकार निरञ्जन और रूप रहित है। ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दोमें जीवके दो भेद किये हैं एक संसारी और दूसरा सिद्ध उनमें संसारी जीव रूपी और सिद्ध अरूपी हैं।

अजीव पदार्थ भी रूपी और अरूपी दो तरहका है। धर्म्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है।

पुण्य और पाप, रूपी और अरूपी दो तरहके हैं। आत्माका, अन्नादि दान करनेके लिये जो शुभ अध्यवसाय होता है वह पुण्य है। उक्त शुभ अध्यवसाय अरूपी है इसलिये पुण्य अरूपी है। ४२ प्रकारकी पुण्यकी प्रकृति अनंत पुद्गलोंके स्कन्धसे उत्पन्न होती हैं अतः शुभकरनीसे उत्पन्न हुआ पुण्य रूप फल रूपी है। हिंसा आदि करनेके लिये जो बुरा अध्यवसाय या आत्मपरिणाम होता है वह पाप है वह अध्यवसाय अरूपी है इसलिये पाप अरूपी है। पापका फल जो ८२ प्रकृतियोंका उदय है वह भी पाप कहलाता है और वह रूपवान् है इसलिये पाप रूपी भी है।

आश्रव भी रूपी और अरूपी दो तरहका होता है शुभ, और अशुभ अध्यवसाय, छः भाव लेश्याएं, मिथ्यात्व आदि जीवके परिणाम ये सब कर्मबन्धके कारण होनेसे आश्रव कहलाते हैं ये रूपी नहीं हैं इसलिये आश्रव अरूपी है। कर्म और अजीवकी २५ क्रियाएं, छः द्रव्यलेश्या, मिथ्यात्व आदि कर्मकी प्रकृति ये सब कर्मबन्धके कारण होनेसे आश्रव कहे जाते हैं ये सब रूपी हैं इसलिये आश्रव भी रूपी है।

संवर भी रूपी और अरूपी दो प्रकारका होता है। सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये सब संवर कहे जाते हैं। ये जीवके गुण और अरूपी हैं इस-

लिये संवर भी अरूपी है। जीवरूपी तालाबमें आने वाले कर्मरूपी जलको रोक देना संवर है और रुके हुए कर्म, रूपी हैं इसलिये संवर रूपी भी है।

निर्जराभी रूपी और अरूपी दो प्रकारकी होती है। आत्माके किसी एक देशसे कर्मों का झड़ जाना और कर्मों के झड़ जानेसे आत्म प्रदेशका निर्मल हो जाना निर्जरा है। वह आत्म प्रदेश अरूपी है इसलिये निर्जरा अरूपी है। आत्म प्रदेशसे झड़े हुए कर्म पुद्गल भी निर्जरा कहलाते हैं वे रूपी हैं इसलिये निर्जरा भी रूपी है।

बन्ध भी रूपी और अरूपी दो तरहका होता है। शुभ और अशुभ कर्मों के बन्ध का हेतु जो आत्म परिणाम है वह "बंध" कहलाता है वह आत्म परिणाम अरूपी है इस लिये बंध भी अरूपी है। शुभ और अशुभ कर्मकी प्रकृतियोंके बन्धनको भी "बंध" कहते हैं। कर्मकी प्रकृति रूपी है इसलिये बंध भी रूपी है।

मोक्ष भी रूपी और अरूपी दो प्रकारका है। आत्मा का कर्मबन्धन से सर्वथा छुट कर अपने सहज रूपमें स्थित हो जाना मोक्ष है वह आत्माका स्वाभाविक रूप है और आत्मा अरूपी है इसलिये मोक्ष अरूपी है। जो कर्म, आत्मासे पृथक् हो जाते हैं वे भी मुक्त कहे जाते हैं वे कर्म रूपी हैं इसलिये मोक्ष भी रूपी है। इस प्रकार नौही पदार्थ किसी अपेक्षासे रूपी और किसी अपेक्षासे अरूपी हैं।

(बोल १ समाप्त)

(प्ररूपक)

मुख्यनयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है।

भगवती शतक १२ उद्देशा ५ में, आठ कर्म, अठारह पापस्थानक, दो योग, तैजस और कार्मण शरीर, सूक्ष्म स्कन्ध, इन तीस बोलोंमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श बतलाए हैं। घनोदधि घनवात, तनुवात, चार शरीर, बादर स्कन्ध, छः द्रव्यलेश्या, और काय योग इनमें पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श कहे गये हैं। आठरह पापोंसे विरमण, बारह उपयोग, छः भाव लेश्या, चार संज्ञाएं औत्पत्यादिक बुद्धिके चार भेद, अवग्रहादिक चार मतिज्ञान, उत्थानादिक चार, तीन दृष्टि, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और काल इनको वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रहित होनेसे अरूपी कहा है। अतः पुण्य, पाप, और बंध ये तीन कर्म स्वरूप होनेसे रूपी हैं। छः द्रव्यलेश्या, तीन योग, पांच शरीर, हिंसा, मृषावाद, चोरी, मिथुन, परिग्रह ये सब रूपी हैं और आश्रव हैं इसलिये आश्रव भी रूपी है।

यद्यपि छः भावलेश्या, मिथ्यादृष्टि, और चार संज्ञा आदि भी आश्रव हैं और वे अरूपी हैं तथापि मुख्यनयमें ये रूपी ही माने जाते हैं क्योंकि आश्रवको त्यागनेयोग्य कहा है और त्याग रूपी वस्तुका ही होता है इसलिये मुख्यनयमें आश्रव रूपी है अरूपी नहीं। आश्रव उदयभावमें माना गया है इसलिये परगुण होनेसे वह रूपी है अरूपी नहीं। मन, और भाषा, चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी माने गये हैं और वे भी आश्रव हैं इसलिये निश्चयनयमें आश्रव रूपी ही है अरूपी नहीं है। अठारह पापोंसे निवृत्त हो जाना संवर है वह अरूपी है। निर्जरा और मोक्ष आत्माके स्वाभाविक गुण हैं इसलिये अरूपी हैं। जीव, निश्चयनयसे निराकार और निरञ्जन है इसलिये जीव, संवर, मोक्ष, और निर्जरा ये चार निश्चय नयमें अरूपी हैं।

अजीव पदार्थमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है इसलिये निश्चनयमें अजीव तत्त्व, रूपी और अरूपी दोनों ही प्रकारका है।

[बोल २ रा]

उक्त नौ ही पदार्थ किसी अपेक्षासे जीव माने जाते हैं। किसी अपेक्षा से एक जीव और आठ अजीव माने जाते हैं। किसी अपेक्षासे आठ जीव और एक अजीव माना जाता है। किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव माने जाते हैं परन्तु मुख्यनयमें एक जीव, एक अजीव और शेष सात पदार्थ जीव और अजीव इन दोनोंके पर्याय माने जाते हैं।

इसका खुलासा इस प्रकार समझना चाहिये।

जीव और अजीव आदि पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको "तत्त्व" कहते हैं उसके ज्ञानका नाम तत्त्वज्ञान है वह तत्त्वज्ञान जीवरूप है इसलिये तत्वज्ञानकी अपेक्षासे नौ ही पदार्थ जीव माने जाते हैं। जैसे अनुयोग द्वार सूत्रमें शब्दादि तीन नयवालोंके मतमें आत्माके उपयोगको "पायली" कहा है और आत्माका उपयोग आत्मस्वरूप है इसलिये पायलीको भी आत्मा कहा है उसी तरह नवतत्वोंका जो उपयोग है वही नवतत्व है और वह उपयोग जीव है इसलिये शब्दादि तीन नयवालोंके मतमें नव ही तत्त्व जीव हैं।

किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ पदार्थ अजीव हैं। एक तो अजीव पदार्थ स्वतः सिद्ध ही है बाकीके सात पदार्थोंका द्रव्य, पुद्गल स्वरूप है इसलिये एक जीव और आठ पदार्थ अजीव हैं।

(किसी अपेक्षासे एक अजीव और आठ जीव हैं)

इसका विचार इस प्रकार है:—उक्त नव तत्त्वोंमें एक तो जीव सिद्ध है बाकी, अजीव तत्वको छोड़कर सब जीव हैं क्योंकि पन्नावणा सूत्रके पांचवें पदमें ३६ बोलों को आत्माका पर्य्याय कहा है। भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में कायको आत्मा, सचेतन और जीव कहा है। आवश्यक सूत्रमें "सचित्त आहारे" यह पाठ देकर आहारको सचित्त कहा है। भगवती शतक २० उद्देशा २ में ११६ बोलोंको जीवात्मा कहा है। वे बोल ये हैं—

अठारह पाप और अठारह पापोंसे विरमण, औत्पातिकी आदि चार बुद्धि, अवग्रहादिक मति ज्ञानके चार भेद, उट्ठाणादिक पांच वीर्य्य नारकी आदि चौबीस दण्डक, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म, छः लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार संज्ञा, पांच शरीर, तीन योग, दो उपयोग ये ११६ बोल जीवात्माके परिणाम हैं।

इन बोलोंमें पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, बंध, मोक्ष, निर्जरा सभी शामिल हैं इस लिये आठ जीव हैं और एक अजीव है।

ठाणांग सूत्रके दूसरे ठाणामें कालको जीव और अजीव दो तरहका माना है वहां कहा है कि जीवके साथ सम्बन्ध रखने वाले काल, धूप, छाया, भवन, विमान आदि जीव हैं और अजीवके साथ सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोक्त काल आदि अजीव हैं। संसारी जीव पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये आठ पदार्थ कर्म और काया को छोड़कर नहीं रहते किन्तु इनके साथ ही रहते हैं। अतः ये आठ पदार्थ जीव, हैं और एक अजीव है।

[बोल ३]

(किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव हैं)

पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध, जीवके निज गुण नहीं हैं किन्तु कर्मके परिणाम रूप होनसे ये दूसरेके गुण हैं। अतः निश्चय नयमें ये चारों अजीव हैं, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये आत्माके निज गुण हैं इस लिये गुण गुणीके अभेद न्यायसे, निश्चय नयमें ये जीव हैं। अनुयोग द्वार सूत्रमें लिखा है कि—

"जीवगुणप्पमाणे तिविहे पन्नत्ते तंजहा—नाणगुणप्पमाणे दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे"

अर्थात्, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों आत्माके निजगुण हैं इस लिये गुण गुणीके अभेद होनेसे ये भी जीव हैं। उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमें जीवका लक्षण बताते हुए लिखा है कि—

"जीव उपयोग लक्खणं" नाणंच दंसणं चेव चरित्तंच तवो त्तहा वीरियं य उवयोगो य एयं जीवस्स लक्खणं"

अर्थात ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्य्य और उपयोग, ये जीवके लक्षण हैं। अतः गुण गुणीके अभेद होनेसे ये भी जीव हैं।

आचारांग सूत्रके पांचवें अध्यायमें मूलपाठ आया है कि "जे आया से विन्नाया" अर्थात् जो आत्मा है वही विज्ञान है। इस लिये विज्ञान भी आत्मा है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ९ में महावीर स्वामीके स्थविरोंने कालास्य-वैशिक मुनिसे कहा है कि "आयाणं अज्जो सामाइए आयाणं अज्जो सामाइयस्स अट्ठो" अर्थात् हे आर्य्यो! आत्मा ही सामायक है और आत्मा ही सामायकका प्रयोजन है। इसी तरह संयम, प्रत्याख्यान, चारित्र और व्युत्सर्ग ये सब भी आत्मा कहे गये हैं। अतः संवर, निर्जरा और मोक्ष आत्माके निज गुण होनेसे जीव हैं। पाप, पुण्य, आश्रव और बन्ध ये कहीं भी निश्चय नयमें आत्माके निज गुण नहीं कहे हैं किन्तु कर्मके परिणामस्वरूप होनेसे ये दूसरेके गुण हैं। अत: जीव, संवर और मोक्ष तथा निर्जरा ये चार पदार्थ जीव हैं और अजीव, आश्रव, पाप, पुण्य और बन्ध ये पांच अजीव हैं।

[बोल ४ समाप्त]

(किसी अपेक्षासे एक जीव, और एक अजीव और सात इन दोनोंके पर्य्याय हैं)

पन्नावणा सूत्रके पांचवें पदमें कहा है कि द्रव्य, प्रदेश, पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, बारह उपयोग, पुद्गल जनित शरीरका अवगाहन, आयुष्यकी स्थिति, ये ३६ बोल जीवके पर्य्याय हैं। किसीमें जीवकी और किसीमें अजीवकी प्रधानता होनेसे किसीको जीव और किसीको अजीव कहा है। इन बोलोंमें कई तो संवर निर्जरा और कई मोक्ष स्वरूप हैं और कई पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध स्वरूप हैं अतः जीव और अजीव तत्वको छोड़ कर शेष सात पदार्थ इन दोनोंके ही पर्य्याय हैं यह बात सिद्ध होती है।

यहां कई नयोंका आश्रय लेकर संक्षेपसे नव तत्वोंका विचार किया गया है। क्योंकि किसी एक नयका आश्रय लेकर शेष नयोंकी अवहेलना करना जैन शास्त्रसे विरुद्ध है। अतः किसी नयको मुख्य और किसीको गौण मानकर पदार्थोंका स्वरूप बताना ही जैन धर्मका सिद्धान्त है इस लिये बुद्धिमानोंको पक्षपात छोड़ कर अनेकान्त नयस्वरूप जैन सिद्धान्तानुसार इन पदार्थोंका स्वरूप जानना चाहिये। यदि किसी कोमलबुद्धि वाले

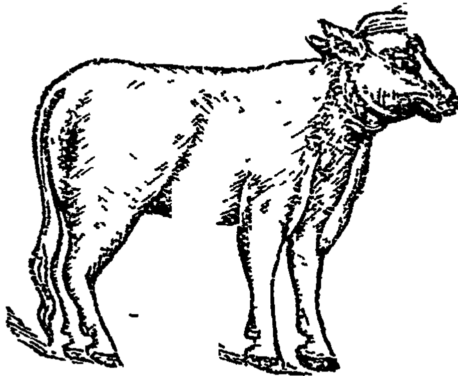
पुरुषको उक्त बातें समझ न पड़ें तो उसे पक्षपात रहित होकर भगवती सूत्रोक्त वाक्यानुसार अपनी आत्माको पवित्र करना चाहिये ।

"तमेवसच्चं निःसंकं जं जिणेहिं पव्वएइयं"

अर्थात् जिनवरोंने जो कहा है वही सत्य है उसमें थोड़ी भी शंका नहीं है । ऐसी भावना रखनेसे भी पुरुष भगवानकी आज्ञाका आराधक हो सकता है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

इति नव तत्व विचारः ।



अथ जीवभेदाधिकारः ।

———०※०———

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३६ पर लिखते हैं कि "केतला एक अज्ञानी भुवनपति वाण व्यन्तरमें अने प्रथम नरकमें जीवरा तीन भेद कहे" इनके कहनेका आशय यह है कि "प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवके दोही भेद होते हैं। असंज्ञीका अपर्य्याप्त नामक तीसरा भेद नहीं होता"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवका तीसरा भेद न मानना मूर्खता है क्योंकि शास्त्रके मूलपाठ और टीकासे प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें जीवोंके तीन भेद सिद्ध होते हैं। इस विषयमें पन्नावणा सूत्रमें यह पाठ आया है—

"जीवाणं भन्ते ! किं सन्नी किं असन्नी नो सन्नी नो असन्नी ? गोयमा ! जीवा सन्नीवि असन्नीवि नोसन्नी नोअसन्नीवि। नेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नेरइया सन्नीवि असन्नीवि नो नोसन्नो नो असन्नी"

(पन्नावणा)

अर्थ :—

हे भगवन् ! जीव सञ्ज्ञी होते हैं या असंज्ञी होते हैं अथवा संज्ञी असंज्ञी इन दोनोंसे भिन्न होते हैं ? [उ०] हे गोतम ! जीव संज्ञी भी होते हैं असंज्ञी भी होते हैं और इन दोनोंसे भिन्न भी होते हैं। [प्र०] हे भगवन् नारकि जीवके विषयमें प्रश्न है ? [उ०] हे गोतम ! नारकि जीव संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकारके होते हैं परन्तु इससे भिन्न नहीं होते।

इसके आगे चलकर पन्नावणा सूत्रमें व्यन्तर देवोंके विषयमें भी ऐसा ही पाठ आया है और असुर कुमारसे लेकर स्वनित कुमार पर्यन्त भुवनवासी देवताओंके विषय में भी यही बात कही है इस लिये प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवताओंमें असंज्ञीका भेद होना भी शास्त्रसे सिद्ध होता है तथापि उसे न मानना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

भगवती सूत्र शतक १३ उद्देशा १ में यह मूलपाठ आया है—

"गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावास सय सहस्सेसु संखेज्जावि पत्थडेसु नरयेसु संखेज्जा णेरया पण्णत्ता संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता एवं जाव संखेज्जा सन्नी पण्णत्ता असंन्नी सिय अत्थि सिय णो अत्थि जइ अत्थि एक्कोवा दोवा तीणिवा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता"

(भगवती शतक १३ उद्देशा १)

अर्थ :—

हे गोतम ! रत्नप्रभा नामक पृथिवीमें कुल तीस लाख नारकि जीवके निवास स्थान हैं उनमें कई संख्यात योजन और कई असंख्यात योजन विस्तृत हैं। संख्यात योजन विस्तृत नरकावासोंमें संख्यात नारकि और संख्यात कापोतलेशी जीव रहते हैं। संख्यात नारकि जीव संज्ञी हैं परन्तु असंज्ञी जीव इन नरकोंमें कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं यदि होते हैं तो १-२-३ और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं।

इस पाठमें नारकि जीवोंमें जघन्य १-२-३ और उत्कृष्ट संख्यात असंज्ञी जीव कहे गये हैं। तथा असंख्यात योजन वाले नरकावासमें असंख्यात असंज्ञी जीव माने गये हैं। भगवती शतक १३ उद्देशा २ में भुवनपति और व्यन्तर देवोंके लिये भी इसी तरह का पाठ आया है इसलिये प्रथम नारकी भुवनपति तथा व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीका अपर्य्याप्त नामक भेद न मानना अयुक्त है। ऊपर लिखे हुए पाठमें जो "सिय अत्थि सिय नो अत्थि" यह असंज्ञीके विषयमें पाठ आया है इसका अभिप्राय बताते हुए टीकाकारने यह लिखा है "असञ्ज्ञिभ्य उद्धृत्य ये नारकत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्य्याप्तावस्थायामसंज्ञिनो भूतभावत्वात्तेचाल्पा इति कृत्वा" "सिय अत्थि" इत्याद्युक्तम्" अर्थात् जो जीव असंज्ञीसे निकलकर नरकमें जाते हैं वे अपर्य्याप्तावस्थामें असंज्ञी ही होकर रहते हैं वे जीव बहुत अल्प होते हैं इस लिये मूलपाठमें लिखा है कि "सिय अत्थि" इत्यादि।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय समझाते हुए नारकि जीवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदका स्पष्ट उल्लेख किया है अतः नारकि जीवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदको न मानना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध होनेके कारण अप्रामाणिक समझना चाहिये।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ४ में संज्ञी नारकि और देवतामें काला देशके छः भङ्ग बतलाये हैं एवं जीवाभिगम सूत्रमें नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोंके संज्ञी और असंज्ञी दोनों ही भेद कहे गये हैं। वहांका पाठ यह है—

"तेसिणं भन्ते जीवा किं सन्नी असन्नी ? गोयमा ! सन्नीवि असन्नीवि"

इस पाठमें प्रथम नरकके जीवोंको संज्ञी और असंज्ञी दोनों ही तरहका कहा है। एवं इसी जीवाभिगम सूत्रमें नारकि जीवोंका ज्ञानके विषयमें प्रश्न करने पर भगवान्ने यह उत्तर दिया है—

"जे अण्णाणी ते अत्थेगइया दुअण्णाणी अत्थेगइया ती अण्णाणी। जेय दुअण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणीय"

(जीवाभिगम सूत्र)

(टीका)

ये नारका असंज्ञिनस्तेऽपर्य्याप्तावस्थायां द्व्यज्ञानिनः पर्य्याप्तावस्थायान्तु-त्र्यज्ञानिनः"

अर्थात् जो नारकि जीव असंज्ञी हैं वे अपर्य्याप्तावस्थामें दो अज्ञानवाले होते हैं और पर्य्याप्तावस्थामें तीन अज्ञानवाले होते हैं। जो नारकि दो अज्ञानवाले होते हैं वे नियमसे मति अज्ञान और श्रुत अज्ञानवाले होते हैं। यह उक्त मूलपाठ और उसकी टीकाका मिलित अर्थ है।

इस मूलपाठमें असंज्ञी नारकि जीवको दो अज्ञानवाला कहा है और टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि असंज्ञी नारकि अपर्य्याप्तावस्थामें दो अज्ञानसे युक्त होते हैं यहां टीकाकारने तो नारकि जीवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया है इसलिये नारकि जीवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदको न मानना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये। इस पाठके आगे भुवनपति और व्यन्तर देवोंके लिये भी इसी तरहका पाठ आया है इसलिये भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें भी असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि उसे न मानना अपने अज्ञानका परिचय देना समझना चाहिये।

(बोल १)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३७ पर पन्नावणा सूत्र पद १५ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहां कह्यो मनुष्यना दो भेद। सन्नीभूत ते विशिष्ट अवधिज्ञान सहित मनुष्य" इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं—

"ते अवधिज्ञान रहितने असन्नीभूत कह्यो पिण असन्नीरो भेद न पावे तिम नेरइयाने असन्नीभूत कह्या पिण असन्नीरो भेद न पावे। ए नेरइया अने देवताने असन्नी कह्या ते संज्ञावाची छै। जे अवधि विभंग रहित नेरइयानो नाम असंज्ञी छै। जिम विशिष्ट अवधि रहित मनुष्य निर्जरया पुद्गल न देखे तेहने पिण असन्नीभूत कह्यो" (भ्र० पृ० ३३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गर्भज मनुष्यको शास्त्रमें जगह जगह संज्ञीभूत कहा है और पन्नावणा सूत्रमें उसे असंज्ञीभूत भी कहा है, इससे संशय उत्पन्न होता है कि शास्त्रमें जब कि जगह जगह गर्भज मनुष्यको संज्ञीभूत कहा है तब पन्नावणा सूत्र में उसे असंज्ञीभूत क्यों कहा ? इसका समाधान यह किया जाता है कि पन्नावणा सूत्रमें जो गर्भज मनुष्यको असंज्ञीभूत कहा है उसका अभिप्राय अवधिज्ञान रहित होना है संज्ञीका विरोधी असंज्ञी होना नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे पन्नावणा सूत्रके साथ दूसरे सूत्रोंका विरोध पड़ता है अतः विशिष्ट अवधि ज्ञान रहित होनेकी अपेक्षासे ही पन्नावणामें गर्भज मनुष्य को असंज्ञी भूत कहा है संज्ञीका विरोधी असंज्ञी होनेसे नहीं परन्तु यह दृष्टांत, असंज्ञीसे मर कर नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें नहीं घटता है क्यों कि उन जीवोंको सभी जगह असंज्ञी ही कहा है संज्ञीभूत कहीं नहीं कहा है। यदि किसी जगह उन्हें संज्ञी भी कहा होता तो मनुष्यके विषयमें कहेहुए पन्नावणा सूत्रके उक्त पाठका दृष्टान्त देकर नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके भेदका निषेध किया जा सकता था परन्तु असंज्ञीसे मर कर नारकि आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है अतः पन्नावणा सूत्रका दृष्टांत देकर नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवों में असंज्ञी के अपर्य्याप्त भेद को न मानना अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३९ पर पन्नावणा पद ११ के मूलपाठको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे पिण कह्यो—न्हाना बालक बालिका मनपटुता पण न पाम्यो विशिष्ट ज्ञान रहितने सन्नी न कह्यो पिण जीवरो भेद तेरमों छै तिणमें असन्नीरो भेद न थी तिम नेरइयाने असन्नीभूत कह्या पिण असन्नीरो भेद न थी" (भ्र० पृ० ३३९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

बालक और बालिका, मनोयुक्त होते हैं मनोविकल नहीं होते इसलिये वास्तवमें वे संज्ञी ही हैं असंज्ञी नहीं हैं परन्तु पन्नावणा सूत्रमें विशिष्ट ज्ञान रहित होनेसे उन्हें असंज्ञी कहा है। अतएव शास्त्रमें उत्तानशय बालक, और बालिकाओंको संज्ञी कह कर लिखा है परन्तु असंज्ञीसे निकल कर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवोंको कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है इसलिये छोटे बालक और बालिकाका दृष्टांत देकर उक्त जीवोंमें असंज्ञीके भेदका निषेध करना अज्ञान मूलक है। यदि असंज्ञीसे मरकर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवको किसी जगह भी शास्त्रमें संज्ञी कह कर बतलाया होता तो कदाचित् छोटे बालक और बालिकाके विषयमें आये हुए पन्नावणा सूत्रके मूलपाठका दृष्टांत देकर उक्त जीवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदका निषेध किया जा सकता था परन्तु कहीं भी असंज्ञीसे मर कर नरक आदि में उत्पन्न होने वाले जीव को संज्ञी नहीं कहा है अत: उनमें असंज्ञी के भेद का निषेध करना मिथ्या है।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४० पर दश वैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं।

"अथ इहां ८ सूक्ष्म कह्या धूंवर प्रमुखनी सूक्ष्म स्नेह न्हाना फल कुंथुआ उत्तिंग कीडी नागरा नीलण फूलण बीज खसखसादिकाना न्हाना अंकुर किडी प्रमुखना अण्डा सूक्ष्म कह्या। ते न्हाना मांटे सूक्ष्म छै पिण सूक्ष्मरो जीवरो भेद नहीं तिम नेरइया अने देवताने असन्नी कह्या पिण असन्नीरो भेद नहीं" (भ्र० पृ० ३४०)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

किडी आदि जीव, शास्त्रमें जगह जगह, त्रस जीवोंमें गिने गये हैं सूक्ष्म जीवोंके भेदमें नहीं गिने गये हैं इसलिये छोटा होनेके कारण उन्हें दशवैकालिक सूत्रमें सूक्ष्म कहा है परन्तु यह दृष्टांत असंज्ञीसे मर कर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें नहीं घटता क्योंकि असंज्ञीसे मर कर नरक भुवनपति, और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवको कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है किंतु सर्वत्र असंज्ञी ही कहा है

अतः दशवैकालिक सूत्र के दृष्टांतसे नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेद को न मानना अज्ञान है।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४२ पर अनुयोगद्वार सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ इहां विशेष अविशेष ए वे नाम कह्या तिणमें अविशेषथी तो मनुष्य विशेषथी संमूर्च्छिम गर्भज। अने अविशेषथी तो संमूर्च्छिम मनुष्य अने विशेषथी पर्य्याप्तो अपर्य्याप्तो कह्यो। इहां संमूर्च्छिम मनुष्यने पर्य्याप्तो अपर्य्याप्तो ते केतलीक पर्य्याय बांधी ते पर्य्याय आश्री पर्य्याप्तो कह्यो। अने सम्पूर्णतः बांधी ते न्याय अपर्य्याप्तो कह्यो। संमूर्च्छिम मनुष्यने पर्य्याप्तो कह्यो पिण पर्य्याप्तामें जीवरा सात भेद पावे ते मांहिलो भेद न थी। जे देवताने असंज्ञी कह्या मांटे असन्नीरो जीवरो भेद कहे तो तिणरे लेखे संमूर्च्छिम मनुष्यने पिण पर्य्याप्तो कह्या मांटे पर्य्याप्तारो भेद कहिणो अने संमूर्च्छिम मनुष्यमें पर्य्याप्तारो भेद न थी कहे तो देवतामें पिण असन्नीरो भेद न कहिणो" (भ्र० पृ० ३४२)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

संमूर्च्छिम मनुष्यका दृष्टांत देकर प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके भेदका निषेध करना अयुक्त है क्योंकि अन्य सूत्रोंमें संमूर्च्छिम जीवों में पर्य्याप्तपनेका स्पष्ट निषेध किया है इसलिये संमूर्च्छिम मनुष्योंमें पर्य्याप्तका भेद नहीं माना जा सकता परन्तु प्रथम नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदका कहीं भी निषेध नहीं किया है इसलिये प्रथम नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवों में असंज्ञी के अपर्य्याप्त नामक भेद का निषेध करना अप्रामाणिक है।

यदि कोई कहे कि संमूर्च्छिम मनुष्योंमें पर्य्याप्तपनेका जब कि अन्य सूत्रोंमें निषेध किया है तब फिर अनुयोग द्वार सूत्रमें उसे पर्य्याप्त कैसे कहा है? तो इसका समाधान यह है कि—जैसे अनुयोग द्वार सूत्रमें उदय आदि भावोंके २६ विकल्प, विकल्प मात्र दिखानेके लिये किये हैं परन्तु सभी विकल्पोंके उदाहरण नहीं मिलते उसी तरह संमूर्च्छिम मनुष्योंके दो भेद भी संभावना मात्रसे किये हैं परन्तु संमूर्च्छिम जीवों में पर्य्याप्त नामक भेदके होनेसे नहीं क्योंकि अन्य सूत्रोंमें संमूर्च्छिमजीवोंमें पर्य्याप्तपने

का स्पष्ट निषेध किया गया है परन्तु यह बात प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें नहीं घटती क्योंकि कहीं भी शास्त्रमें उनमें असंज्ञीके भेदका निषेध नहीं किया है अतः विविध कुतर्कोंका आश्रय लेकर प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदको निषेध करना अयुक्त है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भगवती सूत्र शतक १३ उद्देशा २ के मूलपाठमें लिखा है कि "असुर कुमार देवतामें नपुंसकवेद नहीं पाया जाता है" यदि भुवनपतिमें असंज्ञीका अपर्य्याप्त भेद होता है तो उसमें नपुंसक वेद भी पाया जाना चाहिये परन्तु यह बात भगवतीके उक्त शतक और उद्देशके मूलपाठसे विरुद्ध है इस लिये भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदको मानना अयुक्त है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

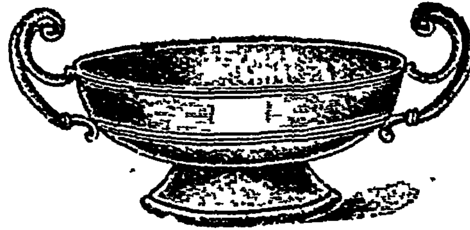
प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त नामक भेदका शास्त्रमें स्पष्ट उल्लेख किया है इसलिये प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीका अपर्य्याप्त भेद होता है और असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदका उनमें सद्भाव होनेसे नपुंसक वेद भी उनमें पाया जाता है परन्तु वह अवस्था-अन्तर्मुहूर्त्त की होती है इस लिये उसकी अविवक्षा करके भगवती सूत्रके मूलपाठमें असुर कुमार देवतामें नपुंसक वेदका निषेध किया है। जैसे भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा पहलेमें सम्यग्दृष्टि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवको विशिष्ट सम्यक्त्वके अभावसे क्रियावादी और विनयवादी होनेका निषेध किया है सर्वथा सम्यक्त्वके अभाव होनेसे नहीं उसी तरह भगवती सूत्रमें भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें विशिष्ट रूपसे असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदके न होनेसे नपुंसक वेदका निषेध किया है सर्वथा असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदके न होनेसे नहीं अतः प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदका निषेध करना अज्ञान मूलक है। इस प्रकरणका सार यह है—

असंज्ञीसे मरकर प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें असंज्ञीका अपर्य्याप्त नामक भेद होता है क्योंकि शास्त्रमें जगह जगह उन्हें असंज्ञी कहकर ही बतलाया है, कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है। यदि उनमें असंज्ञीका भेद मानना शास्त्रकारको इष्ट न होता तो जैसे उत्तानशय (छोटा) बालकको असंज्ञी कह

कर भी संज्ञी कहा है उसी तरह असंज्ञीसे मर कर प्रथम नारकि और भुवनपति आदिमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको भी अवश्य संज्ञी कहते परन्तु कहीं भी उक्त जीवको संज्ञी नहीं कहा है सभी जगह उसे असंज्ञी कहकर ही बतलाया है और कई टीकाकारोंने तो साफ साफ उक्त जीवोंमें असंज्ञीके भेदका कथन किया है इस लिये पूर्वोक्त दृष्टान्तोंके आश्रयसे प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवताओंमें असंज्ञीके अपर्य्याप्त भेदका खण्डन करना अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल ६ ट्टा समाप्त)

इति जीवभेदाधिकारः ।



अथ सूत्रपठनाधिकारः ।

———०*०———

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६१ पर लिखते हैं—

"केतला एक कहे गृहस्थ सूत्रभणे तेहनी जिन आज्ञा छै ते सूत्रना अजाण छे। अने भगवन्तनी आज्ञा तो साधुनो इज छै पिण सूत्रभणवारी गृहस्थने आज्ञा दीधी नथी।

इसका क्या समाधान ? (भ्र० पृ० ३६१)

(प्ररूपक)

समुच्चय गृहस्थका नाम लेकर श्रावकको भी सूत्र पढ़नेका निषेध करना स्वार्थ तथा अज्ञानका परिणाम है क्योंकि शास्त्रमें शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार साधु और श्रावक दोनोंको कहे हैं यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर उसके लिये शास्त्र पढ़नेके अतिचारोंके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? अतः एकान्त रूपसे श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान मूलक है।

शास्त्रोंका भेदके साथ चौदह अतिचार बताये जाते हैं। नन्दी सूत्रमें शास्त्रोंका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

"अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तंजहा—अङ्गपविट्ठ अङ्गबाहिरंच से किंतं अङ्ग बाहिरं? अङ्गबाहिरं दुविहं पण्णत्तं तंजहा- आवस्सयंच आवस्सयवइरित्तंच। सेकिंत्तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं तंजहा—सामाइयं जाव पच्चक्खाणं सेतं आवस्सयं। सेकिंत्तं आवस्सयवइरित्तं आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं तंजहा- कालियंच उक्कालियंच"

(नन्दी सूत्र)

अर्थ :—

अथवा प्रकारान्तरसे गमिक और अगमिक शास्त्रके दो भेद हैं। एक अंग प्रविष्ट और दूसरा अंग बाह्य अंग बाह्य भी दो प्रकारके होते हैं एक आवश्यक और दूसरा आवश्यकसे भिन्न आवश्यकके छः भेद हैं सामायकसे लेकर प्रत्याख्यान पर्य्यन्त। आवश्यकसे भिन्न भी दो तरहके होते हैं कालिक और उत्कालिक।

जो प्रातःकाल, मध्यान्ह काल, संध्याकाल और मध्य रात्रिकी दो घड़ीको छोड़ कर शेष कालमें पढ़े जाते हैं वे उत्कालिक सूत्र हैं और जो दिन रातके पहले और पिछले पहरोंमें ही पढ़े जाते हैं वे कालिक सूत्र कहलाते हैं। इन सभी सूत्रोंके पढ़नेमें चौदह तरह के अतिचारोंका त्याग करना शास्त्रमें कहा है। वे अतिचार ये हैं—

"जंवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुठुदिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओसज्झाओ कालेनकओ सज्झाओ असज्झाए सज्झाइयं सज्झाए नसज्झाइयं तस्समिच्छामि दुक्कडं।

(आवश्यक सूत्र)

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार होते हैं वे ये हैं—

[१] व्याविद्ध—विपरीत गूंथी हुई रत्नमालाकी तरह क्रमको छोड़कर व्युत्क्रमसे पढ़ना "व्याविद्ध" कहलाता है। [२] व्यत्याम्रे डित—बार बार पुनरुक्ति करके पढ़ना 'व्यत्याम्रे डित' है। [३] हीनाक्षर—अक्षर हीन पाठ करना हीनाक्षर कहलाता है। [४] अत्यक्षर—अक्षर बढ़ा कर पढ़ना अत्यक्षर नामक अतिचार है। [५] पद हीन—किसी पदको छोड़कर पढ़ना पद हीन कहलाता है। [६] विनय हीन—विनयको छोड़कर पढ़ना विनय हीन है। [७] घोष हीन—उदात्त अनुदात्त आदिसे हीन पाठ करना घोषहीन कहलाता है। [८] योगहीन—अच्छी तरहसे योगोपचार करके न पढ़ना योगहीन कहलाता है। [९] सुष्टुदत्त—गुरुसे नहीं दिये हुएका पाठ करना सुष्टुदत्त है, [१०] दुष्टु प्रतीच्छित—दुष्ट अन्तःकरणसे पाये हुएका पाठ करना 'दुष्टु-प्रतीच्छित' कहलाता है। [११] अकाले कृतस्वाध्याय—जिस उद्देशा आदि पढ़नेका जो काल नहीं है उसमें उसे पढ़ना 'अकाले कृत स्वाध्याय' कहलाता है। [१२] काले न कृत स्वाध्याय—जिस उद्देशा आदिके पढ़नेका जो काल है इसमें उसे न पढ़ना, 'काले न कृत स्वाध्याय' है। [१३] अस्वाध्याये स्वाध्यायित—अस्वाध्याय (अनध्याय) में स्वाध्याय करना 'अस्वाध्याये स्वाध्यायित' है।। [१४] स्वाध्याये न स्वाध्यायित—स्वाध्याय कालमें स्वाध्याय न करना स्वाध्याये न स्वाध्यायित' कहलाता है। ये चौदह शास्त्र पढ़नेके अतिचार हैं इनके प्रयोग हो जानेपर प्रायश्चित्तस्वरूप पाठकको मिच्छामि दुक्कडं देना पड़ता है।

ये चौदह अतिचार साधुकी तरह श्रावकोंके भी कहे हैं। सब मिलकर ९९ अतिचार श्रावकोंके होते हैं उनमें ये चौदह अतिचार भी शामिल हैं। भीषणजीने अपनी बारह व्रतकी ढालमें लिखा है :—

"चौदह अतिचार ज्ञानरा पांच समकित ना आन।

साठ बारह व्रतां तणा पन्द्रह कर्मादान"।

इस दोहामें भीषणजीने शास्त्र पढ़नेके उक्त चौदह अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शास्त्र पढ़नेका श्रावकोंको भी अधिकार है केवल साधुओंको ही नहीं अन्यथा आश्रवोंके उक्त चौदह अतिचार क्यों कहे जाते और भीषणजी भी उसे क्यों स्वीकार करते। अतः श्रावकोंका शास्त्र पढ़नेका एकान्त रूपसे निषेध करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका मत है कि श्रावकको प्रतिक्रमण सूत्र पढ़नेका तो अधिकार है परन्तु दूसरे सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार नहीं है इसलिये ये चौदह ज्ञानके अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं।

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारका यह मत असंगत है क्योंकि उक्त चौदह अतिचारोंमें कालमें स्वाध्याय न करना और अकालमें स्वाध्याय करना भी गिने गये हैं। ये अतिचार आवश्यक सूत्रके पढ़नेमें नहीं लगते क्योंकि आवश्यक सूत्रके पढ़नेमें कोई काल विशेष का नियम नहीं है जिसके पढ़नेमें काल विशेषका नियम है उन्हीं के पढ़नेमें ये अतिचार लगते है। यदि श्रावकको आवश्यकसे भिन्न सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर ये पूर्वोक्त दो अतिचार श्रावकोंके कैसे हो सकते हैं? अतः आवश्यकके सिवाय दूसरे सूत्रों के पढ़ने का श्रावकों को अधिकार नहीं है यह कहने वालोंको अज्ञानी समझना चाहिये।

भीषणजीने, अकालमें स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करनेरूप अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं—

"अकाले करे स्वज्झाय हो श्रावक, काले स्वज्झाय करे नहीं। अस्वज्झायमें करे स्वज्झाय हो श्रावक, स्वज्झाय वेलां आलस करे जब ज्ञान धारो मेलो थायहो श्रावक, अतिचार लागे ज्ञानने"

(कडी तीसरी)

इस भीषणजीके पद्यसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि काल विशेषके साथ पढ़े जानेवाले आवश्यक सूत्रसे अतिरिक्त सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार श्रावकोंका भी है अन्यथा अकाल

में स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करने रूप अतिचार श्रावकोंके कैसे हो सकते हैं? अतः आवश्यक सूत्रसे अतिरिक्त सूत्रोंके पढ़नेका श्रावक को अधिकार न मानना मिथ्या है।

नन्दी सूत्र और समवायाङ्ग सूत्रमें श्रावकोंके लिये यह पाठ आया है—

"सुयपरिग्गहा तपोवहाणाइ"

(टीका)

"श्रुत परिग्रहास्तप उपधानानि प्रतीतानि"

अर्थात् श्रावक सूत्र पढ़े हुए और उपधान रूप तपके करने वाले होते हैं।

यहां मूलपाठ और टीकामें श्रावकको श्रुत परिग्रह (शास्त्र पढ़ने वाला) कहा है। यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो वह श्रुत परिग्रह कैसे हो सकता है? अतः श्रावकोंको आवश्यक सूत्रसे भिन्न सूत्रोंके पढ़ने का अधिकार स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि उसे न मानना मूर्खताका परिणाम है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६८ पर लिखते हैं—

"जे नन्दी समवायाङ्गे साधाने सुयपरिग्गहिया कह्या ते तो सूत्र श्रुत अने अर्थ श्रुत बेहूना ग्रहण करवा थकी कह्या छै अने श्रावकाने सुयपरिग्गहिया कह्या ते अर्थ श्रुत नाहीज ग्रहण करणहार मांटे जाणवा" (भ्र० पृ० ३६८)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

नन्दी और समवायांग सूत्रमें साधु और श्रावक दोनोंके लिये समान ही "सुयपरिग्गहिया" यह पाठ आया है। साधुके लिये इसका अर्थ दूसरा हो और श्रावकके लिये दूसरा हो यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। टीका और टव्वामें भी यह नहीं लिखा है कि साधु तो सूत्र अर्थ दोनों ही पढ़ता है और श्रावक केवल अर्थ ही पढ़ता है इसलिये साधुकी तरह श्रावकका भी सूत्र और अर्थ दोनों ही पढ़नेका अधिकार है।

उत्तराध्ययन सूत्रमें पालित नामक श्रावकके विषयमें यह पाठ आया है—"निग्गंथे पावयणे सावए सेवि कोविए"

अर्थात् वह पालित नामक श्रावक, निर्ग्रन्थ प्रवचनका कोविद (पण्डित) था। यदि श्रावकको सूत्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनका कोविद कैसे हो सकता था?

उत्तराध्यन सूत्रके २२ वें अध्ययनमें राजमतीके लिये यह पाठ आया है कि—
"सीलवंता वहुस्सुया"

अर्थात् राजकन्या राजमती बड़ी शीलवती और बहुश्रुत थी। यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो शास्त्र पढ़े विना राजमती बहुश्रुत कैसे हुई थी ?

भगवती उवाई और सुयगडांग आदि सूत्रोंमें श्रावकोंका वर्णन करनेके लिये यह पाठ आया है कि—

"आस्सव संवर निज्जर किरिया अहिगरणबन्धमोक्खकुसला"

इस पाठमें श्रावकको १२ प्रकारकी निर्जरामें कुशल होना कहा है और निर्जरा का दशवां भेद स्वाध्याय है। स्वाध्यायके पांच भेद होते हैं—(१) वाचना (२) पुच्छना (३) पर्य्यटना (४) अनुप्रेक्षा (५) धर्मकथा। इन पाचों प्रकारके स्वाध्यायोंमें वही कुशल हो सकता है जो सूत्र भी पढ़ता हो और अर्थ भी पढ़ता हो, जो सूत्र पढ़ने का अधिकारी ही नहीं है वह उक्त स्वाध्यायके पांच भेदोंमें कुशल नहीं हो सकता। जो स्वाध्यायमें कुशल नहीं है वह वारह प्रकारकी निर्जरा में भी कुशल नहीं हो सकता परन्तु श्रावक १२ प्रकारकी निर्जरामें कुशल होता है इसलिये वह पांच प्रकारके स्वाध्यायमें भी कुशल है। श्रावक पांच प्रकारके स्वाध्यायमें कुशल होता है इसलिये वह शास्त्र पढ़ने का भी अधिकारी है। ज्ञाता सूत्रमें कहा है कि सुबुद्धि प्रधानने जितशत्रु राजाको विचित्र प्रकारसे केवलि प्रणीत धर्मका उपदेश दिया था। यदि श्रावक सूत्र नहीं पढ़ता तो सुबुद्धि प्रधान शास्त्र पढ़े विना केवलि प्रणीत धर्मका उपदेश राजाको किस प्रकार दे सकता था ? शास्त्रमें जगह जगह श्रावकको "धम्मक्खाइ" कहा है। जो धर्मका यथार्थ प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है। यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो शास्त्र पढ़े विना वह धर्माख्यायी (धर्मको कहनेवाला) कैसे हो सकता है ? अतः श्रावक को शास्त्र पढ़नेका अधिकार नहीं मानने वाले अज्ञानी हैं।

बोल २ रा

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६१ पर प्रश्नव्याकरणसूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो उत्तम महर्षि साधुने इज सूत्र भणवारी आज्ञा दीधी ते साधु-सिद्धान्त भणीने सत्यवचन जाणे भाषे अने देवेन्द्र नरेन्द्रादिकने भाख्या अर्थ ते सांभली

सत्य वचन जाणे। ए तो प्रत्यक्ष साधुने इज सूत्र भणवारी आज्ञा कही पिण गृहस्थने सूत्र भणवारी आज्ञा नहीं। ते मांटे श्रावक सूत्र भणे ते आपरे छांदे पिण जिन आज्ञा नहीं" (भ्र० पृ० २६१)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

प्रश्नव्याकरण सूत्रका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है:—

"तं सच्चं भगवं तित्थयरसुभासियं दसविहं चोद्दसपुव्वीहिं पाउडत्थविदित्तं महरीसीणयसमयप्पदिन्नं देवेन्दनरेन्दभासियत्थं वेमाणियसाहियं महत्थं मंतोसहिविज्जासाहणत्थं"

(प्रश्न व्याकरण सूत्र)

(टीका)

तमिति यस्मादेवं तस्मात् सत्यं द्वितीयं महाव्रतम् भगवद्भट्टारकतीर्थङ्करसुभाषितं जिनैः सुष्टूक्तं दशविधं दशप्रकारं जनपदसम्मतसत्यादिभेदेन दशवैकालिकादि प्रसिद्धं चतुर्दशपूर्विभिः प्राभृतार्थवेदितं पूर्वगतांशविशेषाभिधेयतयाज्ञातं, महर्षीणांच समयेन सिद्धान्तेन "पइन्नं" त्ति प्रदत्तं समयप्रतिज्ञावा समाचाराभ्युपगमः। पाठान्तरे "महीरिसीसमयपइन्नचिन्नं" त्ति महर्षिभिः समय प्रतिज्ञा सिद्धान्ताभ्युपगमः समाचाराभ्युपगमो वेति चरितं यत् तत्तथा। देवेन्द्रनरेन्द्रैर्भाषितः जनानामुक्तोऽर्थः पुरुषार्थ स्तत्साध्यो धर्मादिर्यस्य तत्तथा। अथवा देवेन्द्रनरेन्द्राणां भासितः प्रतिभासितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा। अथवा देवेन्द्रादीनां भाषिताः अर्थाः जीवादयो जिनवचन रूपेण येन तत्तथा। तथा वैमानिकानां साधितं प्रतिपादितमुपादेयतया जिनादिभिर्य त्तत्तथा। वैमानिकैर्वा साधितं कृत मासेवितं समर्थितंवा यत्तत्तथा। महार्थं महाप्रयोजनम् एतदेवाह मन्त्रौषधिविद्यानां साधनमर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विना तस्याभावात् तत्तथा।

अर्थ :—

सत्य, दूसरा महाव्रत है इसे तीर्थंकरोंने दश प्रकारका कहा है।

जनपदसम्मत सत्यादिके भेदसे दश प्रकारका सत्य, दश वैकालिक आदि सूत्रों में प्रसिद्ध है। इसे चौदह पूर्वधारियोंने पूर्वान्तर्गत प्रभृत नामक श्रुत विशेषसे जाना है। बड़े बड़े ऋषियोंके सिद्धान्तसे यह सत्य दिया गया है अथवा बड़े बड़े ऋषियोंने सत्य भाषणकी प्रतिज्ञा की है। अथवा पाठान्तरके अनुसार, बड़े बड़े ऋषियोंने सत्य भाषणकी

प्रतिज्ञा और सत्य भाषण किया है। देवेन्द्र और नरेन्द्रोंने सत्यभाषणका धर्मादिरूप प्रयोजन मनुष्योंको बतलाया है अथवा देवेन्द्र और नरेन्द्रोंको सत्य भाषणका प्रयोजन प्रतिभासित हुआ है अथवा सत्यने ही देवेन्द्र और नरेन्द्रों को जिनवचनरूपसे जीवादि पदार्थका ज्ञान कराया है। इस सत्यको वैमानिक देवोंने भी स्वीकार किया है अथवा वैमानिक देवोंने सत्यका सेवन और समर्थन किया है। यह सत्य बड़े बड़े प्रयोजनोंको सिद्ध करता है। सत्यके विना मन्त्र औषधि विद्याएं भी सिद्ध नहीं होतीं। यह उक्त मूलपाठका टीकानुसार भावार्थ है।

यहां मूलपाठमें सत्य रूप महाव्रतका माहात्म्य बतलाया है, शास्त्र पढ़ने पढ़ानेका कुछ जिक्र भी नहीं है इसलिये इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान मूलक है। यहां मूलपाठमें सत्यकी प्रशंसा करतेहुए जो यह लिखा है कि—"महरिसीणयसमयपइन्नंदेविन्दनरिन्दभासियत्थं" इसका टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

"महर्षीणाञ्च समयेन सिद्धान्तेन प्रदत्तम्" देवेन्द्रनरेन्द्राणां भासितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा।",

अर्थात् बड़े बड़े ऋषियोंके सिद्धान्तसे सत्य दिया हुआ है और देवेन्द्र और नरेन्द्रोंको सत्यका प्रयोजन प्रतिभासित हुआ है।

इन पदोंसे सत्य रूप महाव्रतकी प्रशंसा की गयी है परन्तु शास्त्र पढ़ने पढ़ानेके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है तथापि इन्हीं पदोंका अर्थ करते हुए जीतमलजी बतलाते हैं कि "उत्तम ऋषि महर्षियोंको ही शास्त्र पढ़नेका अधिकार है। देवेन्द्र और नरेन्द्रोंको सूत्रके अर्थ जाननेका ही अधिकार है इत्यादि," परन्तु उक्त पदोंका ऐसा अर्थ त्रिकालमें भी नहीं हो सकता अतः भ्रमविध्वंसनकारका यह अर्थ करना उनके अज्ञानका सूचक है। टीकाकारने "महऋषीणां समयेन प्रदत्त" ऐसा तृतीया तत्पुरुष दिखलाकर साफ बतला दिया है कि सत्य वचन, महर्षियोंके सिद्धान्तसे दिया गया है अतः महर्षियोंकोही सिद्धांत दिये जानेका अर्थ सर्वथा मिथ्या और व्युत्पत्तिसे विरुद्ध है। इसी तरह देवेन्द्र और नरेन्द्रोंको केवल अर्थ जाननेका ही अधिकार है, यह उक्त दूसरे विशेषणका तात्पर्य्य बतलाना भी अज्ञान है क्योंकि टीकाकारने साफ साफ कह दिया है कि "अर्थ" शब्दका यहां प्रयोजन अर्थ है शब्दका या सूत्रका अर्थ नहीं। अतः उक्त दोनों विशेषणोंका व्युत्पत्ति विरुद्ध उन्मत्त प्रलाप जैसा मनमाना अर्थ करके श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना मूर्खताका परिणाम समझना चाहिये।

बोल ३

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६२ पर व्यवहार सूत्रकी साक्षी देकर लिखते हैं—

"दश वर्ष दीक्षा लियां साधुने कल्पे भगवती सूत्र भणिवो ए साधुने पिण मर्य्यादा सूत्र भणवारी कही जो तीन वर्षां दीक्षा लियां पछे निशीथ सूत्र भणवो कल्पे अने तीन वर्ष दीक्षा लियां पहिलां तो साधुने पिण निशीथ सूत्र भणवो न कल्पे अने तीन वर्ष पहिले साधु निशीथ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा नहीं तो गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी आज्ञा किम देवे" (भ्र० पृ० ३६२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

व्यवहार सूत्रमें, तीन वर्ष दीक्षा लेनेके वाद निशीथ सूत्र पढ़नेका और दश वर्ष दीक्षा लेनेके वाद जो भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह सबके लिये नहीं है क्योंकि विशिष्ट योग्यतावाले मुनिको तीन वर्षकी दीक्षाके वाद ही शास्त्रमें जघन्य आचारांग, निशीथ और उत्कृष्ट द्वादशांगको पढ़ने वाला वहुश्रुत और वह्वागम कहा है। वह पाठ यह है:—

"तिवास पज्जाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संग्गहकुशले उवग्गहकुशले अक्खयायारे असवलायारे अभिन्नायारे असंकिलिट्ठायारचरिते वहुस्सुए वह्वागमे जहण्णेणं आयारकप्पधरे कप्पइ उवज्झायताए उद्दिसित्तए ।,,

(व्यवहार सूत्र उ० ३)

अर्थ :—

तीन वर्षकी दीक्षा पर्य्यायवाला जो श्रमण निग्रंथ, आचार कुशल, संग्रह कुशल, उपग्रह कुशल, अक्षताचार, (अखंडित आचारवाला) अशवलाचार अभिन्नाचार, असंक्लिष्टाचार, वहुश्रुत और वह्वागम है अर्थात् अल्पसे अल्प आचारांग, निशीथ, और उत्कृष्ट द्वादशांगधारी है उसे आचार्य्य पद देना कल्पता है।

इस पाठमें तीन वर्षकी दीक्षावाले साधुको वहुश्रुत और वह्वागम, कहा है इन का अर्थ करते हुए टीकाकारने लिखा है कि—

"तथा वहु श्रुतं सूत्रं यस्यासौ वहु श्रुतः तथा वहुरागमोऽर्थरूपोयस्यस वह्वागमः। जघन्येनाचारकल्पधरो निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थः। जघन्यत आचार कल्पग्रहणादुत्कर्षतो द्वादशांगविदिति"

अर्थात् जिसने बहुत सूत्रोंका अध्ययन किया है वह बहुश्रुत है और जो बहुत अर्थरूप आगमका ज्ञाता है वह वह्वागम कहलाता है। तात्पर्य्य यह है कि तीन वर्षकी दीक्षा वाला जो साधु, जघन्य निशीथ सूत्र और उसका अर्थ जानता हो और उत्कृष्ट द्वादशांगधारी हो वह आचार्य्य बनाया जा सकता है।

यहां टीका और मूलपाठमें तीन वर्षकी दीक्षावाले साधुको उत्कृष्ट द्वादशांगधारी कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार सूत्रमें तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात निशीथ सूत्र पढ़ने और १० वर्ष दीक्षा लेनेके वाद जो भगवती सूत्र पढ़ने का विधान किया है वह एकांतरूपसे नहीं है। विशेष योग्यतावाले साधु, तीन वर्षके अन्दर ही उत्कृष्ट द्वादशाङ्गधारी भी हो सकते हैं अतः व्यवहार सूत्रका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञानमूलक है।

बोल ४

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६४ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १९ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"जे आचार्य्य उपाध्यायनी अणदीधी वांचणी आचरे तथा आचारताने अनुमोदे तो चौमासी दण्ड आवे तो गृहस्थ आपरे मते सूत्र भणे ते तो आचार्य्यरी अणदीधी वांचणीछै तेहनी अनुमोदना किया चौमासी दण्ड आवे तो जे अणदीधां वांचणी गृहस्थ आचरे तेहने धर्म किम कहिये। (भ्र० पृ० ३६४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गुरुसे पढ़े विना अपने मनसे शास्त्र पढने पर "सुष्ट् वदिन्न" नामक ज्ञान का अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये, निरतिचार शास्त्राध्ययन करनेवाले श्रावक, गुरुसे पढ़कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं। यह "सुष्ट् वदिन्न" नामक अतिचार, साधुकी तरह श्रावकका भी कहा है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावकको भी गुरुसे शास्त्र पढ़नेका अधिकार है। यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही न होता तो उसको "सुष्ट् वदिन्न" नामक अतिचार क्यों आता ? अतः निशीथ उद्देशा १९

का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अनधिकार बताना मिथ्या है। उक्त पाठमें गुरु से पढ़े विना शास्त्रका अध्ययन करनेसे प्रायश्चित्त कहा है इसलिये जो गुरुसे पढ़ कर शास्त्रका अध्ययन करता है उसके अध्ययनका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त नहीं हो सकता अत: श्रावक को शास्त्र पढ़ने का अनधिकार बताना मिथ्या समझना चाहिये।

[बोल ५ वां]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ के मूलपाठको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहां कह्यो ए तीन वांचणी देवायोग्य नहीं अविनीत, विघेना लोलुपी, खमावीवली २ उदेरे, एतीन साधुने वाचणी पिण देणी नहीं तो गृहस्थ तो क्रोधी मानी पिण हुवे अविनीत पिण हुवे विघेनो गृध्र स्त्री आदिकनो गृध्र पिण हुवे ते मांटे श्रावकने वाचणी देणी नहीं" (भ्र० पृ० ३६५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा ३ का नाम लेकर सभी श्रावकको अविनीत, लोलुप और क्रोधी आदि ठहरा कर शास्त्र पढ़ने का अनधिकारी कहना मूर्खता है। जैसे साधुओंमें कोई कोई अविनीत लोलुप और क्रोधी होता है उसी तरह श्रावकोंमें भी कोई कोई अविनीत, लोलुप और क्रोधी होता है। ऐसे साधु और श्रावकको ठाणाङ्ग ठाणा तीन में शास्त्र पढ़ाने का निषेध किया है परन्तु जो श्रावक अविनीत लोलुप और क्रोधी नहीं है उसको शास्त्र पढ़ानेका निषेध नहीं है। अत: ठाणाङ्ग ठाणा ३ का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान है।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३६ पर उवाई और सुयगडांग सूत्रका मूल पाठ लिखकर उनको समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो अर्थ लाधा छै अर्थ ग्रह्या छै अर्थ पूछ्या छै अर्थ जाण्या छै। इहां श्रावकाने अर्थाराज्ञाता कह्या पिण इम न कह्यो "लद्धसुत्ता" जे लाधा भण्या छै सूत्र इम न कह्यो ते मांटे सिद्धान्त भगवानी आज्ञा साधुने इज छै पिण श्रावकने नहीं"

इसका क्या उत्तर ? (भ्र० पृ० ३३६)

(प्ररूपक)

उवाई सूत्र और सुयगडांग सूत्रमें जैसे श्रावकको अर्थका ज्ञाता कहा है उसी तरह समवायांग सूत्र और नन्दी सूत्रमें श्रावकको सूत्रोंका ज्ञाता भी कहा है। वह पाठ यह है :— "सुयपरिग्गहिया तवोवहाणाइं" अर्थात् श्रावक सूत्रको पढ़े हुए और उपधान नामक तप करने वाले होते हैं। यहां प्रत्यक्ष श्रावकको सूत्र पढ़नेवाला कहा है इसलिये श्रावकको सूत्र पढ़नेका अधिकार स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि उवाई और सुयगडांग का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अनधिकार बताना एकान्त मिथ्या है। उवाई और सुयगडांग सूत्रमें श्रावकको अर्थका ज्ञाता कहा है इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि वे अर्थ जाननेके ही अधिकारी हैं सूत्र पढ़नेके अधिकारी नहीं हैं किन्तु उवाई और सुयगडांग सूत्रसे अर्थ जाननेके और समवयांग सूत्रसे सूत्र पढ़नेके श्रावक अधिकारी सिद्ध होते हैं अतः श्रावकको सूत्र पढ़नेका अनधिकारी बताना अज्ञान है। इसी तरह सुयगडांग सूत्रके ११ वें अध्ययनकी २४वीं गाथा लिखकर भ्रमविध्वंसनकारने जो यह लिखा है कि "आत्मगुप्त साधु इज शुद्ध धर्मनो परुपण हार छै" यह भी मिथ्या है क्योंकि उक्त गाथामें श्रावकको शुद्ध धर्मका उपदेशक होना वर्जित नहीं किया है और किया भी नहीं जा सकता क्योंकि उवाई सूत्रमें श्रावकको "धम्मक्खाइ" कह कर धर्मोपदेशक होना साफ साफ बतलाया है और भ्रमविध्वंसनकारने भी भ्र० पृ० २३४ पर श्रावकको धर्मोपदेशक माना है। जैसे कि वे लिखते हैं—"धर्म श्रुत चारित्र रूपने संभलावे ते धर्मख्यात कहीजै" यह लिखकर स्वयं भ्रमविध्वंसनकारने भी श्रावकको धर्मोपदेशक होना स्वीकार किया है तथापि सुयगडांग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर श्रावकको धर्मोपदेशक होनेका निषेध करना इनका शास्त्र और अपने कथनसे भी विरुद्ध है।

(बोल ६ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६८ पर सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी तीसरी और चौथी गाथा लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो—ए सूत्र, अभाजनने सिखावे ते कुल गण संघ बाहिरे ज्ञानादिक रहित कह्यो। अरिहंत गणधर स्थविरनी मर्य्यादानो लोपहार कह्यो। जो साधु अभाजनने नसिखावणो तो गृहस्थतो प्रत्यक्ष पांच आश्रवनो सेवणहार अभाजनइज छै तेहने सिखायां धर्मकिम हुवे इत्यादि लिखकर श्रावकको एकान्तरूपसे अभाजन कायम करके उसको शास्त्र पढ़ानेका अनधिकारी बतलाते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सूर्य्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी दूसरी और तीसरी गाथाओंमें अभाजनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध किया है परन्तु वहां यह नहीं कहा है कि श्रावक अभाजन होता है इसलिये उसे नहीं पढ़ाना चाहिये। अतः सूर्य्य प्रज्ञप्ति सूत्रकी गाथाओंका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बताना मिथ्या है। सूर्य्यप्रज्ञप्ति सूत्रमें अभाजनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध किया है परन्तु श्रावक अभाजन नहीं है क्योंकि वह चतुर्विध तीर्थमें गिना गया है और शास्त्रकारोंने श्रावकको गुण रूपी रत्नका पात्र कहा है इस लिये श्रावक भाजन है अभाजन नहीं है। जैसे कोई कोई साधु शास्त्रमें अभाजन कहे गए हैं उसी तरह कोई कोई श्रावक भी अयोग्य होते हैं ऐसे अयोग्य साधु और श्रावकोंको शास्त्र पढ़ानेका निषेध है परन्तु सभी श्रावकोंको अयोग्य कायम करके उन्हें शास्त्र पढ़ानेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

ठाणाङ्ग ठाणा दूसरेमें श्रुत और चारित्र धर्मका दो भेद बताकर श्रावकको श्रुत धर्म वाला और देश चारित्री बतलाया है तथा साधुको श्रुतवान और सम्पूर्ण चारित्री कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावकको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है क्योंकि शास्त्र पढ़े बिना श्रावक श्रुत धर्मवाला कैसे हो सकता है ?

ठाणांग ठाणा ४ में श्रुत और चारित्रको लेकर एक चौभंगी कही गई है। वह पाठ यह है :—

"सुय सम्पन्ने नाम मेगे नो चरित्तसम्पन्ने"

(१) कोई पुरुष श्रुत सम्पन्न होते हैं चारित्र सम्पन्न नहीं होते।

(२) कोई चारित्र सम्पन्न होते हैं श्रुत सम्पन्न नहीं होते।

(३) कोई चारित्र और श्रुत उभय सम्पन्न होते हैं।

(४) कोई न श्रुत सम्पन्न होते हैं और न चारित्र सम्पन्न होते हैं।

यहां चारित्र रहित पुरुषको श्रुत सम्पन्न कहा है। यदि साधुसे इतरको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो चारित्र रहित पुरुष श्रुत सम्पन्न कैसे हो सकता है ? अतः साधुसे इतरको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है।

भगवती शतक ८ उद्देशा १० में यह पाठ आया है :—

"सुयसम्पन्ने नाम मेगे नो सीलसम्पन्ने"

इस पाठमें शील रहितको श्रुत सम्पन्न होना कहा है। यदि साधुसे इतरको शास्त्र पढ़नेका अधिकार नहीं है तो शील रहित पुरुष श्रुतसम्पन्न कैसे हो सकता है? अतः श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ७ समाप्त)

(प्रेरक)

निशीथ सूत्र उद्देशा १९ में पाठ आया है कि—

"जेभिक्खू पासत्थं वायइ वायंतं वा साइज्जइ"

जेभिक्खू पासत्थं पडिच्छइ पडिच्छंतंवा साइज्जइ"

अर्थात जो साधु पासत्थको पढ़ाता है या पढ़ाते हुए को अच्छा जानता है। जो साधु पासत्थसे शास्त्र पढ़ता है या पढ़ते हुएको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह उसन्न कुशील आदिके लिये भी पाठ आया है इन पाठोंके अनुसार जब कि परिग्रह रहित स्त्री आदिका त्यागी पासत्थ आदिको भी शास्त्र पढ़ानेका निषेध है तब फिर श्रावक तो परिग्रही और स्त्री आदिको रखने वाला होता है उसको शास्त्र पढ़ने का अधिकार कैसे हो सकता है?

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

उसन्न पासत्थ और कुशील आदि, केवल साधु ही नहीं होते श्रावक भी होते हैं इस लिये निशीथ सूत्र उद्देशा १९ के मूलपाठमें जो साधु और श्रावक, उसन्न पासत्थ और कुशील आदि हैं उनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध किया है परन्तु जो साधु और श्रावक उसन्न पासत्थ और कुशील आदि नहीं हैं उनको शास्त्र पढ़ानेका निषेध नहीं है अतः निशीथके उक्त मूलपाठका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़ानेका निषेध करना असंगत है। भगवती सूत्र शतक दश उद्देशा चारमें श्रावकोंको भी उसन्न पासत्थ और कुशील आदि कहा है वह पाठ यह है :—

"तएणं ते तायत्तिसं सहाया गाहावइ समणोवासगा पुव्विं उग्गा उग्गविहारी संविग्गा संविग्गविहारी भवित्ता तवोपच्छा पासत्था पासत्थ विहारी उसन्ना औसन्नविहारी कुशीला कुशील विहारी अहाच्छन्दा अहाच्छन्द विहारी बहुइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणंति"

(भ० श० १० उ० ४)

अर्थः—

इसके अनन्तर परस्पर सहायता करने वाले वे तैंतीस कुटुम्ब नामक श्रावक, पहले उग्र, उग्रविहारी, संविग्न और संविग्न विहारी होकर पीछे पासत्थ, पासत्थ विहारी उसन्न उसन्नविहारी, कुशील कुशीलविहारी, यथाच्छन्द और यथाच्छन्द विहारी होकर रहने लगे थे और इस प्रकार वे बहुत वर्षों तक श्रमणोपासककी पर्य्यायका पालन करते रहे ।

इस पाठमें श्रमणोपासकको भी उसन्न पासत्थ और कुशील आदि कहा है इस लिये जो श्रावक उसन्न, पासत्थ और कुशील आदि है उसीको शास्त्र पढ़नेका निशीथ सूत्रके उक्त पाठमें निषेध किया है। जो श्रावक संविग्न, संविग्नविहारी उग्र और और उग्रविहारी हैं उनको शास्त्र पढ़नेका निषेध नहीं किया है अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर श्रावक मात्रको शास्त्र पढ़ानेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये।

बोल ८

(प्रेरक)

पासत्थ किसे कहते हैं ?

(प्ररूपक)

शास्त्रमें ज्ञानादि आचारके आठ भेद कहे हैं उनमें दोष लगानेवाला पार्श्वस्थ कहा जाता है। वे ज्ञानाचार ये हैं :—

"काले, विणए, बहुमाणे, तहय अनिहूणवणे ।
वंजन अत्थ तदुभये अट्ठविहो नाण मायारो ।

(आचारांग टीका)

[१] नियत की हुई मर्य्यादाके साथ कालिक सूत्रोंका अध्ययन करना [२] विनय पूर्वक अध्ययन करना [३] बहुमानके साथ अध्ययन करना [४] उपधानतपके साथ पढ़ना [५] पढ़ानेवालेका नाम नहीं छिपाना [६] सूत्र [७] अर्थ [८] और तदुभयको पढ़ना ये आठ ज्ञानाचार कहे गये हैं ।

इन आठ ज्ञानाचारोंमें जो दोष लगाता है वह "पासत्थ" कहा जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी शास्त्र पढ़नेका अधिकारी है क्योंकि भगवती शतक १० उद्देशा ४ में श्रावकको भी पासत्थ कहा है। यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो वह ज्ञानाचारमें दोष लगाकर पासत्थ कैसे हो सकता है ? अतः श्रावकको सूत्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान है।

उत्तराध्ययन सूत्रमें लिखा है कि जो मनुष्य सूत्रोंको पढ़ता हुआ आचारांगादि

अंग और वाह्य उत्तराध्ययन आदिके द्वारा सम्यक्त्वका लाभ करता है वह "सूत्र रुचि" कहा जाता है । वह गाथा यह है:—

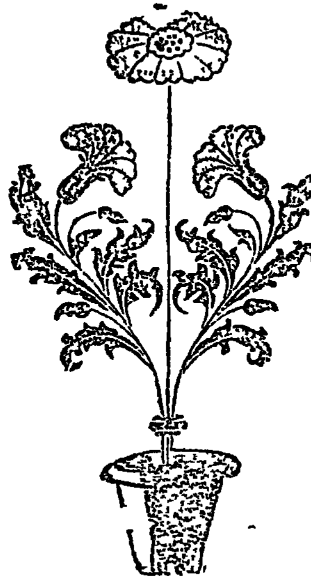
"जे सुत्त महिज्जंतो सुएण ओगाहइउ संमत्तं अंगेण वाहिरेण य सोसुत्तरुइत्ति नायव्वो"

(उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा २१)

इस गाथामें, जो पुरुष साधु नहीं है परन्तु सूत्र पढ़ कर सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे "सूत्र रुचि" कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतर पुरुष को भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है अतः साधुके सिवाय सभीको शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बताना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

[बोल ९ वां समाप्त]

इति सूत्रपठनाधिकारः)



(अथ क्रियाधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३७४ पर आज्ञा बाहरकी करनी से पुण्य होनेका खण्डन करते हुए लिखते हैं:—

"केतला एक अजाण आज्ञा बाहरली करणीथी पुण्य बंधतो कहे ते सूत्रना जाणणहार नहीं" (भ्र० पृ० ३७४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्यबंध नहीं मानना शास्त्र न जाननेका फल है क्यों कि जो, जैन धर्मके निन्दक और मिथ्यादर्शनमें श्रद्धा रखने वाले अपने शास्त्रके अनुसार अकाम निर्जरा आदिकी करनी करते हैं उनकी करनी जिन आज्ञामें नहीं है तथापि वे अपनी उस आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्य बांध कर स्वर्गमें जाते हैं। यदि आज्ञा बाहर की करनीसे पुण्यबंध नहीं होता तो उक्त पुरुष स्वर्गमें कैसे जाते ? अतः आज्ञा बाहर की करनीसे पुण्यबंध नहीं मानना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

जैन धर्ममें श्रद्धा नहीं रखने वाले मिथ्या दर्शनियोंकी अकाम निर्जरादि क्रियाको भ्रमविध्वंसनकार जिन आज्ञामें बतलाते हैं और उसे आज्ञामें बतला कर आज्ञा बाहरकी क्रियासे पुण्यबन्ध होनेका निषेध करते हैं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

वीतराग भाषित धर्ममें श्रद्धा नहीं रख कर मिथ्यादर्शन आदिमें श्रद्धा रखनेवाले जो अज्ञानी अकाम निर्जरा आदिकी करनी करते हैं उनकी करनी यदि जिन आज्ञामें है तो फिर वे मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि जिन आज्ञाका आराधक पुरुष मिथ्यादृष्टि नहीं होता अतः अकाम निर्जरा आदिकी करनी करने वालेको मिथ्यादृष्टि मानना और उसकी करनीको जिनआज्ञामें बताना परस्पर विरुद्ध और एकांत मिथ्या है।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

जो जीव वीतरागकी आज्ञाका आराधक नहीं है वह आज्ञा बाहरकी क्रिया कर के स्वर्ग प्राप्त करता है यह कहां लिखा है ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्र के मूल पाठमें स्पष्ट लिखा है कि जो जीव वीतराग की आज्ञा का आराधक नहीं है वह भी आज्ञा बाहर की क्रिया करके स्वर्गगामी होता है वह पाठ यह है:—

"सेजे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवंति तंजहा आयरियपडिणीया उवज्झायपडिणीया कुलपडिणीया गण पडिणीया आयरियउवज्झायाणं अजसकारगा अवण्णकारगा अकीत्तिकारगा असब्भावुब्भावणाहिंमिच्छत्ताभिणिवेसेहिंय अप्पाणंच परंच तदुभयंच वुग्गाहे माणा वुप्पाए माणा विहरित्ता बहुइं वासाइं समण्णपरियागं पाउणंति तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता काल मासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिव्विणएसु देवकिव्विसियत्ताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं गनी तेरससागरो वमाइं ठीति अणाराहगा सेसं तंचेव"

(उवाई सूत्र)

अर्थ :—

आचार्य्य, उपाध्याय, कुल और गणके साथ वैरभाव रखने वाले और उनकी अवज्ञा, अकीर्त्ति, तथा अयशका प्रचार करने वाले कई नामधारी प्रव्रजित ग्राम आदि यावत् संनिवेशों में रहते हैं वे मिथ्यात्वके अभिनिवेश और असद्भावकी भावनासे अपने आपको और दूसरों को भी बुरे आग्रहमें डालते हैं। वे असद्भावनाका समर्थन करने वाले बहुत काल तक अपनी प्रव्रज्या का पालन करके अपने बुरे कार्य्योंकी आलोचना नहीं लेनेसे पापरहित नहीं होते। वे आयु शेष होने पर मर कर लन्तक नामक देवलोक में उत्पन्न होकर किल्विषी नामक देवता होते हैं। वहां उन की तेरह सागर तक स्थिति होती है वे परलोक सम्बन्धी भगवान् की आज्ञा के आराधक नहीं हैं।

इस पाठमें आचार्य्य उपाध्याय कुल, गण संघ आदिकी निन्दा करने वाले वीत-

तरागकी आज्ञाका अनाराधक अज्ञानी जीवोंको आज्ञा बाहरकी क्रियासे स्वर्ग प्राप्त करना कहा है अतः आज्ञा बाहरकी क्रियासे भी पुण्य वन्ध होना स्पष्ट सिद्ध होता है। तथापि आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्यवन्धका निषेध करके अज्ञानियोंकी अकाम निर्ज्जरा आदि क्रियाओंको आज्ञामें कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। इस विषयका विस्तृत विवेचन मिथ्यात्वि क्रियाधिकारमें किया गया है विशेष जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये।

(बोल ३ समाप्त)

(इति क्रियाधिकारः)



(अथ अल्पपाप वहुनिर्जराधिकारः)

(प्रेरक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे अल्पतर पाप कर्म और बहुतर निर्जरा होना लिखा है उसका अर्थ करते हुए भ्रमविध्वंसनकार लिखते हैं:—

"तेहने अल्प पाप ते पापतो नहींज छै अने हर्ष करी दीधां बहुत घणी निर्जरा हुई" (भ्र० पृ० ४४९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका वह मूलपाठ टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है:—

"समणोवासएणं भन्ते ! तहारूवं समणं वा माहनं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किंकज्जइ गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ अप्पतराए से पाव कम्मे कज्जइ"

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

(टीका)

'बहुतरिय'त्ति पाप कर्मापेक्षया 'अल्पतराए'त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया। अयमर्थो गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रकायोपष्टम्भो जीवघातो व्यवहारतस्तच्चारित्रवाधाच भवति ततश्च चारित्रकायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापंकर्म तत्रच स्वहेतुसामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षयाचाल्पतरं पापं भवति। इहच विवेचकाः मन्यंते असंस्तरणादिकारणतएवा प्रासुकादि दाने बहुतरा निर्जरा भवति नाकारणे यदुक्तं "संथरणम्मि असुद्धं दोण्ह विगेण्हंत दितयाणहियं

आउर दिट्ठं तेणं तंचेव हियं असंथरणेत्ति"

अन्येत्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशात् बहुतरा निर्जराभवति अल्पतरंच पापं कर्मेति निर्विशेपणत्वात्सूत्रस्य परिणामस्यच प्रमाणत्वात् आहच—"परम रहस्स मिसीणं समत्त गणिपिडग किरिय साराणं। परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंव-

माणाणं" यच्चोच्यते संथरणंमि असुद्ध मित्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि दातृग्रहीत्रो रहितायेति तद्ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधनाद्दायकस्यच लुब्धकदृष्टान्तभावित्वेनवा, ददतः शुभाल्पायुष्कता निमित्तत्वात् । शुभमपिचायुरल्प महितं विवक्षया, शुभायुष्कता निमित्तं चा प्रासुकादि दानस्य अल्पायुष्कता प्रतिपादकसूत्रे प्राक्चर्चितं यत्पुनर्गिहतत्वं तत्केवलिगम्यम्'

अर्थ :—

हे भगवन् ! तथाविध श्रमण और माहनको अप्रासुक अनेषणिक आहार देनेवाले श्रमणोपासकको क्या फल होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अल्पतर पाप और बहुतर निर्जरा होती है । यह मूलपाठ का अर्थ है । टीकाका अर्थ निम्नलिखित है—

पाप कर्मकी अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होती है और निर्जराकी अपेक्षा पाप कर्म बहुत थोड़ा होता है । इसका आशय यह है कि गुणवान पात्रको अप्रासुक अन्नादि दान देनेसे उसके चारित्र और शरीरको सहायता प्राप्त होती है और व्यवहारसे चारित्र की बाधा और जीवकी विराधना होती है अतः चारित्र और शरीरकी सहायता होनेसे निर्जरा होती है और जीव विराधना आदि होनेसे पाप होता है । चारित्र और शरीरकी सहायता बहुत अधिक होती है और जीव विराधना बहुत थोड़ी होती है इस लिये अपने कारणानुसार बहुतर निर्जरा और निर्जराकी अपेक्षासे अल्पतर पाप होता है । इस विषय में विवेचक लोगोंका मत यह है—

निर्वाह नहीं होने आदि कारणोंसे अप्रासुक वस्तुका दान करना बहुतर निर्जराका हेतु होता है अन्यथा नहीं, जैसे किसी आचार्य्यने कहा है—निर्वाह होनेपर अशुद्ध आहार देना और लेना दाता और ग्राहक दोनोंके अहितके लिये होता है परन्तु रोगीके दृष्टान्त से निर्वाह नहीं हो सकनेपर वह दान दोनोंका हितकारक होता है । इस विषयमें दूसरे लोगोंका कहना यह है—

कारण नहीं होनेपर भी गुणवान पात्रको अप्रासुकादि आहार देनेसे बहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है क्योंकि मूल सूत्रमें कारण विशेषका उल्लेख नहीं किया गया है तथा गुणवान पात्रको श्रद्धापूर्वक अप्रासुक आहार देने वाले श्रमणोपासकका परिणाम शुद्ध है उस परिणामकी शुद्धिके कारण बहुतर निर्जरा, और अशुद्ध अन्न होनेके कारण अल्पतर पाप होता है । जैसे आचार्योंने कहा है :— परम रहस्यको जानने वाले सम्पूर्ण द्वादशांग के सारका ज्ञाता, निश्चय नयका अवलम्बन करने वाले ऋषियोंने (पाप और पुण्य आदिके विषयमें) परिणामको ही प्रमाण माना है । अतः विना कारण भी गुणवान पात्रको असूझता आहार देनेसे बहुतर निर्जरा और अल्पतर पाप होना

समझना चाहिये। जो कि "संकरणमि अशुद्ध" इत्यादि गाथामें अप्रासुक दानको देने वाले और लेने वाले दोनोंके लिये अहित कहा है वह इस लिये कहा है कि अशुद्ध आहार लेनेसे व्यवहारतः संयम विराधना होती है और लुब्धकके दृष्टान्तसे देनेवालेकी शुभ अल्प आयु बंधती है यद्यपि वह आयु शुभ है तथापि थोड़ी होनेसे उसे अहित कहा है अप्रासुक आदिका दान, शुभ आयु बन्धका भी कारण होता है यह पूर्व सूत्रमें पहले ही बतला दिया गया है।

इस विषयमें जो तत्व यानी यथार्थ बात है वह केवलि गम्य है यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है।

इस टीकामें टीकाकारने अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा थोड़ा पाप होना और बहुतर निर्जराका अर्थ पापकी अपेक्षासे बहुत ज्यादा निर्जरा होना बतलाया है परन्तु पापका अभाव, या पाप नहीं होना इत्यादि अथ नहीं किया है अतः अल्पतर पाप शब्दका पापका अभाव अर्थ बताना मिथ्या समझना चाहिये।

इस टीकामें विवेचक और अन्यके मतसे उक्त मूल पाठके दो आशय वतलाये हैं। विवेचक लोग कारण पड़ने पर अप्रासुक दानका अल्पतर पाप और बहुतर निर्जरा रूप फल बतलाते हैं और अन्य लोग कारण नहीं होनेपर भी अप्रासुक दानका अल्पतर पाप और बहुतर निर्जरा रूप फल मानते हैं परन्तु दोनों मतवालोंको अल्पतर पाप शब्दके अर्थमें कोई मत भेद नहीं है दोनोंहीने अल्पतर पाप शब्दका निर्जराकी अपेक्षासे अल्प पाप होना ही अर्थ माना है अतः अल्पतर पाप शब्दका अर्थ पापका अभाव बताना टीका से विरुद्ध और एकान्त मिथ्या है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४४८ पर "यत्पुनरिह तत्त्वं तत्केवलिगम्यम्" इस टीकाके वाक्यको लिख कर लिखते हैं—"अथ अठे पिण टीकामें एपाठनो न्याय केवलीने भलायो ते मांटे अशुद्ध लेवारी थाप करणी नहीं"

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अल्पतर पाप और बहुतर निर्जरा शब्दका अर्थके विषयमें टीकाकारने केवलीपर न्याय करना नहीं छोड़ा है इनका अर्थ तो स्पष्ट रूपसे कर दिया है। निर्जराकी अपेक्षा अल्प पाप होना अल्पतर पाप शब्दका और पापकी अपेक्षा बहुत निर्जरा होना बहुतर

निर्जरा शब्दका अर्थ कर दिया है इस लिये अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा से थोड़ा पाप होना ही है पापका अभाव या पाप न होना अर्थ नहीं है। उक्त टीकामें जो विवेचकोंने कारण पड़नेपर अप्रासुक आहार देनेका फल अल्प पाप और बहुतर निर्जरा बतलाया है और अन्य लोग बिना कारण भी अप्रासुक दानका उक्त फल कहते हैं इन दोनोंमें कौनसा मत युक्त है इसका निर्णय टीकाकारने स्वयं कुछ नहीं करके लिखा है कि 'यत्पुनरिहतत्त्वं तत्केवलिगम्यम्' अर्थात् उक्त दोनों मतोंमें कौन मत श्रेष्ठ है यह बात केवली जानें, परन्तु टीकाकारको अल्पतर पाप शब्दका अर्थके विषयमें कोई संशय नहीं है अतः 'यत्पुनरिहतत्त्वं तत्केवलिगम्यम्' इस टीकाका नाम लेकर अल्पतरपापशब्दका पापका अभाव अर्थ करना टीकाका अर्थ नहीं समझनेका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल २ रा]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार इस पाठका तात्पर्य यह बतलाते हैं कि जो आहार असूझता हो गया है परन्तु श्रावक और साधुको इसका पता नहीं है। साधु सूझता समझकर लेता है और श्रावक उसे सूझता समझ कर देता है उस दानका फल इस पाठमें अल्पतर पाप और बहुतर निर्जरा कही है क्योंकि श्रावक सूझता समझकर उस अन्नको देता है इसलिये उसका कोई अपराध नहीं है अतः उस दानसे श्रावकको अल्प पाप यानी थोड़ा भी पाप नहीं होता और बहुत निर्जरा होती है। यह बात भ्र० पृ० ४४९ में कही है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिस अन्नको श्रावक असूझता नहीं जानता किन्तु सूझता जानकर साधुको देता है वह अन्न असूझता नहीं है वह सूझता ही है और उस दानका फल पूर्व पाठमें एकान्त निर्जरा और थोड़ा भी पाप न होना कह दिया गया है फिर उसी बातको इस पाठमें दुहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है इसमें तो असूझता आहार देनेका फल कहा है और टीकाकारने साफ साफ लिख दिया है कि साधुके चारित्र और शरीरकी सहायता होती है इस लिये असूझता आहार देनेसे बहुतर निर्जरा होती है और व्यवहारसे चारित्र की बाधा और हिंसा होती है इस लिये असूझता आहार देनेसे थोड़ा पाप भी होता है। यदि श्रावक सूझता समझकर ही साधुको देवे तो फिर टीकाकारको ऐसा लिखनेका क्या प्रयोजन था ? और कारण पड़नेपर असूझता आहार देनेका फल अल्पतर पाप, बहुतर निर्जरा है या, बिना कारण भी देने पर उक्तफल है, इस विषयका विचार

विशेषक और अन्वयके मतसे जो टीकाकारने किया है उसका क्या प्रयोजन था ? अतः असूझता आहार देनेका ही फल इस टीका और पाठमें कहा है सूझता आहार देनेका फल नहीं, इसमें किसी प्रकार का भी संशय नहीं करना चाहिये।

अल्पतर पाप शब्दका अर्थ भी भ्रमविध्वंसनकारने अशुद्ध किया है। टीकाकारने साफ साफ लिख दिया है कि निर्जराकी अपेक्षासे अल्प पाप होना अल्पतर पाप शब्दका अर्थ है। दूसरी बात यह है कि बहु शब्दके साथ आये हुए अल्प शब्दका अभाव अर्थ होता भी नहीं है। जैसे उत्तराध्ययन सूत्रमें बहु शब्दके साथ अल्प शब्द आया है उसका निषेध या अभाव अर्थ न होकर 'थोड़ा" अर्थ ही होता है वह पाठ यह है:—

"बहुवण्णगओ अप्पवण्णगओ पकरेइ" तथा भगवती शतक १ उद्देशा ९ में पाठ आया है—अप्पवण्णओ बहुवण्णओ" दशवैकालिक सूत्रमें पाठ आया है— "अप्पंवा बहुंवा" ठाणाङ्ग ठाणा चौथामें पाठ आया है—"चउव्विहे अप्पा बहुए पण्णत्ते" भगवती शतक १९ उद्देशा ३ और उक्त सूत्र शतक २५ उद्देशा ३ में पाठ आया है— "पचेरे दसरे दिसो अप्पावा बहुआवा तुल्लावा" पन्नावणा सूत्रके तीसरे पदमें पाठ आया है "अप्पावा बहुयावा" उवाइ सूत्रमें पाठ आया है "अप्पतरोवा भुज्जतरोवा" इसी तरह शास्त्रमें अनेकों जगह बहुशब्दके साथ अल्प शब्दका प्रयोग हुआ है और सभी जगह उसका "थोड़ा" अर्थ ही होता है अभाव या निषेध अर्थ नहीं होता अलबत्ता जहां बहु शब्दके साथ न आकर अकेला अल्प शब्द आता है वहां कहीं कहीं उसका अभाव अर्थ भी होता है परन्तु बहु शब्दके साथ आये हुए अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होता। भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में बहु शब्दके साथ अल्प शब्द आया है और उस पर भी उसके उत्तर तरफ् प्रत्यय लगा है अतः वहां अल्प शब्दका अभाव अर्थ करना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारने अल्पपाप बहु निर्जरा प्रकरणके पहले बोलमें अफासुक अनेसणीकका अर्थ सचित्त यानी जीववाली चीज किया है और यह अर्थ करके जनता को यह बतलानेकी चेष्टा की है कि श्रावक, साधुको सचित्त चीज यानी कच्चा पानी आदि कैसे दे सकता है ?

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें "अफासुअं अनेसणीज्जं" यह

पाठ आया है यहां अकालपनिकको अप्रासुक कहा है और अकालपनिकको ही अनेषणिक कहा है परन्तु जीववाली चीजको अप्रासुक नहीं कहा है अतः जीतमलजीने जो उक्त पाठमें अप्रासुक शब्दका सचित्त अर्थ किया है वह मिथ्या है। दूसरी जगह स्वयं जीतमलजीने भी अप्रासुक शब्दका अकालपनिक अर्थ किया है। आचारांग सूत्रके दूसरे श्रुत स्कन्धके ऊपर जीतमलजीने टब्वा रची है उस टब्वामें "अफासुअं" इस पाठ पर उनकी लिखी हुई टब्वा यह है:—

"अफ्रासुक ए अणकालपनिक मांटे सचित्त तुल्य, जिम उत्तराध्ययन अ० १ गाथा ५ अवनतिने कह्यो—"दुसीले रम्मइ मिए" भूंडा आचारने विषे रमे मिए कहितां मृग सरीखो अजाण ते मांटे मृग कह्यो तिम सचित्त पिण अकालपनिक छै अने जिहां बीजो आहार वस्त्रादिक सचित्त नहीं तेहने अफासुक कह्यो अकल्पता मांटे सचित्त सरीखो इमहीज (अणे सणीज्जं) ते अकल्पता मांटे असूझता सरीखो जाणवो"

इस टब्वा अर्थमें स्वयं जीतमलजीने "अफासुअं" का अर्थ सचित्त तुल्य अकल्पनीय किया है अतः भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें "अफासुअं" का सचित्त अर्थ करना इनका जनताको धोखा देना है वास्तवमें इस पाठमें अकल्पनीय वस्तु को ही अप्रासुक कह कर बतलाया है जीववाली चीज को नहीं अतः जीतमलजी का पूर्वोक्त आक्षेप मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४४४ पर भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशा ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां तो साधुने अप्रासुक अनेषणिक आहार दीधां अल्प आयुष बांधे कह्यो इहां तो जे असूझतो देवे ते जीवहिंसा अने झूठरे बरोबर कह्यो छै। अल्प आयुषो ते निगोदरो छै जे जीव हण्या झूठ बोल्यां साधुने अशुद्ध अशनादिक दीधां बंधतो कह्यो इम हिज ठाणाङ्ग ठाणा ३ अशुद्ध दियां अल्प आयुषो बांधतो कह्यो तो अशुद्ध दियां थोडो पाप घणी निर्जरा किम हुवे"

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक अनेषणिक आहार देनेसे अल्प आयुका बंध होना लिखा है वह आयु, दीर्घ आयुकी अपेक्षा अल्प कही गई

है क्षुल्लकभवग्रहणरूप निगोदकी आयु होनेसे नहीं। अतः भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठका नाम लेकर साधुको अप्रासुक अनेषणिक आहार देनेसे निगोदका आयु बन्ध बताना अज्ञान है। साधुको अप्रासुक अनेषणिक आहार देनेसे भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें शुभ अल्प आयु बंध होना लिखा है यह बात भगवती शतक आठ उद्देशा ६ के टीकामें भी कही है। वह टीका यह है:—

"शुभायुष्कतानिमित्तं चाप्रासुकादिदानस्याल्पायुष्कताफलप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितम्"

अर्थात् साधुको अप्रासुक अनेषणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होता है यह पहले बतला दिया गया है। यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि साधुको अप्रासुक और अनेषणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होता है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है तथा भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के पाठकी टीकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है:—

"अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या यतः किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतंदृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति नून मनेन भवान्तरे किंचिदशुभं प्राणिवधादि चासेवितम् अकल्प्यंवा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यल्पायुः संवृत्तइति।"

अर्थात् भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें मुनिको अप्रासुक अनेषणिक आहार देनेसे जो अल्प आयु प्राप्त होना कहा गया है वह दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प समझना चाहिये, क्योंकि जिनागमसे संस्कृत बुद्धिवाले मुनि, किसी भोगी पुरुषको पहली अवस्थामें मरा हुआ देख कर कहते हैं कि इसने जन्मान्तरमें प्राणिवध आदि अशुभ कर्मका अवश्य आचरण किया था अथवा मुनियोंको अकल्पनीय अन्नादि दिया था जिससे भोगी होकर भी यह अल्पायु हुआ है।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प आयु पाना लिखा है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है इस लिये भगवती शतक ५ उद्देशा ६ का नाम लेकर साधु को अप्रासुक और अनेषणिक आहार देने से निगोद की आयु बताना मिथ्या है। भगवती शतक ५ उद्देशा ६ का मूलपाठ यह है:—

"कण्हं भन्ते! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?

गोयमा! तींहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति तं-जहा—पाणेअइवाइत्ता मुसंवदित्ता तहारूवं समणंवा माहणंवा

अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभित्ता भवइ एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति"

(भ० श० ५ उ० ६)

अर्थ :—

हे भगवन् ! जीव, अल्प आयु कैसे बांधते हैं ?

(उत्तर) हे गौतम ! तीन कारणोंसे जीवको अल्प आयुका बन्ध होता है जीवहिंसा करनेसे, झूठ बोलने से और मुनिको अप्रासुक अनेषणिक आहारादि देनेसे ।

इस पाठमें प्राणातिपात, मृषावाद और मुनिको असूझता आहार देनेसे अल्प आयुका वन्ध होना कहा है । यह अल्प आयु, क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नहीं है किंतु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है यह पहले टीकाका प्रमाणके साथ लिख दिया गया है। यहां प्राणातिपात और मृषावाद भी सब प्रकारके नहीं लिये गये हैं किंतु मुनिको आहार देनेके लिये जो आधाकर्मी आहार तय्यार किया जाता है उसमें जो प्राणातिपात होता है वह प्राणातिपात, और उस आधा कर्मी आहारको देनेके लिये जो मिथ्या भाषण किया जाता है वह मिथ्या भाषण, इन्हींका ग्रहण है सब प्राणातिपात और सब मृषावादका ग्रहण नहीं है । इसका खुलासा ठाणाङ्ग सूत्रके पाठकी टीकामें किया है वह टीका यह है:—

"तथाहि प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा यथा अहो साधो ! स्वार्थ सिद्ध मिदं भक्तादि कल्पनीयं वो नशङ्का कार्य्येत्यादि"

अर्थात् प्राणियोंका विनाशके द्वारा आधाकर्मी आहार तय्यार करके झूठ बोल कर साधुको देना "अर्थात् हे साधो ! यह अन्न हमने अपने लिये बनाया है यह आपका कल्पके योग्य है" इत्यादि मिथ्या बोल कर आधा कर्मी आहार साधुको देना, इस प्रकार जो झूठ बोला जाता है और आधा कर्मी आहार तय्यार करनेमें जो प्राणातिपात होता है उन्हीं प्राणातिपात और मृषावादसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना समझना चाहिये सब प्राणातिपात और मृषावादसे नहीं । अतः भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें सभी प्राणातिपात और सभी मृषावादोंका ग्रहण करना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें सामान्य रूपसे प्राणातिपात और मिथ्या भाषणका फल अल्प आयुका बन्ध होना लिखा है, आधाकर्मी आहार तैय्यार करनेमें जो जीवहिंसा होती है और उसे साधुको देनेके लिये जो मिथ्या भाषण किया जाता है उन्हींसे अल्प आयुका बन्ध नहीं कहा है फिर आप यह किस प्रमाणसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के उक्त मूल

पाठके निकटवर्ती पाठमें कहा है कि प्राणातिपात और मृषावादसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है। परन्तु एक ही कारणसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य्य नहीं हो सकते इसलिये टीकाकारने इस पाठकी टीकामें इसका निर्णय स्पष्ट रूपसे कर दिया है कि आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो जीवहिंसा होती है उस जीव हिंसासे और झूठ बोलकर जो साधुको आधाकर्मी आहार दिया जाता है उस मृषावादसे शुभ अल्प आयुका वन्ध होता है इनसे अतिरिक्त जो प्राणातिपात और मृषावाद है उनसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है अतः टीकाकारका किया हुआ निर्णयसे इस पाठमें सभी प्राणातिपात और सभी मृषावादोंका ग्रहण न होकर आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो जीवहिंसा होती है उसीका ग्रहण होता है। वह टीका यह है :—

"यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्याद्यारंभेण स्वभाण्डा सत्योत्कर्णणादिनाऽधाकर्मादिकरणेनच प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य वधादि विरति निरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्कता समवसेया। अथनैवं निर्विशेषणत्वा- त्सूत्रस्य अल्पायुष्कत्वस्यच क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुतोयुज्यमानत्वा- दतः कथमभिधीयते सविशेषण प्राणातिपातादिवर्त्तो जीवस्य आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति? उच्यते—अविशेषण त्वेऽपिसूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यम्। यत इतरतृतीय- सूत्रे प्राणातिपातादितएव अशुभदीर्घायुष्कतां वक्ष्यति नहि सामान्यहेतौ कार्य्यवैषम्यं युज्यते सर्वत्रानाश्वास प्रसंगात् तथा "समणोवासएणं भन्ते! तहारूवं समणं माहनंवा अफासुएणं असण ४ पडिलाभमाणस्सकिं कज्जइ? बहुतरिया निज्जरा कज्जइ अप्पतरे से पावकम्मे कज्जइ" इतिवक्ष्यमाण वचनादवसीयते नैवेयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपा अल्पायुष्कता नहिस्वल्पपाप बहुनिर्जरा निबन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्तता संभाव्यते।

अर्थः—

जो जीव, जैन साधुओंके गुणके पक्षपातसे उनकी पूजा और सत्कार करनेके लिये पृथिवी काय आदिका आरम्भ करके अपने पात्र आदिको अयत्न पूर्वक रख और उठा कर आधाकर्मी आहार तैयार करता है और आधाकर्मी आहार तैयार करके प्राणा- तिपात करता है उस पुरुषकी, प्राणातिपात रहित निरवद्य दानसे उत्पन्न होने वाली आयु की अपेक्षासे अल्प आयु बंधती है। यदि कोई कहे कि इस सूत्रमें प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयु वन्ध होना कहा है परन्तु 'यह नहीं कहा है कि अमुक प्राणातिपात या अमुक मिथ्याभाषणसे अल्प आयु बंधती है। तथा यह भी नहीं कहा है कि दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प आयु बंधती है परन्तु क्षुल्लक भव ग्रहण रूप अल्प आयु नहीं बंधती फिर यह किस प्रकार मान लिया जावे कि आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो प्राणा-

तिपात होता है और मिथ्या भाषण करके जो साधुको आधाकर्मी आहार दिया जाता है उन्हींसे अल्प आयुका बन्ध होता है दूसरे प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे नहीं ?" तो इसका उत्तर यह है—यद्यपि इस सूत्रमें सामान्य रूपसे प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयुका वन्ध होना कहा है तथापि इनका विशेषण अवश्य कहना होगा अर्थात् आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो प्राणातिपात होता है और झूठ बोलकर जो साधुको आधाकर्मी आहार दिया जाता है उन्हींसे अल्प आयुका वन्ध होता है यह कहना ही होगा क्योंकि इस सूत्रके तीसरे सूत्रमें कहा है कि "प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है।" एक ही कारणसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य्य उत्पन्न हों यह संभव नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर सभी जगह अव्यवस्था हो जायगी तथा भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें इसी अकल्पनीय अन्नके दानसे अल्पतर पाप और वहुतर निर्जरा होना कहा है इससे ज्ञात होता है कि इस पाठमें कही हुई अल्पायुष्कता क्षुल्लकभव ग्रहण रूप नहीं है क्योंकि जिससे अल्पतर पाप और वहुतर निर्जरा होती है उस कार्य्यसे क्षुल्लकभव ग्रहण रूप अल्पायुष्कता होना संभव नहीं है। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो प्राणातिपात होता है और मुनिको झूठ वोलकर जो आधाकर्मी आहार दिया जाता है उन्हीं प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयुका वन्ध होता है सभी प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे नहीं तथा अल्प आयु भी दीर्घ आयुकी अपेक्षासे कही गई है क्षुल्लकभव ग्रहण रूप नहीं। अतः सभी प्राणातिपात और मिथ्या भाषणका इस पाठमें ग्रहण करना और अल्प आयुसे निगोदकी आयु वताना तथा भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें अल्पतर पाप शब्दका पापका अभाव अर्थ करना, यह सब एकान्त मिथ्या और मूल सूत्र तथा टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भगवती शतक १८ उद्देशा १० का मूलपाठ लिखकर लिखते हैं कि "ते अभक्ष्य आहार साधुने दीधां वहुतर निर्जरा किम होवे" इत्यादि।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १८ उद्देशा १० के मूलपाठमें उत्सर्गमार्गमें अनेषणिक आहार साधुको अभक्ष्य कहा है कारण दशामें अभक्ष्य नहीं कहा है अतएव सुयगडांग

सूत्रके दूसरे श्रुतस्कन्धकी आठवीं और नवीं गाथामें आधाकर्मी आहार खानेवालेको एकान्त पापी कहनेका निषेध किया है। वे गाथाएं टीकाके साथ लिखी जाती हैं—

"अहाकम्माणि भुंजंति अण्णमण्णे सकम्मुणा
उवलित्तेति जाणिज्जा अणुवलित्तेति वापुणो"
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जइ
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए"

(सुय० श्रु० २ गाथा ८-९)

टीका :—

साधुंच प्रधानकारणमाश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि तानिच वस्त्र भोजन वसत्यादीन्युच्यन्ते। एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जते एतैरुपयोगं ये कुर्वन्ति अन्योऽन्यं परस्परं तान स्वकीयेन कर्मणा उपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नोवदेत् तथा अनुपलिप्तानितिवा नोवदेत्। एतदुक्तं भवति—आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुंजानः कर्मणा नोपलिप्यते तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यं कर्मबन्धो भवतीत्येवं नोवदेत। यथावस्थित मौनीन्द्रागमज्ञस्यत्वेवं युज्यते वक्तुम्—

आधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्मबन्धः स्यान्नेति। यत उक्तम्—"किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं वास्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्। पिण्डः शय्या, वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यंवा" तथाऽन्यैरप्यभिहितम् "उत्पद्येतहिसाऽवस्था देशकालमयान् प्रति। यस्यामकार्य्यं कार्य्यं स्यात्कर्म कार्य्यञ्च वर्जयेत्" इत्यादि। गाथा ८

किमित्येवंस्याद्वादः प्रतिपाद्यतेइत्याह—आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामाश्रिताभ्यामनयोर्वा स्थानयो राधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभावाभावभूतयो र्व्यवहारो न विद्यते। तथाहि यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्येन एवंचाहाराभावेनापि क्वचित्सुतरामनर्थोदयः स्यात्। तथाहि क्षुत्प्रपीडितो नसम्यगीर्य्यापथं शोधयेत् ततश्च व्रजन् प्राण्युपमर्दमपि कुर्य्यात्। मूर्च्छादि सद्भावतयाच देहपातेसत्यवश्यभावी त्रसादि व्याघातोऽकालमरणेचाविरति रङ्गीकृता भवत्यार्तध्यानापत्तौ चतिर्य्यगतिरिति। आगमश्च "सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा" इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मबंधाभाव इति। तथाहि आधाकर्मण्यपि निष्पाद्यमाने षड्जीवनिकायवधः तद्वधेच प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यनयोः स्थानयो रेकान्तेनाश्रीयमाणयोर्व्यवहरणं व्यवहारो न युज्यते तथाऽभ्यामेव स्थानाभ्यां समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम्"

अर्थ :—

साधुके निमित्त जो प्रधानरूपसे कर्म किया जाता है उसे आधाकर्म कहते हैं। साधुके निमित्त वस्त्र, भोजन मकान आदि जो किये गये हैं वे सब आधाकर्म कहलाते हैं। जो साधु इनका उपभोग करता है उसे एकान्त रूपसे कर्मसे उपलिप्त अथवा एकान्त रूपसे कर्मसे अनुपलिप्त न कहना चाहिये। इसका कारण यह है कि जो साधु शास्त्रोक्त रीतिसे आधाकर्मका उपभोग करता है उसको कर्मबन्ध नहीं होता और जो शास्त्र विधिका उल्लंघन करके आहारके लोभसे आधाकर्मका उपयोग करता है उसको कर्मबन्ध होता है। अतः आधाकर्मके उपभोग करनेसे अवश्य कर्मबन्ध होता है या बिलकुल कर्म-बन्ध नहीं होता यह एकान्त रूपसे नहीं कहना चाहिये। इस विषयमें जैनागमके तत्वको जाननेवाले पुरुषोंको यह कहना चाहिये कि आधाकर्मके उपभोगसे कथंचित् कर्मबन्ध होता है और कथंचित् नहीं भी होता है। पूर्वाचार्य्योंने कहा है कि पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भेषज आदि, शुद्ध और कल्पनीय होकर भी कदाचित् अशुद्ध और अकल्पनीय हो जाते हैं और अकल्पनीय होकर भी कदाचित् शुद्ध और कल्पनीय होते हैं। अन्य आचार्य्योंने भी कहा है कि—कोई ऐसी अवस्था आ जाती है जिसमें कार्य्य तो अकार्य और अकार्य्य ही कार्य्य हो जाता है। अतः हर एक दशामें आधाकर्मी आहार खाना वर्जित नहीं हो सकता।

यदि सभी समयमें आधाकर्मी आहार खाना अनुचित माना जाय तो महान् अनर्थका उदय हो सकता है क्योंकि क्षुधासे पीड़ित साधु, अच्छी तरहसे ईर्य्यापथका परिशोधन नहीं कर सकता है और ईर्य्यापथका यथावत् परिशोधन नहीं होने पर प्राणि-योंका उपमर्द होना भी सम्भव है तथा क्षुधासे पीड़ित साधु यदि मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो अवश्य उसे त्रस आदि प्राणियोंका विघात हो सकता है। कदाचित् क्षुधा कष्टसे साधुका मरण हो जाय तो उसकी विरति भी कायम नहीं रह सकती। कदाचित् क्षुधा कष्टसे मरते हुए साधुको आर्तध्यान आ जावे तो उसकी तिर्य्यग्गति होती है अतः सभी दशामें आधा कर्मी आहार खानेको वर्जित करना मिथ्या है। आगममें कहा है कि साधु को सर्वत्र संयमकी रक्षा करनी चाहिये और संयमसे भी अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह आगम भी आधाकर्मी आहारको कारणवश खाने पर कर्मबन्धका अभाव बतलाता है यद्यपि आधाकर्मी आहारको तय्यार करनेमें छः कायके जीवोंका विघात होता है और जीवोंके विघात होनेसे कर्मबन्ध होना भी प्रसिद्ध है तथापि आधाकर्मी आहार खाने से एकान्त रूपसे पाप बताना उचित नहीं है। इसी तरह सारे अनाचारोंके विषयमें समझना चाहिये। यह उक्त गाथा और उनकी टीकाका भावार्थ है।

इन गाथाओंमें आधाकर्मी आहार खानेवालेको एकान्तरूपसे कर्मोपलिप्त कहने का निषेध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती शतक १८ उद्देशा १० में जो अनेषणिक आहार साधुके लिये अभक्ष्य कहा है वह उत्सर्ग मार्गमें कहा है कारण दशामें नहीं। बृहत्कल्प सूत्र में सदोष आहार को एकान्त अभक्ष्य नहीं कहा है। वह पाठ यह है:—

"निग्गंथेणवा गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अण्णेरे अचित्ते अनेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गाहित्तए सिया। अत्थिया इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठावित्तए कप्पइ से तस्स दाऊंवा अणुप्पदाऊंवा णत्थिया इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठाविएसिया तं णो अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयवेसिया"

(बृहत्कल्प)

इस पाठका भाव यह है कि भिक्षार्थ गये हुए साधुको यदि कोई गृहस्थ अचित्त अनेषणिक आहार लाकर देवे तो साधु वह अन्न अपने नवदीक्षित शिष्य यानी सामायक चरित्रवालेको खानेके लिये दे देवे यदि नवदीक्षित शिष्य न हो तो उस अन्नको स्वयं न खावे और किसी दूसरे साधुको भी न दे किन्तु एकान्त स्थानमें पूंजन और प्रतिलेखन करके परठ देवे।

इस पाठमें सदोष आहार नवदीक्षित शिष्यके खाने योग्य कहा है अतः सदोष आहारको एकान्त अभक्ष्य कहना शास्त्र विरुद्ध है। जब कि सदोष आहार एकांत अभक्ष्य नहीं है तब फिर सदोप आहार देने वाले श्रावकको एकान्त पाप कैसे हो सकता है? यह बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये। जीतमलजीने भी आधाकर्मी आहार नवदीक्षित शिष्यके खाने योग्य कहा है। बृहत्कल्प सूत्रकी जोड़के चौथी ढालमें जीतमलजी ने यह लिखा है:—

"इमहि वेकोश उपरंत लेगयो आधाकर्मादि अचित्त लह्यो छै। नवदीक्षित तो तसुदीजे नहीं तर साहू पारिठणो कह्यो"

अतः आधाकर्मी आहारको एकान्त अभक्ष्य कहना मिथ्या है।

(बोल छट्ठा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधु, कारण पड़ने पर नित्य पिण्ड लेना कल्प-

नीय बतलाते हैं परन्तु कारण होने पर भी आधाकर्मी 'आहारको त्यागनेयोग्य कहते हैं प्रश्नोत्तर साधशतकमें जीतमलजीने लिखा है कि—

"साधुने कारण पड्यां आधाकर्मी उद्देशिक न लेणो तो कारणे नित्य पिण्ड भोगवणो कि नहीं। इति प्रश्न (५६)

(उत्तर) आधाकर्मी उद्देशिक तो वस्तुइ अशुद्ध छै अने नित्यपिण्ड वस्तु अशुद्ध नहीं ते भणी कारण पड्यां दोष नहीं। कोई कहे एवो अनाचार छै ते कारणे किम सेवे? तो अनाचार तो स्नान क्रियां पिण कह्यो, सुगन्ध सुंघ्यां, वमन, गले हेठना, केश कापे, रेच, भंजन, ए सर्व अनाचार छै पिण जितव्यवहारथी कारणे दोष न कह्यो।' (प्रश्नो० सा० श०)

इसका क्या समाधान?

(प्ररूपक)

उद्दिष्ट भक्त और नित्य पिण्ड, इन दोनोंको शास्त्रमें एक समान दुर्गतिका कारण बताया है। उत्तराध्ययन सूत्रके वीसवें अध्ययनमें इस विषयमें यह गाथा आई है:—

"उद्देसियं कीयगडं नियागं, नमुंचइ किंचि अनेसणिज्जं।
अग्गीविवा सव्वभक्खो भवित्ता, इयो चुओ गच्छइ कट्टु पाव"

(उत्तरा० सू०)

अर्थ:—"

जो आहार साधुके लिये बनाया गया है, जो साधुके लिये खरीदा गया है तथा एक ही धणीका नित्य पिण्ड लेना, इन आहारोंको नहीं छोड़कर जो साधु अग्निकी तरह सवभक्षी हो जाता है वह पाप कर्मका उपार्जन करता है और उसकी गति बुरी होती है।

इस गाथामें उद्दिष्ट भक्त और नित्य पिण्ड इन दोनोंको दुर्गतिका कारण बतलाया है। इसलिये कारण पड़ने पर नित्य पिण्ड लेनेका स्थापन करना और उद्दिष्टका खण्डन करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। वास्तवमें उत्सर्ग मार्गमें दोनों ही वर्जित हैं परन्तु अपवादकी बात न्यारी है। एक ही धनीके आहारको प्रति दिन लेना नित्यपिण्ड कहलाता है परन्तु कई नामधारी साधु एक ही धनीके आहारको क्षेत्रभेद कायम करके प्रतिदिन विना कारण ही लेते हैं और रास्तेमें साधु सेवाका अधिक माहात्म्य बता कर गृहस्थोंको अपने साथ लेकर विहार करते हैं। रास्तेमें प्रत्येक पडावोंपर प्रतिदिन एक ही धनीका आहार लेकर खाते हैं यह सब कार्य्य साधुताका विनाशक और प्रत्यक्ष शास्त्रसे विरुद्ध है इस लिये ऐसे आचरण वाले साधुओंको अज्ञानी समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(इति अल्पपाप बहुनिर्जराधिकारः)

(अथ कपाटाधिकारः)

—————*—————

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५६ पर लिखते हैं—

"कोई पाखण्डी, साधु नाम धरायने पोते हाथथकी किमाड़ जडे उघाडे अने सूत्रना झूठा नाम लेईने किमाड़ जडवानी अने उघाडवानी अणहुन्ती थाप करे छे" (भ्र० पृष्ठ ४५६) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

प्रथम तो भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधु ही कपाट खोलने और बन्द करनेका परहेज नहीं करते, वे अपने हाथसे खिड़कीका कपाट खोलते हैं और बन्द करते हैं तथा इस कार्य्यको शास्त्रानुकूल बताते हैं परन्तु यदि दूसरा कोई साधु ऐसा करे तो उसे वे बुरा बताते हैं यह इनकी अद्‌भूत लीला है। यदि कहो कि वे खिड़कीके कपाटको खेलते हैं और बन्द करते हैं परन्तु द्वारके कपाटको नहीं खोलते और नहीं बन्द करते हैं तो यह उनका मिथ्याचार है कहीं भी शास्त्रमें ऐसा नहीं कहा है कि साधुको खिड़कीका कपाट खोलना और बन्द करना चाहिये परन्तु द्वारका कपाट खोलना और बन्द करना नहीं चाहिये। अतः खिड़कीके कपाटको खोलने और बन्द करनेको बुरा नहीं मान कर भी द्वार के कपाट को खोलने और बन्द करने को बुरा बताना अज्ञानमूलक है।

भिक्खुशयरसायन पत्र ११८ पर जीतमलजी लिखते हैं:—

"पच्चावने वर्ष पूज्यजी सहर कांकरोली सार
सेंहलोतारी पोलमें उतरिया तिण वार (१)
प्रत्यक्ष बारी पोलरी जडी हुन्ती तिण वार
ऋषि भिक्खु रहितां थकां एक दिवस अवधार (२)
बारी खोली बारणे दिशा जायवा देख
निसरिया भिक्खू निशा पूछे हेम संपेख (३)
स्वामी बारी खोलण तणी नहीं काइं अटकाव
तब भिक्खू बोल्या तुरत प्रत्यक्ष ते प्रस्ताव (४)
पूज कहे पूछै इसी इणरो नहीं अटकाव

अटकाव हुवे जो पहने म्हें खोलां किण न्याय (५)

तथा कुमति विहंडन नामक ग्रन्थमें जीतमलजीने लिखा है—

"सम्वत् १८५९ सोजदमें वजूंजी नाथाजी आदि सात आर्य्याने भीषणजी स्वामी साथे आय छत्री आगलकानी उपासरारी अज्ञालिधी गृहस्थ और वासथी कूंचीं ल्यायो आर्य्या मांहे उतारी जितरे स्वामीजी कने ऊभा। आर्य्या उपसरामें गया पछे स्वामीजी ठीकाने आया ए वात नाथाजीरे मुंहडा थी सुणी तिम लिखो। सम्वत १८९४ चैत्र शुदी १५ वार सोम खेरवामें नाथाजी कने बैठा पूछने लिखियो छै"

यहां पर जीतमलजीने साफ २ लिखा है कि भीषणजीने गृहस्थसे कूंजी लाकर द्वारके फाटकका ताला खोला था और सतीओंको अन्दर प्रवेश कराया था। तथा पूर्व लिखित दोहोंमें खिडकीका कपाट खोल कर भीषणजीका बाहर जाना और हेमजी के पूछने पर उसे शास्त्रानुकूल बताना साफ साफ लिखा है। यदि द्वारका कपाट खोलनेमें दोष था तो भीषणजीने छत्रीके फाटकका ताला खोल कर सतियोंको अन्दर कैसे प्रवेश कराया था ? तथा खिडकीका कपाट खोल कर वह रातमें बाहर कैसे गये थे ? अतः द्वारके कपाटको खोलनेमें साधुताका विनाश मानना इनका अज्ञान और इनके स्वयं आचरणसे भी भी विरुद्ध है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ४ के ३५ वीं गाथा लिख कर उसकी समालोचनामें लिखते हैं—

"अथ अठे इम कह्यो किमाण सहित स्थानक मणकरीने पिण वांछणो नहीं तो जडवो किहांथकी'। (भ्र० पृ० ४५६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

कपाट वाले मकानकी जब मनसे इच्छा भी बुरी है तब फिर उसमें उतरना तो और ज्यादा बुरा होगा फिर तेरह पन्थी साधु कपाट वाले मकानमें क्यों उतरते हैं ? इस कार्य्यसे उनकी साधुता कैसे रह सकती है ? जिसकी मनसे इच्छा रखना भी बुरा है उस कार्य्यको शरीरसे करना तो और अधिक हानिकर है परन्तु तेरहपन्थी साधु कपाट वाले मकानमें उतरते हैं, उसका परहेज नहीं रखते और कहते हैं कि कपाट सहित मकान की साधुको मनसे भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। इस प्रकार जो अपने कथनसे ही विपरीत आचरण करता है उसका सिद्धान्त कहांतक सत्य है यह हर एक बुद्धिमान जीव

जान सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा जो जीतमलजीने लिखी है उसका अभिप्राय वह गाथा लिख कर बनाया जाता है। वह गाथा यह है:—

मनोहरं चित्तहरं मल्लधूवेण वासियं
सकवाडं पांडुरुल्लोचं मनसावि न पत्थए"

इसके आगेकी गाथा यह है—

"इन्दियाणिउ भिक्खुस्स तारिसंमिउवस्सए
दुक्कराइं निवारेउं कामरागविवड्ढणे"

(उत्तराध्ययन अध्ययन ४ गाथा ३५। ३६)

अर्थः—

मनोहर, चित्रोंसे युक्त, माल्य और धूपसे वासित, कपाटयुक्त, और श्वेत वस्त्रको चादर से ढके हुए, मकानकी साधु मनसे भी चाहना नहीं करे।

क्योंकि ऐसे मकानमें रहने पर साधुकी इंद्रियां जब चञ्चल होकर अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं तब उनका निरोध करना कठिन हो जाता है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारका मकान काम रागको बढ़ाने वाला होता है।

इन गाथाओंमें, साधुको अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करनेके लिये मनोहर, चित्र युक्त, सुवासित सकपाट, और श्वेत चांदनी वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे रहना वर्जित नहीं किया है। अगली गाथामें साफ साफ लिखा है कि "मनोहर, चित्रयुक्त, माल्य और धूपसे सुवासित मकानमें रहना, काम राग को बढ़ाने वाला होता है इसलिये साधुको उक्त मकानमें नहीं रहना चाहिये" यदि कपाट खोलनेमें दोष होता तो जैसे शास्त्रकारने यह कहा है कि "ऐसे मकानमें रहने पर काम रागकी वृद्धि होती है" उसी तरह यह भी कह देते कि 'ऐसे मकानमें रहने पर कपाट खोलना और बन्द करना पड़ता है इसलिये साधुको उक्त मकान में नहीं रहना चाहिये" परन्तु शास्त्रकारने यह नहीं कह कर काम वृद्धिके भयसे उक्त मकानमें रहना वर्जित किया है इसलिये उक्त गाथाका नाम लेकर कपाट खोलने और बन्द करने का निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये। आजकल व्यवहारमें भी यही देखा जाता है कि कपाटवाले मकानमें तो साधु उतरते है परन्तु अश्लील चित्र वाले माल्य और धूप से सुवासित मकानमें नहीं उतरते अतः कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे कपाट वाले मकानमें उतरनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल २)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५७ पर आवश्यक सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे कह्यो—थोडो उघाड़गो पिण किमाड़ घणो उघाड्यो हुवे तेहनां पिण "मिच्छामि दुक्कडं" देवे तो पूरो जड़गो उघाड़गो किहां थकी" (भ्र० पृ० ४५७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

बिना पूंजे कपाट खोलनेका प्रायश्चित्त स्वरूप "मिच्छामि दुक्कडं" देना आवश्यक सूत्रमें कहा है कपाट खोलनेका प्रायश्चित्त स्वरूप "मिच्छामि दुक्कडं" देना नहीं कहा है अतएव टीकाकारने लिखा है कि "इहचाप्रमार्जनादिभ्योऽतिचारः" अर्थात् यह अतिचार बिना प्रमार्जन किये कपाट खोलनेसे होता है। इस टीकाकारकी उक्ति से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रमार्जन करके कपाट खोलने पर अतिचार नहीं होता है अतः आवश्यक सूत्रका नाम लेकर कपाट खोलनेसे साधुताका विनाश बताना सूत्रार्थ नहीं जाननेका फल समझना चाहिये।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५७ पर सुयगडांग सूत्र की गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं:—

"अथ अठे इम कह्यो और जागा न मिले तो सूना घरने विषे रह्यो साधु पिण किमाड़ जडे उघाडे नहीं तो ग्रामादिकमें रह्यो किमाड़ किम जडे उघाडे ए तो मोटा दोष छै" (भ्र० पृ० ४५७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

सुयगडांग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पी साधुके लिये कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञान है। उस गाथामें अकेला विहार करनेवाले जिन कल्पी साधुको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध किया है स्थविर कल्पीको नहीं। वह गाथा यह है:—

"एगे चरे ठाण मासणे सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाण वीरिए वइगुत्ते अज्झत्त संवुडे"

णो पीहेण य नावपंगुणे दारं सुन्नघरस्स संजए
पुट्ठेण उदाहरे वयं णसमुच्छे णो संथरे तणं''

(सुय० गाथा १२।१३)

अर्थ:—

द्रव्यसे अकेला विहार करने वाला भावसे राग द्वेष रहित साधु, कायोत्सर्गादिक अकेला ही करे तथा बैठना, सोना, उठना आदि भी अकेला करे धर्मध्यानसे युक्त होकर तपस्यामें अपने पराक्रमका पूर्ण उपयोग करे किसीके पूछने पर विचार कर वाक्य बोले अपने मनको गुप्त रक्खे, किसी कारणवश यदि शून्य गृहमें रहना पड़े तो उसका कपाट न बन्द करे और न खोले उस मकानके कचरेको न बुहारे, तथा सोनेके लिये तृण आदिकी शय्या न बिछावे। यह इन गाथाओं का अर्थ है।

यहां "एगेचरे" यह लिख कर अकेला विहार करनेवाले साधुके विषयमें गाथोक्त सभी नियम कहे गये हैं स्थविर कल्पीके लिये उक्त नियमोंका वर्णन नहीं है अतः इस गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञान है। इस गाथामें मकानका कचरा निकालना, तृणादिकी शय्या बिछाना इत्यादि बातें भी निषेध की गयी हैं फिर जीतमलजीके सम्प्रदायवाले साधु अपने निवासस्थान के कचरेको क्यों निकालते हैं तथा शयनके लिये तृणादिकी शय्या क्यों बिछाते हैं ? यदि कहो कि यह सब नियम जिनकल्पीका है स्थविरकल्पीका नहीं तो उसी तरह यह भी समझो कि कपाट बन्द करने और खोलने का निषेध जिनकल्पीके लिये है स्थविरकल्पी के लिये नहीं। अतः इस गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट खोलने और बंद करनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। यदि कोई दुराग्रही उक्त गाथाके तीन चरणोंको स्थविर कल्पीके लिये और एक चरणको जिनकल्पीके लिये कहा जाना बतावे तो उसे कहना चाहिये कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि यह बात शास्त्र शैलीसे विरुद्ध है। उक्त गाथाके आरम्भ और समाप्तिमें जिनकल्पीका ही नियम बताया गया है फिर बिना किसी प्रकारकी सूचना दिये मध्यमें स्थविर कल्पीका नियम नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि स्थविर कल्पीमें साध्वी भी शामिल हैं फिर तो उन्हें भी कपाट नहीं बन्द करना चाहिये। यदि साध्वियोंको कपाट बन्द करने में पाप नहीं होता तो फिर साधुओंको क्यों होगा ? अतः जिनकल्पीके लिये कही हुई गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध करना जनताकी आंखमें प्रत्यक्ष धूल झोकना है।

(बोल ४)

(प्रेरक)

शास्त्रमें यदि कहीं साधुको कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान किया हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान अनेकों जगह पर मिलता है। कई यहां भी लिखे जाते हैं :—

"साणी पावार पिहियं अप्पणा नाव पंगुरे
कवाडं नो पणुल्लिज्जा उग्गहंसि अजाइया,,

(दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८)

अलसीके काण्डकी टट्टीसे या पर्दे आदिसे ढके हुए मकानको गृहस्वामीकी आज्ञाके विना साधु न खोले तथा धनीकी आज्ञाके विना कपाट भी न खोले परन्तु गाढ़ कारण होनेपर गृहस्वामी की आज्ञा लेकर खोलनेमें कोई दोप नहीं है।

इस गाथामें गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर विधिपूर्वक कपाट खोलनेका विधान किया गया है अत: अपने निवास स्थानके कपाटको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेमें कोई दोप नहीं है। आचारांग सूत्रमें गृहस्थका द्वार खोलनेका विधान किया गया है। वह पाठ यह है—

"से भिक्खू वा भिक्खूणीवा गाहावइकुलस्स दुवारवाहं कंटकबुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवगुणिज्जवा पविसेज्जवा णिक्खमेज्जवा तेसिं पुव्वामेव अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय तओ-संजयामेव अवगुणेज्जवा पविसेज्जवा णिक्खमेज्जवा'

(आचारांग सूत्र)

अर्थ :—

भिक्षाके निमित्त गया हुआ साधु, गृहस्थके मकानको कंटकको शाखासे ढका हुआ देख कर गृहस्थकी आज्ञाके विना और बिना देखे तथा रजोहरणादिसे प्रमाजन किये बिना उसका द्वार खोलकर अन्दर न प्रवेश करे और न निकले क्योंकि इसमें गृहस्वामीका साधुपर क्रोधित होना संभव है परन्तु गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर देख भाल करके और रजोहरणादिके द्वारा प्रमार्जन करके द्वार खोलकर प्रवेश करनेमें कोई दोप नहीं है।

इस पाठमें गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर प्रमार्जन आदि करके गृहस्थके मकानका द्वार खोलनेका विधान किया गया है अतः कपाट खोलनेसे एकान्तरूपसे संयमकी वि-

राधना बताना अज्ञान है। कारण होनेपर साधु जबकि गृहस्थके द्वारको भी खोलकर संयमका विराधक नहीं होता तब फिर अपने स्थानके द्वारको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेसे वह संयमका विरावक कैसे हो सकता है ? अतः कपाट खोलने और बन्द करनेसे साधुताका विनाश कहना अज्ञान मूलक है।

(बोल ५)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम० ४६१ पर आचारांग सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"रात्रिने विषे अथवा विकालने विषे आवाधा पीडातां किमाड खोलना पड़े तो खुली देखि माय तस्कर आयने वतायां न वतायां अवगुण उपजता कह्या। सर्व दोषामें प्रथम दोष किमाड खोलवानो कह्यो तिण कारणथी साधुने कीमाड़ खोलनो पड़े एहवो थानके रहिवो नहीं" (भ्र० पृ० ४६१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचारांग सूत्रके मूलपाठमें साधु और साध्वी दोनोंको गृहस्थके संसर्गवाले मकान में रहनेका निषेध किया है। वह निषेध यदि कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे किया गया हो तो फिर साध्वीको भी अपने निवास स्थानका कपाट नहीं बन्द करना चाहिये। यदि साध्वीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध नहीं है तो उसी तरह साधुको भी कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध नहीं है। वास्तवमें आचारांग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें साधुको उतरना वर्जित नहीं किया है किन्तु उस मकानका द्वार खुला हुआ देख कर यदि उसमें चोर प्रवेश करे तो उस चोरको बताने या न बताने दोनों ही हालतमें साधुको दोष लगता है उस दोषकी निवृत्तिके लिये साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है। वह पाठ यह है—

"सेभिक्खूवा भिक्खूणीवा उच्चारपासवणेण उवाहिज्जमाणे राओवा वियालेवा गाहावइ कुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिज्जा तेणेय तस्संधिचारी अणुप्पविसिज्जा। तस्सभिक्खूस्स णो कप्पइ एवं वइत्तए अयं तेणो पविसइवा णोवापविसइ उवल्लियइवा णोवा० आवइवा० वयइवा नोवा० तेन हडं अन्नेन हडं अयं इत्थमकासी तं

तवस्सिं भिक्खू अतेणं तेणंति संकइ अहभिक्खूणं पूव्वोवदिट्ठा जाव णो चेतेज्जा।

अर्थ :—

साधु या साध्वी गृहस्थके संसर्गवाले मकानमें रहते हुए लघु नीति या बड़ी नीतिसे पीड़ित होकर बाहर जानेके लिये यदि उस मकानका द्वार खोले और कपाट खुलनेकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ चोर यदि उस मकानमें प्रवेश कर जाय तो साधुको यह कहना नहीं कल्पता है कि यह चोर घरके अन्दर प्रवेश करता है या नहीं प्रवेश करता है, छिपता है या नहीं छिपता है, बोलता है या नहीं बोलता है, इसने यह चीज चुराई है या नहीं चुराई है, यह चोर है या चोरका परिचारक है, यह हथियार लिया हुआ है या नहीं लिया है, यह मार डालेगा, इसने यह कार्य्य किया है इत्यादि। ऐसा कहनेपर चोरपर आपत्ति आवेगी अथवा क्रोधित होकर वह चोर साधुको ही मार सकता है और नहीं कहनेपर कदाचित् साधुको ही वह गृहस्थ चोर समझ लेवे तो इसमें महान् अनर्थ हो सकता है। अतः साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें नहीं रहना चाहिये।

इस पाठमें गृहस्थके मकानमें चोरके प्रवेश करनेपर होने वाले अनर्थके भयसे साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर साधुको अपने निवास स्थान के कपाटको खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

बोल ६ ट्ठा समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसककार वृहत्कल्प सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं :—

"साध्वीने उघारे बारने रहणो नहीं किवाड़ न हवे तो चिलमिली बांधीने रहिणो पिण उघाडे बारणे रहिवो न कल्पे तिणरो ए परमार्थ शीलादिक राखवा निमित्त कीमाड जड़णो पिण शीलादिक कारण विना जड़नो उघाड़नो नहीं। अने साधुने तो उघारे द्वारे हीज रहिवो कल्पे इमि कह्यो" (भ्र० पृ० ४६२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

वृहत्कल्पसूत्रका मूलपाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है :—

"नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुयदुवारए उवस्सए वत्थए एगं पत्थारं आलोकिच्चा एगं पत्थारं वाहिं किच्चा ओहाडिय चिलमिलिया-

गंसि एवहणं कप्पइ वत्थए कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए।

(बृहत्कल्प सूत्र)

अर्थ :—

खले द्वार वाले मकानमें साध्वीका रहना नहीं कल्पता है परन्तु स्थानाभावके कारण यदि खुले द्वार वाले उपाश्रयमें साध्वीको रहना पड़े तो बाहर और भीतर चटाई आदिसे दो पर्दे बांधकर साध्वी उसमें रहे। साधुको खुले द्वार वाले मकानमें रहना कल्पता है।

इस पाठमें कहा है कि "खुले द्वार वाले मकानमें साधुको रहना कल्पता है" इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि खुले द्वार वाले मकानमें ही साधु रहे, जिसका द्वार बन्द किया जा सके उस मकानमें न रहे क्योंकि इसी बृहत्कल्प सूत्रमें यह पाठ आया है :—

"नो कप्पइ निग्गंथीणं अह आगमणगिहंसिवा, वियडगिहंसिवा, वंसिमूलंसिवा, रुक्खमूलंसिवा, अभावगासियंसिवा, वत्थए। कप्पइ निग्गंथाणं अह आगमणगिहंसिवा, वियडगिहंसिवा, वंसिमूलंसिवा रुक्खमूलंसिवा, अभावगासियंसिवा वत्थए।

अर्थ :—

जहां पथिक गग आकर उतरते हैं, तथा खुले मकानमें, बांसके वृक्षके नीचे, दूसरे किसी वृक्षके नीचे, कुछ खुले और कुछ ढके मकानमें, साध्वीको रहना नहीं कल्पता है, परन्तु साधुको रहना कल्पता है।

इस पाठमें जहां पथिक लोग उतरते हैं, तथा बांसके नीचे, वृक्षके नीचे, कुछ खुले और कुछ ढके मकानमें साधुको रहना कल्पनीय कहा है इसका आशय जैसे यह नहीं है कि "जहां पथिक लोग उतरते हैं और बांसके नीचे, वृक्षके नीचे और कुछ ढके और कुछ खुले मकानमें ही साधु रहे अन्यत्र न रहे" उसी तरह पूर्व पाठका भी यह आशय नहीं है कि खुले द्वार वाले मकानमें ही साधु रहे अन्यत्र न रहे। अतः बृहत्कल्प सूत्रका नाम लेकर खुले किवाड़ वाले मकानमें ही साधुको रहनेका कल्प बताना मिथ्या है।

यदि कोई दुराग्रही पूर्व पाठका यही आशय बतावे कि "साधुको खुले द्वार वाले मकानमें ही रहना कल्पता है बन्द द्वार वाले मकानमें रहना नहीं कल्पता" तो उसके हिसाबसे दूसरे पाठका भी यही आशय होना चाहिये कि "जहां पथिक लोग आकर उतरते हैं और बांसके नीचे वृक्षके नीचे तथा कुछ खुले और कुछ ढके मकानमें ही साधु को रहना चाहिये अन्यत्र नहीं रहना चाहिये" फिर वे लोग, जहां पथिक आकर नहीं उतरते हैं ऐसे मकानमें क्यों रहते हैं ? तथा बांसके नीचे और वृक्षके नीचे तथा कुछ

ढके और कुछ खुले मकानमें ही वे क्यों नहीं रहते ? अन्यत्र क्यों रहते हैं ? तथा साधु को अटवीमें, विकट देशमें विचरना कल्पनीय कहा है फिर तेरह पन्थी साधु, अटवीमें और विकट देशमें ही सदा क्यों नहीं विचरते हैं वे ग्रामादिकोंमें क्यों आते हैं ? यदि कहो कि यह वात एकान्त नहीं है, इसलिये साधु यदि अटवी और विकट देशोंसे अतिरिक्त स्थानमें विचरे तो भी कोई क्षति नहीं है तो उसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि खुले द्वार वाले मकानमें रहना साधुके लिये एकान्तरूपसे नहीं कहा है अतः वह बन्द द्वारवाले मकानमें रहे तो भी कोई क्षति नहीं है वास्तवमें साध्वीकी अपेक्षासे यह साधुमें विशेषता बतलाई गई है कि साध्वी खुले मकानमें नहीं रह सकती है परन्तु साधु रह सकता है। इसका भाव यही है कि साध्वी तो एकमात्र बन्द द्वार वाले मकान में ही उतरे और साधु बन्द द्वार वाले और खुले द्वार वाले दोनों ही प्रकारके मकान में अपनी परिस्थितिके अनुसार उतर सकता है। अतः इस पाठका नाम लेकर साधुको कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये ।

कारण दशामें साधुको कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान बृहत्कल्प सूत्र के चौदहवें और पन्द्रहवें सूत्रके भाष्यमें भी किया है वह यहां लिखा जाता है।

"आह किंतत्कारणं येन द्वारं पिधीयते—

पडिणीय तेण सावय उब्भामग गोण साण सुणगादी

सीयं दुरहियासं दीहा पक्खी च सागरिये,, (२२६)

उद्घाटिते द्वारे पत्यनीकः प्रविश्य आहननमपद्रावणं वा कुर्य्यात्। स्तेनाः शरीरस्तेनाः वा प्रविशेयुः एवं श्वापदाः सिंह व्याघ्रादयः उद्भ्रामकाः पारदारिकाः गोवलीवर्दाः श्वान प्रायाः तत एतेवा प्रविशेयुः अनात्मवशः क्षिप्तचित्तादिः द्वारेऽपिहिते सति निर्गच्छेत्। शीतं दुरधिसहं हिमकणानुसक्तं निपतेत् दीर्घाः वा सर्पाः पक्षिणोवा काक कपोत प्रभृतयः प्रविशेयुः सागारिकोवा कश्चित् प्रतिश्रयमुद्घाटद्वारं दृष्ट्वा प्रविश्य शयीत वा विश्रामंवा गृह्णीयात्"

"एक्के क्कम्मि उठाणे चतुरो मासा हवंति उग्घाया

अणाइणोय दोसा विराहणा संयमाऽऽयाए,, (२२७)

द्वारमस्थगयता मनंतरोक्ता एकैकस्मिन् प्रत्यनीकप्रवेशादौ स्थाने चत्वारो मासा उद्घाता प्रायश्चित्तं भवति। आज्ञादयश्चात्र दोषा विराधनाच संयमात्मविषया भावनीया यदुक्तं चत्वारो मासा उद्घाता इति तदेव तद्बाहुल्य मंगी कृत्य द्रष्टव्यम् अतोऽपवदन्नाह

अहि सावय पच्चत्थिसु गुरुगा सेसेसु होंति चउलहुगा

तणगोले बहु गुरुगा आणाइ विराहणा दुविहा,,

अहिपु श्वापदेषु स्तेनेपु चतुर्गुरुका। उपधिस्तेनेपु चतुर्लघुकाः आज्ञादयश्च दोषाः। विराधनाच द्विविधा संयमविराधना, आत्मविराधनाच। तत्र संयमविराधना, स्तेनैरुपधावपहृते, द्वारेऽपिहिते सत्युपाश्रयं प्रविशत्सूपहृते तृणग्रहणमग्निसेवनंवा कुर्वंति । सागारिकादयोवा तथायोगोलकल्पा प्रविष्टाः सन्तो निपदनादि कुर्वाणाः बहूनां प्राणजातीयानामुपमर्द्दनं कुर्य्युः। आत्मविराधनाच प्रत्यनीकादिषु स्फुटैव। आह ज्ञातमस्माभिर्द्वार पिधान कारणं परं कापुनः यतनेति नाद्यापि जानीमः। उच्यते—

"उवयोगं हेट्ठुवरिं काउण बए'त बंगुरंतेअ

पेहा जत्थ न सुज्झइ पमज्जिउ' तत्थ सारिंति,,

नेत्रादिभिरिन्द्रियै रधस्तादुपरिचोपयोगं कृत्वा द्वारं स्थगयन्तिवा आवृण्वन्तिवा यत्रचान्धकारे प्रेक्षा चक्षुपा निरीक्षणं नशुद्ध्यति ततो रजोहरणेन दारु दण्डकेनवा रजन्यां प्रमृज्य सारयन्ति द्वारं स्थगयन्तीत्यर्थः। उपलक्षणत्वा दुद्घाटयन्तीत्यर्थः

अर्थः—

साधु अपने स्थानके द्वारको क्यों बन्द करता है इसका कारण बताया जाता है—

द्वार खुला रहने पर शत्रु आदि मकानमें प्रवेश करके मार पीट और उपद्रव मचा सकता है। चोर, सिंह, व्याघ्र, पारदारिक, गाय, बैल और कुत्ते आदि स्थानकमें प्रवेश कर सकते हैं। पागल साधु मकानसे बाहर निकल सकता है। हिमकणसे मिश्रित दुःसह शीत घरमें प्रवेश कर सकती है एवं बड़े बड़े सर्प और काक कपोत आदि पक्षी उस मकानमें आ सकते हैं, धनसहित कोई गृहस्थ उस मकानमें आकर सो सकता है, इत्यादि कारणोंसे साधु अपने स्थानकके द्वारको बन्द करते हैं। द्वार खुला रहने पर पूर्वोक्त शत्रु आदिकोंमेंसे किसी भी एकके प्रवेश करने पर चौमासी अनुद्धात नामक प्रायश्चित्त आता है और आज्ञाका उल्लङ्घन रूप दोष भी होता है, संयमकी भी विराधना होवी है। यहां जो चौमासो अनुद्धात प्रायश्चित्त कहा है वही उसको बहुलतासे समझना चाहिये खुले द्वार वाले मकानमें सर्प, जानवर, और चोरके प्रवेश करने पर चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त आता है। उपधिका अपहरण करनेवालेके प्रवेश करने पर चतुर्लघुक प्रायश्चित्त आता है और आज्ञा भङ्ग तथा संयम और आत्माकी विराधना भी होती है।

चोर यदि उपधिको चुरा लेवे अथवा कोई मनुष्य उस स्थानमें प्रवेश करके तृणग्रहण या अग्नि सेवन करे तथा म्लेच्छके समान कोई मनुष्य आकर वहां बैठ जाय तो संयमकी विराधना होती है। शत्रु आदिके द्वारा आत्म विराधना प्रसिद्ध ही है अतः साधु अपने स्थानकके द्वारको बन्द करते हैं।

द्वार बन्द करनेका कारण बता दिया गया अब उसकी जयणा बताई जाती है—

नेत्रोंके द्वारा नीचे और ऊपर देख कर साधु कपाट बन्द करते हैं और खोलते हैं। रातके समयमें अन्धकारमें रजोहरण या पूंजनीके द्वारा पूंज कर द्वारको खोलते हैं और बन्द करते हैं यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इस भाष्यमें साधुको कारणवश जयणाके साथ कपाट खोलने और बन्द करनेका स्पष्ट विधान किया है। बृहत्कल्प सूत्रके मूलपाठमें धान आदिकी राशिसे युक्त तथा ढके हुए घृतपूर्ण घृतादि पात्रोंके सहित मकानमें साधुको एकमास रहनेका कल्प बताया है। जिस मकानमें खुले हुए घृत आदिके पात्र रक्खे हैं उसमें भी स्थानाभाव की हालतमें १—२ दिन रहनेका विधान किया है। ऐसे मकानमें रहाहुआ साधु यदि कपाट बन्द न करे तो चोर और कुत्ते आदिके द्वारा गृहस्थके घृतादिका विनाश होने पर साधुके लिये महान् अपवादका कार्य्य हो सकता है अतः ऐसे अवसर पर यत्नपूर्वक कपाट खोलना और बन्द करना साधुके लिये कोई अनुचित नहीं है।

(बोल ७ वां)

(इति कपाटाधिकारः)

